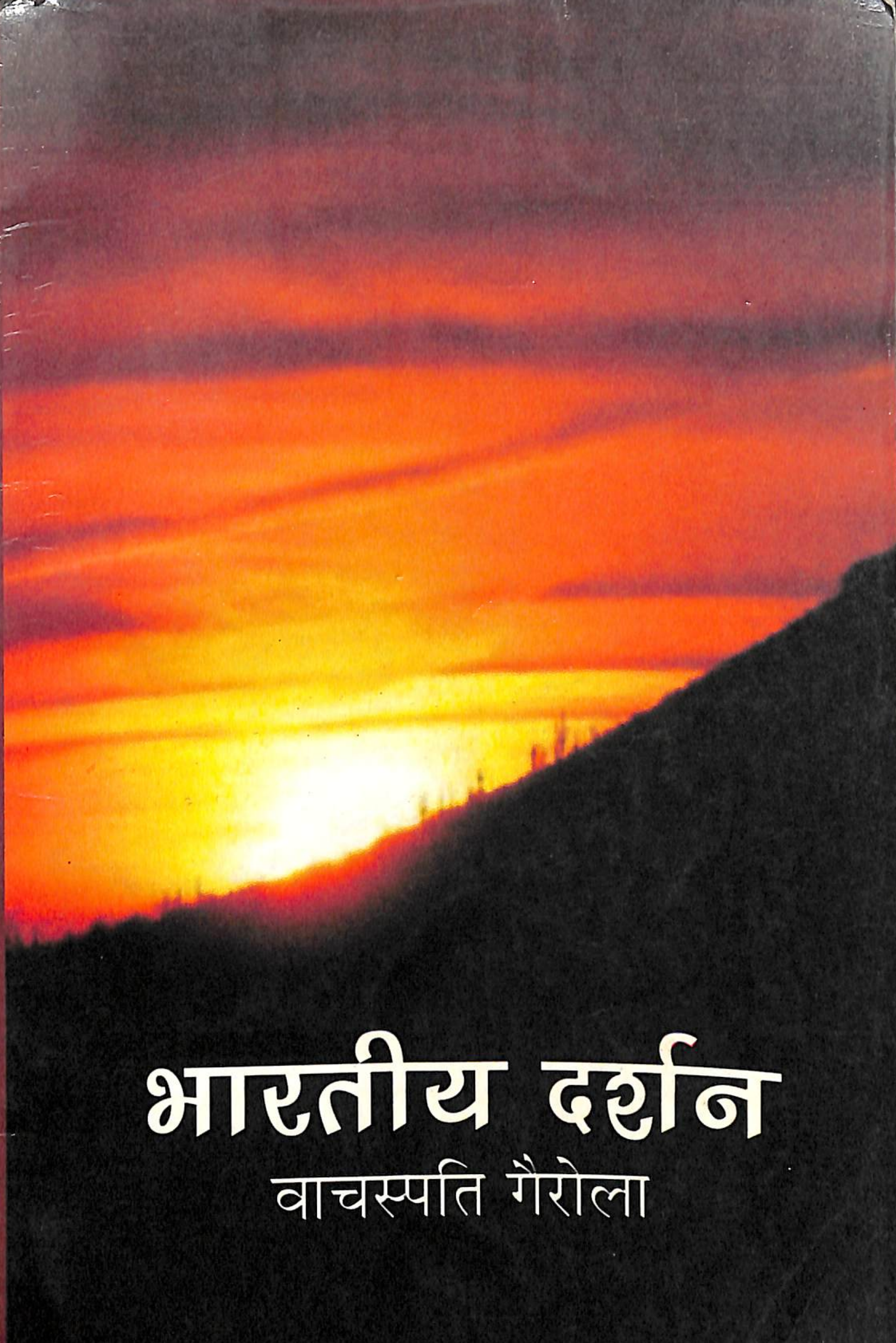


भारतीय दर्शन

वाचस्पति गैरोला

भारतीय दर्शन

(संशोधित संस्करण)

वाचस्पति गैरोला

लोकभारती प्रकाशन

पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1

लोकभारती प्रकाशन
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग
महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1
बेवसाइट : www.lokbhartiprakashan.com
ई-मेल : info@lokbhartiprakashan.com
शाखाएँ : 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002
अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने
पटना-800 006

पंचम संस्करण : 2009

आवरण : लोकभारती स्टूडियो

इण्डियन प्रेस प्रा. लि.
36, पन्नालाल रोड, इलाहाबाद-211 002
द्वारा मुद्रित

BHARTIYA DARSHAN
by Vachaspati Garola

ISBN : 978-81-8031-350-9

मूल्य : रु. 150.00

विषयानुक्रम

दर्शनशास्त्र

* * * *

व्युत्पत्ति : उपपत्ति

'दर्शन' शब्द की निष्पत्ति, 'दृश्' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर हुई है, जिसका अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाय' (दृश्यते अनेन इति)। देखने का स्थूल साधन आँखें हैं। इस आँख इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको 'चाक्षुस-प्रत्यक्ष' कहते हैं। अतएव चाक्षुसप्रत्यक्ष ज्ञान ही दर्शन का अभिप्रेत 'देखा हुआ' ज्ञान है। यह मत स्थूल दर्शनों का है।

दूसरे सूक्ष्म दर्शनों का मत है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जिनका चाक्षुसप्रत्यक्ष नहीं हो सकता; अर्थात् जो आँखों से नहीं देखी जा सकतीं। उनके लिए सूक्ष्म दृष्टि (तात्त्विक बुद्धि) की आवश्यकता है। इस सूक्ष्म दृष्टि या तात्त्विक बुद्धि के दूसरे नाम 'प्रज्ञाचक्षु', 'ज्ञानचक्षु' या 'दिव्यदृष्टि' हैं। इस मत में 'दर्शन' शब्द का अर्थ हुआ 'जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाय'। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाने से पहले अर्जुन को 'दिव्यचक्षु' दिये थे।

'दर्शन' शब्द के इस व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ को दृष्टि में रखकर यदि उसकी परम्परा के मूल उत्स का अनुसंधान किया जाय तो उपनिषदों और दूसरे शास्त्रों में उसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ मिलता है। उदाहरण के लिए शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध 'ईशावास्योपनिषद्' के इस श्लोक को लिया जा सकता है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

इस श्लोक का आशय है 'सोने के पात्र से सत्य का मुख ढँपा है। हे पूषन् (सारे जगत् का पालन करने वाले परमात्मन्) उस ढक्कन को हटाइये, जिससे सत्य का, अर्थात् ब्रह्म का या आप का और सनातन रूप ब्रह्म पर प्रतिष्ठित धर्म का (आत्म-ज्ञानानुकूल कर्तव्य का) हमको 'दर्शन' हो सके।'

इस श्लोक में 'दृष्टये' का 'दर्शन' अर्थ में प्रयोग आत्मासाक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए हुआ है। इसी प्रकार 'छान्दोग्य उपनिषद्' में 'दृश्' का 'आत्मदर्शन'

के अर्थ में प्रयोग करते हुए लिखा गया है 'आत्मा वाऽपरे दृष्टव्य'। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में उपनिषदों के 'आत्मज्ञान' को 'सम्यग्दर्शन' तथा 'आत्मदर्शन' के अर्थ में लिया गया है। अपने सच्चे स्वरूप का दर्शन करना या अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना ही 'आत्मदर्शन' या 'सम्यग्दर्शन' है। बौद्ध न्याय में उसको 'सम्यग्दृष्टि' और जैन न्याय में 'सम्यग्दर्शन' कहा गया है।

इस 'सम्यग्दर्शन' या 'आत्मदर्शन' के लिये समदृष्टि का होना आवश्यक है। सब धर्मों, मतों, सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करके उनको एक ही रूप में देखने का नाम ही 'समदृष्टि' या 'समदर्शिता' है। सर्वत्र एक ही आशय को देखना और सब में एक ही परमेश्वर का दर्शन करना, यही यथार्थ 'दर्शन' है। यह संसार क्या है, ये जीवन-मृत्यु के बंधन क्या हैं, इस सुख-दुःख का सार क्या है, मैं क्या हूँ, इन सभी के मूल में अव्यक्त रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है। ये अनन्त दृश्य जब एक ही द्रष्टा में दिखाई देने लगें; मैं ही जब सर्वत्र दिखाई देने लगे और यह दुःख जब परम शान्ति में बदला हुआ जान पड़े, उसी को वास्तविक 'देखना' (दर्शन) कहते हैं।

जीवन और दर्शन

दर्शनशास्त्र का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'जीवन' और 'दर्शन' एक ही उद्देश्य के दो परिणाम हैं। दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है; परम श्रेय (निःश्रेयस) की खोज करना। उसी का सैद्धान्तिक रूप दर्शन है और व्यावहारिक रूप जीवन। जीवन की सर्वाङ्गीणता के निर्माणक जो सूत्र, तन्तु या तत्त्व हैं उन्हीं की व्याख्या करना दर्शन का अभिप्रेय है। दार्शनिक दृष्टि से जीवन पर विचार करने की एक निजी पद्धति है, अपने विशेष नियम हैं। इन नियमों और पद्धतियों के माध्यम से जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना ही दर्शन का ध्येय है।

इस विराट् ब्रह्माण्ड के असंख्य, अद्भुत पदार्थों के समक्ष जीवन की स्थिति और सत्ता क्या है, एवं मनुष्य के इन रोना, हँसना, सोचना, विचारना, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, जन्म-मरण आदि विभिन्न रूपों का रहस्य क्या है, इन्हीं जिज्ञासाओं को लेकर दर्शनशास्त्र का जन्म हुआ है और इन्हीं पर उसमें विचार किया गया है। जिज्ञासा का अर्थ है ज्ञान की इच्छा (**ज्ञातुं इच्छा**)। यही ज्ञानेच्छा हमें जीवन के प्रति, जगत् के प्रति नये-नये अन्वेषणों, अनुसंधानों और आविष्कारों में प्रवृत्त करती है। इन नयी क्रियाओं एवं प्रवृत्तियों से हमें नया ज्ञान मिलता है; नया दर्शन उपलब्ध होता है।

क्योंकि जीवन की मीमांसा करना ही दर्शन का एकमात्र उद्देश्य है, अतः जीवन से सम्बन्धित जितने भी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक पदार्थ हैं उनका तात्त्विक विश्लेषण करना भी दर्शन का कार्य हो जाता है।

दर्शन और विज्ञान

तात्त्विक दृष्टि से संसार के समस्त पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : सचेतन और अचेतन। इन द्विविध पदार्थों के बाहरी स्वरूपों पर विचार

करने वाले शास्त्र को विज्ञान और उनको भीतरी सूक्ष्मताओं का अन्वेषण-परीक्षण करने वाले शास्त्र को दर्शन कहते हैं। तात्पर्य भेद से दर्शन और विज्ञान की अनेक कोटियाँ हैं।

मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, समाजविज्ञान और अन्यान्य विज्ञान जीवन तथा उसकी जन्मस्थली एवं कर्मस्थली, इस सृष्टि की व्याख्या अपने-अपने ढंग से एवं अपनी-अपनी विधि से करते हैं। उन सबकी अलग-अलग उपलब्धि जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं या पक्षों का उद्घाटन करने तक सीमित है। दर्शनशास्त्र का एक उद्देश्य यह भी है कि उक्त विज्ञान-शाखाओं में सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक सूत्र में ग्रथित किया जाय। इस दृष्टि से दर्शन भी एक विज्ञान है।

दर्शन समस्त शास्त्रों का संग्राहक

दर्शनशास्त्र समस्त शास्त्रों या विद्याओं का सार, मूल, तत्त्व या संग्राहक है। उसमें ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या या पराविद्या (मेटाफिजिक या फिलॉसोफी प्रापर); अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या या अन्तःकरणशास्त्र (सायकॉलोजी या दि सायंस ऑफ माइंड); तर्क या न्याय (लॉजिक या दि सायंस ऑफ रीजनिंग); आचारशास्त्र या धर्म-मीमांसा (एथिक्स या दि सायंस ऑफ कांडक्ट); आदि सौन्दर्यशास्त्र या कला शास्त्र (ईस्थेटिक्स या दि सायंस ऑफ आर्ट) आदि सभी विषयों का परिपूर्ण शिक्षण-परीक्षण प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से भारतीय और यूरोपीय दर्शनों का परस्पर समन्वय भी देखने को मिलता है।

दर्शनशास्त्र के इसी सर्वसंग्रही स्वरूप को लक्ष्य करके प्रौढ़ दार्शनिक भारतरत्न डॉ० भगवानदास ने लिखा है "दर्शनशास्त्र, आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी, सब शास्त्रों का शास्त्र, सब विद्याओं का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मों का उपाय, दुष्कर्मों का अपाय और नैष्कर्म्य, अर्थात् अफलप्रेप्सु कर्म का साधक और इसी कारण से सब सद्धर्मों का आश्रय और अन्ततः समूल दुःख से मोक्ष देने वाला है; क्योंकि सब पदार्थों के मूल हेतु को, आत्मा के स्वभाव को, पुरुष की प्रकृति को, बताता है; और आत्मा का, जीवात्मा का तथा दोनों की एकता का, तौहीद का, दर्शन कराता है।"

दर्शन का प्रयोजन

दर्शनविद्या की उत्पत्ति का प्रयोजन है दुःखसामान्य (अशेष दुःख) की निवृत्ति और सुखसामान्य (उत्तम सुख) की प्राप्ति। इसी अभिलाषा से दर्शनशास्त्र (शास्त्र-सामान्य) की आवश्यकता हुई।

विशेष-विशेष दुःख की निवृत्ति और विशेष-विशेष सुख की प्राप्ति के लिए विशेष-विशेष (पृथक्-पृथक्) शास्त्रों, शिल्पों एवं विद्याओं में उपाय बताये गये हैं, किन्तु दुःखसामान्य की निवृत्ति और सुखसामान्य की उपलब्धि के लिए दर्शनशास्त्र ही एकमात्र उपाय है। 'दर्शन' उसका अभिधान इसीलिए हुआ कि वह सब शास्त्रों का संग्राहक (शास्त्रसामान्य) है; अर्थात् उसमें सब शास्त्रों का सार या तत्त्व निहित है।

संसार की प्रायः प्रत्येक वस्तु का अपना निश्चित प्रयोजन होता है। इसी निश्चित प्रयोजन की खोज करते-करते जो विशेष ज्ञान प्राप्त होता है उसी को वस्तु का यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। इसी विशेष ज्ञान को जब क्रमबद्ध रूप में रखा जाता है तब उसको 'शास्त्र' कहा जाता है। शास्त्र अनेक हैं और वस्तुएँ भी विभिन्न हैं। ये नानाविध शास्त्र इन अनेकविध वस्तुओं के निश्चित प्रयोजनों की क्रमबद्ध व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और विशेष-विशेष शास्त्रों के नाम से कहे जाते हैं। इन सभी शास्त्रों का संग्राहक दर्शनशास्त्र है। अशेष सुख की प्राप्ति और अशेष दुःख की निवृत्ति ही उसका मुख्य प्रयोजन है।

दर्शनविद्या के प्रयोजन का विशद अध्ययन प्रस्तुत करते हुए श्रद्धेय डॉ० भगवानदास ने अपनी पुस्तक 'दर्शन का प्रयोजन' में लिखा है, "सांसारिक और पार-मार्थिक दुनियावी और इलाही, रूहानी। दोनों सुखों को साधने का मार्ग जो दरसावे, वही सच्चा दर्शन है; वही दर्शन का प्रयोजन है।"

यद् आभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम् ॥

दुःखसामान्य और सुखसामान्य

विश्व की प्रत्येक जाति का दर्शन उसके समग्र जीवन का प्रतिबिम्ब है। देश-काल की दृष्टि से विश्व की किसी जाति के आचार-विचारों में परिवर्तन या भिन्नता भी दर्शित होती है; किन्तु तत्त्वतः सम्पूर्ण मानवता एक है ओर उसका लक्ष्य भी एक ही है। उसके विचारों का मूल उद्गम और पर्यवसान एक ही लक्ष्य में निहित है। इस दृष्टि से विश्व की समस्त जातियों की दार्शनिक विचारधारा में अनेकता होते हुए भी एकता है।

अनेकता में एकता के इसी तात्त्विक अभिप्राय को कालिदास ने 'रघुवंश' के इस श्लोक में प्रस्तुत किया है:

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

अर्थात् 'भगवती भागीरथी के भिन्न-भिन्न प्रवाहों का परम लक्ष्य एक ही समुद्र है। वे सब वहाँ पहुँच कर एक हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति के लिए अलग-अलग शास्त्रों एवं दर्शनों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न हों; किन्तु उन सब का एक ही लक्ष्य आत्मप्राप्ति है।'

जहाँ तक भारतीय दर्शन का सम्बन्ध है, उसके अनेक सम्प्रदाय, मत, पंथ, सिद्धान्त और वाद एक ही आत्मप्राप्ति के उद्देश्य को लेकर आगे बढ़े हैं। उपनिषदों का 'तत्त्वमसि' महावाक्य ही सब का केन्द्र रहा है। इसकी व्याख्या यद्यपि अलग-अलग दर्शनों में अलग-अलग दृष्टि से की गई है; फिर भी उन सब का एक ही अन्तिम लक्ष्य में समन्वय हो जाता है। वह अन्तिम या परम लक्ष्य है दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति और

सुख की ऐकान्तिक प्राप्ति। एकान्त दुःख (दुःखसामान्य) और एकान्त सुख (सुख-सामान्य) जिस जीव ने जान लिया वही तत्त्वज्ञानी या आत्मदर्शी है।

यदि दर्शन का प्रयोजन दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है तो इसका यह अर्थ हुआ कि दुःखमय संसार को देखकर मनुष्य के मन में दर्शन के लिए जिज्ञासा हुई। इसी दुःख की जिज्ञासा और सुख की लिप्सा ने दर्शन को जन्म दिया।

भारतीय ज्ञान-परम्परा का मूल उत्स वेद है। वेदों के ऋषि दिव्यदृष्टि-सम्पन्न थे। उन्होंने सृष्टि और लय, दोनों के निसर्ग प्रवाह का ज्ञान प्राप्त किया। जीवधर्म के बन्धन में बँधे हुए इस विश्व की सद्गति के लिए वेदों के ऋषियों ने गम्भीरता-पूर्वक विचार किया। उन्होंने पाया कि नाना नामरूप इस जगत् की तह में एक ही कारण प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। वह है दुःख। इस दुःख से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है ज्ञान, आत्मज्ञान।

इसी आत्मप्राप्ति या आत्मज्ञान के लिए देवर्षि नारद, साधारण दुःखी मनुष्य की भाँति आत्मज्ञानी सनत्कुमार के पास गये और उनसे उस आत्मविद्या को जानने की प्रार्थना की, जिससे सब दुःखों का नाश होकर परमश्रेय की प्राप्ति होती है **(श्रेयसाधनप्राप्तये सनत्कुमारं उपससाद)**।

'कठोपनिषद्' की एक कथा में बालक नचिकेता मृत्युभय की जिज्ञासा के लिए ब्रह्मज्ञानी यमराज के पास गया और यमराज से वेदान्तविद्या, आत्मविद्या तथा मोक्ष-शास्त्र का उपदेश सुनकर उसने अमरता प्राप्त की।

ज्ञानी याज्ञवल्क्य ने अपनी सहधर्मिणी मैत्रेयी को उस पराविद्या (दर्शन) का ज्ञान दिया, जिससे अमरत्व प्राप्त होता है और संसार के समस्त दुःखों से छुटकारा मिल जाता है।

तथागत बुद्ध के अन्तःकरण में जीवन-मृत्यु के इस अबाध चक्र ने वैराग्य को जगाया। घर छोड़ते हुए पहली बात उन्होंने कही, 'जीवन क्या है, मृत्यु क्या है, इससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है—जब तक मैं इस रहस्य का पता न लगा लूँगा तब तक कपिलवस्तु को न लौटूँगा।' **(जन्ममरणयोः अदृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा)**। बुद्ध ने दुःख को खोज निकाला और चार आर्य सत्यों में उसकी उत्पत्ति तथा निवृत्ति का व्याख्यान किया।

महावीर स्वामी के वैराग्य और परार्थ का उद्देश्य, संसारी जीवों को जन्म-मरण तथा दुःख-बन्धन से छुटकारा दिलाकर मोक्ष का मार्ग बताना था। इसी मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति के लिए उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्कर्मान्त और सम्यक्-चारित्र्य का उपदेश किया।

न्याय दर्शन में बताया गया है कि प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर दुःख और उसके कारणों की परम्परा का समूल क्षय हो जाता है। यह सर्वदुःखक्षय ही अपवर्ग, मोक्ष या निःश्रेयस है। निःश्रेयस, अर्थात् जिससे बढ़कर श्रेयान् (सुखकर) पदार्थ कोई है ही नहीं।

वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि धर्म से सांसारिक अभ्युदय (भोग) और पारमार्थिक निः श्रेयस (मोक्ष) दोनों मिलते हैं। इस धर्मविशेष का यथार्थज्ञान हो जाने पर तत्त्वज्ञान और तब सर्वदुःखविनिर्मुक्त मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सांख्य में त्रिविध दुःखों (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) की सर्वथा निवृत्ति को ही परम पुरुषार्थ कहा गया है। इन्हीं दुःखों के उन्मूलन के लिए वहाँ सबसे पहले जिज्ञासा की गयी है। उसमें बताया गया है कि इसी यथार्थ ज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

योग दर्शन में साधक को अपनी मूलावस्था या बीजावस्था को खोजने के लिए उपाय बताये गये हैं। वहाँ बताया गया है कि जिसको संसारी मनुष्य सुख कहता है, विवेकी के लिए वह भी दुःख ही है। ये दुःख अनन्त हैं; और इनके होने का कारण है द्रष्टा-दृश्य या पुरुष-प्रकृति का संयोग। इस संयोग का कारण मिथ्या, ज्ञान या अविद्या है, जिसको तत्त्वज्ञान से मिटाया जा सकता है।

पूर्व मीमांसा का 'स्व' ज्ञान ही मोक्ष है। उसका स्वरूप निरतिशय सुखमय है, जो अपने को सब में और सब को अपने में देखता है और इस समदृष्टि से सदा आचरण करता है; उसको ही स्व, मोक्ष, अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

वेदान्त में आत्मज्ञान या यथार्थज्ञान से ही ब्रह्म की प्राप्ति बतायी गयी है। यह अवस्था ऐसी है, जिसमें समस्त दुःखों का अन्त और परम शान्ति की उपलब्धि होती है।

भारतीय दर्शन का उद्देश्य परम सुख की प्राप्ति

भारतीय दर्शन के इस 'दुःखवाद' को 'निराशावाद' की संज्ञा देकर और भारतीय जीवन में भी उसकी प्रतिक्रिया को आरोपित कर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी आलोचना की है। किन्तु भारत में, जीवन की इस गहन गवेषणा को, आध्यात्मिक चिन्ता का विषय माना गया है। भौतिक वस्तुओं की हर तरह से परीक्षा किये जाने के उपरान्त ही जीवन में इस प्रकार के चिन्तन का उदय होता है। ये भोग, ये बन्धन, सभी दुःखमय हैं और जीवन के घातक शत्रु हैं। इनके प्रति असन्तोष, अनास्था, उदासीनता, निराशा और इनकी निवृत्ति के लिए इच्छा, चेष्टा करना ही भारतीय दर्शन के दुःखवाद का अभिप्राय है।

भारतीय दर्शन पर नैराश्यवाद का आक्षेप करना ही निरर्थक है, क्योंकि जिस निराशा की उपपत्ति पर वहाँ विचार किया गया है उसका अन्त एक मंगलमय आशा में किया गया है। इस सर्वान्त सुख की उपलब्धि के लिए बुद्ध ने १-दुःख, २-दुःख का कारण, ३-दुःख का निरोध और ४-दुःख-निरोध का मार्ग, इन चार आर्य सत्यों पर भली भाँति विचार कर जीवों के लिए वह रास्ता बताया, जिस पर चलकर अज्ञानजन्य तृष्णाओं, उद्वेगों, विपाकों, लिप्साओं पर विजय प्राप्त करके ऐसे श्रेय, कल्याण, हित, सत्य, तथ्य को पाया जा सकता है, जिसमें अनन्त आनन्द तथा अनन्त

शान्ति का आवास है। यही अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति, भारतीय दर्शन के दुःखवाद अथवा निराशावाद का परिणाम है, अन्तिम लक्ष्य है।

निराशावाद वस्तुतः पलायनवाद नहीं है; बल्कि आध्यात्मिक जीवन की ओर बढ़ने का एक यत्न है। वह आत्मसमर्पण भी नहीं; बल्कि आत्ममुख है। दुःख, पाप तथा जन्म-मृत्यु, इन सांसारिक अवस्थाओं को पार कर उस मंगलमय, आनन्दमय अवस्था में पहुँचने के लिए निराशा, आशा का ही एक पहलू है। 'सर्वं दुःखम्' इस भवचक्र को 'सर्वं सुखम्' में बदल देने का एक श्रेयस्कर आरम्भ है।

अतएव भारतीय दर्शन में दुःखवाद तथा निराशावाद की जिज्ञासा, परम सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से की गयी है।

दर्शन का व्यावहारिक प्रयोजन

दर्शन का मुख्य प्रयोजन आत्मविद्या या आत्मदर्शन माना गया; जिसका उल्लेख यथास्थान किया गया है। किन्तु जैसे-जैसे भारतीय विचारधारा में नयी-नयी उपलब्धियों का समावेश होता गया, वैसे-वैसे दर्शन के उक्त प्रयोजन के लिये आस्था कम होने लगी। विशेषरूप से बौद्ध नैयायिकों ने केवल इतने ही से संतोष नहीं किया कि दर्शन का प्रयोजन केवल पारमार्थिक जीवन की उन्नति करना है। इन विचारकों ने यह शंका उपस्थित की कि आखिर इस आत्मविद्या, परमार्थ का व्यावहारिक दृष्टि से क्या उपयोग और क्या फल है। यह तर्क उपस्थित किया गया कि यदि व्यक्तिगत शान्ति के लिये ही संसार-त्याग, सम्बन्ध-त्याग और कर्म-त्याग करके आत्मदर्शी बनाना दर्शन का प्रयोजन है तो ऐसा आत्मदर्शन ही व्यर्थ है; क्योंकि, वह तो नितांत स्वार्थपरक है।

बौद्धों के बाद दशनामी संन्यासियों ने इस तर्क का बड़े पैमाने पर समर्थन किया। रामानुजाचार्य का कर्म तथा ज्ञान के समन्वय से सृष्ट व्यवहार और नय का सिद्धान्त इसी प्रभाव का परिणाम था। इन विचारकों ने दर्शन का एक प्रयोजन लोक-सेवा तथा लोक-सहायता (ईश्वरभक्ति, सत्संग, सदुपदेश) आदि के रूप में भी प्रकाशित किया। इन्होंने बताया कि व्यावहारिक दृष्टि से दर्शन का यही प्रयोजन है।

दर्शन और धर्म

धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा, दोनों ही दर्शन के प्रतिपाद्य विषय हैं। कर्म और ज्ञान या मीमांसा और वेदान्त, इसके अपर नाम हैं। वैशेषिक और मीमांसा, दोनों दर्शनों का आरंभ धर्म की जिज्ञासा से हुआ है। **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** इस सूत्र का यह आशय है कि 'यह मानवधर्म, जिससे इहलोक और परलोक, दोनों अभ्युदय (धर्म-अर्थ-काम) और निःश्रेयस (मोक्ष) इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि (प्राप्ति) होतीहै, वही धर्म है।' इस दृष्टि से धर्म के अन्तर्गत सारी आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या का स्वतः अभिनिवेश सिद्ध होता है। अतः धर्म और दर्शन—दोनों का एक ही प्रयोजन (निःश्रेयस की प्राप्ति) होने के कारण दोनों एक ही हैं।

इसी प्रकार वेदान्त के धर्मनिष्ठित ब्रह्म की प्राप्ति के लिये योग दर्शन में 'धर्म-मेध समाधि' का विधान किया गया है। इस संसारचक्र के विधिरूप धर्म का ज्ञान जिस समाधि से होता है वही 'धर्ममेध समाधि' है।

धर्म और दर्शन, दोनों, एक-दूसरे पर आधारित हैं। एक के बिना दूसरे की उपपत्ति, स्थिति सम्भव ही नहीं, यथा 'मनुस्मृति' में भी कहा गया है।

'न हि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते'

जो अध्यात्मविद् है वही धर्म के स्वरूप को जानता है। बिना अध्यात्मबोध के कर्मों का अनुष्ठान व्यर्थ है।

ज्ञान (दर्शन) और भक्ति (धर्म) से अनुस्यूत भारतीय जीवन के सर्वाङ्गीण स्वरूप को जाने बिना ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों को यह भ्रम हुआ कि भारत में दर्शन और धर्म को ठीक तरह से नहीं पहचाना गया। वास्तव में इन दोनों के समन्वय से ही भारतीय जीवन का आरम्भ हुआ है। हमारे यहाँ धर्म को अध्यात्म पर और अध्यात्म को धर्म पर अधिष्ठित करके देखा गया। मनु ने कहा भी है 'एतत्' या 'इदम्' शब्द से कहे जाने वाले इस दृश्यमान वस्तु जगत् का निर्माण परमात्मा ने किया है। इसलिए जो पुरुष अध्यात्मशास्त्र या आत्मविद्या को नहीं जानता वह किसी भी कार्य को यथोचित ढंग से सम्पन्न नहीं कर सकता और उसके उचित फल को नहीं पा सकता। इसलिए सांसारिक व्यवहारों का नियमन (धर्मव्यवस्था) उसी व्यक्ति को सौंपा जाना चाहिए जो वेदान्त को जानता है, क्योंकि जो वेदान्त को जानता है वही पुरुष-प्रकृति के तत्त्व को, उनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय को जानता है।'

इसीलिए ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय बताते हुए श्रीकृष्ण ने 'गीता' में कहा है, 'मेरा ज्ञान प्राप्त करो, सेवा-भाव (भक्ति) से मेरा अनुस्मरण करो, और पापकर्मों का विनाश करने के लिए कर्म में प्रवृत्ति रखो (**मामनुस्मर युध्य च**) 'गीता' में आगे कहा गया है कि कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त पुरुष की पर्युपासना ही ज्ञान है; दिव्य उपाधि से उपहित ईश्वरत्व प्राप्त जीव का पाना ही भक्ति है; और सब प्राणियों का यथाशक्ति हित करना ही कर्म है।

ज्ञान, भक्ति और कर्म की इस त्रिधारा में अवगाहन करते रहना ही भारत की सनातन परम्परा है और यही वास्तविक भारतीय संस्कृति है।

ज्ञान, भक्ति और कर्म, इन तीनों में भक्ति, अर्थात् धर्म के लिए मनुष्य का अधिक आकर्षण होता है। वह इसलिए कि उसका इस बात का विश्वास होता है कि इस लोक में जो कुछ ही उपलब्ध हो, परलोक में तो सुख मिलेगा ही। धार्मिक होने तथा इस सुख के लिए एतदर्थ जिज्ञासा होती है कि दुःख से छुटकारा मिले। दुःख की चरम सीमा है मृत्यु। इसी मृत्युभय से मनुष्य धार्मिक बनता है। जिसने इस मृत्यु को जीत लिया उसकी धार्मिक बनने की आवश्यकता नहीं और न धर्म-कर्म करने की लालसा। किन्तु इस दुःख-परिणति मृत्यु को जीतने के लिए एकमात्र उपाय भी धर्म ही है। दुःख को कैसे दूर किया जा सके, इसके लिए धर्म-मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। दुःख से

सर्वथा छुटकारा पाने के लिए एकमात्र उपाय है दर्शन । दुःख के आत्यन्तिक निवृत्ति के उपायस्वरूप दर्शन तक पहुँचने के लिए धर्म का आश्रय पहली शर्त है ।

आत्मदर्शन ही श्रेष्ठ धर्म है । संपूर्ण शास्त्र और समस्त विद्याएँ उस परम धर्म (आत्म-दर्शन) के बाद स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं । तभी मृत्यु से अमृतत्व, दुःख से सुख प्राप्त होता है । धर्म का एकमात्र उद्देश्य है आत्मा का दर्शन कराना । जब आत्मदर्शन हो जाता है तब परमात्मा का ठीक-ठीक स्वरूप समझ में आ जाता है । ऐसी अवस्था के प्राप्त हो जाने पर मन के सारे संशय, विकल्प छिन्न हो जाते हैं । हृदय की सारी कुण्ठाएँ मिट जाती हैं, सांसारिक बंधनों की जननी भेदबुद्धि और मन को आसक्त करने वाली वासना का उन्मूलन हो जाता है ।

धर्म को दर्शन पर अधिष्ठित करके आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) को दुःखनिवृत्ति तथा अमरत्व का कारण बताते हुए 'मनुस्मृति' में कहा गया है :

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥

अर्थात् जिसने सम्यग्दृष्टि (आत्मदर्शन, तत्त्वज्ञान) प्राप्त कर लिया है वह फिर इस कर्ममय जगत् के बंधनों में नहीं बँधता, किन्तु जिसको सम्यग्दृष्टि नहीं मिली है वह बार-बार इस संसार में जन्म लेता और मृत्यु का कष्ट पाता है ।

इस दृष्टि से जो व्यक्ति आत्मा और संसार के वास्तविक स्वरूप और प्रयोजन को नहीं जानता वह धर्म और कर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सकता ।

अतः परमात्मदर्शन का मूल आत्मदर्शन, जिस धर्म के अनुसरण से होता है उसका दर्शनशास्त्र से घनिष्ठतम संबंध है ।

दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय जीवन में चिन्तन की पुराकालीन परम्परा का कोई आदि नहीं है । किसी तिथिविशेष या कालविशेष की दृष्टि से उनकी सीमा को निश्चित नहीं किया जा सकता । हमारे अनुसंधानमति ऋषिकुलों में दीर्घकाल तक ज्ञान की उपासना करते हुए जो तथ्य तथा अनुभव अर्जित किये गये उन्हीं का संग्रह दर्शनग्रन्थों में देखने को मिलता है ।

ये ऋषि आत्मदर्शी थे, तत्त्वदर्शी थे और जीवन तथा जगत् की रहस्यमयता को भली-भाँति जानते थे । इन ऋषियों के विभिन्न कुलों का वर्णन वेदों से लेकर पुराणों तक फैले हुए बहुसंख्यक प्राचीन ग्रंथों में किया गया है । इन ऋषियों के मुख्य दो सम्प्रदाय थे : प्रवृत्तिधर्मानुयायी और निवृत्तिधर्मानुयायी । कर्मकाण्ड के प्रवर्त्तक तथा कर्मकाण्ड में कहे गये मंत्रों के द्रष्टा या रचयिता प्रवृत्तिधर्मानुयायी और मोक्ष के साक्षात्कर्ता या तद्विषयक ज्ञान के प्रतिपादक निवृत्तिधर्मा ऋषि कहलाये । संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि के मोक्षविषयक ज्ञान के प्रतिपादक निवृत्तिधर्मा ऋषियों मे वाक्, आंभृणी, जनक विदेह, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य और कपिल प्रमुख थे ।

निवृत्तिधर्मानुगामी ऋषियों के भी दो संप्रदाय हुए : आर्ष और अनार्ष । आर्ष

के अन्तर्गत सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा तथा वेदान्त को और अनार्ष के अन्तर्गत जैन-बौद्ध दर्शनों की गणना होती है। अपने मूलरूप में एक ही नदी की दो धाराएँ होने के कारण आर्ष और अनार्ष, दोनों संप्रदायों का एक ही चरम उद्देश्य है: परम पद की उपलब्धि।

तात्पर्यभेद से भारतीय दर्शन दो प्रमुख संप्रदायों में अपना विकास करता आया है। वे दो संप्रदाय हैं: नास्तिक और आस्तिक। छह नास्तिक दर्शन हैं और छह आस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शनों के नाम हैं: चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और आर्हत। छह आस्तिक दर्शनों के नाम हैं: न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग मीमांसा और वेदान्त।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि परस्पर विरोधी नास्तिक और आस्तिक, दोनों संप्रदायों के मूल सिद्धान्त प्राचीनतम हैं। भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अंग वेदों में ही हम दोनों दर्शन-संप्रदायों के विचारों का उल्लेख पाते हैं। देव और असुर, दोनों ही क्रमशः आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के प्रतिनिधि वैदिककाल से ही विरोधी विचारधाराओं को लेकर चले आ रहे थे।

वास्तविकतावादी आचार्य चार्वाक का नाम प्राचीनतम ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'महाभारत' में उनकी चर्चा है। चार्वाक से भी पहले वृहस्पति हो चुके थे, जिनको चार्वाक ने प्रमाण माना है और जिनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। आचार्य वृहस्पति महाभारत काल के पूर्व हुए। इन दोनों आचार्यों को ५०० ई० पूर्व से पहले रखने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

बौद्धों के चार दर्शन संप्रदाय और जैनों का आर्हत दर्शन अपने को अनादि बताते हैं। 'श्रीमद्भागवत्' में जिन भगवान् ऋषभदेव का एक अवतार के रूप में स्मरण किया गया है, जैन उनको अपना प्रथम तीर्थंकर महात्मा मानते हैं। इसी प्रकार बौद्धों का कथन है कि त्रेतायुग के दाशरथी राम, बुद्ध के ही एक अवतार थे और सिद्धार्थ बुद्ध उन्हीं बुद्ध के अन्तिम अवतार हुए।

इस दृष्टि से यह कहना कि कौन दर्शन सर्वाधिक प्राचीन है, बहुत कठिन अथवा असंभव भी है। वस्तुतः इन बारह दर्शन संप्रदायों की सैद्धांतिक स्थापनाएँ परस्पर ऐसी गुंथी हुई हैं कि उनका मूल शोध कर उनकी प्राचीनता के सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव है। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद पर मूल रूप से जो सूत्रग्रन्थ लिखे गये थे, वे अति प्राचीन होने पर भी, भले ही आगे-पीछे रखे जा सकते हैं; किन्तु उनमें जिन विचारों को ग्रथित किया गया है, निश्चित ही उनको आगे-पीछे नहीं रखा जा सकता है।

दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में 'महाभारत' में कुछ ऐतिहासिक सूत्र देखने को मिलते हैं। उसका समग्र शांतिपर्व ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इस पर्व में भीष्म पितामह ने महाभारतकालीन पाँच संप्रदायों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं: सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत। 'महाभारत' के इस प्रसंग में अनीश्वरवादी दर्शन

सांख्य और ईश्वरवादी दर्शन योग के विषय में जो कुछ कहा गया है, प्रचलित दोनों दर्शनों से उसका मेल नहीं बैठता। वैष्णवों की सगुणभक्ति-भावना ने ही पांचरात्र मत को जन्म दिया। पाशुपत मत के प्रवर्तक शैव थे और वेदमत, उपनिषद्-ग्रन्थों के तत्त्वज्ञान पर आधारित था।

इससे स्पष्ट ही यह ज्ञात होता है कि सांख्य और योग, इन दोनों सम्प्रदायों का उद्भव महाभारतकाल में ही हो चुका था और पांचरात्र, वेद तथा पाशुपत आदि दूसरे प्राचीन धर्म-संप्रदायों के साथ उनका उल्लेख होने के कारण उनकी प्राचीनता में भी सन्देह की गुंजाइश नहीं रहती।

सांख्यज्ञान की व्यापक भावना को लक्ष्य करके (शांतिपर्व) 'महाभारत' में एक श्लोक है, जिसका आशय है 'हे नरेन्द्र, जो महत् ज्ञान महान् व्यक्तियों में वेदों के भीतर तथा योगशास्त्रों में देखा जाता है और पुराणों में भी जिसका उल्लेख विभिन्न प्रकार से हुआ है, वह सभी सांख्य से आया':

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
मथ्यापि दृष्टं विविधे पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥

अक्षपाद गौतम और कणाद काश्यप द्वारा न्याय तथा वैशेषिक, दो दर्शन संप्रदायों का प्रवर्तन मौर्य युग (४०० ई० पू०) में ही हो चुका था। कुछ दिन पूर्व याकोबी महोदय ने गौतम और कणाद के दर्शन को जो नागार्जुन के शून्यवाद से प्रभावित होने की बात कही थी वह असत्य साबित हो चुकी है और यह निश्चित हो चुका है कि शून्यवादी आचार्य नागार्जुन, नैयायिक गौतम तथा वैशेषिककार कणाद के बाद हुए। 'चरकसंहिता' पर अंकित न्याय-वैशेषिक प्रभावों से यह बात और भी पुष्ट हो चुकी है कि उक्त दोनों दर्शन ईसा की प्रथम शताब्दी से भी बहुत पहले के हैं।

जैन अनुश्रुति के अनुसार विदित होता है कि आर्यरक्षित के गुरु जैनाचार्य वज्रस्वामी (७८ ई०) के शिष्य कणाद काश्यप संभवतः पहली शताब्दी ई० के आस-पास हुए; किन्तु यह बात वैशेषिक दर्शन के निर्माण के सम्बन्ध में चरितार्थ नहीं होती। महर्षि कणाद और महर्षि गौतम का समय ४०० ई० पूर्व के लगभग था। संभवतः गौतम, कणाद से पहले हुए।

पूर्व मीमांसा की रचना उत्तर मीमांसा से पहले होते हुए भी जैमिनि और व्यास सैद्धान्तिक प्रतिपादन में एक-दूसरे को उद्धृत करते पाये जाते हैं, जिससे विदित होता है कि उद्धृत करने की यह शैली बाद की है। उसको शिष्य-परम्परा ने चलाया। इसी शिष्य-परम्परा के द्वारा समय-समय पर उक्त दोनों दर्शनों का संशोधन, संपादन और परिवर्तन-परिवर्द्धन होता गया। पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का जो स्वरूप आज हमारे सामने विद्यमान है उसके अन्तिम संस्करण बहुत पीछे, संभवतः मौर्य युग (४०० ई० पूर्व) से सातवाहन युग (२०० ई० पूर्व) तक निरन्तर होते रहे। जहाँ तक जैमिनि और व्यास का प्रश्न है वे महाभारतकालीन ऋषि थे।

योगदर्शन के प्रवर्तक महामुनि पतंजलि हुए। पतंजलि नाम की नाना रूपा-

त्मकता को देखकर यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उनमें से योगदर्शन के रचयिता पतंजलि कौन थे। विद्वानों ने योगसूत्रों को षड्दर्शनों में प्राचीन बताया है और यह सिद्ध किया है कि उसकी रचना बौद्धयुग (५०० ई० पूर्व) से पहले हो चुकी थी। यदि यह सही है तो यह मानना आवश्यक है कि 'महाभाष्य' के रचयिता प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि, जिनका स्थितिकाल ४०० ई० पूर्व में निर्धारित है, 'योगसूत्र' के रचयिता पतंजलि से भिन्न थे। 'योगसूत्र' पर जो भाष्य लिखा गया उसके रचयिता व्यास, कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से भिन्न थे और वे बौद्धकाल में हुए। कनिष्क के समय (प्रथम श० ई०) तक व्यासभाष्य प्रकाश में आ चुका था।

वैदिक युग के ब्राह्मणग्रन्थों के पुरोहित आचार्यों ने जिस स्थूल कर्मवाद को प्रचलित किया था उसका भरपूर विरोध उसी युग में उपनिषत्कार ऋषियों ने किया। तदनन्तर महावीर और बुद्ध, इन दो समाज-सुधारक महात्माओं एवं संतों, और विशेषतः उनके अनुवर्ती आचार्यों ने अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं की प्रतिष्ठा के लिए एक ओर तो उपनिषद्ग्रन्थों के ऊँचे आदर्शों को लेकर अपनी स्थिति को अधिक सुदृढ़ किया और दूसरी ओर उन्होंने वैदिक धर्म की बुराइयों का प्रचार कर समाज को अपने पक्ष में कर लिया।

किन्तु इस सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिये कि महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने जिन आदर्शों को रखा था, अपने मूलरूप में वे किसी भी धर्म के विरोधी और किसी के भी सिद्धान्तों की आलोचना से संबद्ध नहीं थे। जैन और बौद्ध धर्मों में वैयक्तिक रूप में विरोधी संप्रदाय और आलोचनात्मक प्रक्रिया को उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रतिष्ठित किया। भारत का यह युग बौद्धिक संघर्ष और विचार-संक्रान्ति का अपूर्व युग रहा है। जैनाचार्यों और बौद्धाचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए ज्यों ही खुले आम वैदिक धर्म की भर्त्सना की, कि एक साथ वैदिक धर्मानुयायी समाज जाग उठा। फलतः जो हिन्दू दर्शन अब तक बड़ी ही मन्दगति के चले आ रहे थे वे विरोधियों के प्रतिकार के लिए द्विगुणित उत्साह के साथ आगे बढ़े। वह द्वादश दर्शन संप्रदायों के चरमोत्कर्ष का युग था।

पहले संकेत किया गया है कि दर्शनों का उद्भव वैदिक युग में ही हो चुका था। श्रुतिकाल की प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक प्रवृत्तियाँ इसका प्रमाण है। वैदिक-कालीन तर्कमूलक तत्त्वज्ञान से ही षड्दर्शनों की नींव पड़ी।

विषय की दृष्टि से भारतीय दर्शन की विकास-परम्परा को उद्भव, भाष्य और वृत्ति, इन तीन रूपों में विभाजित किया जा सकता है। भारतीय दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण युग भाष्य-ग्रन्थों की रचना का रहा है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिचय प्राप्त हो जाने पर विदित होता है कि भारत में सहस्रों वर्षों पूर्व से चिन्तन की धारा अविरत रूप में आगे बढ़ती गयी और उससे भारत की विचार-भूमि सदैव ही उर्वर बनी रही।

दर्शनों की संख्या

भारतीय दर्शन का जिन विभिन्न शाखाओं या सम्प्रदायों में विकास हुआ, यदि उनके आधार पर यह निश्चित किया जाय कि संख्या में वे कितने हैं, तो इसका एक निश्चित उत्तर नहीं मिलेगा। दर्शनों की वास्तविक संख्या के संबंध में यह मत-मतान्तर प्राचीन ग्रन्थकारों में भी पाया जाता है। प्रायः 'षड्दर्शन' नाम के आधार पर दर्शनों की संख्या छह मानी जाती है। इस आधार पर यदि समस्त दर्शन-शाखाओं का वर्ग-विभाजन या क्रम-निर्धारण किया जाय तो कोई संतोषजनक निष्कर्ष नहीं निकल पाता। यह नाम न तो अधिक प्राचीन है और न उसके अन्तर्गत परिगणित होने वाले दर्शनों का क्रम ही प्रामाणिक है। वस्तुतः जिस ग्रंथकार को जब भी जो नाम सूझे उन्हीं को षड्दर्शन के अन्तर्गत रखा गया। कुछ ग्रंथकारों ने दर्शनों की संख्या छह से कम और कुछ ने छह से अधिक मानी है।

दर्शनों के नाम-निर्धारण तथा वर्गीकरण करने वाले ऐसे अनेक प्राचीन ग्रंथों को उद्धृत किया जा सकता है, जिनके मत एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनमें शंकराचार्य के 'सर्वसिद्धान्त संग्रह' का नाम मुख्य है। इस ग्रंथ में लोकायत, आर्हत, बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक), वैशेषिक, न्याय, मीमांसा (भाट्ट, प्राभाकर), सांख्य, पातंजल, व्यास और वेदान्त—इन दस दर्शन संप्रदायों की चर्चा की गई है। इसके बाद लिखा हुआ जिनदत्त सूरि के ग्रन्थ 'षड्दर्शन समुच्चय' में जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक इन छह दर्शनों का उल्लेख किया गया है। इसके बाद रचित माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' में सोलह दर्शन-सम्प्रदायों के नाम गिनाये गये हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है : चार्वाक, बौद्ध, आर्हत (जैन), रामानुजीय, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश, पाशुपात, शैव, प्रत्यभिज्ञा (काश्मीर शैव), रसेश्वर (आवधूतिक), औलूक्य (वैशेषिक), अक्षपाद (न्याय), जैमिनीय (पूर्वमीमांसा), पाणिनीय (वैयाकरण), सांख्य, पातंजल (योग), और शांकर (अद्वैत)। मधुसूदन सरस्वती की 'शिव महिम्न स्तोत्र-टीका' में छह आस्तिक और चह नास्तिक, बारह दर्शन संप्रदायों का उल्लेख किया गया है। छह आस्तिक दर्शनों के नाम हैं : न्याय, वैशेषिक, कर्म, मीमांसा, शारीरिक मीमांसा (ब्रह्ममीमांसा), सांख्य और योग। छह नास्तिक दर्शनों के नाम हैं : सौगत (बौद्ध) के चार संप्रदाय : माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक तथा वैभाषिक और चार्वाक तथा दिगम्बर (जैन)।

इस प्रकार विदित होता है कि दर्शनों की संख्या तथा उनका क्रम और वर्ग-विभाजन किसी नियत सिद्धान्त पर नहीं किया गया। जहाँ तक 'षड्दर्शन' शब्द का सम्बन्ध है, उसका व्यवहार किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं हुआ। इसलिए दर्शनों की न तो कोई संख्या निश्चित की जा सकती है और न उनको किसी वैज्ञानिक क्रम तथा वर्ग के अनुसार ही अनुबद्ध किया जा सकता है।

जैसा कि भारत के प्राचीन और आधुनिक दार्शनिकों का मत है कि भारतीय

दर्शन की विभिन्न ज्ञान-धाराओं का एक ही उद्गम और एक ही पर्यवसान है; उनकी अनेकता में एकता और उनकी विभिन्न दृष्टियाँ एक ही लक्ष्य को अनुसंधान करती हैं—यह उचित ही है। 'भागवत' के एक श्लोक में, सब दर्शन-शाखाओं के इस परम भाव को, बड़े सुन्दर ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :

सव सम्बादिनो स्थविरर्बुद्धिः
इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानां कविभिः कृतम् ।।

अर्थात् 'बूढ़े लोगों की बुद्धि, विवाद करते हुए युवकों में मेल (सम्वाद) करने की चिन्ता में रहती है। जगत के मूल तत्त्वों की गिनती (व्याख्या, संख्या) बुद्धिमानों (कवियों) ने नाना प्रकार से की है; सभी प्रकार, अपनी-अपनी दृष्टि से न्याय-संगत है। सबके लिए विद्वान् लोग युक्तियाँ बताते हैं। उनमें कोई अपरिहार्य विरोध नहीं है।'

संप्रति मुख्यतः छह आस्तिक दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त) और तीन नास्तिक दर्शनों (चार्वाक, बौद्ध और जैन) को ही लिया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं पर विचार करने का यत्न किया गया है। इसके अन्तिम अध्याय में व्याख्यात 'रामानुज दर्शन' वेदान्त दर्शन की ही एक शाखा है। यद्यपि वेदान्त दर्शन का अनेक शाखाओं में विकास हुआ है, किन्तु उन सबका विवेचन करना यहाँ अपेक्षित नहीं समझा गया।

आस्तिक और नास्तिक

आस्तिक से आशय ईश्वर पर विश्वास करना और नास्तिक से आशय ईश्वर पर विश्वास न करना नहीं है; क्योंकि सांख्य और मीमांसा में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है, जब कि वे आस्तिक दर्शनों की कोटि में रखे गये हैं। इसी प्रकार आस्तिक का अभिप्राय पूर्वजन्म को मानने और नास्तिक का अभिप्राय पूर्वजन्म को न मानने से भी नहीं है, क्योंकि पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले जैन और बौद्ध दर्शन इसके उदाहरण हैं, जिन्हें कि नास्तिक कहा गया है। इसीलिए आस्तिक दर्शन वे हैं, जो वेदों को और वेदों की प्रामाणिकता को मानते हैं और नास्तिक दर्शन वे हैं जो वेदों तथा उनकी प्रामाणिकता को नहीं मानते। सैद्धान्तिक दृष्टि से नास्तिक दर्शन को अनीश्वरवादी या प्रत्यक्षवादी कहा जाता है।

आस्तिक दर्शन विचारों की दृष्टि से दो तरह के हैं। एक तो वे, जो सीधे वेदों पर आधारित हैं और दूसरे वे, जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए भी नयी विचार पद्धतियों का प्रस्तुत करते हैं। वेदों पर आधारित दर्शन हैं मीमांसा और वेदान्त। मीमांसा दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड पर और वेदान्त वैदिक ज्ञानकाण्ड पर आधारित है। नयी विचारधारा के दर्शन हैं सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक।

इसी प्रकार नास्तिक दर्शन भी दो प्रकार का है। चार्वाक दर्शन, जो कि नास्तिक

दर्शनों में अग्रणी है, वेदों की और वैदिक मतानुयायियों की घोर निन्दा करता है। वेदों को उसमें झूठा, व्याघात और पुनरुक्ति आदि दोषों के कारण प्रमाण नहीं माना गया है (**तदप्रामाण्यं अनृतव्याघातपुनरुक्तिदोषेभ्यः**)। उसका कहना है कि वेद उन धूर्त पुरोहितों की रचनाएँ हैं; जिन्होंने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए लोगों में यह भ्रम फैलाया कि वे स्वर्ग का सुख देने वाले हैं। (**धूर्तप्रलापत्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्**)। चार्वाक के अतिरिक्त जैन-बौद्धों ने भी वेदों के अंधविश्वासों की निन्दा की है; किन्तु संयत रूप से। जैन तो वेदवचनों के स्थान पर तीर्थंकरों की वाणियाँ प्रमाण मानते हैं। चार्वाक की भाँति जैन और बौद्ध घोर भौतिकवादी नहीं हैं और अनेक दृष्टियों से वे चार्वाक के सिद्धान्तों को अमान्य समझते हैं। यही दृष्टिकोण बौद्धों का भी है।

इस प्रकार उक्त आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की जो विभिन्न शाखाएँ हैं उनमें भी स्पष्ट मतभेद है। निष्कर्ष यह है कि सभी दर्शनशाखाओं में विचारों की स्वतंत्रता रही है। इस विचार-स्वतंत्रता के पहले उदाहरण वेद हैं। उन्हीं की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव भावी परम्परा के विचारकों पर पड़ा। अतः अधिक उचित यही है कि भारतीय तत्त्वज्ञान के सृजक वेदों के अनुसंधान से ही दर्शन की जिज्ञासा का अध्ययन किया जाय।

*

वेदों में दर्शन

* * * *

वेद और वैदिक साहित्य

वेद

वैदिक युग में 'वेद' से सम्पूर्ण वाङ्मय का बोध होता था। ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद कहा जाता था; किन्तु बाद में वेद केवल चार मंत्र-संहिताओं का बोधक रह गया। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, वेद की मर्यादा के अन्तर्गत होते हुए भी मूल वेदों से सर्वथा अलग किये गये, जैसा कि 'तैत्तिरीय संहिता' की भाष्य-भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है 'यद्यपि मंत्र और ब्राह्मण, दोनों वेद कहे जाते रहे हैं, तथापि ब्राह्मणग्रन्थ, मंत्रों के व्याख्यान रूप थे। अतः उनका स्थान मंत्रों के बाद आता है' (**यद्यपि मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मंत्रव्याख्यानरूपत्वात् मंत्रा एवादौ समाम्नाताः**)।

यद्यपि वेद नाम से आज हम चार मंत्र-संहिताओं को ही लेते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि हमारी सारी क्रियाओं का मूल वेद ही है। संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि जितने भी विषय हैं उन सब की नींव वेदों पर टिकी है। इसलिए मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है और यही कारण है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा मैक्समूलर जैसे आधुनिक विद्वानों ने भी वेद के उक्त ज्ञानमय स्वरूप को स्वीकार किया है।

वेद हिन्दू जाति की सबसे पुरानी और सबसे पवित्र पुस्तक है। वह पुस्तक न तो 'कुरान' की तरह एकमात्र धर्म-पुस्तक है और न 'बाइबिल' की तरह अनेक महापुरुषों की वाणियों का संग्रह मात्र ही; बल्कि वह तो एक पूरा साहित्य है। वेद चार हैं : ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। उन चारों की चार संहिताएँ हैं : ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता और अथर्ववेदसंहिता, संहिता संकलन या संग्रह के लिए कहते है। प्रत्येक संहिता में अलग-अलग वेदों के मंत्र संकलित हैं।

वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं

वेद कहते हैं ज्ञान के लिए। 'ज्ञान' शब्द का व्यापक अर्थ है। इतिहास भी एक ज्ञान है, भूगोल भी एक ज्ञान है, गणित भी एक ज्ञान है। किन्तु वेद शब्द से हम उस

ईश्वरीय ज्ञान को लेते हैं, हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार जिसको पहले-पहले ऋषि-महर्षियों ने खोजा था। इसलिये ऋषियों द्वारा दृष्ट ज्ञान ही वेद शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है। इस ज्ञान को हिन्दू धर्म ने ईश्वरीय आदेशों के रूप में शिरोधार्य माना है।

वेद नित्य और अपौरुषेय हैं

वेदों के बाद रचे गये ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, दर्शन और धर्मशास्त्र आदि सभी में एकमत से स्वीकार किया गया है कि वेद नित्य हैं, अर्थात् सृष्टि से पूर्व भी वे विद्यमान थे; वेद अनादि हैं, अर्थात् उनकी कोई जन्मतिथि नहीं है; और वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् उनका रचने वाला कोई पुरुष नहीं है। इस दृष्टि से वेद स्वयंभूत, स्वयंप्रकाश और स्वयंप्रमाण हैं।

वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के सम्बन्ध में 'मनुस्मृति' के प्रामाणिक टीकाकार कुल्लूक भट्ट का कथन है कि प्रलयकाल के बाद भी वह विनष्ट नहीं हुए थे; वे परमात्मा में अवस्थित थे (**प्रलयकालेऽपि परमात्मनि वेदराशिः स्थितः**)। ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करने वाले सांख्य दर्शन के निर्माताओं ने भी वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है।

ऋषि मंत्रद्रष्टा थे

'ऐतरेय ब्राह्मण' की एक ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है कि 'अतीन्द्रिय अर्थ को देखने वाले ऋषि को 'मंत्रकृत्' कहते हैं। यहाँ '**करोति**' धातु का अर्थ देखना है, न कि करना। 'तैत्तिरीय आरण्यक' के एक सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'यद्यपि अपौरुषेय वेदों का कोई कर्ता नहीं है, तथापि सृष्टि के आरंभ में ईश्वर की कृपा से मंत्रों को पाने वाले ऋषियों को ही '**मंत्रकृत्**' कहा गया। 'निरुक्त' के रचयिता यास्क (७०० ई० पूर्व) ने 'ऋषि' शब्द का निर्वचन मंत्रद्रष्टा के रूप में किया है। यास्क ने मंत्रों का प्रथम दर्शन करने वाले प्रतिभावान् व्यक्तियों को 'ऋषि' कहा है।

वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ने का एकमात्र कारण यही है कि उनकी परम्परा ऋषिवंशों से श्रुतजीवी होकर आगे बढ़ी। श्रुति का अर्थ सुनना है। इस वेदविद्या को ऋषियों ने परमात्मा से सुना और लोककल्याण के लिए उसको संसार में प्रचारित किया। वेद का अर्थ ज्ञान है। इस वेद-ज्ञान का दर्शन पहले-पहल जिन आप्त पुरुषों ने किया वे ऋषि कहलाये। मंत्रों के 'कण्ठाप्त' और कल्प्य', ये दो नाम इसीलिए पड़े। जिन मंत्रों का ऋषियों ने प्रत्यक्ष किया उन्हें 'कण्ठाप्त' और जिनका स्मृति से अनुमान किया वे 'कल्प्य' कहे गये। इस बात को पुराण बताते हैं।

'ऋष्' धातु के अर्थ हैं गति, श्रुति, सत्य एवं तप। पुराणों के अनुसार 'ऋष्' का यह अर्थ स्वयं ब्रह्म ने किया। रजस्तमरहित, तपोज्ञानयुक्त, त्रिकालज्ञ, अमल और अव्याहत, ज्ञानसंपन्न, आप्त, शिष्ट, परम ज्ञानी ही ऋषि कहलाये। उनका ज्ञान तथा उनके उपदेश निर्भ्रान्त थे। बुद्धि, हृदय और कृति, ये तीनों एक साथ जिस तथ्य की

और सत्य की साक्षी दें, उस तथ्य और सत्य को पाया हुआ या पहुँचा हुआ जीव तथ्यंगत, सत्यंप्राप्त, आप्त या ऋषि है। इन्हीं महाभाग, प्रतिभावन्त, साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने वेदमंत्रों का ज्ञान प्राप्त कर दूसरे काल के असाक्षात्कृतधर्मा महर्षियों को उपदेश के द्वारा मंत्रों का बोध कराया। उपदेश ग्रहण करने में असमर्थ क्षीणशक्ति वाले दूसरे ज्ञानेच्छु लोगों के लिए विद्वानों ने 'निघण्टु' तथा वेदांगों को ग्रन्थ-रूप में निबद्ध किया।

इस प्रकार के ऋषियों की सात श्रेणियाँ थीं, जिनके नाम थे : १. ब्रह्मर्षि जैसे वशिष्ठ आदि; २. देवर्षि, जैसे कण्व आदि; ३. महर्षि, जैसे व्यास आदि; ४. परमर्षि, जैसे भेल आदि; ५. काण्डर्षि, जैसे जैमिनि आदि; ६. श्रुतर्षि, जैसे सुश्रुत आदि; और ७. राजर्षि, जैसे ऋतुपर्ण आदि।

वैदिक साहित्य

वेद से चार संहिताएँ और वैदिक साहित्य से ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ और छह वेदांग लिये जाते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थ प्रधानतः कर्मकाण्ड विषयक हैं, किन्तु उनमें प्राचीन ऋषिवंशों की कथाएँ और जगत्सम्बन्धी विचार भी वर्णित हैं। आरण्यक वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थों के ही अंश हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कर्मों का प्रतिपादन और आरण्यकों में वानप्रस्थ जीवन के कर्मों का विधान है। आरण्यकों में दर्शन सम्बन्धी विचार भी हैं। उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। सूत्रग्रन्थों में वैदिक यज्ञों का विधान वर्णित है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये छह वेदांग हैं।

वेदों में दार्शनिक विचार

वेदों का उद्देश्य वस्तुतः दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन करना नहीं था। वे धर्म के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं; किन्तु उनका उद्देश्य केवल धर्म का निरूपण करना भी नहीं था। वस्तुतः वह एक सम्पूर्ण वाङ्मय है। परवर्ती विचारकों ने अपनी रुचियों के अनुसार वेदों से मूल भावनाओं को लेकर उनका विकास किया। कर्म, उपासना और ज्ञान, वेदों में निहित इन मूल भावनाओं का विकास हम क्रमशः ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों में पाते हैं। इन्हीं तीन भावनाओं के व्यापक रूप षड्दर्शन हैं। षड्दर्शनों में जिन विचारों की व्याख्या हुई है उनको दृष्टि में रखकर हम वेदों में दार्शनिक विचारों का अन्वेषण करें तो हमें लगता है कि वेदों के ऋषियों ने जिस सर्वोपरि अदृष्ट शक्ति का चिन्तन किया है वही दर्शनों की प्रेरणा, उद्गम तथा केन्द्र है।

अदृष्ट शक्ति

वेदों के ऋषि विचारप्रधान थे। इस जगत् के मूल में उन्होंने एक अदृष्ट शक्ति को स्वीकार किया था, जिसको उन्होंने 'प्रकृति' नाम दिया। इस कारणरूप अदृष्ट प्रकृति के रहस्यों, शक्तियों को जानने के लिए उन्होंने तप और योग का आश्रय लिया। इस

अदृष्ट शक्ति के अस्तित्व पर विश्वास करने के लिए वैदिक ऋषियों के सम्मुख कुछ मौलिक समस्याएँ थीं। उन्होंने अनुभव किया कि यह समस्त जागतिक प्रपंच वास्तव में जैसा दिखायी दे रहा है, वैसा है नहीं। उसका अन्त अत्यन्त दुःखमय है। इस दुःखमय अन्त का कारण जानने के लिए उन्होंने यत्न किया और अनुभव किया कि इस दुःख को परम सुख में वदला जा सकता है। इस परम सुख को खोज निकालने के लिए उन्होंने देवताओं की प्रार्थना की और विशिष्ट उपासनाओं के द्वारा उन्हें प्रसन्न किया। उनके समक्ष देवता ही एकमात्र ऐसे कृपालु थे, जो प्रसन्न होने पर उपासक को अच्छे मार्ग का निर्देश कर सकते थे। इस प्रकार ऋषियों ने देवताओं के अनुग्रह से ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, नित्य-अनित्य और लोक-परलोक के रहस्यों, कारणों और आधारों को खोज निकाला। उन्होंने अन्तिम निष्कर्ष निकाला कि जीवात्मा और परमात्मा की एकता से ही परम श्रेय की उपलब्धि हो सकती है। यह परम श्रेय ही वस्तुतः अदृष्ट शक्ति थी, जो कि परमात्मा या विश्वात्मा का नित्य सहचर थी। प्रकृति के रहस्यों से आतंकित ऋषियों का उद्देश्य वस्तुतः इसी परम श्रेय की उपलब्धि के लिए था। चिन्तनप्रधान ऋषियों के द्वारा प्राप्त यह परम श्रेय ही वेदों का ज्ञानकाण्ड और वेदान्त का अद्वैतवाद है।

देवता

विश्व प्रकृति जड़प्रवाह नहीं, वल्कि एक धर्मविधान है। जिस विधान के द्वारा प्राकृतिक नियम शासित होते हैं उसी का नाम धर्मविधान है। जहाँ यह धर्मविधान है वहाँ किसी चेतन नियामक को स्वीकार करना अनिवार्यतः सिद्ध है। इसी अनुशासन के अधीन होकर चलने में नैतिक और आध्यात्मिक लक्ष्यसिद्धि संभव है। इस जड़प्रवाह जगत् के व्यापारों का संचालन करने वाला श्रेयबुद्धिसंपन्न कोई चेतन पुरुष है। वह विचारशील है और धर्मप्रवण है। उसके हाथों में इस कर्ममय जगत् की वागडार है। वह इस जगत् का नियन्ता, शास्ता और अधिष्ठाता है। वेद में इस प्रकार की चेतन सत्ता का साक्षात्कार होना वताया गया है। उसी चेतन सत्ता का नाम 'देवता' है।

वहुदेवतावाद

वेदों में एकेश्वरवाद और देवतावाद, दोनों प्रकार के विचार देखने को मिलते हैं। हमने ऊपर निर्देश किया है कि वेदों के ऋषि किसी एक कारणरूप अदृष्ट शक्ति के उपासक थे। वेदों के देवता इसी एकमेव अदृष्ट शक्ति के विभिन्न रूप थे (**महद्देवानां सुरत्वमेकम्**)। वे अलग और अनेक होते हुए भी निश्चित थे। उनके अलग-अलग अधिष्ठान थे।

कर्मफलों के प्रदाता

यह सृष्टि नाना नामरूप कर्मव्यापारों का घर है। इसलिए उसका संचालन करने वाले देवता भी अनेक हैं। इस जड़ जगत् के मूल में समस्त कार्यव्यापारों की अधिष्ठानरूप शक्तियों का नाम ही देवता है। इन शक्तियों से मानव-शक्ति का सम्बन्ध

जुड़ा हुआ है। मानव की शक्तियाँ हैं : कर्म, योग और ज्ञान। जगत् के अधिष्ठान रूप देवताओं की शक्तियाँ अनन्त हैं; असीम हैं; किन्तु मानव-शक्तियाँ ससीम एवं सान्त हैं। अपनी-अपनी शक्तियों के द्वारा मनुष्य जिस सामर्थ्य एवं योग्यता से प्रवृत्त होता है, तदनुसार ही उसको सुख-दुःख की फलोपलब्धि होती है। यद्यपि वेदों में देवताओं की आराधना केवल इसलिए की जाती है कि उनके नाम से हवि दी जाती है और इससे अधिक उनका माहात्म्य नहीं माना गया है; किन्तु बाद के कर्मप्रतिपादक ग्रन्थों में मनुष्य के कर्मानुकूल फल देना देवता के अधीन बताया गया है। इसका यह भी आशय हुआ कि भोग्य वस्तुओं, भोगायतन शरीर और इन भोगेन्द्रिय शक्तियों का अधिष्ठाता देवता ही है। वही विश्व-नियन्ता है। अतः अपने श्रेय (कल्याण) और प्रेय (सुख) के लिए मनुष्यों के लिए देवताओं को प्रसन्न करना आवश्यक है। देवताओं को प्रसन्न तभी किया जा सकता है, जब कि निर्दिष्ट धर्ममार्ग का अनुसरण किया जाय। तभी मानव अनुकूल सुख को प्राप्त कर जीवन को सार्थक बना सकता है।

देवताओं के गुण

वेदमंत्रों में देवताओं के गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है। उनके इन्हीं गुणों से उनके स्वरूप और स्वभाव के बारे में भी पता चलता है। देवताओं के गुण हैं :

१. देवता, शुभकर्मों (यज्ञादि) के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करते हैं और परमेश्वर को अपना सहायक मानते हैं।
२. उसी परमेश्वर के आग्रह पर वे अन्त में शरीर को छोड़ने के पश्चात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।
३. वे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निश्चय करने वाली बुद्धि से संपन्न हैं।
४. वे परोपकार में तत्पर रहते हुए अपना और दूसरों का कल्याण करते हैं।
५. वे आत्मिक ज्योति प्राप्त करके आंतरिक अंधकार को दूर करते हैं।
६. वे मातृभूमि के यश का विस्तार करते हैं।
७. वे स्वयंबुद्धि और ज्योति से संपन्न होकर मनुष्यमात्र को उत्पन्न करने का यत्न करते हैं।
८. वे अहिंसात्मक व्यवहार का बोध कराते हैं।
९. वे सदा सत्य का पक्ष लेते हैं।
१०. वे स्वयं ज्ञानी हैं और दूसरों को ज्ञान देते हैं।

वेदमंत्रों के इन्हीं आधारों पर श्रीकृष्ण ने 'गीता' के १६वें अध्याय में देवताओं के गुणों का वर्णन किया है।

अन्तिम सत्य

निर्दिष्ट धर्ममार्ग पर चलकर मनुष्य मंगलमय देवताओं को प्रसन्न करके शुद्ध अन्तःकरण और सुखमय जीवन का निर्माण तो अवश्य कर सकता है; किन्तु अन्तिम

लक्ष्य वह भी नहीं है। मनुष्य धर्ममार्ग पर चलता हुआ यह अनुभव करने लगता है कि क्या ऐसी कोई भोग्य वस्तु है, जिसके प्राप्त हो जाने पर समस्त भोगवासनाओं की तृप्ति हो जाती है ? क्या ऐसा भी कोई अन्तिम सत्य है, जिस ा जान लेने के बाद कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता ? वेदों के ऋषियों के मन में इस प्रकार की प्रेरणाएँ स्वतः ही उद्भूत हुईं। मनुष्यों में भी यही प्रवृत्ति है। मनुष्य इन समस्त कार्य-व्यापारों से उठकर उनके मूल में अधिष्ठित तथा उनका संचालन करने वाली किसी कारणभूत सत्ता की ओर अग्रसर होता है। इस समस्त महा प्रपंच का अधिष्ठाता कौन है, यह जानने के लिए उसकी तीव्र प्रवृत्ति होती है। इस जगत् के मूल में कोई सद्वस्तु, अपनी ही सत्ता से सत्तावान् है, यह जानने के लिए धर्मनिष्ठ विवेकी पुरुष के मन में स्वतः जिज्ञासा होती है।

एकेश्वरवाद

वेदों की अनेक श्रुतियाँ इस अन्तिम सत्य अद्वैतवाद का निरूपण करती हैं। एक ही सत् को विप्रजन अनेक प्रकार से कहते हैं। (**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**); जो कुछ है, जो कुछ था और जो कुछ होगा वह एक ही पुरुष है (**पुरुष ऐवेदं सर्वं य भूतमथभाव्यम्**); देवताओं का वास्तविक सार एक ही है। (**महद्देवानां सुरत्वमेकम्**); सभी देवता उस विश्वात्मा के अंग स्वरूप हैं (**एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति**), ये सभी श्रुतियाँ बहुत्व का एकत्व में समावेश करती हैं। वेदों में उस अद्वैत तत्त्व को आत्मा, निष्काम, आत्मनिर्भर, अपर, स्वयंसिद्ध, आनन्दमय, अनिर्वचनीय, सर्वश्रेय, सर्वव्यापक और शाश्वत आदि अनेक विभूतियों से युक्त कहा गया है। उसी अनिर्वचनीय परमेश्वर को इस सृष्टि का और इस सृष्टि के विभिन्न नाम-रूपों का आधार बताया गया है।

ऋग्वेद में अद्वैतवाद

ऋग्वेद की अनेक श्रुतियाँ अद्वैतवाद का बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन करती हैं। ऋग्वेद (२।३।२३।४६) में एक स्थान पर कहा गया है कि 'मेधावी लोग उस सूर्य को इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, वायु, गरुड़ आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। इस वेदमंत्र को यदि अद्वैत की दृष्टि से न देखा जाय तो उसका वास्तविक अर्थ नहीं जाना जा सकता है। उसके अर्थ में असंगति आ जायगी।

जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य प्रतिपादित किया गया है, ठीक उसी का मूल रूप हमें ऋग्वेद (३।७।१४।५) में देखने को मिलता है। वहाँ कहा गया है कि 'वह आत्मा सूर्यरूप होकर द्युलोक में निवास करता है, सब प्राणियों का आधार वायुरूप होकर अन्तरिक्ष में रहता है, होम निष्पादक अग्निरूप होकर पृथ्वी पर रहता है, वही मनुष्यों में आत्मा के रूप में अवस्थित है, वही देवलोक में निवास करता है, वही यज्ञस्वरूप है, वही जलजन्तुओं, पृथ्वी के वृक्षादियों, मनुष्यों के

शुभाशुभ कर्मों और पर्वत से प्रादुर्भूत नदियों में निवास करता है। वह सर्वव्यापी है और त्रिकालाबाध्य ब्रह्मस्वरूप है।'

अद्वैत दृष्टि से ब्रह्म में माया की जो द्वैत कल्पना की जाती है उसका कितना सुन्दर दृष्टान्त ऋग्वेद (४।८।३३।१८) की इस श्रुति में देखने को मिलता है :

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव. तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशः: ॥

अर्थात् 'सर्वव्यापक चिद्रूप परमात्मा प्रत्येक शरीर में निहित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर जीवभाव को प्राप्त होता है। घट में रखे जल में आकाश की छाया की भाँति शरीर में अवस्थित बुद्धि में जो चिदाभास है, वही जीव है। परमात्मा का वह प्रतिबिम्बस्वरूप जीवात्मक बिम्ब स्थानीय परमात्मा के यथार्थ बोध के लिए है। ऐश्वर्यशाली वह परमात्मा, माया और माया की अनन्त शक्तियों के द्वारा आकाशादि विविध रूपों में परिणत होकर नानारूप इस ब्रह्माण्ड की रचना करता है।'

इस कारणभूत मूल सत्ता को, जिसकी ओर विवेकशील पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, वेदान्त में बृहत्, ब्रह्म, शिव, विष्णु, महाकाल आदि नामों से कहा गया है। इस परम तत्त्व के प्राप्त हो जाने पर ज्ञान, कर्म और भाव-प्रवाहों का अन्त हो जाता है। उसी को सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं, एकमेव, अद्वितीयं, शान्तिमयं, शिवं, आनन्दमयं और अमृतं कहा गया है।

अनुशासन (ऋत) का सिद्धांत

ऋषियों ने अपने अनुभूतिपूर्ण अतःकरणों में जिन सनातन सत्यों का साक्षात्कार किया था उन्हीं का वर्णन वेदों में है। इसलिए ऋषियों को **'साक्षात्कृतधर्मा:'** कहा गया। इन ऋषियों ने जिन सत्यों को खोजा उनमें 'अनुशासन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वेदों में 'ऋत्' का बड़ा ही वैज्ञानिक सिद्धान्त है। ऋत् कहते हैं अनुशासन या व्यवस्था को। वेदों में विशाल मानवता के कर्तव्यों और अनुशासनों का गंभीरता से निरूपण किया गया है। किसके लिए क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य है; क्या ज्ञातव्य हैं; क्या अज्ञातव्य है; और क्या भोग्य है, क्या परिहार्य है; इन सभी बातों का निर्देश वेदों में है। इसी को वेद का अनुशासन तथा 'ऋत् का सिद्धांत' कहते हैं और वह किसी व्यक्ति, संप्रदाय, जाति के लिए न होकर सम्पूर्ण मानवता के लिए है। इसीलिए वैदिक धर्म सम्पूर्ण मानवता का धर्म है, कर्तव्य है; वैदिक दृष्टि यथार्थ मानव दृष्टि है। मनुष्य का मनुष्य के साथ और मनुष्य का समस्त वहिर्जगत् के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इसका सम्यक् निरूपण वेदों का 'ऋत् सिद्धांत' करता है। वेदों में सबके लिए समान रूप से सत्य, मंगल और सुख का आदर्श बताया गया है।

वेदों का यह 'ऋत्' नित्य, शाश्वत और सबका पिता है। सूर्य, चन्द्र, रात, दिन, सुबह, सायं, ऋतुएँ आदि का नियमित क्रम इसी ऋत् द्वारा अनुशासित है। वेदों

का वह नैतिक नियम देवताओं और जीवों को सन्मार्ग पर चलने का निर्देश करता है। जीवों के लिए उसका स्पष्ट निर्देश है कि वे पापों से बच कर पुण्य की ओर प्रवृत्त हों।

सृष्टि विचार

वेदों में सृष्टि के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार से विचार किया गया है। वहाँ बताया गया है कि अग्नि से जगत् की उत्पत्ति हुई और तदनन्तर सोम से पृथ्वी, आकाश, दिन, रात तथा औषधियाँ उत्पन्न हुईं। दूसरी ऋचा में कहा गया है कि त्वष्टा से सारे जगत् की उत्पत्ति हुई। कहीं-कहीं इन्द्र के द्वारा भी सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है।

ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त' सृष्टि-विकास का बड़ा ही वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करता है। उसमें कहा गया है कि आरंभ में न सत्, न अन्तरिक्ष और न व्योम था; चारों ओर अँधेरा था, जल था; किन्तु प्रकाश नहीं था; यदि उस समय कोई था तो एकमात्र अव्यक्त चेतन (तपस) था। उसी अव्यक्त चेतन से ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्तियों का प्रादुर्भाव होकर बाद में व्यापक सृष्टि का निर्माण हुआ। उस अव्यक्त चेतन (तपस) को विश्वकर्मा, अद्वितीय, सर्वव्यापक, आत्मज्योति, परमव्योमन् और परम श्रेष्ठ कहा गया है।

कर्म विचार

वेदों का एक भाग कर्मकाण्डप्रधान है। ये कर्म भी अधिकारीभेद से अनेक हैं। सभी व्यक्तियों को सभी कर्म करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि अधिकारीभेद से किये गये कर्म फलप्रद नहीं होते। वहाँ बताया गया है कि कर्म करने वाले के लिए तपस्या, स्मृति, पवित्र आचार, निश्छल व्यवहार और अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। वेदों में बताया गया है कि चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष का भक्षण और प्रमाद आदि निषिद्ध कर्मों से दूर रह कर शुद्ध आचरण करने से कर्मों का अधिकारी बना जा सकता है। निषिद्ध कर्मों को करने वाले नारकीय जीव कर्मों के अधिकारी नहीं बन सकते हैं।

प्रत्येक जीव अपने द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही उनके फलोपभोग के लिए पुनः जन्म लेता है। बुरे कर्मात्मा को पापमय जीवन और अच्छे कर्मात्मा को सद्गति प्राप्त होती है। उत्तम कर्म करने वाले को ब्रह्मलोक, मध्यम कर्म करने वाले को चन्द्रलोक और नीच कर्म करने वाले को वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरों में निवास करना पड़ता है।

श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ

अग्नि में हवन-सामग्री तथा घी आदि डालने मात्र को यज्ञ नहीं कहा जाता है। वेदों में यज्ञ को 'श्रेष्ठतम कर्म' कहा गया है।

'गीता' में द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ, योगयज्ञ और ज्ञानयज्ञ, ये चार प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है, 'हे अर्जुन, अच्छे या बुरे जितने भी कर्म किये जाते हैं वे निश्चित ही मनुष्य को जन्म-मरण के चक्कर में डालने वाले होते हैं। पर यज्ञ के लिए जो कार्य किया जाता है वह बंधन में नहीं डालता। अतः तुम यज्ञ के निमित्त से ही सदा कर्म किया करो।'

'गीता' का अभिमत है कि परोपकार के लिए निष्काम भाव से जितने भी शुभ कर्म किये जाते हैं उन सब का नाम 'यज्ञ' है।

उपनिषदों में दर्शन

* * * *

उपनिषद्

ब्राह्मणग्रंथों और उपनिषद्ग्रंथों की अनेकता

भारतीय विचार-परम्परा के क्षेत्र में उपनिषद्ग्रन्थों के निर्माण से वैदिक साहित्य में सर्वथा नये युग का सूत्रपात हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर उपनिषद्ग्रन्थों तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मंत्रसंहिताओं का ही व्याख्यारूप है। मंत्रसंहिताओं की व्याख्या का एक ही आधार लेकर चलने वाले ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषद्ग्रन्थ वस्तुतः एक-दूसरे से पूरब-पश्चिम जितनी असमानता रखते हैं। यद्यपि उपनिषद्ग्रन्थों का सीधा सम्बन्ध मंत्रसंहिताओं से हैं; किन्तु उन्हें ब्राह्मणग्रन्थों का आलोचनाग्रन्थ कहा जाय तो अनुचित न होगा।

उपनिषद्, वैदिक भावना के विकासरूप हैं। कर्म और ज्ञान, दोनों की उद्-भावना वेदों में है। उनकी कर्मभावना को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हुई और ज्ञानभावना को लेकर उपनिषद् रचे गये। कर्मप्रधान ब्राह्मणग्रन्थों का विधान जब पशुहिंसा जैसे स्थूल कार्यों तक पहुँच गया था तब उस युग के विचारवन्त मनीषियों ने कर्मकाण्ड की इस अविचारित पद्धति का विरोध करना आरंभ किया। उन्होंने पुरोहितों द्वारा बताये गये भोगवादी, नितान्त स्वार्थपूर्ण कार्यों की हेय कहकर आलोचना की। फलतः कर्मकाण्ड के विरोध में ज्ञानकाण्ड का जन्म हुआ, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ कहलाये उपनिषद्। उपनिषदों का यह युग भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा का युग रहा। इस युग में नये अन्वेषण और नये चिन्तन होकर नयी मान्यताएँ स्थापित हुईं।

धर्म की जिस व्यापक भावना का स्वरूप मंत्रसंहिताओं में देखने को मिलता है, ब्राह्मणग्रन्थों ने उसको एकांगी, संकुचित और नितान्त व्यक्तिगत रूप दे दिया। उसको जीविका का एक साधन बना दिया। धर्म-मीमांसा के सम्बन्ध में दोनों युगों का अलग-अलग दृष्टिकोण रहा। ब्राह्मणकाल वैदिक धर्म की अवनति का समय और उपनिषत्काल वैदिक धर्म को अभ्युन्नति का समय रहा।

मंत्रसंहिताओं से उपनिषदों का पार्थक्य

यद्यपि उपनिषद् भी वेद-वचनों को संबल रखकर ही आगे बढ़े, तथापि वेदों

और उपनिषदों में जीवन की शाश्वत मान्यताओं के प्रति अपने-अपने ढंग से विचार किया गया। वैदिक युग आनन्द और उल्लास का युग था। इसलिए आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की विशेष चिन्ताएँ न तो वेदों में हैं और न ही उन पर विचार करने की अपेक्षा वैदिक ऋषियों ने आवश्यक समझी। आत्मा और शरीर की पृथक्ता का विचार वेदों में अवश्य है; किन्तु आत्मा का आवागमन उनमें नहीं बताया गया है। यह विषय उपनिषद्ग्रन्थों की रचना के बाद प्रस्तुत किया गया और इस पर भरपूर प्रकाश भी उपनिषदों में ही डाला गया। इस दृष्टि से मंत्रसंहिताओं और उपनिषदों की भिन्नता स्पष्ट है। वेदों के आनन्दमय और प्रेममय जीवन में निरानन्द और उदासी का वातावरण तथा वेदों से निश्चिन्त एवं स्वच्छन्द जीवन में चिन्ता और भय का उदय उपनिषदों की रचना के बाद आरम्भ हुआ। जन्म, मरण, संन्यास, वैराग्य क्या है, इसका विचार पहले-पहल उपनिषदों के द्वारा प्रकाश में आया।

उपनिषदों का नामकरण

उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग होने के कारण 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध हैं। वेदान्त दर्शन के तीन प्रस्थान हैं : उपनिषद्, 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र'। उपनिषद् श्रवणात्मक, 'गीता' निदिध्यासनात्मक और 'ब्रह्मसूत्र' मननात्मक है। उपनिषद्ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उप + नि, इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड़ देने के बाद 'उपनिषद्' शब्द व्युत्पन्न होता है। 'सद्' धातु अनेकार्थक है। विशरण (विनाश), गति (ज्ञान, प्राप्ति) और अवसान (शिथिलता, समाप्ति) आदि उसके कई अर्थ हैं। इन सभी अर्थों की संगति 'उपनिषद्' शब्द के साथ बैठ जाती है। इस दृष्टि से 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ हुआ : जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती हैं, जिससे संसार की कारणभूत अविद्या के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं और जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, वही उपनिषद्-विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है।

अथवा उप (व्यवधानरहित), नि (सम्पूर्ण), षद् (ज्ञान) के प्रतिपादक ग्रन्थ ही उपनिषद् हैं; अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान, जो ज्ञाता से अभिन्न, देश-काल-वस्तु के परिच्छेद से रहित, परिपूर्ण ब्रह्म ही उपनिषद् शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है। शंकराचार्य के मतानुसार अनात्मविस्मृतिपूर्वक श्रद्धा और भक्ति के साथ जो लोग ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं उनके गर्भवास, जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोग आदि अनर्थों का जो नाश करती है तथा ब्रह्म को प्राप्त कराती है वह (उप+नि+पूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ स्मरण होने से) उपनिषद् है।

प्रमुख उपनिषद्

उपनिषदों की वास्तविक संख्या कितनी थी, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता है। 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोष' में २२३ उपनिषदों की नामावली दी गयी है; किन्तु आज उनमें से कुछ ही उपनिषद् प्राप्त होते हैं। जिन उपनिषदों का प्रमुख स्थान है वे संख्या में १२ हैं। उनके नाम हैं : ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्य, कौषीतकी और श्वेताश्वतर।

उपनिषदों का रचनाकाल

उपनिषद्ग्रन्थों में जो विचार संकलित हैं वे अपने निर्माण-युग से भी प्राचीन हैं। आज के जीवन में उपनिषदों की बहुत-सी बातें ठीक तरह से नहीं उतरती हैं। इसका कारण है युग की दूरी और विचारों की भिन्नता। कुछ योरोपीय विद्वानों ने उपनिषदों पर जो आक्षेप किये हैं, वस्तुतः उसका कारण यही है कि उन्होंने उपनिषदों की मूल भावना को नहीं पहचाना।

उपनिषदों का विषय एक ही है; किन्तु उनकी रचना का क्रम एक नहीं है। लगभग वैदिक काल में ही उनका अस्तित्व था। कुछ उपनिषदों पर बहुत बाद की परिस्थितियों का प्रभाव है। अतः निश्चित ही उनकी रचना बाद में हुई।

उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक निश्चित राय नहीं दी जा सकती है। अन्य अनेक देशी-विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित और लोकमान्य तिलक ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त गवेषणा की है। 'मैत्र्युपनिषद्' में वर्णित उदगयन स्थिति (मैत्र्यु० ६।१४) का, ज्योतिष-गणना के आधार पर उक्त दोनों विद्वानों ने पर्याप्त अनुसंधान किया है। लोकमान्य ने सामान्य रूप से ४५०० ई० पूर्व ऋग्वेद, २५०० ई० पूर्व ब्राह्मणग्रंथ और १६०० ई० पूर्व उपनिषदों का युग माना है। आज जो उपनिषद् उपलब्ध हैं उनमें इतना प्राचीन कौन-कौन है, इसको सिद्ध करना संभव नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषद् बौद्धयुग से भी पहले के हैं। इस प्रकार के छठीं शताब्दी ई० पूर्व से पहले रचे गये उपनिषदों में छान्दोग्य, वृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी और कठ का नाम लिया जा सकता है। वैसे तो १४वीं, १५वीं शताब्दी ई० तक उपनिषदों की रचना होती रही।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय

विषय की दृष्टि से वेदों के प्रमुख तीन भाग हैं : कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म विषय का प्रतिपादन संहिता एवं ब्राह्मण भाग में हुआ है; उपासना का विषय संहिता तथा आरण्यक भाग में वर्णित है; और तीसरे ज्ञान भाग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ उपनिषद् हैं, जो कि मोक्ष-साधन का मार्ग वताते हैं। मोक्ष के लिए पहला साधन ज्ञान अर्थात् विद्या है।

विद्या

विद्या दो प्रकार की बतायी गयी है परा और अपरा। चारों वेद और छह

वेदांग अपरा विद्या और अक्षरब्रह्म का ज्ञान कराने वाली परा विद्या है। (**तदक्षर-मधिगम्यते**)। परा विद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या ही ब्रह्मविद्या है, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् हैं। अपरा विद्या कर्मप्रधान विद्या है, अतएव कर्मविद्या है। कर्मविद्या की फलोपलब्धि कालांतर में होती है; किन्तु ब्रह्मविद्या तत्काल फलदायिनी है। कर्मफल विनश्वर भी है; किन्तु ब्रह्मविद्या का फल अविनश्वर, अमर होता है। अपरा विद्या मुक्ति का कारण नहीं हो सकती; किन्तु परा विद्या मोक्ष को देने वाली है। फिर भी अपरा विद्या के द्वारा, अर्थात् वेदोक्त कर्मानुष्ठान के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान, याने परा विद्या के द्वारा मोक्ष फल को उपलब्ध किया जा सकता है,क्योंकि वह हेतु है।

विद्या : अविद्या

अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि अविद्या है (योग)। अहमभिमान, अर्थात् मैं और मेरापन, अविद्या है (वेदान्त)। प्रत्यक् से अभिन्न ब्रह्म का बोध कराने का साक्षात्साधन विद्या है। उसके विपरीत अविद्या है, जिसके कारण आत्मभिन्न देहादियों में भ्रांतिवश आत्मबुद्धि होने के कारण जीव संसारासक्त होकर परमार्थ से च्युत हो जाता है।

ब्रह्मविद्या के अभाव को अविद्या कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में 'मुण्डकोपनिषद्' (१।२।८।९) में कहा गया है कि अविद्या में लिप्त अज्ञानी पुरुष अहंकारी, अभिमानी हो जाते हैं। रागासक्त होने के कारण वे विद्या (ज्ञान) को नहीं पहचान पाते, जिससे उनका उत्तम लोक क्षीण पड़ जाता है और पतन हो जाता है। अविद्या से घिरे हुए वे अपने-अपने को धीर तथा पण्डित समझते हैं। इसलिए वे मोहित होकर इधर-उधर डोलते हैं, जैसे अंधे के द्वारा ले जाये जाते अन्धे (**अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः**)।

इसी प्रकार 'ईशावास्योपनिषद्' (९।११) में विद्या और अविद्या का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो पुरुष केवल अविद्या (अज्ञान) या कर्म की उपासना करते हैं वे अदर्शनात्मक (सांसारिक) अज्ञान में प्रवेश करते हैं।

मुमुक्षु पुरुष के लिए बताया गया है कि वह वेदविहित कर्मों को करता हुआ साथ ही आत्मज्ञान (विद्या) के लिए यत्न करे। क्योंकि केवल आत्मज्ञान या देवताओं की उपासना से दूसरा ही फल मिलता है; और केवल कर्मानुष्ठान से दूसरा ही फल मिलता है। श्रुति भी इसी बात को कहती है कि कर्म करने से पितृलोक और आत्मज्ञान से देवलोक प्राप्त होता है। इसलिए जो पुरुष विद्या (आत्मज्ञान) और अविद्या (कर्मानुष्ठान) दोनों को एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को दूर कर विद्या से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

प्रकृति या माया

प्रकृति, पुरुष और परमात्मा का ज्ञान ही उपनिषद्विद्या का प्रतिपाद्य विषय है। मूल तत्त्व प्रकृति से ही जगत् का अस्तित्व है। यह प्रकृति ब्रह्म की उपादानभूत माया है। उद्भिज, अण्डज, स्वदेज और जरायुज चार देहधारी; वाक्, हस्त, पाद,

वायु, उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रिय; चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा त्वक्, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार, ये नौ ज्ञानेन्द्रिय और एक विषय—ये सभी प्रकृति तत्त्व के कार्य-व्यापार हैं।

आत्मा

उपनिषदों में आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन कहा गया है। वह जन्म-मृत्यु से रहित है। शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी उसकी स्थिति में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। वह मेधावी है।

नचिकेता को उपदेश देते हुए 'कठोपनिषद्' में यमराज ने आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'हे नचिकेता! यह चैतन्यस्वरूप आत्मा न जन्मता है और न मरता है। न यह किसी दूसरे से उत्पन्न हुआ है और न कोई दूसरा ही उससे उत्पन्न हुआ है। शरीर के नष्ट होने पर भी वह नहीं मरता' (१।२।१२)। वह आत्मा सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर और महान् से भी महत्तर है। वह जीव की गुफा में छिपा है (१।२।१६)। वह समस्त अनित्य शरीरों में रहता हुआ भी शरीर रहित है; समस्त अस्थिर पदार्थों में व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है। इस नित्य और महान् विभु आत्मा को जो धीर पुरुष जान लेता है वह शोक से तर जाता है (१।२।२२)। वह न तो वेद के प्रवचन से मिलता है, न विशाल बुद्धि से और न केवल जन्म भर शास्त्रों के श्रवण से ही; बल्कि वह उसको मिलता है, जो उसको पाने के लिए व्याकुल हो जाता है (१।२।२३)। यह शरीर रथ है, आत्मा रथ का स्वामी रथी नाम से कहलाता है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं, शब्दस्पर्शादि विषय उनके दौड़ने की भूमि है। इस शरीर-इन्द्रिय-मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं (१।३।३-४)।

प्रज्ञात्मा

'कौषीतकी उपनिषद्' के चौथे अध्याय में लिखा है कि प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। प्रज्ञात्मा शरीर में उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे काष्ठ में आग। सम्पूर्ण प्राण-चेष्टाएँ प्रज्ञात्मा के पीछे उसी प्रकार भागती हैं, जैसे धन के पीछे धन-लुब्धक। इस प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने पर सम्पूर्ण पाप एवं दुःख विनष्ट होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी हेतु धर्मसूत्रों ने पापमुक्ति के लिए उपनिषद् विद्या केअध्ययन पर बल दिया है। 'ऐतरेयोपनिषद्' के तीसरे अध्याय में कहा गया है कि ब्रह्म आदि देवता, पंच महाभूत, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज, स्थावर, जंगम आदि जितनी भी जीवात्माएँ हैं, सब का आधार प्रज्ञान है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी में आधारित है। वही प्रज्ञान ब्रह्म है।

ब्रह्म का स्वरूप

ब्रह्म सत् है

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत् है। वह सर्वव्यापी, नित्य, अनन्त और शुद्ध चैतन्य है। वही सबका आत्मा है। उसी से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है, उसी से

यह स्थिर है और उसी में विलय हो जाता है। यह प्रकृति और ये प्राकृतिक शक्तियाँ उसी का अंश हैं। वह सत्य और अनन्त है। वह शब्द, स्पर्श, रूप आदि से रहित, अक्षय, अरस, नित्य और गन्धरहित है। वह आदि-अन्त से हीन और ध्रुव है। इस नाना रूपात्मक जगत् के पहले सत् शब्द वाच्य, अव्याकृत, ब्रह्मरूप ही था। वह एक-मात्र अद्वितीय था; अर्थात् सजातीय, स्वगत तथा विजातीय भेदों से रहित था। यह विश्व ब्रह्म ही है। यह सब कुछ आत्मा ही है। सब प्राणियों के भीतर वही छिपा है। वह ब्रह्म तू ही है।

वह ज्ञानमय है

ब्रह्म का स्वरूप विज्ञानमय और आनन्दमय है। उसको विवेक के द्वारा जाना जा सकता है। वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय से परे है। वह अन्तस्थ, कूटस्थ, नित्य और विभु है। उस ब्रह्म का, जो घट-घट में छिपा है, साक्षात्कार करने के लिए जितेन्द्रिय, शांतचित्त, निरीह, सहिष्णु और आत्मनिष्ठ होने की आवश्यकता है। उसका दर्शन श्रवण, मनन और निदिध्यासन से हो सकता है। उसका साक्षात्कार करने के बाद मनुष्य अमर होता है और उसके सभी बन्धन छूट जाते हैं (**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्**)।

वह अज्ञेय नहीं है

उपनिषदों में ब्रह्म को ज्ञाता या विषयी कहा गया है। जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है उसको कैसे जाना जा सकता है? (**येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्**); अथवा जिसका वाणी वर्णन नहीं कर सकती और जहाँ तक मन की पहुँच नहीं है (**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**) इत्यादि श्रुतियाँ निषेधात्मक नहीं; बल्कि उस परम तत्त्व की अगम्यता को प्रकट करती हैं। वास्तव में वह ज्ञाता का ज्ञान है। उसके द्वारा सब कुछ देखा जा सकता है। यही उसकी अपरोक्षानुभूति का रहस्य है। 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा गया है कि 'प्रणव (**ओ३म्**) धनुष है, आत्मा तीर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। एकांत चित्त से निशाने को वेधते रहना चाहिए, जिससे तीर और निशाना एक हो जाय; अर्थात् तीर ठीक निशाने पर जा लगे।'

पर अपर या निर्गुण सगुण

उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं : पर और अपर। पर ब्रह्म निरुपाधि, निःसीम, परात्पर और निर्गुण है। अपर ब्रह्म सोपाधि, ससीम, अन्तस्थ और सगुण है। पर ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है और अपर ब्रह्म नित्य सर्वव्यापी, जगत्स्रष्टा तथा कर्मों का अधिष्ठाता है। वही पालक और संहारक भी है। पर ब्रह्म परा विद्या का विषय और अपर ब्रह्म अपरा विद्या का विषय है। पर ब्रह्म अवर्णनीय है और उसको '**नेति, नेति**' से कहा गया है; किंतु अपर ब्रह्म सोपाधि होने से वर्णनीय है और उसको '**इति, इति**' से कहा गया है।

पर ब्रह्म सत्य, ज्ञान अनन्त, अद्वैत, अमृत और सनातन है। अपर ब्रह्म जगत् का

कारण, पाप-पुण्य के फलों को देने वाला, प्रकाशक और वह भी अनन्त, अक्षर, सनातन तथा सर्वज्ञ हैं। वस्तुतः पर और अपर अर्थात् निर्गुण और सगुण, ब्रह्म के इन दोनों स्वरूपों की शक्तियों, विभूतियों और अनन्त, अखण्ड स्वरूपों में कोई अन्तर नहीं है। उनमें अन्तर है तो इतना ही कि पर ब्रह्म की प्राप्ति वैराग्य, त्याग, तपस्या और संन्यास से संभव है; किन्तु अपर ब्रह्म का भक्ति, श्रद्धा, प्रेम और भावना से प्राप्त किया जा सकता है। परतत्त्व लोक-परलोक का आधार सन्मात्र वस्तु है और अपर सम्पूर्ण व्यवहार एवं व्यवहार्य प्रपंच रूप है। दोनों की शक्तियाँ अनन्त हैं। एक अगोचर है तो दूसरा सगोचर है। दोनों में कोई बड़ा नहीं है। दोनों की प्राप्ति के समान फल तथा परिणाम हैं। दोनों एक रूप हैं।

ऐक्य का सिद्धान्त

उपनिषदों का ऐक्य-सिद्धान्त उसकी तात्त्विक जानकारी के लिए बड़ा उपयोगी है। वह ऐक्य ही वेदान्त का अद्वैत है, जिसके अनुसार सभी कुछ है; किन्तु उसका एक ही परम तत्त्व में अधिवास है। उपनिषदों तथा वेदान्त का यह ऐक्य-सिद्धान्त वस्तुतः दार्शनिक जगत् का साम्यवाद है। दर्शनों के इस साम्यवाद में एक वस्तु या एक जीव, दूसरी वस्तु या दूसरे जीव से इतने समीप हैं कि उनको दो इकाइयाँ कहा ही नहीं जा सकता है। स्वरूप से, विचार से, कर्म से और सभी तरह से कहीं भी, किसी भी अवस्था में भिन्नता या अनेकता है ही नहीं।

जीव और आत्मा

उपनिषदों में जीव को वैयक्तिक आत्मा और आत्मा को परम आत्मा कहा गया है और बताया गया है कि दोनों क्रमशः अंधकार तथा प्रकाश की भाँति एक ही गुफा में निवास करते हैं। जीव अनुभूतियुक्त और कर्मफलों के बन्धनों से जकड़ा हुआ है, किन्तु आत्मा अज, अनादि और नित्य है तथा कर्मबन्धों से विमुक्त है। जीव का लक्ष्य होता है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और सारे बन्धनों तथा द्वैतभावनाओं को मिटाकर अद्वैत की ओर उन्मुख होना। उपनिषदों का आत्मा वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप है, किन्तु जीव कर्मबन्धों के कारण जन्म-मृत्यु का ग्रास है। इस जन्म-मृत्यु रूपी महान् अभिशाप से आत्यन्तिकी निवृत्ति के लिए जीव से अर्थात् वैयक्तिक आत्मा से परम आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना पड़ता है।

जीव और ब्रह्म

उपनिषदों की अद्वैत विचारधारा के अनुसार संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में जीव को भी ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। उपनिषद् ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा ब्रह्मस्वरूप देहधारी जीव को इसलिए हुई कि वह अविद्या के प्रभाव से अपने वास्तविक अजन्मा, अविनश्वर, शुद्ध-बुद्ध-संयुक्त, सच्चिदानन्दमय, आत्मस्वरूप को विस्मृत कर स्वयं को जन्म-मरण-धर्मा, कर्ता, भोक्ता तथा सुख-दुःख

से युक्त मान बैठा है और उनके कारण वह जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता। उपनिषद् वह ज्ञान है, जिसके प्राप्त हो जाने से जीव को दुःखों से छुटकारा पाने, ब्रह्मस्वरूप हो जाने तथा अविद्या का कोहरा मिटा डालने का प्रकाश मिलता है। ऐसा ज्ञानी जीव, मोक्ष को प्राप्त हो कर अनन्त आनन्द का अधिकारी हो जाता है।

जीव की चार अवस्थाएँ

उपनिषदों का जीव-विज्ञान बड़ा ही सुव्यवस्थित है। उनमें जीव की चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। जीव की इन चार अवस्थाओं को जानकर सहज ही में आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। उसकी चार अवस्थाओं के नाम हैं : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत् अवस्था में जीव 'संसार' कहलाता है। स्वप्नावस्था में जीव को 'तैजस' कहा जाता है, जबकि वह मनोमय बना रहता है। सुषुप्ति अवस्था में जीव 'प्राज्ञ' कहलाता है, जब कि वह अन्तर्बाह्य दृष्टियों का त्याग करके आनन्द में एकरस होकर रहता है, और तुरीय अवस्था में वह 'आत्मा' के नाम से कहा जाता है, जब वह न चेतन है न अचेतन ही; बल्कि एक, अद्वैत हो जाता है। जीव की यह आत्मावस्था ही ब्रह्म है। इसलिए उपनिषदों में जीव को ही आत्मा कहा गया है और वेदान्त दर्शन में वह जीवभाव की उपादानभूत अविद्या है। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर उसको ब्रह्मरूप माना गया है।

पाँच कोश

ये पाँच कोश जीव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर हैं। एक प्रकार से जीव की सुरक्षा के ये पाँच कवच हैं। उनके नाम हैं : अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। अन्नमय कोश स्थूलशरीर में; प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोश सूक्ष्मशरीर में और आनन्दमय कोश कारण शरीर में विद्यमान रहते हैं। अन्नमय कोश अन्तस्थ जीव का पहला द्वार है, जिसमें शरीर तथा इन्द्रियाँ रहती हैं और जो अन्न के द्वारा जीवित रहती हैं। प्राणमय कोश दूसरा द्वार है, जो अन्नमय कोश के अन्दर है और जिसमें प्राणशक्तियों का निवास है और जिसके द्वारा शरीर में गति उत्पन्न होती है। उसके भी भीतर मनोमय कोश है, जिसका अधिष्ठाता मन है और जो संकल्प-विकल्पों का घर है। मनोमय कोश के भी भीतर विज्ञानमय कोश है, जिसमें निवास करने वाली बुद्धि है और जो द्वैतभाव का कारण है। उसके भी भीतर अन्त में आनन्दमय कोश है, जिसमें जीवात्मा का अधिवास है, और जो आत्मा भी है तथा ब्रह्म भी। वह आनन्दमय है, निरपेक्ष है और सर्वज्ञ होने से द्रष्टा भी है। जीव का लक्ष्य इसी तक पहुँचने का होता है।

ब्रह्म और जगत्

उपनिषदों में जगत् को ब्रह्म का ही दूसरा रूप माना गया है। ब्रह्म ही उसका पिता है; वही पालक है और वही संहारकर्ता। ब्रह्म अनन्त है और जगत् उसका एक

अंश है। 'मुण्डकोपनिषद्' (१।१।७) में अद्वैत-दृष्टि से जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध बताते हुए लिखा गया है :

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाक्षरात् सम्भवन्तीह विश्वम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ा अपने अन्दर से तन्तु बाहर निकाल कर जाल बनाता है और फिर उन तन्तुओं को अपने में ही समेट लेता है; जिस प्रकार बिना यत्न पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और उसी में लीन हो जाती है; और जिस प्रकार बिना चेष्टा किये पुरुए के केश तथा लोम उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति होती है।

इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है।

बन्धन तथा मोक्ष

जीवन दुःखमूलक है। वह अनेक तरह के बन्धनों से बँधा है। वह निरन्तर ही जन्म-मृत्यु के चक्र में घूम रहा है। इस बन्धन से छुटकारा दिलाने वाली, परम पुरुषार्थ को प्रकाशित करने वाली और परमार्थ का यथार्थ स्वरूप बनाने वाला एकमात्र परम उपकारिणी विद्या उपनिषद् है। तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए वह परमार्थ है और क्लेशयुक्त जीवों के लिए परम उपकारी। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय की बिना चिन्ता किये कर्मरत रहने के लिए 'गीता' में जिस परम पुरुषार्थ का निर्देश किया गया है, उपनिषद् भी ठीक उसी निष्काम कर्म का प्रतिपादन करके 'कर्तव्यशास्त्र' को भी अपने अन्दर समाहित कर लेते हैं।

अनन्त कर्मबन्धों से जकड़े हुए जीव को सर्वथा छुटकारा देने वाले मोक्षमार्ग का निरूपण भी उपनिषदों में किया गया है। 'ईशावास्योपनिषद' (१२-१४) में कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत् का प्रतिपादन करते हुए लिखा गया है कि वेद-विहित कर्मोपासना से मृत्यु का संतरण और विद्या (ब्रह्म) अर्थात् ज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जो पुरुष एक साथ इन दोनों को जानता है वह मृत्यु (असंभूति) पर विजय प्राप्त करके मोक्ष (संभूति) को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार 'कठोपनिषद्' (१।३।८) में यमराज और नचिकेता का सम्वाद तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उसमें परमपद मोक्ष की प्राप्ति के लिए कहा गया है कि जो विवेकी है, जिसका मन निगृहीत है और जो सदा पवित्र रहता है वह ऐसे परमपद को प्राप्त करता है, जहाँ से लौटकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता।

वेदान्त दर्शन के आधार

वेदान्त दर्शन के मूल आधार उपनिषद् ही हैं। सदानन्द (१६०० ई०) ने

'वेदान्तसार' की प्रस्तावना में कहा है कि उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मानने वाले दर्शन का नाम ही वेदान्त है **'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्'**। उपनिषदों की **'तत्त्वमसि'; 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** और **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इन ऐक्य-अनैक्य-विधायक श्रुतियों के आधार पर ही वेदान्त दर्शन की भूमि तैयार हुई है और उसमें जिन भिन्न-भिन्न वादों का प्रवर्त्तन हुआ उनका विवरण इस प्रकार है :

मध्व का द्वैतवाद
शंकर का अद्वैतवाद
रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद
वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद
निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद

निष्कर्ष

इस प्रकार तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से उपनिषद्विद्या का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। ब्रह्म की सत्ता क्या है, जगत्-ब्रह्म का सम्बन्ध क्या है, ब्रह्म-जीवात्मा का स्वरूप क्या है, ब्रह्म की उपलब्धि का मार्ग कौन-सा है' आत्मा, प्रज्ञात्मा तथा प्रज्ञान क्या वस्तु है, ब्रह्म-आत्मा के ऐक्य का क्या रहस्य है, और ब्रह्म-साक्षात्कार का अर्थ तथा फल क्या है, ये सभी बातें उनमें वर्णित हैं। यही उपनिषदों की उपयोगिता है।

उपनिषद् भारतीय तत्त्वविद्या के स्रोत हैं। वे अनेकता में एकता स्थापित करके जीवन की विभिन्न धाराओं को एक ही महार्णव में विलयित होने का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषदों के विचारों की सर्वोच्च महानता इसमें है कि उनमें समस्त मानवता के लिए समान रूप से श्रेय और प्रेय का निर्देशन किया गया है।

गीता में दर्शन

* * * *

गीता का मुख्य उपदेश

'गीता' का मुख्य उपदेश क्या है, इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। यह अनैक्य आज ही नहीं; बल्कि प्राचीनकाल से चला आ रहा है। 'गीता' पर अब तक अनेक भाष्य तथा टीकाएँ लिखी गयीं। उनमें 'गीता' का एक ही मुख्य उपदेश नहीं कहा गया है। इस प्रकार के प्रमुख भाष्यकारों में शंकर, मध्व, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य का नाम उल्लेखनीय है। इन धर्माचार्यों एवं दर्शनाचार्यों ने ज्ञान, कर्म और भक्ति आदि अनेक दृष्टियों से 'गीता' का विवेचन किया है और किसी ने उसको ज्ञानप्रधान, किसी ने कर्मप्रधान और किसी ने भक्तिप्रधान पुस्तक कहा है।

'भगवद्गीता' नाम से हमें विदित होता है कि वह भगवान् की गायी हुई उपनिषद् है। उसमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश सुरक्षित है। भागवतधर्म और गीताधर्म, दोनों भगवान् द्वारा प्रतिपादित होने के कारण एक ही वस्तु हैं। इसलिए भागवतधर्म, गीताधर्म जितना महनीय और प्राचीन है। 'गीता' के चौथे अध्याय (४।१-३) में स्पष्ट किया गया है कि यह उपदेश भगवान् ने सर्वप्रथम विवस्वान् को दिया था। विवस्वान् ने मनु को और उसका मर्म मनु ने इक्ष्वाकु को समझाया था। 'महाभारत' के शांतिपर्व (३४८।५१, ५२) से हमें विदित होता है कि यह गीताधर्म विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि की परम्परा से प्रवर्तित होकर त्रेतायुग में ब्रह्मदेव द्वारा लोकविश्रुत हुआ।

इसी भागवतधर्म या गीताधर्म के सम्बन्ध में वैशम्पायन, जनमेजय से कहते हैं (महा०, शां० ३४६।१०) 'हे नृपश्रेष्ठ जनमेजय' यही उत्तम भागवत धर्म विधियुक्त और संक्षिप्त ढंग से 'हरिगीता' (भगवद्गीता) में पहले-पहल तुझे बतलाया गया है।'

'महाभारत' के अध्ययन से हमें स्पष्टतया यह विदित होता है कि श्रीकृष्ण ने 'गीता' में अर्जुन को जो ऊँचा उपदेश दिया था वह विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि की

परम्परा से चला आता प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म ही था। उसमें जो निवृत्तिप्रधान यति-धर्म का कहीं-कहीं समावेश हो गया है वह उसका गौण पक्ष था। 'भागवत' से हमें पृथु, प्रह्लाद, प्रियव्रत आदि भक्तों की कथाओं को पढ़कर मालूम होता है कि 'गीता' का प्रवृत्तिविषयक नारायणीय धर्म और 'भागवत' का भागवत धर्म, दोनों एक ही थे।

ब्रह्मबोध

'महाभारत' के अश्वमेध पर्व (१६।१०-१२) में 'गीता' के उपदेश का मूलमंत्र बताया गया है। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा था कि 'हे प्रभो, मैं तो आपके द्वारा किया गया 'गीता' का उपदेश, युद्ध में व्यग्र होने के कारण, भूल गया हूँ। कृपया उसे मुझे फिर से बतायें।' अर्जुन के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा, 'हे अर्जुन, तूने यह बड़ी भूल की, जो तू 'गीता' को भूल गया। उस 'गीता' के उपदेश को तो मैंने बड़े ही योगयुक्त मन से तुझे दिया था। वह उपदेश ब्रह्म के स्वरूपबोध के लिए पर्याप्त था। अब तो 'गीता' का वह सारा उपदेश मेरी स्मृति में नहीं रहा। इसलिएत पुनः मैं 'गीता' का उपदेश नहीं कर सकता हूँ।'

इस प्रसंग से ऐसा ज्ञात होता है कि अर्जुन को श्रीकृष्ण ने 'गीता' का उपदेश ब्रह्मबोध के लिया दिया था। सारी गीता का यही निष्कर्ष है। 'महाभारत' (भीष्म ४३।५) में कहा गया है कि 'महाभारत रूपी अमृत का मंथन करके उस सारभूत 'गीतमता' को भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मुख में होम (उपदेश) किया' :

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥

'गीता' का वस्तुतः यही सार है। यह ब्रह्मबोध कैसे होता है, इसके उपाय भी 'गीता' में बताये गये हैं। उसके दो प्रमुख उपाय हैं : ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा।

ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा

'गीता' असंख्य रत्नों का सागर है। उसके एक-एक रत्न को उसका एक-एक उपदेश कहा जा सकता है और उन सभी उपदेशों में व्यापक मानवता का हित बताया गया है। इन सभी उपदेशों के संगम से एक महान् एवं व्यापक उपदेश की निष्पत्ति हुई है। वह उद्देश्य है अनादिकाल से अज्ञान में पड़े हुए जीव को परमेश्वर की प्राप्ति कराना। इस परमेश्वर प्राप्ति के लिए अनेक दर्शनों में अनेक साधन बताये गये हैं। 'गीता' के अनुसार उसके दो साधन हैं : ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा।

ज्ञाननिष्ठा

ज्ञाननिष्ठा का दूसरा नाम सांख्यनिष्ठा या कर्मसंन्यास भी है। अपने समस्त

कार्यों, इच्छाओं और अपने-आपको, अभिमानरहित होकर, उस परमेश्वर में मिला देना ही 'ज्ञाननिष्ठा' है; अर्थात् उस ज्ञानमय से एकनिष्ठ हो जाना ही 'गीता' का उद्देश्य है। ज्ञाननिष्ठा के सिद्धांत में बताया है कि (१) यह जो दृश्यमान चराचर जगत् है वह सब कुछ ब्रह्म ही है; उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इसलिए हम और हमारे द्वारा जो कुछ कर्म होते हैं वे सभी ब्रह्ममय हैं। (२) यह जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह मायामय है, क्षणिक है, नाशवान् है। उसमें मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को लगाना व्यर्थ है। यदि मन, वुद्धि, इन्द्रियों का कुछ उपयोग है तो वे ब्रह्म में ही लगातार सार्थक हैं। (३) यह जो प्रतीयमान है वह सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म 'मैं' हूँ। इसलिए यह सब मेरा ही है, इस प्रकार आत्मा को अधिष्ठाता मानना। (४) यह जो दृश्यमान है सब मायामय है, नाशवान् है। इसका अत्यन्ताभाव ही आत्मा है, जो भावमय है और मुझ में निवास करता है। यही ज्ञाननिष्ठा है।

योगनिष्ठा

योगनिष्ठा के अपर नाम हैं **समन्तपयोग**, बुद्धियोग या सात्त्विक त्याग। यह जो दृश्यमान है उसके प्रति अनासक्ति, अनिच्छा, कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति और मन, वचन, कर्म से उसी प्रभु के अधीन हो जाना ही 'योगनिष्ठा' है। यह योगनिष्ठा ही 'कर्मयोग' है। इसके तीन भेद हैं : (१) केवल कर्मयोग, (२) भक्तिमिश्रित कर्मयोग और (३)भक्तिप्रधान कर्मयोग। 'गीता' में भगवान् ने कहीं तो केवल फलत्याग करने के लिए कहा है, कहीं केवल आसक्ति त्याग के लिए कहा है; किन्तु फल और आसक्ति, दोनों का एक साथ त्याग होना ही 'केवल कर्मयोग' है। अपने-अपने वर्णाश्रम क्रम के अनुसार परमेश्वर की पूजा-अर्चना करके उन्हें प्रसन्न करना ही 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग' है। अनासक्ति, अनिच्छा और त्याग से सम्पन्न होकर सब कुछ उस विश्वात्मा का है, ऐसा समझना और भजन, ध्यान, उपासना, कर्म आदि सब कुछ को परमेश्वर के अर्पण कर देना, 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है।

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा के द्वारा मनुष्य सहज ही में परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है, 'गीता' में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया था।

ग्रन्थ का तात्पर्यबोध : शरणागति

किसी ग्रन्थ के उद्देश्यबोध या तात्पर्यबोध के लिए शास्त्रकारों ने छह उपाय बताये हैं : (१) उपक्रमोपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति।

उपक्रम

ग्रन्थ के उपक्रम से यह ज्ञात होता है कि उसका उद्देश्य कल्याणकारी कर्त्तव्य का उपदेश देना था। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा (२।७) है, 'मैं अपने मन से अपने कर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सका हूँ। अतः आपकी शरण में आया हूँ। कृपया मुझे मेरे कल्याणकारी कर्त्तव्य का उपदेश दें।'

उपसंहार

श्रीकृष्ण का यह उपदेश था (१८।६६) 'सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ।' यह ग्रंथ का उपसंहार है। इस उपसंहार में शरणागति का उपदेश है।

अभ्यास

इस शरणागति के लिए श्रीकृष्ण ने बार-बार 'गीता' में अर्जुन को सुझाया है।

अपूर्वता

अपूर्वता कहते हैं नवीनता को। वर्तमान समाज के लिए जिस कर्तव्य की अपेक्षा हो और जो शास्त्रसम्मत और लोकहितकर हो वह 'अपूर्व' कहलाता है। 'गीता' से पहले लोकहित के लिए शास्त्रकारों ने केवल ज्ञान, केवल कर्म और केवल भक्ति का निर्देश किया था; किन्तु 'गीता' में तीनों का समन्वय करके ज्ञानकर्मयुक्त कृष्णभक्ति का उपदेश दिया गया है।

फल

'गीता' के उपदेश का फल है भगवान् की आज्ञा का पालन करना। श्रीकृष्ण ने आज्ञा दी और अर्जुन ने भगवदिच्छानुसार कर्म किया।

अर्थवाद

'गीता' में जनकादियों का उदाहरण देकर भगवान् की शरणागति के लिए उपदेश दिया गया है। उसमें भक्तिप्रधान लोक संग्राहक कर्मयोग का उपदेश देकर शरणागति को ही फलरूप में सुदृढ़ किया गया है।

उपपत्ति

'गीता' के बारहवें अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न किया था कि 'हे भगवन्, जो लोग रूप-सेवा तथा नाम-सेवा में दत्तचित हैं और जो लोग अगम्य, अक्षर ब्रह्म का चिन्तन करते रहते हैं, इन दोनों में कौन-से साधक उचित मार्ग पर हैं?' श्रीकृष्ण ने कहा था, 'हे अर्जुन, जो लोग अपने मन को मुझमें लगा कर पूर्ण श्रद्धा से सर्वदा मेरी सेवा करते हैं, मुझे तो वे ही साधक उपयुक्त मार्ग पर दिखाई देते हैं,' यही ग्रन्थ की उपपत्ति है।

इसलिए गीता का मुख्य उपदेश ज्ञानकर्मयुक्त भगवद् शरणागति सिद्ध होता है।

गीता में सार्वभौम जीवन दर्शन

व्यापक विचार

'गीता' एक सार्वभौम जीवन दर्शन की पुस्तक है, जब हम ऐसा कहते हैं तो इसका यह अर्थ होता है कि 'गीता' में कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएँ हैं, जो व्यापक

विचारजगत् के लिए समानरूप से ग्राह्य हैं। वे विशेषताएँ : सत्य, अहिंसा, त्याग, निरपेक्षता, समत्व, कर्म, ज्ञान और उपासना की। वस्तुत ये विशेषताएँ 'गीता' को वेदों और उपनिषदों से मिली हैं; किन्तु उनको जिस व्या क रूप में प्रस्तुत किया गया है वह 'गीता' की अपनी विशिष्टता है। वह विशिष्टता है समस्त मानवता को दृष्टि में रखकर उसी के बीच का एक अंश लेकर उसकी विभिन्न स्थितियों की ऐसी व्याख्या करना कि, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति की संवेदना मिली हो; समष्टि का हृदय मिला हो। 'गीता' की इसी सार्वभौम दृष्टि को देखकर श्रीमती ऐनी बेसेंट ने कहा था, 'गीता' का वह संगीत केवल अपनी ही जन्मभूमि तक सीमित न रहा; अपितु धरती के भिन्न-भिन्न भागों में प्रवेश कर प्रत्येक देश के प्रत्येक भावुक-हृदय व्यक्ति में उसने वही प्रतिध्वनि जगायी।'

शान्ति

आपाततः 'गीता' युद्धोन्माद को प्रोत्साहन देती हुई-सी प्रतीत होती है; किन्तु वस्तुतः उसका एकमेव लक्ष्य कर्तव्य-पराङ्मुख पार्थ (अर्जुन) को कर्तव्यनिष्ठा की ओर प्रेरित करना है।

'गीता' एक महान् संग्राम का कारण होती हुई भी मानवता के लिए यह सन्देश देती है कि जीवन का वास्तविक ध्येय मार-काट एवं युद्धलिप्सा न होकर उस सद्गति को प्राप्त करना है, जहाँ अपने-पराये का भेद मिट जाता है।

कर्तव्य के निर्देश

'गीता' किसी एक वर्ग, संप्रदाय, देश या व्यक्ति के लिए न होकर सब के लिए समान रूप से ग्राह्य है। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति, उन्नतिलाभ के दोनों मार्ग हैं। कर्म की दृष्टि से स्थूल बुद्धि वाले जगत् के लिए वह प्रवृत्तिपरक पुस्तक है। 'गीता' की कर्मदृष्टि व्यक्ति-व्यक्ति को उसके नियत कर्त्तव्यों के लिए प्रेरित करती है और साथ ही यह भी निर्धारित करती है कि एक का दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है। दूसरे की उपेक्षा करके किया गया कोई कार्य 'गीता' की दृष्टि से हेय है। वह ग्राह्य तभी हो सकता है, जब उसमें सर्वाङ्गीण दृष्टि हो। स्वार्थ की छाया में किये गये काम्य कर्तव्य 'गीता' को स्वीकार नहीं है। निष्काम कर्म ही उसकी दृष्टि से श्रेष्ठ है। यह निष्काम कर्म-भावना वस्तुतः एक सार्वभौमिक भावना है, जिसमें एक व्यक्ति की, यहाँ तक कि कर्मों के अधिष्ठाता परमेश्वर की भी एक जैसी स्थिति है। 'गीता' की एक व्यापक एवं उदार भावना यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विचार से अपने-अपने श्रेय की स्वयं चिन्ता करे। प्रेम, भक्ति, भावना, दया और शरणागति आदि ऐसे ही प्रवृत्तिपरक साधन हैं, जिनमें से किसी को भी चुनकर मनुष्य अपने कल्याण का स्वयं निर्माण कर सकता है।

परम आनन्द

उसका दूसरा पक्ष निवृत्तिप्रधान है। निवृत्ति अर्थात् संसार-मार्ग से लौट जाना, वैराग्य तथा अनासक्ति के द्वारा आत्महित। इस संसार में दो ही तरह के मनुष्य हैं। एक तो वे हैं, जो यहाँ रह कर यहाँ का आनन्द-ऐश्वर्य भी चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि यही आनन्द उन्हें पुनः-पुनः प्राप्त होता रहे। इसके विपरीत कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जो अनिच्छापूर्वक यहाँ रहते हुए एक ऐसी अदृश्य, अतीन्द्रिय परमतत्त्व की खोज में व्यग्र हैं, जो पृथ्वी के अणु-अणु में व्याप्त है; किन्तु जिसको खोजने के लिए गंभीर अनुसंधान करना पड़ता है। क्या वैज्ञानिक और क्या दार्शनिक, दोनों ही ऐसी शक्ति पर विश्वास करते हैं, जो असंदिग्ध रूप से विद्यमान है और जिसको निरन्तर खोजने से ही पाया जा सकता है। वैज्ञानिक इस दृष्टि को नित्य भौतिक शक्ति कहते हैं और उसको पाकर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके उसके द्वारा होने वाले विश्व के या मानवता के हित-अहित का स्वयं स्वामी बन बैठते हैं; किन्तु दार्शनिक उसको आध्यात्मिक, पारमार्थिक शक्ति कहते हैं और उसको पाकर स्वयं को उस पर निछावर करके तदाकार हो जाता है। यही 'गीता' का निवृत्तिमार्ग है।

व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से यदि 'गीता' के उद्देश्यों पर विचार किया जाय तो जान पड़ता है कि उसमें राजा, रंक, संत, योद्धा, कपटी, विद्वान् आदि समाज के अनेक प्रकार के व्यक्तियों की रुचि देखने को मिलती है।

वेदान्त और भक्ति का समन्वय

उपनिषदों के अद्वैत वेदान्त के साथ भक्ति का सामंजस्य स्थापित करके बड़े-बड़े कर्मवीरों के चरित्र और उनके जीवन की क्रमिक उपपत्ति बताना ही 'गीता' का प्रमुख उद्देश्य है। अर्थात् ज्ञानभक्ति-युक्त कर्मयोग जैसे ऊँचे विषय का प्रतिपादन करना ही 'गीता' का वास्तविक ध्येय है।

शास्त्रोक्त विधि से श्रौत-स्मार्त कर्मों को करते रहने के लिए मीमांसकों का आग्रह यद्यपि कुछ बुरा नहीं, तथापि ज्ञानरहित कर्मों को करते रहने से बुद्धिमान् लोगों का समाधान नहीं हो पाता। इसी प्रकार उपनिषदों का धर्म भले ही सुविचारित तत्त्वज्ञान पर आधारित है, फिर भी अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए उसकी कठिनाई अविदित नहीं है; और साथ ही उपनिषदों की संन्यास भावना लोकहित के लिए उपकारक नहीं मानी गयी है।

'गीता' में न तो मीमांसकों के तांत्रिक कर्मों का प्रतिपादन भर है, न ही उपनिषदों के लोक-असामान्य ज्ञान का वर्णन और न उसका एकमात्र उद्देश्य संन्यास जैसे कठिन जीवनमार्ग का प्रतिपादन करना है। 'गीता' का धर्म ऐसा धर्म है, जिसमें बुद्धि अर्थात् ज्ञान और प्रेम अर्थात् भक्ति दोनों का सामंजस्य करके लोकानुग्रही मोक्ष का प्रतिपादन बड़ी सरलता से वर्णित है।

गीता और दर्शनों का समन्वय

'गीता' और दर्शनों की विचारधारा का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उनकी कई बातों में अत्यन्त समानता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त के अनेक सिद्धान्त 'गीता' के सिद्धान्तों से मिलते हैं। नीचे के उदाहरणों से सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सभी दर्शनों पर 'गीता' की स्पष्ट छाप है, न केवल विचारों की बल्कि भाषा की भी।

गीता में न्याय

गीता (१०।३२) : वादियों की कथा में मैं वादरूप कथा हूँ (**वादः प्रवदतामहम्**)

न्यायदर्शन (१।२।१) : जिसमें प्रमाण तथा तर्क से ही स्वपक्ष का मण्डन और परपक्ष का खण्डन हो और जो सिद्धान्त के अनुकूल हो, तथा प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्यों से युक्त हो, ऐसी जो पक्ष-प्रतिपक्ष की सहमति है वह वाद है (**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः**)।

गीता (१५।१५) : सब वेदों का मैं ही वेद्य (ज्ञेय) हूँ। (**वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः**)

न्यायकुसुमाञ्जलि : **कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः**।

गीता में वैशेषिक

गीता (७।८) : मैं आकाश में शब्द हूँ (**शब्दः खे**)।

वैशेषिक दर्शन (२।१।२७) : शब्द अन्य का गुण नहीं हो सकता; आकाश का गुण होने से (**परिशेषात्**) वह आकाश का अनुमापक है (**परिशेषाल्लिगमाकाशस्य**)।

गीता में सांख्य

गीता (६।३५) : हे अर्जुन, उसको अभ्यास और वैराग्य से जाना जाता है (**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**)

सांख्यदर्शन ३।३६ **वैराग्यादभ्यासाच्च**।

गीता में योग

गीता (४।३९) : श्रद्धावान् ज्ञान को प्राप्त करता है (**श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्**)।

योगभाष्य (१।२०) : वह कल्याणकारिणी श्रद्धा, माता की भाँति योगी की रक्षा करती है (**सापि जननीव कल्याणी योगिनं पाति**)।

गीता (५।२२) : हे अर्जुन, विषयेन्द्रिय सम्बन्धजन्य सुखदुःखानुभवरूप भोग दुःखों के ही कारण हैं और उत्पत्ति-विनाश वाले हैं। बुद्धिमान् उन भोगों में मन नहीं लगाते :

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

योगभाष्य (२।१६) : भोगों के भोगने से इन्द्रियों को निरीह (संतुष्ट) नहीं किया जा सकता (**न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तं शक्यम्**) ।

गीता (६।३५) : **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।**

योगदर्शन (१।१२) : **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।**

गीता में मीमांसा

गीता (१८।१८) : ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान, ये तीन कर्म के प्रवर्तक हैं (**त्रिविधा कर्मचोदना**) ।

शाबरभाष्य (१।१।२।२) : **चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः ।**

श्लोकवार्तिक (१।१।२।३) : **तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते चोदना चोपदेशस्य विधिश्चैकार्थवादिनः ।**

गीता में वेदान्त

गीता (१५।६) : मेरा वह धाम (प्रकाशरूप) है, जहाँ जा कर फिर संसार में नहीं आते, मुक्त हो जाते हैं (**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**) ।

वेदान्तदर्शन : **अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।**

यह तुलना केवल शब्द-साम्य की दृष्टि से है। विचारों की दृष्टि से 'गीता' के साथ छहों दर्शनों की तुलना की जाय तो इससे भी अधिक समानता देखी जा सकती है।

गीता का पुरुषोत्तम

परा और अपरा प्रकृति

'गीता' का पुरुषोत्तम तत्त्व वेद, वेदान्त और दर्शन के परम तत्त्व से पृथक् है। क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम 'गीता' के तीन तत्त्व हैं। क्षर उसकी अपरा प्रकृति है, जिसको अधिभूत, क्षेत्र और अश्वत्थ भी कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ये आठ भगवान् की अपरा प्रकृति के रूप हैं। अक्षरतत्त्व उसकी परा प्रकृति है, जिसको कि अध्यात्मा, पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है।

अनन्त ब्राह्माण्ड के रूप में प्रकाशित प्रकृति-पुरुष उस पुरुषोत्तम की अपरा और परा प्रकृतियाँ हैं। उसकी यह अपरा प्रकृति जड़ है और परा प्रकृति चेतन। इन दोनों जड़-चेतन के संयोग से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।

सांख्य और वेदान्त से भिन्न सृष्टि क्रिया

किन्तु 'गीता' की यह सृष्टिक्रिया सांख्य और वेदान्त की अपेक्षा भिन्न है। सांख्य में प्रकृति-पुरुष को विपरीत धर्म वाले दो तत्त्व माना गया है। वेदान्त में भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रकृति-पुरुष की यही सत्ता मानी गयी है; किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वेदान्त प्रकृति-पुरुष के भेद को मायामय कहकर एक ही ब्रह्म को मानता है।

प्रकृति और पुरुष मूल तत्त्व के प्रकाशक मात्र

सांख्य और वेदांत की अपेक्षा 'गीता' के प्रकृति-पुरुष में भिन्नता है। यद्यपि 'गीता' के अनुसार भी प्रकृति-पुरुष के संयोग से जगत् की उत्पत्ति हुई है; किन्तु वे दोनों दो नहीं, एक ही हैं। गीता' के अनुसार प्रकृति और पुरुष परमात्मा नहीं है; बल्कि वे मूल तत्त्व के प्रकाशक मात्र हैं। 'गीता' में इस जगत् को भगवान् की प्रकृति कहा गया है और इसलिए जगत्, भगवान् का विवर्त्त तथा परिणाम न हो कर उसमें भगवान् ही व्याप्त है। यह जगत् भगवान् का नित्य लीलाक्षेत्र है। जगत् का नित्य अस्तित्व है, क्योंकि वह लीलामय भगवान् की अभिव्यक्ति है।

श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं

किन्तु जगत् की अपेक्षा भगवान् व्यापक है। जगत् उसका एक अंशमात्र है। वह अनन्त, अखण्ड, असीम और अजेय है। 'गीता' के सातवें, आठवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तम की शक्तियों, स्वरूपों और लीलाओं का विशद चित्रण किया गया है। ये पुरुषोत्तम स्वयमेव श्रीकृष्ण ही हैं, क्योंकि 'गीता' में उन्होंने स्थान-स्थान पर उत्तम पुरुष के रूप में अपनी विभूतियों को अभिव्यक्त किया है।

निर्गुण और सगुण

'गीता' के पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार सभी कुछ हैं। प्रकृतिजन्य गुणों का अभाव होने पर वे 'निर्गुण' हैं और लीलामय होने के कारण 'सगुण' हैं। 'गीता' का पुरुषोत्तम यद्यपि अखण्ड तत्त्व है; किन्तु अपनी लीलाशक्ति प्रकृति के द्वारा उन्होंने बहुरूप धारण किये हैं। यही एकत्व और अनेकत्व है; एकत्व ब्रह्मरूप में और अनेकत्व उनके प्रकृतिरूप में।

क्षर लीलामय स्वरूप

यह विश्वलीला भगवान् की परमा प्रकृति है। अपने आनन्द के लिए उन्होंने प्रकृति के द्वारा अपने को नाना रूपों में प्रकट किया है। यदि भगवान् की इस जीव-लीला या विश्वलीला को देखा जाय तो ज्ञात होता है कि वे अनेक हैं, सुखी-दुःखी हैं, जन्म-मृत्यु के वश में हैं और असीम हैं। यह भी भगवान् की एक अवस्था है, जिसको भगवान् का 'क्षर' रूप कहा गया है और जिसे वे अपने भक्तों के लिए धारण करते हैं।

अक्षर

किन्तु एक रूप उनका इससे भी बढ़कर है, जिसे 'अक्षर' कहते हैं। इस अवस्था में भगवान् प्रकृति से सर्वथा अलग रहते हैं। इस अवस्था में भगवान्, द्रष्टा, उदासीन, विमुक्त और स्वाधीन होते हैं। यह सारी संसार-लीला उस समय बन्द हो जाती है। यह उनका निर्गुण रूप है।

दोनों रूप

भगवान् के उक्त दोनों रूपों को संक्षेप में कहा जाय तो कहना चाहिए कि बद्धजीव की अवस्था का नाम 'क्षर' और शांत, निर्गुण ब्रह्म की अवस्था का नाम 'अक्षर' है।

तीसरा रूप पुरुषोत्तम

'गीता' में भगवान् ने इन दोनों रूपों का भली-भाँति दिग्दर्शन हुआ है। किंतु इन दोनों रूपों के अतिरिक्त भगवान् का एक तीसरा रूप भी है, जो कि उक्त दोनों रूपों से श्रेष्ठ और सर्वोच्च है। उसके अन्दर क्षर और अक्षर, दोनों समा जाते हैं। भगवान् के उस रूप का नाम है 'पुरुषोत्तम'। यह अवस्था भगवान् की निर्गुण और सगुण, दोनों से संयुक्त है। क्षर के रूप में भगवान् विश्वलीला में एकाकार हैं, अक्षर रूप में वे अपना ही लीलारूप देख रहे हैं और पुरुषोत्तम रूप में वे अपनी प्रकृति को परिचालित करके इस विश्वलीला को सार्थक, मनमोहक भी बना रहे हैं। यह लीला कोई दूसरी नहीं, भगवान् के ही स्वरूप विकास की लीला है, माया नहीं, मिथ्या नहीं। इस सम्बन्ध में भी 'गीता' का सांख्य और वेदांत से मतभेद है।

तीनों रूप

अपने इन तीनों स्वरूपों को भगवान् ने 'गीता' (१५।१६-१८) में स्वयं ही समझाया है। उन्होंने अर्जुन से कहा है 'हे गुडाकेश, मैं सम्पूर्ण भूतों के अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित आत्मा हूँ। इस संसार में 'क्षर' (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) दो तरह के पुरुष हैं। उनमें सम्पूर्ण भूत-समुदाय क्षर और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर कहलाता है। उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) इन दोनों से भिन्न है, जो परमात्मा कहा गया है।'

ब्रह्म की प्राप्ति के अनन्तर उसकी 'पराभक्ति' प्राप्त होती है और उस पराभक्ति के द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप देखा जा सकता है। भगवान् ने कहा है, 'क्योंकि मैं क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूँ। इसलिए लोक तथा वेद में मैं 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ':

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

यही 'गीता' का पुरुषोत्तम तत्त्व है।

कर्मयोग

'गीता' में कहे गये कर्म, भक्ति और ज्ञान के विचारों को लेकर विभिन्न भाष्यकारों ने अपने-अपने मत से 'गीता' की व्याख्या की है। ज्ञान-योग पर शंकराचार्य ने, भक्तियोग पर रामानुजाचार्य ने और कर्मयोग पर मीमांसकों ने गम्भीर विवेचन किया

है। लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य या कर्मयोग शास्त्र' में 'गीता' के कर्मप्रधान दृष्टिकोण का बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया गया है। लोकमान्य ने 'गीता' को कर्मयोगप्रधान ग्रंथ माना है।

चित्तशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान

विवेक से परम तत्त्व की उपलब्धि होती है, इस बात को वेद, उपनिषद्, छहों दर्शनों ने स्वीकार किया है। 'गीता' में लिखा है कि इस विवेक की उपलब्धि चित्त-शुद्धि के बिना संभव नहीं है और चित्तशुद्धि के लिए कर्मों के अनुष्ठान की आवश्यकता है। इसलिए परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए सबसे बड़ा साधन कर्मानुष्ठान ही सिद्ध होता है। यही बात श्रीधर स्वामी ने भी कही है, **'न च चित्तशुद्धिं विना कृतात संन्यासात् एवं ज्ञानशून्यात् सिद्धिं मोक्षं समधिगच्छति प्राप्नोति।'** 'गीता' में चित्त-शुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान की जो विधि बतायी गयी है वह अन्य शास्त्रों की अपेक्षा भिन्न है।

कर्मयोगी को पाप पुण्य नहीं लगते

'गीता' के कर्मयोग से परिचय प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन की उक्तियों को जानना आवश्यक है। 'गीता' (२।३८) में एक स्थान पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, 'हे अर्जुन, युद्ध करने से गुरुजन, स्वजन आदि आत्मीयों की हिंसा करनी पड़ेगी और उससे पाप होगा, इस भय से धर्मयुद्ध में प्रवृत्त होने के लिए तुम्हें संकोच हो रहा है, यह उचित नहीं है; क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझ कर फिर युद्ध में प्रवृत्त होने से तुम पाप के भागी न बनोगे':

सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

कर्मों के अधिष्ठाता स्वयं श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह बात केवल आश्वासन देने मात्र के लिए नहीं कही थी; बल्कि सुख-दुःख, पाप-पुण्य के एकमात्र निर्णेता भी वे स्वयं थे। निष्ठावान् कर्म-योगी के लिए श्रीकृष्ण ने जो परमोच्च स्थान निर्धारित किया है उसको जान कर सहज ही में 'गीता' के कर्मरत मार्ग की फल प्राप्ति का रहस्य समझ में आ जाता है। श्रीकृष्ण ने कहा है, शास्त्रोक्त, काम्य या (विहित) नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य, सभी कर्मों को जो भी व्यक्ति सर्वदा मुझ में आश्रित होकर करता है वह मेरी कृपा से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त करता है' (१८।५६)। उन्होंने अन्यत्र (१२।६-७) कहा है, 'सब कर्मों का फल मुझ में संन्यस्त करके अनन्य योग से मेरा ही ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ मुझ में आश्रित अपने उन भक्तों को मैं शीघ्र ही इस मरणशील संसार सागर से पार कर देता हूँ।'

कर्मयोगी का कर्त्तव्य

यही 'गीता' के कर्मयोग की विधि है और यही उसका फल है। यही कर्मयोग 'गीता' का मुख्य विषय है, जिसको श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम विवस्वान् से कहा है :

इमं विवस्वते योगंप्रोक्तवानहमव्ययम् ।

उसी कर्मयोग को उन्होंने अर्जुन से कहा और अर्जुन को हिदायत दी कि वह प्रतिपल, प्रतिक्षण मेरा स्मरण कर धर्मयुद्ध में प्रवृत्त हो जाय :

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

कर्मयोगी की अवस्था

'गीता' के कर्मयोग का नायक अर्जुन, श्रीकृष्ण का उपदेश सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि जो पहले संकीर्ण सुख-दुःख के बन्धनों से जकड़ा था उसी के मुँह से अठारहवें अध्याय में कहा गया यह श्लोक 'गीता' के कर्मवाद को कितने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युतः ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्यते वचनं तव ॥

अर्थात् 'मेरी विपरीत बुद्धि अब नष्ट हो चुकी है; पूर्व स्मृति जग चुकी है । हे अच्युत, तुम्हारे ही अनुग्रह से मुझे यह लाभ हुआ है । अब कर्तव्य के विषय में मेरे सब सन्देह दूर हो चुके हैं; मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ । अब से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारे उपदेश के अनुसार ही कर्ममार्ग में प्रवृत्त होऊँगा ।'

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्तव्यनिष्ठ रहने के लिए जो उपदेश दिया था उसको सुनकर अर्जुन के सब शोक, मोह नष्ट हो गये और स्थितप्रज्ञ होकर वह कर्तव्य का अनुसरण करने के लिए कटिबद्ध हो गया । भगवान् श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति कहा गया यह सदुपदेश ही 'गीता' का मर्म है । श्रीकृष्ण का उद्देश्य था अर्जुन को कर्मपथ पर लाकर खड़ा कर देना ।

भक्ति, ज्ञान और कर्म

इस कर्म के महत्त्व को बताने के लिए 'गीता' में बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया गया है । 'गीता' ब्रह्मविद्या है, क्योंकि वह सब उपनिषदों का सार है । जिस साधन के द्वारा उस ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है उस योग का भी 'गीता' में प्रतिपादन है । इसी हेतु 'गीता' को, प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'योगशास्त्र' से अभिहित किया गया है । 'गीता' का यह योग तीन तरह से कहा गया है : भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग । योग के ये तीन अंग ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार के लिए असाधारण एवं अभिन्न अंग हैं ।

मार्गस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपाऽन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥

एक ही तत्त्व के तीन खण्ड होने के कारण प्रकृत रूप से उनका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है । एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं है । ज्ञान तथा भक्ति से निरपेक्ष

कर्म; कर्म तथा ज्ञान से निरपेक्ष भक्ति; और कर्म तथा भक्ति से निरपेक्ष ज्ञान फलप्रद नहीं होते। इसलिए 'गीता' को प्रवृत्तिप्रधान और निवृत्तिप्रधान शास्त्र कहा गया है।

प्रिय वस्तु का परित्याग

'गीता' का कर्मयोग बताता है कि जब तक मनुष्य में जीवन है तब तक उसको संकल्प का परित्याग करके कर्म करने चाहिए। इसके अतिरिक्त भगवत्साक्षात्कार के लिए कोई उत्तम साधन दूसरा नहीं है। 'गीता' की यह कर्मदृष्टि कितनी महान् और सर्वाङ्गीण है। 'गीता' का यह कर्मयोग जितना उपयोगी है, उतना ही कठिन भी है। क्योंकि उसमें बताया गया है प्रत्येक कर्मयोगी को सब से पहले अजेय प्रभुशक्ति सम्पन्न होने के कारण अपने उद्यत प्रियजनों का संहार करना पड़ता है। अर्जुन ने केवल अपने बन्धु-बान्धवों एवं गुरुजनों को ही नष्ट नहीं किया, बल्कि स्वयं भी पुत्रहीन हो गया।

कर्म से मोक्षप्राप्ति

किन्तु 'गीता' के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उसके अनुसार कर्ममार्ग पर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति के मन से अपने-पराये की भावना मूल से नष्ट हो जाती है। 'गीता' के कर्मयोगी के लिए इस प्रकार के अवरोध तो महान् लक्ष्य की प्राप्ति में संभव ही हैं। वह महान् तथा अन्तिम लक्ष्य है मोक्ष का। 'गीता' में यह मोक्ष-प्राप्ति दो तरह से बतायी गयी है: (१) ज्ञान या कर्मसंन्यास से और (२) कर्मयोग या निष्काम कर्म से। इन दोनों में भी दूसरा तरीका श्रेष्ठ बताया गया है। 'गीता' का कथन है कि काम्य कर्म का अनुष्ठान करने से मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। वह तो ऐसे निष्काम कर्म करने से प्राप्त होती है, जिसमें अपने व्यक्तिगत लाभ या कल्याण का कोई स्वार्थ निहित न हो। इस निष्काम कर्म को 'गीता' (३।९) में 'यज्ञ' कहा गया है:

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

अर्थात् 'यज्ञ के निमित्त किये कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मों में लगा हुआ मनुष्य ही कर्मों से बँधता है। अतः हे अर्जुन, आसक्ति से रहित होकर तू यज्ञ (निष्काम कर्म) के लिए ही कर्म कर।' इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है: 'हे अर्जुन, तू अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्ययुक्त कर्मों को करता जा। अनासक्त हो कर कर्म करने वाला पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है':

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरः।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

यह कर्मश्रृङ्खला इतनी व्यापक और दृढ़ है कि उससे न केवल अर्जुन और उसकी भाँति असंख्य जीव बँधे हैं; बल्कि उसका अनुशासन कर्मों के अधिष्ठाता पर भी है। अपने अधिष्ठाता के ऊपर भी उसका शासन है। 'गीता' की यह कर्तव्य महानता वस्तुतः बड़ी ही सार्वभौम है। 'गीता' का कर्म हमें यह नहीं बताता है कि उपदेष्टा

उससे मुक्त रहे, बल्कि वह भी इस कर्मशृङ्खला से आवद्ध है। 'गीता (३।२३-२४) में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है : 'यदि कदाचित् असावधानीवश मैं कर्म का अनुसरण न करूँ तो, हे अर्जुन, सब प्रकार के मनुष्य मेरे आचरण का अनुकरण करने लगेंगे और कर्मच्युत होने से मेरी गणना वर्णसंकरों में की जायगी और मैं सारी प्रजा का विनाशक बन जाऊँगा।'

गीता के कर्मयोग की श्रेष्ठता

'गीता' के उक्त कथन से कर्मयोग की महानता का सहज ही में स्पष्टीकरण हो जाता है। उसकी महानता का दूसरा भी कारण है। 'गीता' का यह कर्माचरण अपने लिए तो मोक्षदायक है ही, दूसरे के लिए भी कल्याणकारी है। इससे लोक-कल्याण और लोकसंग्रह भी होता है। इसलिए 'गीता' के कर्मयोग का एक परार्थ दृष्टिकोण यह भी हुआ कि अपने लिए न सही, लोक-कल्याण के लिए कर्म करने चाहिए। 'गीता' (३।२०) में कहा गया है, 'जनकादि ज्ञानीजन भी अनासक्त कर्माचरण से ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इस परमसिद्धि को प्राप्त करने तथा लोकसंग्रह को देखते हुए, हे अर्जुन, तुझे भी कर्म करना चाहिए :'

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥

कर्मयोग का मनोविज्ञान

'गीता' (१८।४७-४८) में स्वभावनियत अथवा सहज कर्मों को करते रहने के लिए जोर दिया गया है 'स्वभाव से नियत किये गये कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप का भागी नहीं होता। स्वाभाविक कर्म को, चाहे वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, त्यागना नहीं चाहिए; क्योंकि जिस प्रकार धूम से अग्नि आच्छादित रहती है इसी प्रकार सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से ढके रहते हैं।' स्वाभाविक तथा सहज कर्मभावना के सम्बन्ध में 'गीता' (५।८-१०) में कहा गया है, 'कर्मयोगपरायण तत्त्वविद् कर्ममार्ग में प्रवृत्त हो कर, मैं कुछ भी नहीं करता हूँ; बल्कि परमेश्वर की इच्छानुसार ही सब होता है। इस प्रकार का विचार करे। देखना, सुनना आदि जितनी भी क्रियाएँ हैं उनके सम्बन्ध में यही सोचे कि वे स्वाभाविक रूप से हो रही हैं। इस प्रकार परमेश्वर के ऊपर सब कर्मों को निर्भर करके कर्मफलों के प्राप्त होने की इच्छा का परित्याग करके जो मनुष्य कार्य करता है वह जल के साथ कमल की भाँति किसी भी पाप से लिप्त नहीं होता।'

'गीता' का यह स्वभावनियत कर्म-सिद्धान्त वस्तुतः व्यक्ति के भीतरी गुणों से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति का गुण ही उसका स्वभाव है और उसी से व्यक्ति के कर्तव्य का निर्णय होता है। इसी स्वभाव या गुण के अनुसार 'गीता' (१८।४१) में प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न कार्य निर्धारित है :

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

कर्म ही सिद्धि का कारण

'गीता' का यह कर्मयोग मनुष्यमात्र के लिए एक जैसा है। स्वाभाविक रूप से

सभी अवस्थाओं में सभी कार्यों का उक्त रीति से अनुष्ठान करना ही वास्तविक कर्मयोग है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि कर्म के बिना जीवन-यापन असंभव है। इसीलिए वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है और कहा गया है कि :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

यद्यपि 'गीता' के कर्मयोग के विदेशी पंडितों ने सद्व्यवहारशास्त्र, सदाचार-शास्त्र, नीतिशास्त्र, नीतिमीमांसा, कर्तव्यशास्त्र और समाजधारणशास्त्र आदि अनेक नाम दिये हैं, किन्तु उनकी सारी पद्धति पारलौकिक दृष्टि से शून्य है। 'गीता' का कर्मसिद्धान्त पारलौकिक दृष्टि पर आधारित है और उससे समस्त भारतीय धर्मपद्धति का मर्म समझ में आ सकता है। 'गीता' के कर्मयोग की यही विशेषता है।

गीता में तत्त्व विचार

ब्रह्म

'गीता' (४।२४) में वेदान्त के **"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मः"** के सम्बन्ध में कहा गया है 'अग्नि में हवन कर समर्पण की क्रिया ब्रह्मरूप है, हवि ब्रह्मरूप है, अग्नि ब्रह्म-रूप है, हवन करने वाले पुरुष ब्रह्मरूप हैं, हवनरूप कर्म ब्रह्मरूप है; अतः हवन करने वाला होता भी ब्रह्मरूप है।' 'गीता' की यह उक्ति वेदान्त की अद्वैतभावना का मूल है। 'गीता' का ब्रह्म निर्गुण है तथा गुणों का उपभोक्ता भी है। वह सत् है, असत् भी है और सदसत् से परे भी है (११।३७)। उसको न तो सत् कहा जा सकता है और न असत् ही (१३।१२)। 'गीता' के ब्रह्म का विशुद्ध स्वरूप उसके पुरुषोत्तम तत्त्व में है। उस तत्त्व को जान लेने से उसके स्वरूप की जो उलटवाँसियाँ हैं वे स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं।

ब्रह्म और माया

'गीता' के अनुसार त्रिगुणमयी माया भगवान् की अभिन्न शक्ति है। अतएव वह भगवान् की ही तरह अचिन्त्य है, अनादि है। वह न तो सत् है न असत् ही। वेदान्त की भाँति 'गीता' की मायाशक्ति अविद्यास्वरूपा नहीं है; बल्कि वह सर्वव्यापी पुरुषोत्तम का ही अंश है। वह इस अनेकविध दृश्यमान जगत् की अधिष्ठात्री है। इस लीलामय जगत् की स्वामिनी है। यह लीलामय जगत् प्रपंच नहीं है; बल्कि वह भी पुरुषोत्तम का ही अंश होने के कारण चिरन्तन और नित नवीन है। किन्तु पुरुषोत्तम जीव, जगत् और माया से व्यापक है। 'गीता' में मायामय प्रभु के दो भाव बताये गये हैं : अपरभाव और परभाव। भगवान् का अपरभाव वह है, जिसके अनुसार वे योगमाया से युक्त होकर जगत् को अभिव्यक्त करते हैं। इस रूप में वे विश्वात्मा कहलाते हैं। उनका दूसरा परभाव अनन्त, अचिन्त्य और अव्यय है।

ब्रह्म और जीव

'गीता' दर्शन की पुस्तक नहीं है। उसमें जो दार्शनिक विचारधारा का समावेश देखने को मिलता है वह इधर-उधर बिखरा हुआ है। ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले अनेक श्लोक 'गीता' में है; किन्तु वे एक स्थान पर नहीं हैं; फिर भी इस सम्पूर्ण सामग्री को एक स्थान पर प्रस्तुत करके हम 'गीता' के ब्रह्म-जीव के दृष्टिकोण को जान सकते हैं।

'गीता' में भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ये आठ ब्रह्म की अपरा प्रकृति कही गयी हैं। जीव उनकी परा प्रकृति है और उसके द्वारा यह जगत् धारण होता है (गीता ७।४-५)। जीव, ब्रह्म का ही सनातन अंश है। मृत्यु के बाद भी वह उसी में समा जाता है (१५।१७)। इस देह में ब्रह्म भी है और जीव भी। जीव प्रकृतिजात गुणों का भोक्ता है और इसलिए सत् या असत् योनि में जन्म लेता है। ब्रह्म उसका उपदेष्टा, अनुमन्ता, भर्ता तथा पालक है और परम आत्मा के रूप में सभी देहों में विद्यमान रहता है (१३।२१-२२)। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था, 'हे अर्जुन, सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझे जान' (१३।२७)। क्षर और अक्षर, पुरुष के ये दो भेद हैं। सब भूत क्षर हैं। जिनमें परिवर्तन नहीं होता, जो कूटस्थ है वह अक्षर है। इसके अतिरिक्त परमात्मा नामक एक तीसरा भी तत्त्व है। वह क्षर और अक्षर से अतीत तथा दोनों से उत्तम है। इसलिए उसको 'पुरुषोत्तम' कहा गया है (१५।१०-१८)।

ब्रह्म और जगत्

ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण है। इसके परतर कोई तत्त्व नहीं है। अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकाशित प्रकृति और पुरुष उसी ब्रह्म की अपरा और परा प्रकृतियाँ हैं। उनकी यह अपरा प्रकृति जड़ है और परा प्रकृति चेतन। इन दोनों जड़-चेतन के संयोग से जगत् की उत्पत्ति हुई है। सूत में जिस प्रकार मणियाँ गूँथी होती हैं, यह ब्रह्माण्ड भी ब्रह्मा में उसी प्रकार गुंथा हुआ है (७।६-७)। इस जगत् की सभी जड़ और चेतन वस्तुएँ उसी ब्रह्म का रूप हैं। वही इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण है :

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'

सुख : दुःख

'गीता' (१५।५) में कहा गया है कि सब द्वन्द्वों का प्रेरक या जनयिता सुख-दुःख है।

'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः'

'गीता' (५।२२) का सिद्धान्त है कि सुख ही दुःख में परिणत होता है और दुःख सुख में। इस अद्भुत प्रतीत होने वाली प्रक्रिया का कारण भी सब को सहज ही में ज्ञात है। उसका कारण है वाह्य या आभ्यन्तर उपाधि। इस वाह्याभ्यन्तर उपाधि का

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विस्तार से समझाया था और उसके बाद अर्जुन के हृदय से दुःख-सुख के अनुभव करने वाले संस्कार बुझ गये थे । श्रीकृष्ण ने कहा था, हे अर्जुन, विषयेन्द्रिय सम्बन्धजन्य सुखदुःखानुभवरूप भोग दुःखों के ही कारण हैं और उत्पत्ति-विनाश-युक्त हैं । बुद्धिमान् उन भोगों में मन नहीं लगाते' :

ये हि संसर्गजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

मोक्ष

गीता में मोक्ष के लिए भक्ति, कर्म, उपासना और ज्ञान ये चार साधन बताये गये हैं । ये चार भगवान् के शरणागति के साधन हैं । क्योंकि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, 'हे अर्जुन, परम श्रद्धा से मुझमें मन को लगाकर जो निरन्तर उपासना करते हैं, वे ही उत्तम साधक हैं ।' जो भक्त अपने किये हुए सभी कर्मों को मेरे अर्पण करके एकाग्र मन होकर मेरी उपासना करते हैं, उन अपने भक्तों का मैं इस मृत्युरूपी संसार से शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ ।' इसलिए

मय्येव मय आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यति मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

'ओ मेरे भक्त, मन और बुद्धि को स्थिर रूप से मुझ में लगा दे । तब तुझे असंशय अवगत होगा कि तू मुझ आनन्दसिन्धु में ही निवास कर रहा है ।'

चार्वाक दर्शन

* * * *

वैज्ञानिक भौतिकवाद

भौतिकवादी विचारधारा का उदय

भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ की सामाजिक एवं वैचारिक मान्यताएँ दो भागों में विभक्त थीं। एक विचारधारा के प्रतिनिधि थे आर्य और दूसरी के अनार्य। ये दोनों जाति-समूह सम-सामयिक थे। आर्य-समूह वैदिक धर्म का अनुयायी था और अनार्य-समूह भौतिक मान्यताओं पर विश्वास करता था। इसी लिए बहुसंख्यक वैदिक धर्मानुयायी समाज ने आर्यों को अवैदिक भी कहा। वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग उपनिषद् ग्रन्थों में इन दोनों जाति-समूहों के परस्पर विरोधी विचारों का व्यापक रूप से प्रतिपादन हुआ मिलता है।

इस दृष्टि से यदि हम अथर्ववेद में निर्दिष्ट टोने-टोटके और तंत्र-मंत्र आदि के मूल उद्देश्यों पर विचार करते हैं तो हमें लगता है वैदिक युग में ही एक ऐसे समाज का जन्म हो चुका था, जो भारतीय विचारधारा में नयी अभीप्साओं का निर्माण कर रहा था। ये विचार समाज के उस समूह के थे; जो परम्पराओं तथा रूढ़ियों का विरोधी था और दृष्ट तथा अनुभूत सत्यों का समर्थक। प्रत्येक पदार्थ और वस्तु की वह सम्भव और असम्भव, इन दो दृष्टियों से परीक्षा करता था। ये विचारक आर्यों की वैदिक परम्परा से सम्बन्ध तोड़ कर जीवन तथा जगत् की पहेलियों को अपने निराले ढंग से हल करने के लिए उद्यत थे।

ऐसा सम्भवतः इसलिए हुआ कि उस युग में दास और स्वामी का समाज में जो वैषम्य चला आ रहा था उसको समाप्त किया जाय। आर्य-अनार्य तथा दास-स्वामी के बीच वर्ण-विभेद-सम्बन्धी जिन क्रान्तिकारी विचारों का उदय हुआ उनके मूल प्रतिनिधि थे वृहस्पति, चार्वाक, कपिल, महावीर और बुद्ध।

उपनिषदों में भौतिकवादी विचार

जिस युग में उपनिषदों का निर्माण हुआ उसके बहुत समय बाद उपनिषदों का ज्ञान प्रकाश में आया। उपनिषदों में निहित तात्त्विक, तर्कपूर्ण आदि अनेक प्रकार के

विचारों का सूत्र लेकर बाद में बड़े-बड़े दर्शन-सम्प्रदायों का जन्म हुआ। तथागत बुद्ध के समय तक लगभग ऐसे ६२ दार्शनिक सिद्धान्तों का आविर्भाव हो चुका था, जिनका इतिहास तथा प्रमाण 'ब्रह्मजालसुत्त' नामक बौद्धग्रंथ प्रस्तुत करता है।

उपनिषद्ग्रंथों की विचारधारा को लेकर प्रमुख दो दर्शन-सम्प्रदायों का जन्म हुआ : आस्तिक और नास्तिक। ये दोनों सम्प्रदाय समान रूप से आगे बढ़े। वैदिक युग में इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का एकाधिपत्य था, ब्राह्मण युग में उनके स्थान पर प्रजापति आदि देवताओं की प्रतिष्ठा हुई। यही प्रजापति ब्रह्मा कहलाये। तदनन्तर महाभारत के युग में ब्रह्मा के अतिरिक्त विष्णु और शिव की प्रधानता होकर, इस त्रिमूर्ति का अर्चन-पूजन हुआ। इसी समय भागवत धर्म का उदय हुआ, जिसका विकास वासुदेव कृष्ण की सेवा-भक्ति के रूप में आगे बढ़ा।

यद्यपि ब्राह्मण धर्म की पशुहिंसा के विरोध में उपनिषदों के ऋषियों ने बहुत कुछ कहा; किन्तु उपनिषदों के दूसरे बहुसंख्यक ऋषियों ने निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने में ही स्वयं को केन्द्रित रखा। फलतः उपनिषदों की विचारधारा सर्वसाधारण की समझ से बहुत दूर हट गयी। जैसा कि सम्भव और उचित भी था कि साधारण समाज ने उसका समर्थन नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म और ज्ञान की जो द्विधाएँ परम्परा से चली आ रही थीं उनकी भिन्नताएँ अधिक स्पष्ट रूप में सामने आयीं।

'महाभारत' एवं 'गीता' में कर्म तथा ज्ञान के अतिरिक्त भक्ति को भी सर्व साधारण मानव के कल्याण का मार्ग बताया गया था। कर्म, ज्ञान और भक्ति, ये तीनों मार्ग यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न थे; किन्तु उनके मूल में जो एक ही भावना कार्य कर रही थी वह थी किसी सार्वभौमिक अदृष्ट शक्ति की खोज के लिए निरन्तर चेष्टा करते रहना। इन तीनों मान्यताओं के योग या समन्वय से एक चौथी विचारधारा का उदय हुआ। उसने यौगिक क्रियाओं द्वारा जीव मुक्ति का नया मार्ग खोज निकाला। विचारकों का एक वर्ग तात्त्विक विश्लेषण में लगा हुआ था और दूसरा वर्ग वस्तुओं की वास्तविकताओं को तर्क की दृष्टि से निश्चित कर रहा था।

चिन्तन की इन विभिन्न विचारधाराओं में कौन पहले की थी और कौन बाद की, यह प्रश्न अध्येता के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। किन्तु इतना निश्चित है कि महाभारत के समय तक षड् आस्तिक दर्शनों का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था। इन आस्तिक दर्शनों की सम्पूर्ण मान्यताएँ श्रुति (वेद) पर आधारित थीं। अतः उनको वैदिक दर्शन भी कहा गया और उनके उत्तराधिकार को आर्य कहे जाने वाले समाज ने आगे बढ़ाया।

किन्तु विचारकों का वह दूसरा वर्ग, जिसका प्रतिनिधित्व अनार्य वर्ग के मनस्वी करते आ रहे थे, निरन्तर प्रत्यक्ष परीक्षणों पर सफलता प्राप्त करता हुआ, अनेक विरोधों के बावजूद भी, आगे बढ़ रहा था। उसने श्रुतियों की मान्यताओं को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। इस वर्ग की जो स्थापनाएँ थीं वे आस्तिक दर्शनों के विपरीत थीं। अतः उसको नास्तिक कहा गया। ये नास्तिक विचारक भौतिकवादी थे। यह नास्तिक और आस्तिक श्रेणी-विभाजन याज्ञवल्क्य के बाद हुआ।

वैदिक युग से लेकर याज्ञवल्क्य के समय तक भारतीय विचारधारा अध्यात्म प्रधान रही। उपनिषदों के युग में भौतिकवादी विचारधारा ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार के उपनिषत्कालीन भौतिकवादी विचारकों में प्रवाहण जैवलि, उद्दालक आरुणि, याज्ञवल्क्य और सत्यकाम जाबाल का नाम प्रमुख है। तत्कालीन भारत में इन भौतिकवादी विचारकों के अनेक केन्द्र स्थापित हो चुके थे, जिनमें कुरु-पांचाल, पंजाब (कैकेय), काशी और मिथिला का नाम प्रमुख है।

इन विचारकों में याज्ञवल्क्य का प्रमुख स्थान है। जहाँ तक याज्ञवल्क्य की ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध है उसको देखकर ज्ञात होता है कि एक सम्पन्न और सुखी गृहस्थ का जीवन बिताने के बाद उन्होंने घर छोड़ा। वे ब्रह्मज्ञानी थे।

याज्ञवल्क्य के समय ही बहुत-से लोगों का कर्मकाण्ड के प्रति विश्वास कम होने लगा था। तत्कालीन क्षत्रियों को यह आशंका होने लगी थी कि यज्ञों पर अथाह निधि खर्च कराने का एकमात्र कारण है पुरोहितों की सुख-सम्पन्नता। यही कारण था कि पुरोहितों और कर्माचरणों के प्रति क्षत्रियों में उदासीनता व्याप्त होने लगी थी।

दूसरी ओर गृहत्यागी श्रमण और तापस सामान्य आचरणों एवं ब्रह्मसिद्धि के साधारण तथा लोकव्यवहारोपयोगी उपायों से तत्कालीन समाज को अपनी ओर आकर्षित करने पर लगे थे। इन कारणों से समाज में पुरोहितों का प्रभाव कम होने लगा था। इन विरोधी विचारकों ने स्पष्ट रूप से कर्मकाण्ड और यज्ञों का विरोध कर यह आवाज लगायी कि अपनी दक्षिणा के लोभ से पुरोहित, समाज को परलोक का झूठा प्रलोभन देकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं।

ठीक इसी समय ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य और उनके गुरु आरुणि ने अपनी प्रभावशाली विचारधारा से लोगों में ब्राह्मणानुराग बनाये रखने के लिये बड़ा यत्न किया, किन्तु साथ ही उन्होंने कर्म को गौण और ज्ञान को श्रेष्ठ बताया। उन्होंने इस विचारधारा का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार किया कि ज्ञानरहित कर्म फलदायी हो ही नहीं सकता है।

इस प्रकार इन दोनों विचारकों ने पुरोहितों के स्वार्थों का हनन होते-होते बचा दिया और उनके प्रति समाज में जो दुर्भावना व्याप्त हो गयी थी उसको भी कम किया। इस प्रकार याज्ञवल्क्य के समय एक ओर तो पुरोहितों तथा उनके अनुयायी यज्ञविश्वासी समाज की परम्परा बनी हुई थी और दूसरी ओर ब्रह्मजिज्ञासु बुद्धिजीवियों का एक नया विचारक वर्ग प्रकाश में आ रहा था।

किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक स्थायी न रह सकी। इसी समय कुछ नये विचारक प्रकाश में आ गये थे, जो परम्परा की लीक को तोड़ कर जीवन तथा जगत् की पहेलियों पर स्वतन्त्र रूप से विचार कर रहे थे। ये लोग व्रात्य थे। व्रात्य भी आर्यों की ही एक शाखा थी, जिनको इस नयी विचारधारा का प्रवर्त्तक होने के कारण अवैदिक आर्य कहा गया।

इन अवैदिक आर्यों (व्रात्यों) की विचारधारा सर्वथा भौतिक थी और उन्होंने सामाजिक जीवन की नये ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की। समाज से जातिभेद और वर्णभेद

की विषमताओं को दूर करने के लिए इन विचारकों ने बड़ा क्रांतिकारी कार्य किया। वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में आर्य-अनार्य संस्कृति के सम्बन्ध में जो मंथर मत-भेद चला आ रहा था उसको उभारने में इन व्रात्यों ने बड़ा यत्न किया।

भौतिकवादी विचारधारा के भावी विकास की यह पृष्ठभूमि थी, जिसका प्रौढ़ एवं सुथरा रूप हमें सयुग्वा रैक्व के विचारों में देखने को मिलता है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सयुग्वा रैक्व ही ऐसे प्रथम दार्शनिक हुए, जिन्होंने इतनी निर्भीकता से पहले-पहल इस प्रकार की नयी विचार-पद्धति का प्रतिपादन किया। उनके दर्शन का केन्द्र वायु तत्त्व है। इसी विचारधारा का समर्थ प्रतिनिधित्व किया वृहस्पति, चार्वाक और कपिल ने तथा उनके बाद महावीर स्वामी एवं बुद्धदेव ने। आचार्य कपिल, महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने क्रमशः सांख्य दर्शन, जैन धर्म और बौद्ध धर्म के रूप में परम्परागत विचारधारा को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया।

चार्वाक दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

वृहस्पति

भारतीय दर्शन में नास्तिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य वृहस्पति हुए। वे अर्थशास्त्रकार, आयुर्वेदकार और वैयाकरण वृहस्पति से भिन्न थे। उनका स्थितिकाल लगभग ६००-५०० ई० पूर्व था।

वृहस्पति का दर्शन

आचार्य वृहस्पति ने एक सूत्रबन्धन लिखा था, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है; किंतु अन्य ग्रन्थों में उसके कुछ अंश उद्धृत रूप में मिलते हैं। ये उपलब्ध अंश ही वृहस्पति के दर्शन की जीवित थाती हैं। उनके अध्ययन से वृहस्पति की भौतिकवादी विचारधारा का कुछ आभास मात्र मिलता है। संख्या में ये लगभग पन्द्रह हैं, जिनका अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

वृहस्पति दर्शन के उपलब्ध अंश

(१) अब हम इस मत के तत्वों का निरूपण करेंगे। (२) पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार तत्त्व हैं। (३) इन्हीं भूतों के संघटन को शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम दिया गया है। (४) इन्हीं भूतों के संघटन से चैतन्य उत्पन्न हुआ है। (५) जिस प्रकार किण्व आदि अन्न के संघटन से मादक शक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार इन भूतों के संघटन से चैतन्य (विज्ञान) उत्पन्न होता है। (६) भूत ही चैतन्य को उत्पन्न करता है। (७) चैतन्ययुक्त स्थूल शरीर ही 'आत्मा' है। (८) जल के ऊपर जैसे बुलबुले दिखाई देते हैं और तत्काल ही अपने-आप मिट जाते हैं उसी प्रकार जीव की स्थिति है। (९) परलोक में रहने वाला कोई नहीं है। अतः परलोक है ही नहीं। (१०) मरण ही मोक्ष है। (११) स्वर्ग का सुख धूर्तों के प्रलापजन्य सुख से भिन्न नहीं है। इसलिए स्वर्ग या सुख को देने वाले तीनों वेद वस्तुतः धूर्तों का ही प्रलाप है। (१२)

अर्थ और काम, ये दोनों ही पुरुषार्थ हैं। (१३) राजनीति ही एकमात्र विद्या है। इसी में कृषिशास्त्र भी शामिल है। (१४) प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। (१५) साधारण लोगों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

चार्वाक

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भौतिकवादी चार्वाक के दर्शन का, अपनी नवीनता एवं विचित्रता के कारण, अलग स्थान है। 'चार्वाक' शब्द को लेकर आधुनिक इतिहासकारों एवं दर्शन के विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इस शब्द को अभिधानवाची न मानकर उस विचारधारा का अभिसूचक स्वीकार करते हैं, जिसको भौतिकवादी दर्शन कहा जाता है और जिसके अनुसार यह संसार खाने-पीने तथा मौज उड़ाने (चर्वण) के लिए है। इस दृष्टि से चार्वाक, किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर उस सारे सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो पुनर्जन्म और देवतावाद के विरोधी थे।

इस विचारधारा के अनुसार, जैसा कि आगे विस्तार से कहा जायगा, यह जीवन त्याग, तपस्या और कष्ट के लिए नहीं है; बल्कि मौज, आनन्द तथा सुखभोग के लिए है। इस दर्शन का यह मंतव्य रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयमेव सत्य की खोज करनी चाहिए और स्वयमेव अपना मार्ग बनाना चाहिए। इस विचारधारा के विरोधी लोगों ने 'चार्वाक' शब्द को उसके अनुयायियों के लिए 'गाली' तथा अपमान के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि 'महाभारत' में वर्णित चार्वाक नामक ऋषि द्वारा प्रवर्तित होने के कारण उसके दर्शन का नाम 'चार्वाक दर्शन' पड़ा।

इसके अतिरिक्त एक मत यह भी है कि चार्वाक (चारु+वाक्) उन लोगों के लिए कहा गया, जिनकी वाणी सबको मीठी लगती थी। इसीलिए उसको 'लोकायतिक दर्शन' भी कहा गया; क्योंकि लोक, अर्थात् जन-सामान्य ने उसको बड़ी रुचि से अपनाया।

इस प्रकार 'चार्वाक' शब्द को लेकर विद्वानों में जो विवाद रहा है उसको देखते हुए यह स्थिर करना यद्यपि कठिन है कि उनमें कौन-सा अभिमत ठीक है, तथापि चार्वाक के नाम से समस्त विचारधारा का नामकरण होना उसकी असामान्यता का परिचायक अवश्य है। इस सम्बन्ध में ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्य वृहस्पति के बाद भौतिकवाद को लेकर जो गम्भीर चिन्तन हुआ उसका संपूर्ण श्रेय आचार्य चार्वाक को ही उपलब्ध है। न्याय, सांख्य और वैशेषिक आदि दर्शनों की जो स्थिति रही है, चार्वाक दर्शन, स्वरूप और विकासक्रम की दृष्टि से, उनकी अपेक्षा भिन्न है। उक्त दर्शनों की भाँति चार्वाक दर्शन दीर्घकालीन साधना के बाद अनेक आचार्यों की देन न होकर एकमात्र चार्वाक की देन है। इसलिए चार्वाक को एक समस्त दार्शनिक विचारधारा के रूप में अभिहित किया ही जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त निश्चित ही एक व्यक्तिविशेष के रूप में भी उनका अस्तित्व था।

आचार्य वृहस्पति और चार्वाक 'महाभारत' (५०० ई० पूर्व) के पहले हुए।

परवर्ती विचारक

आचार्य वृहस्पति द्वारा प्रवर्तित और आचार्य चार्वाक द्वारा पल्लवित जिस भौतिकवादी या नास्तिक विचारधारा का ऊपर उल्लेख किया गया है उसने ५०० ई० पूर्व तक जन-सामान्य के बीच अपनी स्वतंत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और उसके कारण तत्कालीन समाज में जो क्रांति हुई उसके फलस्वरूप सारा समाज दो विरोधी विचारों को लेकर दो दलों में बँट गया।

आचार्य चार्वाक की विचारधारा को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ और प्रख्यात विद्वानों एवं तत्त्ववेत्ताओं ने उसकी मौलिकता का प्रतिपादन किया। इस मत के कुछ विचारकों के नाम राहुल जी की खोज के अनुसार इस प्रकार हैं :

१ अजित केशकम्बल	:	भौतिकवादी
२ मक्खलि गोशाल	:	भौतिकवादी
३ प्रक्रुद्ध कात्यायन	:	नित्यतावादी
४ संजय बेलट्ठिपुत्त	:	अनिश्चिततावादी
५ पूर्ण काश्यप	:	नित्यतावादी
६ वर्धमान महावीर	:	अनिश्चिततावादी
७ गौतम बुद्ध	:	अनात्मवादी

भौतिकवाद, नित्यतावाद, अनिश्चिततावाद और अनात्मवाद, इन सभी सिद्धांतों के मूल में एक ही स्वर मुखरित है। वह है आस्तिकवाद के विरुद्ध नास्तिकवाद की प्रतिष्ठा करना। उक्त विचारकों पर विरोधी लोगों ने यह आरोप लगाया कि उन्होंने पाप-पुण्य, झूठ-सच, चोरी-व्यभिचार आदि को कर्तव्यों की श्रेणी में रखकर उनके उपभोग पर बल दिया। इस प्रकार उन्होंने समाज में अनैतिकता का प्रचार करके उसको वे पतन की ओर ले गये। इसके विरोध में भौतिकवादी विचारकों ने ऐसी युक्तियाँ प्रस्तुत कीं जिनमें झूठ को झूठ और सच को सच प्रमाणित किया गया। इसी को जीवन के व्यावहारिक दृष्टिकोण की वास्तविकता स्वीकार किया गया।

यद्यपि बहुसंख्यक आस्तिक विचारकों ने चार्वाक और उसके अनुयायी तत्त्वज्ञों का उचित तथा अनुचित, दोनों तरह से खण्डन किया और ईर्ष्यावश चार्वाक दर्शन का जड़ से उन्मूलन करने के लिए निरन्तर यत्न किया, तथापि रूढ़ियों और कुण्ठाओं से विमुक्त चार्वाक दर्शन का अस्तित्त्व आज भी बना हुआ है।

चार्वाक मत (लोकायतिक दर्शन)

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' (१।२।६) में लोक की उपकारक आन्वीक्षिकी विद्या के संबंध में कहा गया है कि 'वह व्यसन में, आपत्ति में, क्षोभ तथा शोक उत्पन्न करने वाली दशा में, अभ्युदय में, अतिहर्ष तथा उद्धतता उत्पन्न करने वाली अवस्था में

मनुष्य की बुद्धि को स्थिर करती है, तथा प्रज्ञा को और वाणी को,शरद् ऋतु के जल की भाँति निर्मल एवं उज्ज्वल करती है।'

इस आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत कौटिल्य ने सांख्य, योग और लोकायत, अर्थात् चार्वाक मत को रखा है। जिस मत में लोक दृश्य ही, अर्थात् इन्द्रियगोचर विषय ही मुख्य या सब कुछ है उसको 'लोकायत' कहते हैं। चार्वाक मत से द्रष्टा (ईक्षिता, चेतन, आत्मा) ही मुख्य (सब कुछ) है; और दृश्यमान यह इन्द्रियलोक इसके अधीन या इसका रचा हुआ है।

यही चार्वाक मत या लोकायतिक दर्शन का सार है।

चार्वाक दर्शन की तत्त्व मीमांसा

चार तत्त्व

आचार्य चार्वाक मूलतः प्रत्यक्षवादी विचारक थे। उनके अनुसार सृष्टि के निर्माण में चार प्रकार के तत्त्वों का हाथ रहा है, जिनके नाम हैं : पृथिवी, जल, तेज और वायु। पाँचवें आकाश तत्त्व की उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी। इस तत्त्व-चतुष्टय से ही देह की उत्पत्ति और उसमें चैतन्य का समावेश हुआ है। जब देह नष्ट हो जाती है तो चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। इसलिए उनके मत से चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। देहातिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं। यही उनका देहात्मवाद है।

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है

चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण माना गया है (प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्)। पृथिवी, जल, तेज और वायु, इन चार तत्त्वों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रमाण से वस्तुओं की स्थिति को दो प्रकार से प्रत्यक्ष किया जा सकता है : (१) बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष द्वारा और (२) आन्तरिक इन्द्रियों के प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) द्वारा।

अनुमान प्रमाण नहीं है

चार्वाक दर्शन में अनुमान प्रमाण के विरोध या खण्डन में जो आपत्तियाँ प्रकट की गयी हैं उनका निरूपण इस प्रकार है।

१. **व्याप्ति का अभाव** : न्याय दर्शन का अनुमान प्रमाण व्याप्तिज्ञान पर निर्भर है। चार्वाक का कथन है कि जब तक किसी वस्तु को प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता तब तक उसके संबंध में कोई धारणा बनानी कल्पनामात्र है। कुछ अग्नियों को देखकर यह धारणा बना लेना कि 'जहाँ-जहाँ आग है वहाँ-वहाँ धुआँ है' उचित नहीं; क्योंकि जब तक संसार भर की अग्नियों को अपनी आँखों से नहीं देखा जाता तब तक अनुमान का सिद्धान्त बनता ही नहीं है। अनुमानज्ञान न तो आन्तरिक प्रत्यक्ष से सम्भव है और न बाह्य प्रत्यक्ष से है।

२. **का-कारण कार्य अभाव** : चार्वाक का कहना है कि कार्य-कारण-भाव-संबंध

से जो अनुमान की सार्थकता बतायी जाती है वह भी सार्वकालिक नहीं है, क्योंकि कहीं पर दो वस्तुओं को एक साथ देखकर उनमें कार्य-कारण-संबंध की स्थापना तब तक नहीं की जा सकती है, जब तक उन दोनों के साथ रहने वाली सभी अवस्थाओं का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो जाता। आग के साथ धुआँ देखकर उनमें कार्य-कारण-संबंध स्थापित करने में कभी-कभी गलती भी हो जाती है; क्योंकि गीली लकड़ी, जो उपाधि है और जिसके कारण धुआँ होता है, उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। इसलिए सभी वस्तुओं के कार्य-कारण-संबंध बताने के लिए उनकी उपाधियों का ज्ञान होना भी आवश्यक है; और सभी उपाधियों का प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है। इसलिए अनुमान के द्वारा दो वस्तुओं के कार्य-कारण-संबंध को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

शब्द प्रमाण नहीं है

चार्वाक दर्शन में शब्द को भी अप्रमाणिक माना गया है। वहाँ कहा गया है कि विश्वसनीय व्यक्तियों के द्वारा कहे गये वे ही शब्द प्रमाण हैं, जो प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। वेदों को प्रमाण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। ब्राह्मणग्रंथों के धूर्त पुरोहितों की अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए वेदों को प्रमाण मानने की झूठी कल्पना केवल प्रलापमात्र है। एक विश्वस्त व्यक्ति के वाक्यों को प्रमाण मानने से अनुमान द्वारा सभी विश्वस्त व्यक्तियों के वाक्यों को प्रमाण मानने की बात भी युक्त नहीं है, क्योंकि जब अनुमान प्रमाण है ही नहीं तब उसके आधार पर शब्द को प्रमाण कैसे माना जा सकता है? चार्वाक के मत से परलोक का भय मानकर यज्ञों का अनुष्ठान करना सब व्यर्थ है। जिन वेदों आदि में ये बातें लिखी हैं वे उन धूर्तों एवं स्वार्थियों की रचनाएँ हैं, जिन्होंने लोगों से धनोपार्जन के लिए उनको अपना एक जरिया बनाया।

सुखवाद

नैतिक दृष्टि से चार्वाक सुखवादी दार्शनिक थे। यद्यपि जीवन के साथ दुःख का अटूट संबंध है, तथापि जीवन का लक्ष्य सुखोपभोग ही है। चार्वाक का कहना है कि दुःख की कल्पना करके तथा दुःख के आगे आ जाने से सुख को नहीं त्यागा जा सकता है। उदाहरण के लिए मछली को खाते समय काँटा भी साथ रहता है; किन्तु मछली खाते समय काँटे को निकाल दिया जाता है। इस आधार पर दुःख को दूर किया जा सकता है; किन्तु उसके भय से सुख को त्यागा नहीं जा सकता है। यथा मृग के भय से किसी को खेती न करते हुए नहीं देखा गया, अथवा 'कल मोर मिलेगा' इस आशा से कोई भी हाथ आया कबूतर नहीं छोड़ देता। **(वरमद्य कपोतो न श्वो मयूरः)**। हाथ आये धन को छोड़ना मूर्खता के सिवा कुछ नहीं। परलोक को सुख समझकर इस लोक के सुख को त्यागने वाले मनुष्य चार्वाक की दृष्टि में गये-गुजरे और कल्पना के झूले में झूलने वाले हैं। जिस धर्म से दुःख अधिक और सुख कम मिले उसको तिलांजलि।

स्वर्ग : परलोक : मोक्ष

आचार्य चार्वाक देह को ही आत्मा मानते हैं। स्त्री, पुत्र, धन-संपत्ति आदि से

जो सुख होता है वही स्वर्ग है लोक में प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है। देह का नाश हो जाना ही मोक्ष है। परलोक में होने वाला न तो स्वर्ग है, न मोक्ष और न परलोक में जाने वाला आत्मा ही है। वर्णाश्रम व्यवस्था अपने-अपने कर्मानुसार है। जन्मान्तर के लिए उनके फलाफल की उपयोगिता नहीं है। यज्ञानुष्ठान और भस्मावलेपन पाखण्डी तथा पौरुषहीन लोगों की आजीविका के साधन हैं। उनमें कोई तत्त्व तथा सत्य नहीं है। यदि यज्ञ में वध किया हुआ पशु स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने पिता या पुत्र-स्त्री आदि का क्यों नहीं बलिदान करता ?

जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है। परलोक और मोक्ष सब मन की कमजोरियाँ हैं। मरण ही मोक्ष है (**मरणमेव मोक्षः**)। आत्मा का शरीर से अलग होना संभव नहीं है। वह तो शरीर से तभी अलग होता है, जब शरीर नष्ट हो जाता है। आत्मा का धर्म चैतन्य है और वह चैतन्य शरीर में ही है। शरीर के विना चैतन्य अन्यत्र नहीं रह सकता। लोक में स्थूलत्त्व, कृष्णत्व, धर्म शरीर के ही माने जाते हैं। उसी को 'मैं' कहा जाता है। वही शरीर 'आत्मा' है। इसी को 'शरीरात्मवाद' कहा गया है। इसी प्रकार दुःख भी शरीर के साथ बँधा हुआ है। दुःख से छुटकारा तभी हो सकता है, जब शरीर नष्ट हो जाय। वही मोक्ष है। जीवित रहकर दुःख से मुक्त होना संभव ही नहीं है।

अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ हैं। अर्थ और कामप्रधान इस चार्वाक दर्शन का अपर नाम लोकायत है। लोक, अर्थात् जन-समुदाय, में आयत, अर्थात् फैला हुआ। चार्वाक के अनुयायियों ने नास्तिक दर्शन को इसलिए लोकायत नाम दिया, क्योंकि उसका प्रचार-प्रसार समस्त समाज में था।

चार्वाक दर्शन की जैन-बौद्धों से भिन्नता

नास्तिक दर्शनों में गिने जाने वाले बौद्धों के माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक संप्रदायों तथा जैनों के आर्हत दर्शन पर यद्यपि बृहस्पति तथा चार्वाक की मान्यताओं की छाप अंकित है, तथापि उनका विकास कुछ दूसरे ही रूप में हुआ। जैनों और बौद्धों के समय तक चार्वाक की स्थापनाएँ स्पष्ट रूप से प्रकाश में आ चुकी थीं और समाज तथा विचारक वर्ग पर उसकी प्रतिक्रियाओं का प्रभाव सुविदित हो चुका था। जैनों और बौद्धों को विश्वास हो गया था कि अपने-अपने धर्मों को यदि समाज में प्रचारित करना है तो उनके प्रतिपादन एवं प्रवचन की प्रणाली चार्वाक से भिन्न होनी चाहिए। यह तथ्य उनके सामने स्पष्ट रूप से विद्यमान था कि चार्वाक के दर्शन को जितना स्थायी और व्यापक होना चाहिए था, वह न हो सका। यही कारण था कि अनेक स्थानों पर मूल तत्त्वों के संबंध में एकमत होने पर भी जैन-बौद्धों ने अपना विकास दूसरी ही दृष्टि से किया।

चार्वाक दर्शन की अन्तिम स्थिति

सभी नास्तिक विचारकों का पहला एवं प्रमुख उद्देश्य यह था कि दर्शनशास्त्र को

सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाया जाय। इस ध्येय से उनकी दृष्टि लोकानुरंजन एवं लोकविश्वासों पर केन्द्रित रही। किन्तु उसका प्रभाव अनुकूल सिद्ध न हुआ। भारत की धर्मप्रवण एवं वेदविश्वासी जन-भावनाओं को नास्तिक दर्शन की वे युक्तियाँ अधिक समय तक प्रभावित नहीं कर सकीं।

फिर भी चार्वाक की यह अनूठी खोज भारतीय दर्शन के इतिहास में अपनी विशेषता रखती है। आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक और प्रमाण मीमांसा के संबंध में चार्वाक ने जो कुछ कहा, यद्यपि उसका व्यापक रूप से विरोध हुआ; फिर भी भारतीय तथा विश्व के विचारकों के समक्ष उसने जो मान्यताएँ स्थिर कीं और जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकताओं का जिस मौलिक ढंग से विश्लेषण किया, वह अपनी नवीनता के कारण आज भी समादरणीय है।

आचार्य वृहस्पति और आचार्य चार्वाक से लेकर अब तक भौतिकवादी विचार-धारा का जो विकास हुआ उसका सार 'जड़वाद' के सिद्धांत पर आधारित है। जड़वाद और अनीश्वरवाद, भौतिकवादी दर्शन के दो विलक्षण सिद्धांत हैं।

१. जड़वाद

उद्देश्य

जिसको यथार्थवादी और भौतिकवादी दृष्टि से 'जड़वाद' कहा गया है उसको आधुनिक विद्वान् 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' के नाम से कहना उपयुक्त समझते हैं।

चार्वाक के अनुसार, 'देखना ही विश्वास करना है'। इस आधार पर जड़वस्तु ही विश्वसनीय है, क्योंकि वह देखी जा सकती है। आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म, परलोक, भविष्य, स्वर्ग, नरक आदि आस्तिक दर्शनों के जितने भी तत्त्व हैं वे दिखायी नहीं देते। अतः वे विश्वासयोग्य नहीं हैं; और इसीलिए उनके प्रति जिज्ञासा का होना कपोलकल्पना, प्रलाप तथा मूर्खता के सिवा कुछ नहीं है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु, जड़वस्तु के ये ही चार निर्णायक तत्त्व हैं। इसी को जड़वाद की मूल सामग्री कहा गया है।

पुरातन का सम्यक् विश्लेषण करके आधुनिक दृष्टि से एक संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित पुस्तक श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने कई वर्ष पूर्व मराठी में लिखी थी, जिसका हिन्दी अनुवाद भी संप्रति उपलब्ध है। श्री शास्त्री जो वैज्ञानिक भौतिकवाद के प्रकाण्ड विद्वान् हैं और उन्होंने ही जड़वाद तथा अनीश्वरवाद पर पहले-पहल इतना सहज एवं प्रत्युत्पन्न दृष्टि से विचार किया है।

सामान्य रूप से जड़वाद वह तत्त्व ज्ञान है, जिसमें जगत् और समाज, दोनों से संबंधित तत्त्वों पर नयी दृष्टि से विचार किया गया है। तत्त्वज्ञान का आशय है जीवन और जगत् की वास्तविकता का निश्चय हो जाना। प्रमाणों के द्वारा भली-भाँति परख करने के बाद जो वस्तु अबाधित रूप से सिद्ध होती है वही तत्त्व है उसी को 'परमार्थ' कहा गया है। जड़वादी तत्त्ववेत्ताओं ने इसी 'परमार्थ' के सही स्वरूप को लोक के सम्मुख प्रकाशित किया है।

'जड़' का आशय

संवेदनारहित तथा ज्ञान-रूप हीन-पदार्थ ही 'जड़' है। उसका प्रतियोगी शब्द है 'चेतन', जिसमें संवेदन और काल निहित रहता है। शास्त्री जी के शब्दों में "उस पदार्थ को जड़वस्तु कहते हैं, जो (१) किसी ज्ञाता की अनुभूति में न रहता हुआ भी स्वतंत्र रूप से रहता है; (२) जिसे स्वयं किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती; और (३) जो स्वयं ज्ञानरूप अथवा चैतन्यरूप नहीं होता।" उदाहरण के लिए अनन्तकाल से खान में पड़ा हुआ वह हीरा, जिसको न तो स्वयं किसी प्रकार की अनुभूति है; जो न किसी दूसरे की अनुभूति का विषय है और न स्वयं चैतन्यरूप है।

जड़ और चेतन का सम्बन्ध

जड़वादी तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि प्रत्येक वस्तु जब चेतनावस्था या जीविदावस्था में आती है, उससे पूर्व वह अचेतनावस्था या अजीवावस्था में रहती है। प्रत्येक पदार्थ की पहली स्थिति जड़ और दूसरी चेतन हुआ करती है। पदार्थ का यह चेतन रूप, उसके निसर्ग जड़रूप का ही परिणाम है। इसलिए मूलतः जो पदार्थ जड़ होता है वही चेतन या जीव बनता है।

जो चेतन वस्तु है वह ज्ञानयुक्त, बुद्धियुक्त और अनुभूतियुक्त है। इस दृष्टि से, वर्तमान चेतनसृष्टि में मनुष्य सब से बड़ा है; किन्तु न तो उसको शाश्वत कहा जा सकता है और न सर्वव्यापी ही। वह तो इस सीमित देश-काल से परिवेष्टित, नश्वर एवं एकदेशीय है; क्योंकि उसका निर्माण ही ऐसे तत्त्वों से हुआ है।

पशु, पक्षी और मनुष्य आदि 'चेतन' सृष्टि में आते हैं और वनस्पति तथा दुःख रूप वस्तुएँ 'जीव' सृष्टि के अन्तर्गत आती हैं। जीव उसको कहते हैं, जो गतिशील है, उत्सर्ग करने वाला है और अपनी जैसी दूसरी वस्तुओं को जन्म देने वाला है।

देह ही आत्मा है

किसी जीवपिण्ड या चेतनपिण्ड का परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उसका निर्माण विभिन्न जड़ द्रव्यों के मेल से हुआ है। इन जड़ द्रव्यों के मेल से ही अनेक प्रकार की 'संस्थाओं' का निर्माण हुआ है। कार्य करने वाली इन 'संस्थाओं' में मन भी एक है। वही मन शरीर और आत्मा, दोनों है। शरीर और आत्मा वस्तुतः दो नहीं हैं; क्योंकि जिसे हम जीव शक्ति या आत्मा शक्ति कहते हैं वह शरीर से अलग नहीं है।

जड़वादी विचारकों का सिद्धान्त है कि शरीर के पैदा होने से पहिले और शरीर के नष्ट होने के बाद आत्मा भी नष्ट हो जाता है। इसलिए जब कि शरीर के नष्ट हो जाने पर प्राण तथा आत्मा भी विनष्ट हो जाते हैं तब पुनर्जन्म का सिद्धांत बनता ही नहीं है। "मृत्यु के बाद, कर्म के अनुसार जीवात्मा, विविध योनियों में जन्म लेता है; अथवा धर्म-कर्म के कारण स्वर्ग में जाता है और पापाचार के कारण नरक में जाता है, ये सब कल्पनाएँ मिथ्या हैं।"

ज्ञान और मस्तिष्क संबंधी विकास की जो बातें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं वे सभी शरीर के विकास पर निर्भर हैं। शरीर का जितना ही कम विकास होगा, ज्ञान भी उतनी ही कम मात्रा में विकसित होगा। संपूर्ण मनोवृत्तियाँ ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के विकसित हुए बिना अन्तर्ज्ञान तथा आत्मा के विकास का मार्ग सीमित ही है। इसलिए शरीर से भिन्न कोई आत्मा या मन नहीं।

देहात्मभाव के संबंध में आचार्य शंकर ने 'शांकरभाष्य' की प्रस्तावना में और 'सन्मवयसूत्र-भाष्य' के अंत में कहा है कि 'देह ही आत्मा है' यह प्रतीति समस्त जीव-व्यापारों के मूल में कार्य करती है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि आत्मा को देह से भिन्न मानने वाले तत्त्ववेत्ता भी व्यावहारिक दृष्टि से स्वयं देहात्मवादी होते हैं।

किन्तु जैसा कि देखने में आता है, आचार्य चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने यही स्वीकार एवं सिद्ध किया है कि आत्मा, देह से अलग है। किन्तु चार्वाक का कहना है कि देह, आत्मा से भिन्न नहीं है। जीवशास्त्र और मानसशास्त्र इस गंभीर प्रश्न को बहुत कुछ हद तक हल भी कर चुके हैं और 'वह दिन दूर नहीं जब भारत में भी भौतिकवादी तत्त्ववेत्ताओं की ओर से देहात्मभाव का पूर्णतया समर्थन एवं स्पष्टीकरण हो जायगा।'

द्रव्य का स्वरूप और स्वभाव

जिस एक वस्तु से दूसरी वस्तु बनती या उत्पन्न होती है और जिसके गुण-धर्म होते हैं उसी को 'द्रव्य' कहते हैं। यह समस्त जगत् द्रव्य और गुणों का ही पिण्ड है। ये भौतिक द्रव्य अनेक रूप-रंग और गंध के होते हैं। उनमें यह अनेकता किसी के द्वारा निर्मित न होकर, स्वाभाविक है। इसी को द्रव्यों का स्वरूप कहा गया है। संख्या, परिणाम और कार्य-कारण-भाव उसके अंग हैं। उनका निर्माण नहीं किया जा सकता तथा उनको थोपा नहीं जा सकता। बल्कि उनमें प्रकृत रूप से वर्तमान रहने के कारण उनको पहचाना जाता है, गिना जाता है तथा उनमें संबंध जोड़ा जा सकता है।

एक कुशल कृषक बीज के कार्य-कारण-भाव को पहचानता है। इसी प्रकार एक वैद्य रोगनाश के कार्य-कारण-भाव को जानता है। किन्तु कृषक और वैद्य दोनों बीज और रोगनाश के कार्य-कारण-भाव को उत्पन्न नहीं करते। 'इसलिए यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यवस्थापक किसी वस्तु के स्वभाव में प्रकृत रूप से विद्यमान व्यवस्था को पहचानकर उस वस्तु का उपयोग करता है। वह व्यवस्था (स्वभाव) को उत्पन्न नहीं करता है।'

विश्व परिवर्त्तनशील है

प्रत्येक मनुष्य के सामने वस्तुओं के परिवर्त्तन के स्वरूप नित्य ही प्रकट होते रहते हैं। इतिहास हमें बताता है कि इस पृथ्वी पर पहले न तो कोई प्राणी था और न वनस्पतियाँ ही। ये सब कुछ बाद में पैदा हुए। मनुष्य के उत्पन्न हो जाने से इस विश्व में अनेक परिवर्त्तन हुए। उसने न केवल वनस्पतियों और जानवरों की ही

दिशा में बल्कि समाज में भी अनेक परिवर्त्तन उपस्थित किये। इसलिए विश्व परिवर्त्तनशील है और उसकी इस वास्तविकता का प्रमाण ज्योतिषशास्त्र प्रस्तुत करता है।

वस्तु की इसी परिवर्त्तनशीलता का ही परिणाम है कि न उसका सर्वथा विनाश होता है और न सर्वथा अभाव ही। हम देखते हैं कि प्रत्येक सद्‌वस्तु के स्थान पर दूसरी सद्‌वस्तु निर्मित होकर अपने अस्तित्व की कड़ी को जोड़े रहती हैं। उदाहरण के लिए रुई से कपड़ा तैयार होता है और मिट्टी से घड़ा बनता है। यह कपड़ा और यह घड़ा परिवर्त्तन के परिणाम हैं।

इस परिवर्त्तन के ही कारण विश्व का चक्र चल रहा है। यंत्र का एक पहिया घूमा कि दूसरा स्वयं ही घूमने लगता है। अणुरूप द्रव्यों से निर्मित इस जगत् के अणुओं के आपस में मिलने और उनके एक-दूसरे से अलग हो जाने से ही गति का आरंभ होता है। यही गति, अर्थात् परिवर्त्तन प्रत्येक वस्तु का स्वाभाविक धर्म है। इसी स्वाभाविक धर्म के कारण दूसरा पहिया स्वतः ही घूमने लगता है।

इस परिवर्त्तन का इतिहास कब से आरंभ हुआ, इसका कोई तर्कसंगत उत्तर किसी भी दर्शन में नहीं है।

अज्ञान के कारण, अर्थात् घटनाओं के कार्य-कारण-भाव की गुरुता के कारण, देवताओं को गढ़ा गया है, उनकी कल्पनाएँ की गयीं। यह वर्षा, यह वायु, यह ग्रहण, यह प्रकाश और यह अंधकार वास्तव में क्या है, इन सब का समुचित और प्रत्यक्षरूप से सही सिद्ध होने वाला उत्तर विज्ञान ने दिया है।

अतः इस संबंध में भौतिकवादी भारतीय विचारकों के निष्कर्षों की अब सहसा अवहेलना नहीं की जा सकती है।

२. अनीश्वरवाद

वैज्ञानिक भौतिकवाद के 'जड़वाद' को समझ लेने के बाद अनीश्वरवाद का सिद्धान्त स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। जड़वाद और अनीश्वरवाद, वस्तुतः एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। उनमें यदि भिन्नता है तो केवल इतनी ही कि जड़वाद एक मण्डनात्मक पद्धति है और अनीश्वरवाद खण्डनात्मक। जड़वाद की बुद्धिसंगत विचारधारा को समझ लेने के बाद ईश्वर नाम की अतिरिक्त वस्तु को जानने के लिए कोई उत्कण्ठा ही नहीं रह जाती है।

कार्य-कारण भाव से सृष्टि का संचालन

जैसा कि आस्तित्व दर्शनों का अभिमत है कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय में ईश्वर का हाथ है, जड़वाद इसको नहीं मानता है। जड़वाद हमें यह बताता है कि सृष्टि के उक्त सारे कार्यव्यापारों में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। वे तो स्वभावसिद्ध हैं और उनका संचालन कार्य-कारण-भाव से होता है।

भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार यह धारणा ही निरर्थक है कि ईश्वर इस जगत् का मूलभूत तत्त्व है। सारे धर्मग्रंथ इस मंतव्य को एकमत से स्वीकार करते हैं

कि ईश्वर ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। वह अनन्त है, सर्वज्ञ है, चिन्मय है और नित्य है। इन सारी दृष्ट-अदृष्ट वस्तुओं का अस्तित्व ईश्वर के अस्तित्व पर निर्भर है। ईश्वर के उक्त विशेषणों में से यदि 'चिन्मय' (ज्ञानमग्न) विशेषण ही हटा दिया जाय तो आध्यात्मिकवाद और भौतिकवाद का कुछ अंशों में समझौता हो सकता है। ऐसा मानने से फिर जड़ और जगत् में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण और उनका खण्डन

धर्मग्रन्थों और आस्तिक दर्शनों में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के संबंध में अनेक प्रकार के तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। उन तर्कों और प्रमाणों के खण्डनार्थ अनीश्वरवादी विचारकों ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है :

(१) कुछ तत्त्ववेत्ता ऐसे हुए हैं, जिनका कथन है कि इस जगत् की रचना जिस अत्यन्त बुद्धिमन्त शक्ति के द्वारा हुई है वही ईश्वर है। यदि वह ईश्वर न होता तो सृष्टि की जिस व्यवस्था को हम देख रहे हैं वह न दिखायी देती।

इस सिद्धांत के उत्तर में अनीश्वरवादी विचारकों का कहना है कि सृष्टि की समस्त प्रक्रिया के लिए बुद्धि की आवश्यकता है ही नहीं। उदाहरण के लिए जीव-पिण्डों के भीतर न जाने कितने ऐसे व्यापार हैं, जो व्यवस्थित रूप से स्वयं ही चालित होते रहते हैं। उनको संचालित करने के लिए बुद्धि की कोई अपेक्षा नहीं है। यह जो व्यवस्था और नियमबद्धता दिखायी दे रही है वह स्वाभाविक एवं प्रकृत है; किसी के द्वारा नहीं की गयी है।

(२) कुछ तत्त्ववेत्ताओं ने ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में प्रमाण प्रस्तुत किया है कि यह जो विश्व के अणु-अणु में गति दिखायी दे रही है उसको सबसे पहले जिसने संचालित किया वही ईश्वर है।

इसके विरोध में अनीश्वरवादियों का कहना है कि प्रत्येक वस्तु में जो गति दिखाई दे रही है उसका कारण दूसरी वस्तु है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु में गति पैदा करने की शक्ति प्रकृत या सनातन रूप में विद्यमान है। अतः जगत् के लिए किसी संचालक तथा प्रेरक की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

(३) ईश्वरवादी विचारकों का एक मन्तव्य यह भी है कि इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई हेतु अवश्य है। वह हेतु ईश्वर है। जगत् के इस संपूर्ण कार्य-व्यापार के मूल में वही हेतु (ईश्वर) निहित है।

किन्तु भौतिकवादियों की दृष्टि में यह हेतु अंतःकरण का एक धर्मविशेष है। हेतु का आशय है उद्देश्य या इच्छा। यदि ईश्वर की इच्छा है तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वह भी अपूर्ण है; अतएव अनीश्वरवाद का सिद्धांत उचित है। क्योंकि हमें यह मानना पड़ेगा कि जिस वस्तु के लिए ईश्वर की इच्छा है वह उसके पास या

अधीन नहीं है। इस दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं किया जा सकता है।

(४) चौथा ईश्वरवादी मत है कि प्रत्येक ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता के अधीन है। "सारे जीव जिस समय विश्व का अनुभव नहीं करते उस समय जो विश्व का अनुभव करता है और जिसके अनुभव पर विश्व की स्थिति निर्भर रहती है, वही पुरुषोत्तम या परमेश्वर है।"

इस संबंध में अनीश्वरवादियों का कहना है कि ज्ञानी तो वस्तु पर आश्रित है। वह वस्तु सत्य है, जिसको कोई नहीं जानता; किन्तु वह फिर भी बनी रहती है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व दूसरे की जानकारी पर अवलंबित है। ऐसा कहने का यह निष्कर्ष निकलता है कि वह वस्तु सत्य नहीं; बल्कि केवल भासमात्र तथा काल्पनिक है। यह एक सर्वसंगत सिद्धांत है कि किसी भी सत्य वस्तु के अस्तित्व के लिए जानकारी (ज्ञातृत्व) की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए अग्नि के प्रमाणभूत धुआँ के न रहने पर यह नहीं देखा गया है कि अग्नि का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। इसलिए ज्ञान का कारण वस्तु है; वस्तु का कारण ज्ञान नहीं।

(५) इसी प्रकार ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ईश्वरसमर्थक विचारकों की ओर से अनेक तर्क उपस्थित किये गये हैं। उदाहरण के लिए इस जगत् में अनादिकाल से जो सर्वोपरि सत्ता, जो प्रमादरहित न्यायकर्ता है वही ईश्वर है। उसके बिना क्षुद्र-से-क्षुद्रतम और महान्-से-महत्तम कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान, इच्छा और भावना से संपन्न आत्मा ही ईश्वर है।

इसके खण्डन में भौतिकवादी विचारकों का कहना है कि यदि ज्ञान, इच्छा और भावना से संपन्न आत्मा ही ईश्वर है तो हमें यह सिद्ध करना पड़ेगा कि आत्मा शरीर से कोई ऐसी भिन्न वस्तु है, जो स्वतंत्र, विराट् और अनन्त है। तभी हम कह सकते हैं कि विश्व के मूल में परमात्मा का अस्तित्व विद्यमान है। सांख्य में जीवात्मा को तो माना गया है; किन्तु परमात्मा को नहीं। फिर भी सांख्य का जीवात्मा कुछ दूसरा ही मार्ग बताता है।

यदि स्वतंत्र रूप से विश्लेषण करने वाले जिज्ञासु को यह विश्वास हो जाय कि देह के भीतर ज्ञाता आत्मा की कल्पना सर्वथा मिथ्या है तो परमात्मा की कल्पना भी स्वयमेव मिथ्या जान पड़ेगी। इस देह में आत्मा नाम की किसी स्वतंत्र वस्तु को प्रमाणित करने के लिए न तो कोई अनुभव ही अब तक विश्वसनीय सिद्ध हो सका है और न कोई तर्कपूर्ण प्रमाण की आशा की जा सकती है।

अतः आत्मा तथा परमात्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर या किसी अदृष्ट शक्ति को स्वीकार करना ख-पुष्प की भाँति निरर्थक है।

ईश्वर मोक्ष का प्रदाता नहीं है ?

ईश्वरवादी विचारकों ने ईश्वर में जिन ज्ञान, इच्छा और भावनाओं का उल्लेख किया है, जड़वादियों की दृष्टि से वे अनित्य हैं। वहाँ उनको विषय कहा गया है। इन

विषयों से आवद्ध ईश्वर, मनुष्य की आत्मा की भाँति विषय से बँधा हुआ है। यदि ईश्वर भी विषयों से बँधा हुआ है तो यह कैसे संभव हो सकता है कि वह मोक्ष का प्रदाता या कारण है। जो स्वयं बँधा हुआ है वह दूसरे को किस प्रकार मुक्त कर सकता है ?

इसलिए, आदर्श चरित्र और समस्त मानवता को सुमार्ग पर ले जाने वाले कणाद, कपिल, चार्वाक, बुद्ध और महावीर आदि तत्त्वज्ञ न तो ईश्वर की खोज में व्यर्थ भरमे और न उन्होंने मोक्ष के लिए ईश्वर की अपेक्षा समझी। उन्होंने शुद्ध आचरण और पवित्र कर्त्तव्यों पर बल दिया और जन-साधारण के बीच रहकर अपने अनुभवों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर और मोक्ष, मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए बाधक हैं। अतः उनके पीछे जाना व्यर्थ है।

जैन दर्शन

* * * *

उद्भव

जैन दर्शन को समझने से पूर्व जैन धर्म की ऐतिहासिक परम्परा को समझना आवश्यक है। उसके बिना जैन दर्शन के तात्त्विक पक्ष को नहीं समझा जा सकता है। इतिहास-ग्रन्थों के अनुशीलन से विदित होता है कि जैनों और बौद्धों की वास्तविक स्थिति दर्शन के विवेचन की दृष्टि से न होकर धर्म की अपूर्व प्रतिष्ठा के कारण है। इन दोनों धर्म-संप्रदायों में यद्यपि आगे चलकर दार्शनिक पक्ष पर भी स्वतंत्र रूप से विचार हुआ; फिर भी उनका मुख्य उद्देश्य एक स्वतंत्र धर्म की प्रतिष्ठा करना था।

ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी पूर्व वैदिक धर्म के विरोध में एक महान् क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था, जिसके नेता थे महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध। इस क्रान्ति का मूल उद्देश्य धार्मिक विरोध था; किन्तु आगे चलकर उसके लक्षण साहित्य के क्षेत्र में भी प्रकट हुए। ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जैन-बौद्धों की साहित्यिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण महानतम कृतियों के निर्माण से भारतीय वाङ्मय की एक अधूरी दिशा प्रकाश में आयी। भारतीय षड्दर्शनों के क्षेत्र में जो अभ्युन्नति हुई वह इसी क्रांति का परिणाम था। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध, इन दोनों धर्मों का भारतीय इतिहास में विशिष्ट स्थान है।

जैन धर्म के दार्शनिक पक्ष पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वह आस्तिक और नास्तिक दर्शनों के बीच की एक कड़ी है। इस सत्य को जैन दर्शन से आस्तिक दर्शनों और नास्तिक दर्शनों की तुलना के प्रसंग में, यथास्थान स्पष्ट किया जायगा। * कोरी बकवास |

* [भारतीय विचारधारा हमें, आदि काल से ही, दो रूपों में विभक्त हुई मिलती है। पहली विचारधारा परम्परामूलक, ब्राह्मण्य या ब्रह्मवादी रही है, जिसका विकास वैदिक साहित्य के वृहत् स्वरूप में प्रकट हुआ। दूसरी विचारधारा पुरुषार्थमूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमणप्रधान रही है, जिसमें आचरण को प्रमुखता दी गयी। ये दोनों विचारधाराएँ एक-दूसरी की प्रपूरक भी रहीं और विरोधी भी। इस राष्ट्र की

बौद्धिक एकता को बनाये रखने में उन दोनों का समानतः महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहली ब्रह्मवादी विचारधारा का जन्म पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में और दूसरी श्रमणप्रधान विचारधारा का उद्‌भव आसाम, बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के व्यापक अंचल में हुआ। श्रमणप्रधान विचारधारा के जनक थे जैन।

जैन धर्म के प्रमुख दो सम्प्रदाय

श्वेताम्बर और दिगम्बर

भगवान् तथागत के निर्वाण के बाद जैसे बौद्ध धर्म के क्षेत्र में अनेक मतमतान्तर और सम्प्रदायजन्य मतभेदों का प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होना आरम्भ हो गया था वैसे ही महावीर स्वामी के बाद जैन धर्म के क्षेत्र में भी सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण प्रमुख दो दल बन गये थे। जैन धर्म के इस दलगत विभेद का इतिहास बड़ा रोचक है।

महावीर स्वामी के नौ प्रकार के शिष्य थे, 'स्थविरावली' में जिन्हें 'गण' कहा गया है। उनके मुखिया को 'गणधर' कहा गया है। इस प्रकार के नौ 'गणधर' थे, जिनके नाम थे : इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। इनके अतिरिक्त गोशाल और जमालि भी महावीर स्वामी के प्रमुख शिष्यों में-से थे। महावीर स्वामी की यह शिष्य-परम्परा ३१७ ई० पूर्व तक अटूट रूप में बनी रही।

महावीर स्वामी की शिष्य-परम्परा में जिन शिष्यों ने 'संघ' का कार्य सुचारु रूप से संचालित किया और अपने अच्छे कार्यों के कारण लोकप्रियता को अर्जित किया उनमें आचार्य भद्रबाहु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ३१७ ई० पूर्व में संघ के संचालन का कार्य उन्होंने अपने हाथों में लिया। संघ की स्थिति को दृढ़ करने के उपरान्त सात वर्ष बाद ३१० ई० पूर्व में आचार्य भद्रबाहु संघ के संचालन का भावी कार्य अपने योग्य शिष्य स्थूलभद्र के ऊपर निर्भर कर स्वयं दक्षिण की ओर भ्रमण के लिए चले गये। किन्तु आचार्य भद्रबाहु के यात्रा-प्रवास के समय स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन साधुओं की एक वृहत् सभा का आयोजन किया और उसमें जैनों के अंगग्रंथों का नये सिरे से संग्रह करने के लिए योजनाएँ पारित की गयीं।

कुछ दिन बाद आचार्य भद्रबाहु जब अपनी दक्षिण यात्रा से वापिस आये तो उनके समक्ष पाटलिपुत्र की उक्त विज्ञसभा द्वारा पारित प्रस्तावों को स्वीकृति के लिए रखा गया। आचार्य भद्रबाहु ने उन पर स्वीकृति देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति में एक नयी बात और हुई। स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधुओं ने वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया था। भद्रबाहु को यह बात भी उचित प्रतीत न हुई। फलतः यह विवाद उग्र रूप धारण करने लगा। अन्ततः आचार्य भद्रबाहु

अपने कुछ विश्वासी शिष्यों को साथ लेकर अन्यत्र चले गये और वे पुराने आचरण पर ही दृढ़ रहे।

इस प्रकार जैन साधुओं के बीच दो दल हो गये : एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर। जैनियों के इन दो संप्रदायों का आरंभ ३०० ई० पूर्व में हो चुका था। इन दोनों संप्रदायों के प्रवर्तक आचार्य भद्रबाहु का परलोकवास २९७ ई० पूर्व में हुआ और स्थूलभद्र का २५२ ई० पूर्व में।

किन्तु उक्त दोनों प्रवर्तक आचार्यों का परलोकवास होने के अनन्तर भी जैन मुनि-समाज में ३०० ई० पूर्व में रहन-सहन और सैद्धान्तिक मतभेद के कारण जो दो दल बन गये थे, आगे चलकर उनमें समझौता होने की अपेक्षा उग्र मतभेद बढ़ता ही गया।

बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म का उदय भी यद्यपि एक ही महान् उद्देश्य को लेकर हुआ था; किन्तु कुछ समय बाद ही वह इतनी शाखाओं में विभाजित हो गया, जिनके कारण अपने मूल उद्देश्यों को अधिक लोकप्रिय बनाने की अपेक्षा उनका विकास ही अवरुद्ध हो गया। ऊपर से देखने पर यही कहा जा सकता है कि अनेक शाखा-संप्रदायों में विभाजित होकर जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों ने अपनी-अपनी उन्नति की; कुछ अंशों में, विशेषतः साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में, इससे अच्छी परम्परा स्थापित हुई; किन्तु बारीक अध्ययन करने से यह स्पष्ट एवं सत्य है कि इन शाखा-संप्रदायों के कारण दोनों धर्मों की गति क्षीण होती गयी। आज बौद्ध धर्म तो भारत में रहा ही नहीं; किन्तु जैन धर्म के वर्तमान पोषकों में भी वह निष्ठा एवं वैसा उत्साह शिथिल दिखायी देता है।

धर्मसंघ

जैन धर्म की जिन शाखा-उपशाखाओं का निर्देश ऊपर किया जा चुका है उन सब की नामावली प्रस्तुत करना और उन सब के उद्भव के कारणों पर प्रकाश डालना यहाँ संभव नहीं है; किन्तु साहित्य के क्षेत्र में, विचारों के क्षेत्र में और आचरण के क्षेत्र में अब तक जो स्थिति रही है उनके परिचायक मूलसंघ, काष्ठासंघ, तेरापंथ, यापनीय संघ, गौडसंघ, मयूरसंघ, नन्दिसंघ, निर्ग्रन्थसंघ, कूर्चकसंघ, वीरसेणाचार्यसंघ, पुन्नाटसंघ, किन्नरसंघ, बलात्कारसंघ, सेनान्वय, तापगच्छ, सरस्वतीगच्छ, वागड़गच्छ और लाटबागड़गच्छ आदि जैन धर्म की ऐसी शाखाएँ हैं, जिनके कारण जैन धर्म बहुमुखी धर्म के रूप में किसी समय भारत की इस भूमि पर अपनी उच्च प्रगति पर रहा; किन्तु जिनमें अधिकांश विचारधाराएँ कच्ची आधारभूमि पर टिकी होने के कारण थोड़े ही समय में अपने अस्तित्व को गँवा बैठीं।

संक्षेप में जैन धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर, इन दो प्रमुख विचारधाराओं और उनके अन्तर्गत की अनेक विचारधाराओं का यही इतिहास है।

जैन और बौद्ध दर्शन की एकता

परम्परा से प्रवर्तित वैदिक धर्म की महानताओं को जब पुरोहित कहे जाने वाले वर्ग ने सीमित, संकीर्ण एवं स्वार्थसाधन का माध्यम बना लिया था तब उसके विरुद्ध जिन प्रगतिशील लोगों ने आवाज लगायी वे ही जैन और बौद्ध कहे गये। इस दृष्टि से जैन-बौद्धों के धार्मिक दृष्टिकोण प्रायः एक ही रहे हैं; किन्तु दर्शन के क्षेत्र में भी उनके सिद्धान्त कुछ समझौता एवं समानता का उद्देश्य लेकर विकसित हुए। उन्हीं का प्रतिपादन करना यहाँ अभीष्ट है।

कर्मफलवाद और पुरोहितवाद के प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों का जो विरोध उपनिषदों में प्रकट हुआ था उसका प्रभाव ई० पूर्व छठी शताब्दी में एक आलोचनात्मक भावना के रूप में प्रकट हुआ। भारत में यह युग बौद्धिक संघर्ष का युग था। वेदों और उपनिषदों की विचारधारा एक रूप में नहीं रही। उनके भीतर से एक व्यक्ति या संप्रदाय की नहीं, अपितु एक वृहद् जन-मानस की चिन्ताधाराएँ समन्वित थीं। ये चिन्ताधाराएँ कभी-कभी विरोधी भी रहीं। इन धाराओं में तत्कालीन विचारकों को जो अधिक रुचिकर प्रतीत हुई उन्होंने उन्हीं को लेकर अपने सिद्धांतों का स्वतंत्र विकास किया। इसी कारण जैन, बौद्ध तथा अन्य दर्शन संप्रदायों का जन्म हुआ। लेकिन एक ही स्रोत से उत्पन्न होने के कारण, इन सभी धर्मों की, ब्राह्मण धर्म के साथ समानता बनी रही; और इन सभी धर्मों पर इस देश की रुचियों का भी प्रभाव पड़ता रहा।

यद्यपि उपनिषद् एक प्रकार से वेदविहित सिद्धान्तों के समर्थक रहे हैं; किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों की भोगवादी विचारधारा के कट्टर विरोधी, या दूसरे शब्दों में वेदोक्त धर्म के आलोचनाप्रधान, ग्रन्थ होने के कारण जैन-बौद्ध दर्शनों के वे अधिक निकट हैं; किन्तु वे वेदनिन्दक या वेद-अविश्वासी न होकर उनके प्रबल पक्षपाती हैं। वस्तुतः देखा जाय तो जैन-बौद्धों ने जिस आलोचना-पद्धति को अपनाया और नास्तिकवाद की श्रेणी में अपने को प्रतिष्ठित किया उसके मूल हेतु आचार्य चार्वाक और आचार्य बृहस्पति के विचार थे।

किन्तु जैन धर्म और बौद्ध धर्म के अधिष्ठाता महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव ने जिस नास्तिकवाद को अपनाया वह वृहस्पति तथा चार्वाक के सिद्धान्तों से प्रसूत एवं उनका अविकल रूप न होकर उनका संस्कृत, परिष्कृत रूप था। वृहस्पति तथा चार्वाक के अहिंसावादी दृष्टिकोण को तो इन दोनों महापुरुषों से ग्रहण किया; किन्तु उनमें जो भोगवादी पक्ष की प्रधानता थी उसको उन्होंने छोड़ दिया; बल्कि यह कहा जाय कि अन्त तक जैन और बौद्धों की विचारधाराएँ वृहस्पति एवं चार्वाक के भोगवाद के सर्वथा विरुद्ध रहीं तो अनुचित न होगा।

'गीता' ऐसा पहला ग्रन्थ है, जिसमें ज्ञानेच्छु आस्तिकों के विचारों का समर्थन और भौतिकवादी नास्तिकों के विचारों के विरोधी भावनाओं पर मौलिक तथा गंभीर ढंग से विचार किया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त 'गीता' में एक नयी बात कही

गयो है : कर्मकाण्ड एवं पुरोहितवाद के विरुद्ध। वैदिक यज्ञों की उपयोगिता के सम्बन्ध में यद्यपि गीताकार ने अपना स्पष्ट मन्तव्य नहीं प्रकट किया है; फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञों की मान्यता का उसमें समर्थन नहीं किया गया है। 'गीता' के इस स्पष्ट मंतव्य की व्याख्या जैनों और बौद्धों ने की। जैन और बौद्ध दर्शनों की इस सम्वन्ध में कुछ मौलिक मान्यताएँ भी हैं। जैन दर्शन में जहाँ आस्तिक दर्शनों के व्यावहारिक पक्ष का ही खण्डन किया गया है, बौद्ध दर्शन में वहाँ आस्तिकों के व्यावहारिक और तात्त्विक, दोनों मान्यताओं का सयुक्ति-युक्त खण्डन किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनों दर्शनों को नास्तिक श्रेणी में रखा गया है, यद्यपि दोनों दर्शनों ने कहीं भी अपने को नास्तिक नहीं कहा है। नास्तिकवाद के प्रवर्तक वृहस्पति और चार्वाक प्रभृति आचार्यों ने अपने सैद्धान्तिक विचारों की पुष्टि के लिये जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया है, ठीक उन्हीं का, उसी रूप में समर्थन हम जैन बौद्ध दर्शनों में नहीं पाते हैं। जैन और बौद्ध दर्शनों के अनुसार नास्तिक वह है, जो परलोक का विरोधी, धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य से विमुख है। परलोक, धर्माचरण और कर्तव्यों के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ आस्तिक दर्शनों में दृष्ट हैं, जैन और बौद्ध, दोनों दर्शनों में उन्हीं का प्रतिपादन हुआ है।

जैन और बौद्ध दर्शनों का नास्तिक श्रेणी में परिगणित होने का एकमात्र कारण उनका वेदनिन्दक होना है; क्योंकि 'मनुस्मृति' में स्पष्ट कहा गया है कि **'नास्तिको वेदनिन्दकः'**। आस्तियक दर्शन वेदवाक्यों को अन्तिम प्रमाण मानते हैं और जैन बौद्ध वेदों की सत्ता को वृहस्पति तथा चार्वाक के मतानुसार कल्पित मानते हैं। इसी लिए उनको नास्तिक कहा गया है। इसके साथ ही वे आस्तिकवादी विचारों के उतने ही विरोधी हैं, जितने जड़वाद के। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध दर्शन-सम्प्रदाय आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं के बीच दर्शन हैं। जैन दर्शन में तो ब्राह्मण दर्शन की बहुत-सी वातों को उसी रूप में स्वीकार किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनों दर्शन एक स्थिर चैतन्य की सत्ता पर विश्वास करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर बल देते हैं और दोनों ही वेद की प्रामाणिकता पर अविश्वास करते हैं। व्यवहार और नीति की दृष्टि में जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है। जैन योग से उपनिषदों के योग और बौद्धों के योग की पर्याप्त समानता है। जैन दर्शन में शून्यागारों में ध्यान करने का विधान; हिंसा, असत्य और चोरी आदि से विरति; सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य पर निष्ठा; कर्मों का विभाजन और कर्मपथ पर चलकर मोक्ष की परमावस्था को प्राप्त करना आदि बातें बौद्ध दर्शन से समानता रखती हैं। बौद्धों के मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा संबंधी विचारों को जैन दर्शन में भी स्वीकार किया गया है।

जैन और बौद्ध दर्शनों की इस विचार-समानता को लक्ष्य करके डॉ० हरदयाल

ने विस्तार से, प्रमाणों को प्रस्तुत करके, बौद्ध धर्म पर जैन धर्म के ऋण को स्वीकार किया है।

जैन दर्शन की रूपरेखा

जैन दर्शन का सामान्य अभिमत है कि संसार की समस्त वस्तुओं में स्थिरता और विनाश, इन दोनों का आवास रहता है। कोई भी वस्तु न तो सर्वथा नित्य कही जा सकती है और न सर्वथा अनित्य ही। सभी में नित्य और अनित्य दोनों की सत्ता विद्यमान रहती है। जैन दर्शन में परमाणुओं के संघात से ही संसार के सारे पदार्थों की उत्पत्ति बतायी गयी है। इस परमाणुपुंज को ही वहाँ 'स्कन्ध' कहा गया है। ये परमाणु अनादि, अनन्त, नित्य और अमूर्त हैं। ये पृथ्वी, तेज, जल आदि उन्हीं परमाणुओं के रूपान्तर हैं। मुमुक्षु जीव इन्हीं परमाणुओं को अपने जीवन में प्रत्यक्ष करके देखता है।

इस दृष्टि से जैन दर्शन परमाणुवादी तथा जीववादी दर्शन सिद्ध होता है। ईश्वर के कर्तृत्ववाद के सम्बन्ध में जैनों और बौद्धों का लगभग मतैक्य है।

जैन दर्शन के अनुसार संयम (संवर) का अभ्यास करते-करते जीव जब कर्म-परमाणुओं से मुक्ति पा जाता है तब वह 'निर्जरा' की अवस्था में पहुँचता है। संयमसाध्य निर्जरा को प्राप्त कर ही जीव मुक्ति लाभ कर सकता है और उस अवस्था को प्राप्त कर वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शांति को अर्जित कर लेता है।

एक श्लोक में जैन दर्शन के सार को निहित करके कहा गया है कि 'बंधन का हेतु तृष्णा (आस्रव) है। उसके निरोध (संवर) से मोक्ष की उपलब्धि होती है। आर्हत दर्शन का यही सार है। इसी को अन्य दर्शनों में विस्तार (प्रपंचन) से कहा गया है' :

आस्रवो बन्धहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयं आर्हती मुष्टिः अन्यद् अस्याः प्रपंचनम् ।।

जैनियों के मतानुसार बोधि अर्थात् ज्ञान की पाँच श्रेणियाँ हैं : मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मन, इन्द्रिय, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क से मतिज्ञान; शब्द एवं संकेतों से श्रुतिज्ञान; त्रिकालजन्य वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण अवधिज्ञान; दूसरों के मन का ज्ञान मनःपर्ययज्ञान; और जीवमुक्त का ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है।

न्याय, मीमांसा, वैशेषिक और सांख्य की भाँति जैन दर्शन भी जीववादी दर्शन है; किन्तु उसका यह जीववाद अन्य दर्शनों की अपेक्षा कुछ भिन्न है। वह बौद्ध दर्शन की भाँति अनीश्वरवादी तथा अहिंसावादी है; किन्तु उपनिषदों की पुनर्जन्म भावना का समर्थक भी है।

अनीश्वरवाद और स्याद्वाद के सम्बन्ध में जैन दर्शन की मान्यताएँ बड़ी ही मौलिक हैं। जैन दर्शन में ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं माना गया है। उसमें ईश्वर की सर्वव्यापक, स्वतन्त्र और नित्य सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया गया है। जैनों की दृष्टि में सृष्टि का निर्माण प्राकृतिक तत्त्वों के निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इस सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाण एवं मान्यताएँ बड़ी ही वैज्ञानिक एवं विचारपूर्ण हैं।

जैनों का स्याद्वाद दृष्टिकोण अत्यन्त ही उदार है। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद को कहते हैं, जिसके अनुसार एक ही वस्तु में नित्य और अनित्य, दोनों प्रकार के धर्म विद्यमान रहते हैं। स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मक है। स्याद्वाद का स्वरूप, जैन दर्शन में वर्णित 'सप्तभंगी' वाक्यों के अध्ययन के बाद समझा जा सकता है। संक्षेप में कहना चाहिये कि एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखने के सिद्धान्त को 'स्याद्वाद' कहा जाता है। उदाहरणार्थ एक ही पदार्थ घटस्वरूप से सत् है और पटस्वरूप से असत् है। इसी दृष्टि से संसार की सभी वस्तुएँ सदसदात्मक हैं।

जैनी लोग जीव की अनन्त सत्ता में विश्वास करते हैं। जल, वायु, इन्द्रिय, खनिज पदार्थ और सभी धातुओं को वे जीववंत मानते हैं। उनके मतानुसार कुछ जीव पृथ्वीकाय, कुछ अपःकाय, कुछ वायुकाय और कुछ वनस्पतिकाय हैं। इन समस्त जीवों की दो श्रेणियाँ हैं: बद्ध और मुक्त। बद्ध जीवों में भी कुछ सिद्ध होते हैं और कुछ असिद्ध। सिद्ध जीव ही जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ हैं।

जैन दर्शन के अनुसार कुछ वस्तुएँ, जो चैतन्य नहीं हैं और जिनका अन्तर्भाव 'जीव' में नहीं हो सकता है, अजीव, अथ च जड़ हैं। इन जड़ वस्तुओं की भी पाँच श्रेणियाँ हैं जिनके नाम हैं: काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। काल के अतिरिक्त शेष चतुर्विध जड़ पदार्थ ही 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। काल 'सत्' होने पर भी अस्तिकाय इसलिए नहीं है, क्योंकि वह निरवयव है। उत्पत्ति, क्रम और स्थिर स्वभाव वाले पदार्थ ही 'सत्' हैं।

जैन दर्शन की उक्त रूपरेखा का अध्ययन करने के बाद हमें यह विदित होता है कि उसके प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं। किन सिद्धान्तों को लेकर जैनियों ने अपने दर्शन की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा की। उन प्रमुख सिद्धान्तों में से कुछ की व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की जायगी, जिनके अध्ययन से जैन दर्शन के अध्ययन की उपयोगिता के साथ-साथ उसके स्वतन्त्र निर्माण के उद्देश्यों का भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

जैन दर्शन का व्यावहारिक पक्ष

आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों की भाँति जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है। वहाँ इस मोक्षप्राप्ति को त्याग और संन्यास के बिना दुर्लभ बताया गया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र ही

मोक्षसाधन के तीन रत्न या उद्देश्य बताये गये हैं (**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**) ।

दान, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और त्याग, जैन धर्म के व्यावहारिक उद्देश्य हैं । कर्मों का नाश करने पर ही मोक्ष की उपलब्धि होती है । कर्मों की वहाँ कई श्रेणियाँ गिनायी गयी हैं, जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय । ये चतुर्विध कर्म ही जैन दर्शन में 'घातीय कर्म' कहे गये हैं ।

जैन धर्म की लोकप्रिय आचारपद्धति इन्हीं घातीय कर्मों पर आधारित है । प्रत्येक 'जिन' के लिए उनको जीवन में चरितार्थ करना परम आवश्यक बताया गया है ।

जैन दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है; बौद्ध धर्म की अपेक्षा प्राचीन । 'भागवत' में वर्णित जैन धर्म संबंधी विवरणों का अनुशीलन करने पर विद्वानों ने जैनियों के इस मन्तव्य का समर्थन किया है कि जैन धर्म का आविर्भाव वैदिक धर्म के पार्श्व या उसके कुछ बाद में हुआ । मोहनजोदारो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है । वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन धर्म ने ही किया । धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैन धर्म का विशेष योग रहा है :

जैन धर्म के जन्मदाता तीर्थंकर

जैन विद्वानों ने 'जैन' शब्द का विशेष अर्थ बताया है । उनके कथनानुसार 'जिन्होंने काम, क्रोध आदि अठारह प्रकार के दोषों को जीत लिया है; जिन्होंने ज्ञान तथा दर्शन को ढक देने वाले और पापों को उभारने वाले दुर्भावों या कर्म-शत्रुओं को जीत लिया है उन्हें 'जिन' कहा जाता है । जो उन पवित्र 'जिनों' के इच्छुक (उपासक) हैं उन्हें ही 'जैन' कहा गया (**रागद्वेषादि दाषान् वा कर्मशत्रुञ्जयतीति जिनः, तस्यानुयायिनो जैनाः**) ।

तीर्थंकर

इस प्रकार के 'जिन' अब तक २४ हो चुके हैं । जैन धर्म के जन्मदाता इन्हीं महात्माओं को 'तीर्थंकर' कहा जाता है । धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण करने वाले वीतराग तथा तत्त्वज्ञानी मुनिजन ही 'तीर्थंकर' कहलाये (**तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति**) । उनमें सबसे पहले ऋषभदेव और अन्तिम महावीर स्वामी थे । २४ तीर्थंकरों के नाम प्रकार हैं :

१. आदिनाथ (ऋषभदेव), २. अजितनाथ, ३. संभवनाथ, ४. अभिनन्दन, ५. सुमतिनाथ, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चन्द्रप्रभ, ९. सुविधिनाथ, १०. शीतलनाथ,

११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनंतनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शांतिनाथ, १७. कुन्थुनाथ, १८. अरनाथ, १९. मल्लिनाथ (मल्ली देवी), २०. मुनि सुव्रत, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ और २४. वर्धमान महावीर।

ऋग्वेद, अथर्ववेद, 'गोपथ ब्राह्मण' और 'भागवत' आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थों में जैनों के आदि तीर्थंकर [redacted] ऋषभदेव की चर्चाएँ देखने को मिलती हैं, जिनसे उनकी प्राचीनता और उनके व्यक्तित्व की महनीयता सिद्ध होती है। इसी प्रकार ऋग्वेद में निर्दिष्ट भगवान् अरिष्टनेमि भी वैदिक युग के महापुरुष थे।

महाभारतकालीन तीर्थंकर नेमिनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के नाम पर सारनाथ जैसे पवित्र तीर्थ की स्मृति आज भी जीवित है। इन चौबीस तीर्थंकरों में अन्तिम पार्श्वनाथ और महावीर ही ऐसे हैं, जिनकी प्रामाणिक ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध है। शेष तीर्थंकर महात्माओं के संबंध में जैन पुराणों के अनुवंश्य प्रसंगों में जो चर्चाएँ देखने को मिलती हैं, ब्राह्मण पुराणों की ही भाँति उनकी अतिरंजित बातें पर्याप्त भ्रमोत्पादक, अतएव विश्वासयोग्य नहीं जान पड़ती हैं। किन्तु उनके पुनीत एवं प्राचीन व्यक्तित्व के संबंध में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता है।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ बड़े ही प्रतिभाशाली महापुरुष हुए। उनका जन्म महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व (८०० ई० पूर्व) वाराणसी के एक राज परिवार में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः वामा और अश्वपति था। तीस वर्ष की युवावस्था में ही ये राज-पाट त्यागकर वनवासी हुए और अथक, घोर तपस्या के ८३वें दिन बाद इन्हें ज्ञानोपलब्धि हुई। लगभग ७० वर्ष तक धर्म-प्रचार करने के उपरान्त पार्श्वनाथ नामक पर्वत पर शरीर त्यागकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। इन्हीं तीर्थंकर द्वारा श्रमण-संप्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। अद्भुत इन्द्रियनिग्रही और जगद्विजयी होने के कारण [redacted] पार्श्वनाथ 'जिन' के नाम से लोक में विश्रुत हुए और तभी से उनके अनुयायी जन जैन कहलाने लगे।

महावीर स्वामी

महावीर स्वामी की जीवनी, जैन धर्म के अनेक पुराणों में मिलती है। 'महावीर पुराण' उन्हीं पर लिखा गया है। तदनुसार उनकी जीवनी इस प्रकार है।

तीर्थंकर महावीर स्वामी के माता-पिता का नाम क्रमशः त्रिशलादेवी और सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ एक पराक्रमी क्षत्रिय राजा हुए, जो महाज्ञानी, जैन धर्म के परम भक्त और बड़े दानी थे। हरिवंश या नाथवंश में उनका जन्म हुआ था। त्रिशलादेवी उनकी पटरानी का नाम था। वह वृज्जि गणराज्य के सभापति एवं लिच्छवी वंशीय क्षत्रिय राजा चेटक की पुत्री थीं। महारानी त्रिशला अत्यन्त गुणवती, रूपवती, जैन धर्म की भक्त और पतिव्रता स्त्री थीं। त्रिशला का एक नाम प्रियकारिणी भी था।

अपने पूर्वजन्म के संचित पुण्य कर्मों के फलस्वरूप ही उनको, महावीर जैसा महान् संत पैदा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

एक पवित्र रात्रि को, जब देवी त्रिशला सो रही थीं, उन्होंने स्वप्न में सोलह शुभ लक्षणों को देखा। ये शुभ लक्षण, भगवान् महावीर के गर्भ में आने की सूचना थीं। आषाढ़ शुक्ला ६, उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वे माता त्रिशला के गर्भ में आये। जब तक वे माता के गर्भ में रहे तब तक स्वर्ग की अप्सराएँ आकर माता त्रिशला को नाना प्रकार की मनोरम कथाएँ सुनाकर उसका मन बहलाती रहीं।

चैत शुक्ला त्रयोदशी ५३८ वि० पूर्व में महावीर स्वामी का जन्म हुआ। सुवर्ण के समान शरीर का रंग, दीप्तिमान मुखमण्डल और सुदृढ़ शरीर महावीर के जन्म लेते ही देवताओं ने उन्हें क्षीरसागर में स्नान कराया। उनका नाम रखा गया वर्द्धमान।

अपने पूर्व संस्कारों के कारण वर्द्धमान सब शास्त्रों में पारंगत होकर पैदा हुए थे। अतः उनको किसी भी गुरु के पास अध्ययन के लिए न जाना पड़ा। जब वे आठ वर्ष के हुए तो उन्होंने गृहस्थों के बारह व्रतों को ग्रहण किया।

वर्द्धमान जब कुमार थे तभी से उनमें अद्भुत साहस और वीरता दिखायी देने लगी थी। एक समय सौधर्म इन्द्र ने अपनी भरी सभा में कुमार की वीरता की प्रशंसा की। इस पर संगम नामक एक देवता को विश्वास न हुआ। वह काले नाग का रूप धारण कर उस पेड़ पर आकर लिपट गया, जिसमें वर्द्धमान चढ़े हुए थे। वहाँ अन्य राजकुमार भी खेल रहे थे। उन्होंने सर्प को देखते ही रोना-पीटना शुरू किया। किन्तु कुमार जरा भी न घबराये। वे सर्प को पकड़कर उसके साथ खेलने लगे। कुमार के इस साहस एवं निर्भीकता को देखकर सर्परूपधारी देवता बड़ा प्रसन्न हुआ और कुमार की वंदना करके वह स्वर्ग लौट आया।

क्योंकि कुमार को मति, श्रुति और अवधि तीनों प्रकार का ज्ञान पूर्वजन्म से ही प्राप्त था अतः मनुष्य जन्म में आकर संसार के आकर्षणों ने उनके मन को अपनी ओर न खींच पाया। वे जल में कमल की भाँति संसार से निर्लिप्त रहने लगे। इसी उदासीन एवं विरक्त दशा में वे ३० वर्षों तक राज्य का भार सँभाले रहे। विवाह की ओर उनका बिल्कुल भी ध्यान न था। उन्होंने बाल-ब्रह्मचारी रहकर ही पवित्र जीवन बिताया।

एक दिन सहसा उनके मन में तीव्र वैराग्य का उदय हुआ। उन्होंने सोचा, 'मैंने इस जगत् में भील, मारीचराजपुत्र और पशु आदि योनियों में जन्म लेकर व्यर्थ ही इतने कष्ट झेले। मुझे कहीं भी आनन्द न मिला। मैंने इतने दिन इस जाल में पड़कर वृथा खो दिये। पाप के समान इस गृहबंधन को मुझे छोड़ देना चाहिए।' ऐसा विचार कर स्वामी जी ने निश्चय किया कि इस गृहवास के कैदखाने को छोड़कर तपोवन में जाना चाहिए।

उसके मन की उदासी बढ़ती ही गयी। कुटुम्बियों के प्रति उनकी ममता कम

होने लगी। उन्होंने चिन्तन करना आरंभ किया। गृहत्याग के संबंध में उन्होंने विचार किया, 'यदि इस अपवित्र शरीर से पवित्र गुणों के समूह केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन आदि प्राप्त हो सकते हैं तो गृहत्याग में देर करने की आवश्यकता ही क्या है ?' देवताओं ने आकर स्वामी जी के इन विचारों का समर्थन किया। भगवान् उसी समय राजपाट, माता-पिता, कुटुम्ब और सर्वस्व को त्यागकर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से वन की ओर चल दिये।

पिता पूर्ण ज्ञानी थे। उन्हें सन्तोष हुआ। किन्तु माता में मोह था। वे अपनी सखियों के साथ रोती-कलपती अपने पुत्र के पीछे-पीछे चल दीं। लोगों ने देवी त्रिशला को समझाया। उन्हें संसार का ज्ञान बताया। तब वे किसी प्रकार आश्वस्त होकर सखियों सहित घर की ओर लौटीं।

तदनन्तर भगवान् महावीर ने अपने हाथों अपने समस्त मूँछ तथा दाढ़ी के बाल उखाड़ फेंके और मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को बच्चों की तरह नग्न होकर मुनि बन गये।

इधर-उधर आत्मचिंतन में भटकने के बाद वे उज्जयिनी के श्मशान में पहुँचे और वहीं बैठकर तप में लीन हो गये। उन दिनों उज्जयिनी में ११वें रुद्रस्थाणु (शिव) विराजमान थे। उनकी स्त्री का नाम पार्वती था। पहले उन्होंने बाड़ तप किया था। तप में लीन महावीर स्वामी को देखकर उन्होंने उनकी परीक्षा लेने को सोची।

रुद्र ने सर्प, बिच्छू, धूल, मिट्टी, पानी, स्त्री, पिशाच आदि अनेकों रूप धारण कर महावीर स्वामी को विचलित करना चाहा; किन्तु महावीर उसी प्रकार अडिग बने रहे। उन्होंने अपनी आत्मा को जान लिया था और शरीर को सर्वथा अलग करके उसके कष्टों को जीत लिया था। रुद्र परीक्षा में हार गये। उन्होंने महावीर से क्षमा याचना की।

उज्जयिनी से वे कौशाम्बी गये। वहाँ उन्होंने वृषभसेन नामक एक धर्मात्मा सेठ के यहाँ आहार किया। उसके बाद वे घूमते-घूमते 'जॄंभिका' नामक गाँव के बाहर 'ऋजुकूला' नामक नदी के किनारे पहुँचे। वहीं 'शालमू' वृक्ष के नीचे उपयुक्त स्थान जानकर वे ध्यान में खो गये। उस वृक्ष के नीचे रहकर स्वामी जी ने 'घातिया' कर्मों को नष्ट कर 'केवल ज्ञान' प्राप्त किया।

भगवान् के पूर्ण ज्ञानी हो जाने पर एक बार इन्द्रादि देवताओं ने उत्सव आयोजित किया और भगवान् को सिंहासन पर बैठाया। उनके दर्शनार्थ विदेह देश के इन्द्रभूति, वायुभूति और अग्निभूति नामक उस समय के दिग्गज विद्वान् वहाँ आये और उनके शिष्य बन गये।

प्रभु के शिष्यों में २८,००० मुनि, ३६,००० अर्जिकाएँ, १,००,००० श्रावक और ३,००,००० श्राविकाएँ थीं। सब में मुख्य इन्द्रभूति थे, जिनका नया नाम

गौतम स्वामी हुआ। सुधर्मा, वायुभूति तथा अग्निभूति आदि ११ गणधर हुए। अर्जिकाओं में मुख्य सती चंदना थी।

जीवों के लाभ के लिए भगवान् दित-रात में चार बार उपदेश किया करते थे। उस उपदेश को देव, देवी, मनुष्य, पशु आदि समस्त जीव बैठकर अपनी-अपनी भाषाओं में सुना करते थे। श्रोताओं में मुख्य श्रोता राजगृह नगर के अधिपति राजा श्रेणिक थे।

निरन्तर ३० वर्ष तक भगवान् ने देश के विभिन्न अंचलों का पैदल भ्रमण कर अपने उपदेशों द्वारा धर्म का प्रचार किया। उनके उपदेशों को बाद में गौतम स्वामी ने 'आचारांग' आदि बारह वृहद् ग्रन्थों में निबद्ध किया।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रातःकाल भगवान् ४६७ वि० पूर्व में बिहार के पावापुरी वन में मुक्तिधाम को सिधारे। यह स्थान बिहार स्टेशन से छह मील की दूरी पर है। जैन धर्म का वह पवित्र तीर्थ है। गाँव के बाहर सरोवर के बीच में एक जैन मन्दिर है। उसमें भगवान् की चरणपादुकाएँ शोभित हैं। प्रति वर्ष वहाँ भगवान् के निर्वाण दिवस (कार्तिक कृष्णा अमावस्या) को मेला लगता है।

इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु भोगने के बाद ४६७ वि० पूर्व में महावीर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया।

जन धर्म के मुख्य ग्रन्थ

पहले भी संकेत किया जा चुका है कि आचार्य भद्रबाहु के दक्षिण यात्रा पर चले जाने के बाद आचार्य स्थूलभद्र ने पटना में विद्वानों की एक सभा बुलायी थी। इस पण्डितसभा में जैनों के अगग्रन्थों का संग्रह और संपादन हुआ। जब आचार्य भद्रबाहु वापिस आये तो उनके सामने पण्डितसभा द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को रखा गया। आचार्य ने उनको मानने के इन्कार कर दिया। यह बात ३०० ई० पूर्व की है, आज से लगभग २२-२३ सौ वर्ष पहले की।

इस सभा के लगभग साढ़े सात सौ वर्ष वाद ४५४ ई० को भावनगर (गुजरात) के समीप वलभी नामक स्थान पर आचार्य देवधर्मा की अध्यक्षता में जैन मुनि-समाज ने दूसरी परिषद् का आयोजन किया। इस परिषद् या सभा में, ३०० ई० पूर्व की पहली परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों पर फिर से विचार किया गया। बड़े वाद-विवाद के बाद भी जैनों के दोनों दलों में एकता न हो सकी। किन्तु इस परिषद् के आयोजन का उद्देश्य निरर्थक न हुआ। श्वेताम्बर संप्रदाय के आचार्यों ने इसी परिषद् में १२ आगम या अंगग्रन्थों का संग्रह किया और उनको अंतिम रूप से प्रामाणिक माना।

श्वेताम्बर संप्रदाय के बारह अंगग्रंथ

भावनगर की सभा में श्वेताम्बर संप्रदाय के आचार्यों ने १२ अंगग्रन्थों या

आगमग्रन्थों का संकलन किया। वे ही आज भी माने जाते हैं। उनके नाम हैं : १. आचारांगसुत्त (आचारांगसूत्र), २. सूयगण्डग (सूत्रकृतांग), ३. थाणंक (स्थानांग) ४. समवायांग, ५. भगवतीसूत्र, ६. नायाधम्मकहाओ (ज्ञातधर्मकथा), ७. उवासगदसाओ (उपासकदशा), ८. अंतगड़दसाओ (अंतकृद्दशा), ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपादिकदशा), १०. पण्हावागरणिआइ (प्रश्नव्याकरणानि), ११. विवागसुयं (विपाकश्रुत). और १२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)। इसमें से कुछ ही ग्रन्थ आज मिलते हैं।

बारह उपांग ग्रंथ

इन १२ अंगग्रन्थों के उतने ही उपांगग्रन्थ भी हैं, जिनके नाम हैं : १. औपपातिक, २. राजप्रश्नीय, ३. जीवाभिगम, ४. प्रज्ञापणा, ५. सूर्यप्रज्ञप्ति, ६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७. चंद्रप्रज्ञप्ति, ८. निर्यावलिका, ९. कल्पावतंसिका, १०. पुष्पिका, ११. पुष्पचूलिका और १२. वृष्णिदशा।

दस प्रकीर्ण ग्रंथ

श्वेताम्बरों के अंग-उपांग ग्रन्थों का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त श्वेताम्बरों के प्रकीर्ण ग्रन्थ भी हैं। जैनों के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य में इनका बड़ा सम्मान है। ये प्रकीर्ण ग्रन्थ संख्या में १० हैं। उनके नाम हैं : १. चतुःशरण, २. आतुरप्रत्याख्यान, ३. भक्तिपरिज्ञा, ४. संस्तार, ५. ताण्डुलवैतालिक, ६. चंद्रवेध्यक, ७. देवेन्द्रस्तव, ८. गणित-विद्या, ९. महाप्रत्याख्यान और १०. वीरस्तव।

तीन सूत्र

इनके अतिरिक्त छेदसूत्र, मूलसूत्र और चूलिकसूत्र भी उनके प्राचीन ग्रन्थ हैं।

चार वेद

जैनों के चार वेदों के नाम हैं : १. प्रथमानुयोग, २. चरणानुयोग, ३. करणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग।

चौबीस पुराण

वैदिक धर्म के अठारह पुराण बताये गये हैं। उसी प्रकार जैन धर्म के भी चौबीस पुराण हैं। इन चौबीस पुराणों में चौबीस तीर्थंकर महात्माओं की कथाएँ हैं। उन्हीं के नाम से इन पुराणों का नामकरण किया गया है। इन चौबीस पुराणों में प्रसिद्ध पुराणों के नाम हैं : आदिपुराण, पद्मपुराण, अरिष्टनेमिपुराण (जिसे हरिवंश-पुराण भी कहते हैं) और उत्तरपुराण। इनमें भी आदिपुराण और उत्तरपुराण का विशेष महत्त्व है।

आदिपुराण

इस पुराण में जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर महात्मा ऋषभदेव की कथाएँ हैं। महात्मा ऋषभदेव जी के सम्बन्ध में जैन-परम्परा है कि उनका जन्म सर्वार्थसिद्धि योग, उत्तराषाढ़ नक्षत्र, धनु राशि और चैत्रमास की कृष्णाष्टमी को विनीता नामक नगरी

में हुआ था। वे इक्ष्वाकुवंश के थे। उनके पिता का नाम राजा नाभि और माता का नाम मरुदेवी था। 'भागवत' पुराण में भी इनके माता-पिता के यही नाम बताये गये हैं। कहा जाता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव चौरासी लाख वर्ष (चतुर्युगी) तक जीवित रहकर मोक्ष को प्राप्त हुए थे। इस पुराण की रचना आचार्य जिनसेन ने आठवीं शताब्दी ई० में की थी।

उत्तर पुराण

यह पुराण 'आदिपुराण' का ही उत्तरार्द्ध भाग है। आचार्य जिनसेन ४४ सर्ग लिखने के बाद ही परलोकवासी हो गये थे। अन्त के तीन सर्गों को जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने लिखा था।

उत्तरपुराण वस्तुतः जैनों के २४ पुराणों की सूची है। इसमें सभी पुराणों का सार संकलित है। इस पुराण में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ जी से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी के संक्षिप्त आख्यान हैं।

सम्पूर्ण जैन दर्शन और धर्म में श्वेताम्बरियों के उक्त ग्रन्थों का बड़ा सम्मान किया जाता है। श्वेताम्बरियों की यह ग्रन्थसंपत्ति जैन-साहित्य की प्राचीनतम निधि है।

प्रमुख जैन दार्शनिक

आचार्य कुन्दकुन्द

दिगम्बर संप्रदाय की आचार्य परम्परा में भगवद् भूतवलि, पुष्पदन्त और गुणधराचार्य के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द का नाम आता है। वे जैन धर्म के प्राचीन आचार्यों में थे। मल्लिषेण प्रशस्ति में जिन पुरातन आचार्यों की नामावली अंकित है उनमें आचार्य कुन्दकुन्द का नाम पहले है। इस दृष्टि से इनका स्थितिकाल विक्रम की पहली शताब्दी ज्ञात होता है। उनके द्वारा रचित मुख्य ग्रन्थों में 'समयसार', 'पञ्चास्तिकाय', 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' का विद्वानों ने उल्लेख किया है। ये सभी ग्रन्थ प्राकृत में हैं। इनके ग्रन्थों के टीकाकार अमृतचन्द्र हुए। इन्होंने अनेक पाहुड़ों की भी रचना की थी, जिनमें 'चरित्तपाहुड़' भी एक है। इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रावक धर्म का वर्णन किया है।

उमास्वाति

आचार्य उमास्वाति का जैन-साहित्य एवं जैन दर्शन के इतिहास में वही स्थान है, जो बौद्ध साहित्य में आचार्य वसुबन्धु का। जैसे पालि त्रिपिटकों और दूसरे प्राचीन ग्रन्थों में बिखरे हुए बौद्ध तत्त्वज्ञान को वसुबन्धु ने सँवार-सुधार कर अपने 'अभिधर्मकोश' में वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया और तदनन्तर स्वयं ही उस पर भाष्य लिखा, ठीक वैसे ही उमास्वाति ने भी प्राकृत भाषा के आगमग्रन्थों में अस्तव्यस्त तत्त्वज्ञान को अपने 'तत्त्वार्थाधिगम' नामक ग्रन्थ में व्यवस्थित करके एक रूप दिया

और बाद में उस पर भाष्य भी लिखा। उमास्वाति पहले विद्वान हुए, जिन्होंने जैन तत्त्वज्ञान को योग, वैशेषिक और न्याय आदि आस्तिक दर्शनों की भाँति वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया।

इन दोनों विद्वानों की एकता के कुछ और भी कारण हैं। उदाहरण के लिए, यद्यपि वसुबन्धु के पहले भी कुछ बौद्धाचार्य पालि का मोह छोड़कर संस्कृत की ओर अग्रसर हो चुके थे, तथापि उनमें वसुबन्धु ही पहले विद्वान् थे, जिन्होंने संस्कृत भाषा को अपनाकर बौद्धाचार्यों की संस्कृत-विरोधी भावनाओं को दूर किया। ठीक यही स्थिति जैन-साहित्य के क्षेत्र में भी प्रकट हुई। उमास्वाति के पूर्व का संपूर्ण जैन-साहित्य अर्ध मागधी प्राकृत में था। उमास्वाति ने ही सर्वप्रथम वह अनुभव किया कि संस्कृत अन्तरदेशीय विद्वत्समाज की भाषा का रूप ग्रहण कर चुकी है और किसी भी धर्म तथा दर्शन का साहित्य तभी समादरणीय हो सकता है तथा प्रकाश में आ सकता है, जबकि उसका निर्माण संस्कृत में हो। उमास्वाति का यह संस्कृतानुराग संभवतः ब्राह्मण होने के नाते भी रहा हो; किन्तु कारण जो कुछ भी हो, जैन दर्शन की संस्कृत भाषा में रचना करने वाला पहला विद्वान् वही था।

उमास्वाति के ग्रन्थ का नाम है 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र'। उस पर उन्होंने स्वयं ही पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा है। जैन दर्शन के क्षेत्र में यह ग्रन्थ इतना प्रभावकारी सिद्ध हुआ कि उसको श्वेताम्बरियों और दिगम्बरियों ने समान रूप से अपनाया तथा उस पर दोनों संप्रदायों के विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं।

ग्रन्थ की पुष्पिका से विदित होता है कि उमास्वाति, मुण्डपाद के प्रशिष्य और वाकाचार्य के शिष्य थे। उनके पिता का नाम स्वाति तथा माता का नाम वात्सी था। उनका जन्म न्यग्रोधिका (मगध) में हुआ और कुछ दिन वे कुसुमपुर में भी रहे।

उनका स्थितिकाल कुछ विद्वानों ने विक्रम की पहली शताब्दी में निश्चित किया है; किन्तु आधुनिक खोजों के अनुसार उनको विक्रम की चौथी शताब्दी में रखा गया है।

स्वामी समन्तभद्र

स्वामी समन्तभद्र का 'रत्नकरण्ड' ग्रंथ श्रावकाचार का बहुत ही लब्धप्रतिष्ठ ग्रंथ है। यह ग्रन्थ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा', 'तत्त्वार्थसूत्र', 'पाहुड़' और 'षट्खण्डागम' इन चार ग्रन्थों पर आधारित है। किन्तु उसमें मौलिकता भी है। इस ग्रन्थ में धर्म की परिभाषा, देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप, आठ अंगों तथा तीन मूढ़ताओं के लक्षण, मदों के निराकरण का उपदेश, सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्र का लक्षण, अनुयोगों का स्वरूप, संयुक्तिकचरित्र की आवश्यकता और श्रावक के बारह व्रतों तथा ग्यारह प्रतिमाओं का ऐसा विशद तथा सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो दूसरे ग्रंथों में देखने को नहीं मिलता है।

स्वामी समन्तभद्र, 'पार्श्वनाथ चरित' (समाप्त, १०८२ वि०) के कर्ता वादिराज सूरि से पहले हुए। 'रत्नकरण्ड' के अतिरिक्त उन्होंने 'आप्तमीमांसा', 'स्वयंभुस्तोत्र' और 'युक्त्यनुशासन' प्रभृति ग्रन्थों की रचना की।

वादिराज

इनका वास्तविक नाम विदित नहीं है। 'वादिराज' इनकी ख्याति या पदवी थी। मल्लिषेणप्रशस्ति में इन्हें महान् वादी, विजेता और कवि आदि विशेषणों से स्मरण किया गया है। समस्त वैयाकरणों, तार्किकों और भव्यसहायों में उन्हें अग्रणी तथा धर्मकीर्ति, बृहस्पति, गौतम जैसे प्रख्यात दार्शनिकों आदि के समकक्ष माना गया है।

वादिराज, श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसार के शिष्य और 'रूपसिद्धि' (शाटकायनव्याकरण की टीका) के रचयिता दयापाल मुनि के सहपाठी विद्वान् थे। चालुक्य-नरेश सिंहचक्रेश्वर जयसिंहदेव (९३८-९४५ ई०) की राज सभा के सम्मानित विद्वान् होने के कारण उन्हें १०वीं शताब्दी में रखा गया है।

उनकी लिखी हुई पाँच कृतियाँ उपलब्ध हैं: 'पार्श्वनाथचरित', 'यशोधरा-चरित', 'एकीभावस्तोत्र', 'न्यायविनिश्चयविवरण' और 'प्रमाणनिर्णय'। उनके दो अन्तिम ग्रन्थ उनकी दार्शनिक प्रतिभा के उज्ज्वल रत्न हैं।

आचार्य अमितगति

आचार्य अमितगति के श्रावकधर्म पर एक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम है 'उपासकाचार' (अमितगतिशाक्याचार)। इसके १४ परिच्छेदों में श्रावकधर्म पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में समन्तभद्र, उमास्वाति, जिनसेन, सोमदेव और देवसेन प्रभृति पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के श्रावकधर्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर स्वतन्त्र रूप से विचार एवं परीक्षण किया गया है।

अमितगति बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् थे। जैनाचार्य के अतिरिक्त बृहद् संस्कृत वाङ्मय में उनको विशिष्ट व्यक्ति माना गया है। अमितगति माथुरसंघ के अनुयायी थे। उनको गुरु-परम्परा में वीरसेन, देवसेन, अमितगति (प्रथम), नेमिषेण, माधवसेन, अमितगति और शिष्य-परम्परा में शांतिषेण, अमरषेण, श्रीषेण, चन्दकीर्ति, समरकीर्ति आदि महानुभाव विद्वानों का नाम लिया जाता है।

अमितगति, मालव के परमारवंशीय धारानरेश मुंज और सिन्धुल के समकालीन थे। मुंज का अपर नाम वाक्पतिराज था, जो स्वयं भी विद्वान् और विद्वानों का अतिशय प्रेमी था। अमितगति का स्थितिकाल ११वीं शताब्दी वि० के पूर्वार्द्ध में निर्धारित है।

अमितगति की रचनाओं के नाम हैं: सुभाषितरत्नसन्दोह', 'धर्मपरीक्षा', 'पंचसंग्रह', 'उपासकाचार', 'आराधना', 'सामयिकपाठ', 'भावनाद्वात्रिंशतिका' और 'योगसारप्राभृत'। हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्रों में उनके नाम से लगभग चार अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया गया है; किन्तु संप्रति उपलब्ध न होने के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

मल्लिषेण

आचार्य मल्लिषेण संस्कृत और प्राकृत, दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनके संबंध में कहा गया है कि संस्कृत या प्राकृत का कोई भी कवि ऐसा नहीं था,

जिसको उन्होंने चुनौती न दी हो। वे अजितसेन की शिष्यपरम्परा में हुए। उस परम्परा का क्रम था : अजितसेन, कनकसेन, जिनसेन और मल्लिषेण। मल्लिषेण ने अपने ग्रन्थ 'महापुराण' की समाप्ति ज्येष्ठ सुदी ५, श० सं० ८६८ (११०४ वि०) में की थी। अतः इनका स्थितिकाल ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में निश्चित है।

इनके छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जो संस्कृत में हैं। उनके नाम हैं : 'महापुराण', 'नागकुमारकाव्य', 'भैरवपद्मावतीकल्प'; 'सरस्वतीमन्त्रकल्प', 'ज्वालिनीकल्प' और 'कामचाण्डालिनीकल्प'। इनके अतिरिक्त कुछ और भी ग्रन्थ मिले हैं, जिनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वे इन्हीं मल्लिषेण के हैं।

ज्ञानभूषण

मूलसंग के अनुयायी भट्टारक ज्ञानभूषण की गुरु-परम्परा का क्रम है : पद्मनन्दी, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण। इसी परम्परा में आगे विजयकीर्ति, सुमतिकीर्ति, शुभचन्द्र, गुणकीर्ति, वादिभूषण, समकीर्ति, यशःकीर्ति आदि विद्वान् हुए। इसी क्रम से इन्हें गद्दी का उत्तराधिकार भी प्राप्त हुआ।

ज्ञानभूषण गुजरात के निवासी और सागबाड़े (वागड़) की गद्दी के भट्टारक थे। अनेक राजाओं ने उनकी चरणवन्दना की और अनेक तीर्थस्थानों का उन्होंने पर्यटन किया। व्याकरण, छन्द, अलंकार, तर्क, आगम और अध्यात्म आदि कई विषयों के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। वे १५३४-१५५६ वि० तक भट्टारक पद पर बने रहे और इस पद को छोड़ने के बाद भी वे बहुत समय तक जीवित रहे। १५६० वि० में उन्होंने 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' लिखी।

उनके जैन आगम-विषयक दो प्रौढ़ ग्रन्थ 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' और 'सिद्धान्तसारभाष्य' प्रकाशित हो चुके हैं। 'परमार्थोपदेश' नामक एक तीसरा ग्रन्थ भी उनका उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त 'नेमिनिर्वाणपंजिका', 'पंचास्तिकायटीका', 'दसलक्षणोद्यापन', 'आदीश्वरफाग', 'भक्तामरोद्यापन' और 'सरस्वतीपूजा' नामक अनेक ग्रन्थ ज्ञानभूषण के नाम से मिले हैं; किन्तु अधिकृत विद्वानों द्वारा उन पर कुछ न लिखे जाने तक उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

प्रमाण विचार

ज्ञान और उसके भेद

स्वभाव और विभाव

जैन दर्शन में ज्ञान-विचारणा की अपनी निजी प्रणाली है। जैन विचारकों की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के दो रूप हैं : स्वभावतः और विभावतः। वस्तु का वह रूप, जो दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता, 'स्वभाव' कहलाता है। जैसे आत्मा का चैतन्य तथा पुद्गल की जड़ता। इसी प्रकार वस्तु का वह रूप, जो दूसरी वस्तु की अपेक्षा रखता

ं, 'विभाव' कहलाता है। जैसे आत्मा का मनुष्यत्व तथा पुद्गल का शरीररूप परिणाम। इस दृष्टि से आत्मा को न तो हम केवल चैतन्य ही कह सकते हैं और न मनुष्य ही। इसी प्रकार पुद्गल न तो केवल जड़ ही है और न केवल शरीर ही। इसलिए जैन दृष्टि से वस्तु के स्वभाव और विभाव, दोनों रूप सत्य हैं। दोनों का साक्षात्कार किया जा सकता है।

ज्ञान के पाँच प्रभेद

जैनों के आगमग्रन्थों में ज्ञान के सम्बन्ध में बड़ी ही मौलिक और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। 'नन्दीसूत्र' में ज्ञान के पाँच प्रभेद माने गये हैं : आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। पुनः इन पाँचों को प्रत्यक्ष और परोक्ष, इन दो भेदों में विभक्त किया गया है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भी अन्य अवान्तर भेद हैं।

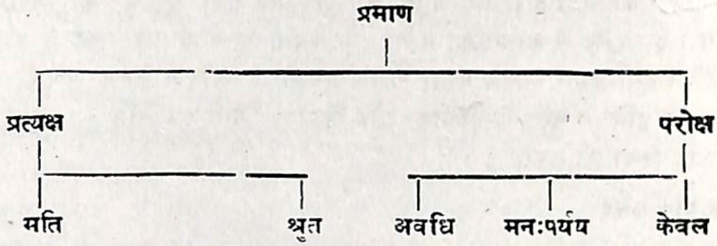
ज्ञान का तात्पर्य

'ज्ञान' से अर्थ की जानकारी होती है, इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'समयसार' में विस्तार से विवेचन किया है। उनका आशय है कि 'या तो ज्ञान अर्थ में उत्पन्न होता है, या अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट होता है' यह प्रश्न वस्तुतः बड़ा सरल है। ज्ञानी, ज्ञान-स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय-स्वभाव है। इसलिए दोनों भिन्न-भिन्न हैं; एक की दूसरे में वृत्ति नहीं है। दोनों में विषय-विषयी-भाव सम्बन्ध है। जैसे दूध के बर्तन में रखा हुआ इन्द्रनीलमणि अपनी आभा से दूध के रूप को प्रकाशित करके उसमें रहता है वैसे ही ज्ञान भी अर्थों में है। जैसे दूध के बर्तन में रखी हुई मणि दूध में व्याप्त नहीं है; किन्तु अपनी दीप्ति से दूध को नीलवर्ण में प्रकाशित करती है, इसी प्रकार ज्ञान, द्रव्यतः सम्पूर्ण अर्थ में व्याप्त नहीं होता; किन्तु अपनी विचित्र शक्ति के कारण अर्थ को जान लेता है। अतः 'अर्थ में ज्ञान है', ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार यदि अर्थ में ज्ञान है तो ज्ञान में भी अर्थ होना चाहिए; क्योंकि यदि ज्ञान में अर्थ नहीं है तो ज्ञान किसका होगा ? इसलिए 'ज्ञान में अर्थ है' और 'अर्थ में ज्ञान है' इस दृष्टि से ज्ञान और अर्थ का विषय-विषयी-भाव सम्बन्ध है।

प्रमाण

प्रमाण के दो भेद

वाचक उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में बड़े वैज्ञानिक एवं गंभीर ढंग से प्रमाणों पर, जैन दृष्टि से, विचार किया है। उन्होंने आगमग्रन्थों में कहे गये (१) अभिनिबोधित, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनःपर्यय और (५) केवल, इन पाँच प्रकार के ज्ञानों से संगति बैठाने के लिए प्रमाण के भी पाँच भेद किये हैं और उनको परोक्ष तथा प्रत्यक्ष, इन दो श्रेणियों में विभाजित किया है :



लक्षण : प्रमाण का लक्षण निर्धारित करते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि 'सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है'। प्रशस्त, अव्यभिचारी या संगत को 'सम्यक्' कहते हैं।

परोक्ष और प्रत्यक्ष

परोक्ष और प्रत्यक्ष में केवल अपेक्षाकृत अन्तर है। परोक्ष अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष अपेक्षाकृत परोक्ष है। इन्द्रियजन्य ब्राह्य तथा आभ्यन्तर विषयों का मति-ज्ञान अनुमान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष और पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है। सम्पूर्ण कर्म-बन्धों के नष्ट हो जाने पर ज्ञान के ये विकल्प भी नष्ट हो जाते हैं। जैन दर्शन में प्रमाण के तीन भेद माने गये हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

१. प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं : मति और श्रुत। प्रत्यक्ष होने से इनको लौकिक ज्ञान कहा गया है। दृश्य वस्तु का पूर्ण ज्ञान ही मतिज्ञान है और आगमों के द्वारा आप्तवचनों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान के ही बाद श्रुतज्ञान होता है।

मतिज्ञान : मतिज्ञान का प्रत्यक्ष चार प्रकार से होता है : अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। जिस ज्ञान में केवल विषय का ग्रहण होता है उसे 'अवग्रह', अवग्रहज्ञान के बाद मन में जब विषय के प्रति जिज्ञासा होती है उसको 'ईहा', ईहा के बाद जब विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है तो उसे 'अवाय' और निश्चयात्मक ज्ञान (अवाय) के बाद विषय के लिए मन में जो विचार बनता है उसको 'धारणा' कहते हैं।

श्रुतज्ञान : दूसरा लौकिक ज्ञान श्रुत है। 'श्रुत' अर्थात् सुना हुआ। आप्तवचनों से सुनकर प्राप्त हुआ ज्ञान तथा प्रामाणिक ग्रन्थों से अध्ययन किया हुआ ज्ञान श्रुत ज्ञान कहलाता है। इसके लिए इन्द्रियज्ञान की भी आवश्यकता है।

दोनों का अन्तर

(१) मतिज्ञान केवल प्रत्यक्ष (वर्तमान) का विषय होता है, जब कि श्रुतज्ञान में भूत, वर्तमान, भविष्य, सभी काल के विषय हो सकते हैं। (२) जैनागमों में मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान को श्रेष्ठ माना गया है। (३) मतिज्ञान

में परिणाम संबद्ध रहता है; किन्तु श्रुतज्ञान में आप्तवचन होने के कारण परिणाम नहीं होता।

२. **परोक्ष प्रमाण**

परोक्ष प्रमाण के तीन भेद हैं : अवधि, मनःपर्यय और केवल।

अवधि ज्ञान : कर्मों के आंशिक नाश हो जाने पर मनुष्य जब ऐसी अवस्था में पहुँचता है कि वह दूरस्थ, सूक्ष्म और अस्पष्ट का अन्तर मिटा देने वाली अज्ञानता को नष्ट कर डालता है, ऐसा 'सम्यक् दर्शन' ही 'अवधिज्ञान' कहलाता है; और क्योंकि वह ज्ञान सीमित वस्तुओं का होता है, अतः उसे अवधिसापेक्ष कहते हैं।

मनःपर्यय ज्ञान : रागद्वेषादि मानसिक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद जब साधक अन्य व्यक्तियों के हृदय के त्रैकालिक विचारों को जान लेता है तो ऐसे ज्ञान को 'मनःपर्यय ज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान को 'मनःपर्यय' इसलिए कहा जाता है कि वह दूसरे के मन के आशयों की जानकारी कराता है।

केवल ज्ञान : जब मनुष्य आत्मगत ज्ञान-बाधक कर्मों को विनष्ट कर डालता है तब उसको दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। यह दिव्यदृष्टि आन्तरिक होती है। इस दिव्यदृष्टि से वह अनन्त ज्ञान का साक्षात्कार कर लेता है। यह ज्ञान जीवन्मुक्त अर्हतों को होता है।

३. **अनुमान प्रमाण**

हेतु के द्वारा साध्यवस्तु का ज्ञान ही 'अनुमान' है। उसके दो भेद हैं : स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान : बाह्य दृष्टान्तों को देखकर अपने मन में, मन को समझाने के लिए किये गये अनुमान को 'स्वार्थानुमान' कहते हैं। उदाहरण के लिए आग और धुआँ। अग्नि को देखने के बाद मनुष्य को अपने मन में यह निश्चय होता है आग और धुआँ एक साथ रहते हैं। इस एक साथ रहने वाले आग-धुआँ के संबंध को 'व्याप्ति' कहते हैं। यह व्याप्ति उसके हृदय में रहती है और बाद में कहीं जाते हुए उसने ऊँचे पर्वत पर उठता हुआ धुआँ देखकर यह निश्चय किया कि 'पर्वत पर आग है'। इसमें बाह्य दृष्टान्त हुआ आग और धुआं का नित्य सहचरत्व। उसके आधार पर देखने वाले ने अपने आप में यह जान लिया कि 'जहाँ धुआँ रहता है वहाँ आग भी रहती है'।

परार्थानुमान : यही प्रक्रिया जब दूसरे के मन में ज्ञान प्राप्त करने के लिए होती है तो उस ज्ञान को 'परार्थानुमान' कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं : पञ्चावयव परार्थानुमान और दशावयव परार्थानुमान। ये पञ्चावयव हैं : प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन। इसी प्रकार दशावयव हैं : प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, विपक्षप्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंकाप्रतिषेध और निगमन।

४. हेत्वाभास

अनुमान प्रमाण के पक्ष (पर्वत), साध्य (अग्नि) और हेतु (जैसे रसोईघर), इन तीनों के सम्बन्ध में यदि विघटन हो जाय या इनमें से कोई प्रतिकूल हो जाये तो अनुमान प्रमाण में दोष आ जाते हैं। इसी अनुमान दोष को 'हेत्वाभास' कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है: (१) असिद्ध (यह सुन्दर है, क्योंकि बंध्या-पुत्र है); (२) विरुद्ध (अग्नि शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है); (३) अनैकान्तिक (सभी वस्तुएं क्षणिक हैं; क्योंकि वे सत् हैं)।

५. शब्द प्रमाण

आगमों (शब्दों) के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको 'शब्द प्रमाण' कहते हैं। यह लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। पिता और विश्वसनीय वृद्ध व्यक्तियों के द्वारा कहा गया उपदेश लौकिक शब्द प्रमाण और आगमों में तीर्थंकर महात्माओं की वाणियों की प्रामाणिकता अलौकिक ज्ञान है।

नया विचार

नय और प्रमाण का अन्तर

जैन दर्शन में तत्त्वज्ञान के लिए नय, निक्षेप और प्रमाण को आधार माना गया है। नय और प्रमाण यद्यपि तत्त्वतः अभिन्न है, क्योंकि इन दोनों के द्वारा ही किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है; किन्तु जहाँ प्रमाण से किसी अखण्ड वस्तु का ज्ञान होता है, वहाँ नय से केवल वस्तु का आंशिक ज्ञान होता है। यही दोनों में अन्तर है। जो जीवादि पदार्थों का बोध कराये उसे 'नय' कहते हैं।

नय के भेद

नय के प्रमुख दो भेद हैं: अर्थ और शब्द। अर्थनय के चार भेद हैं: नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजु। इसी प्रकार शब्दनय के भी दो भेद हैं: समारूढिनय और एवम्भूतनय।

सप्तभंगी नय

जैन दर्शन में जो प्रमाण गिनाये गये हैं उनमें 'नय' का भी एक स्थान है। न्याय दर्शन में इस 'नय' को 'परामर्श' कहा गया है, जिसको कि 'अन्वयी' तथा 'व्यतिरेकी' अथवा 'अस्तिवाचक' तथा 'नास्तिवाचक', इन दो भेदों में विभाजित किया गया है। किन्तु जैन दर्शन में परामर्श (नय) के सात भेद या प्रकार वताये गये हैं, जिनके अन्तर्गत तर्कशास्त्र के उक्त दोनों भेद समाविष्ट हो जाते हैं।

सारे संसार के चेतन और अचेतन, दोनों प्रकार की वस्तुओं का सम्यक् निर्णय 'नय' द्वारा ही स्वीकार किया गया है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि नव तत्त्वों का ज्ञान, प्रमाण तथा नय द्वारा

होता है। प्रमाण वह है, जिसके द्वारा तत्त्वों का संपूर्ण रूप से ज्ञान हो; और नय वह है जिसके द्वारा तत्त्वों के एक देश का ही ज्ञान हो। विधि और निषेध के कारण सप्तभंगी के ये दो भेद किये गये हैं।

सप्तभंगी नय वह नय है, जिसमें सात भंग (वाक्य) हों **'सप्तानां भगानां वाक्यानां समाहारः सप्तभंगी'**। जैन दर्शन में वस्तु को अनेक धर्मात्मक कहा गया है। ये धर्म अविरुद्ध होते हैं और इन अविरुद्ध धर्मों का निश्चय करना ही सप्तभंगी नय के सात वाक्यों का कार्य है। इसलिए सप्तभंगी वह नय है, जिसके द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जाता है।

जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की आधारभित्ति इसी सप्तभंगी नय पर आधारित है। वे सात भंग या वाक्य हैं :

१. स्यादस्ति घटः (शायद घट है)
२. स्यान्नास्ति घटः (शायद घट नहीं है)
३. स्यादस्ति नास्ति च घटः (शायद घट है भी और नहीं भी है)
४. स्यादवक्तव्यो घटः (शायद घट वर्णनातीत है)
५. स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घटः (शायद घट है भी और अवक्तव्य भी है)
६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः (शायद घट नहीं है और अवक्तव्य भी है)
७. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः (शायद घट है, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है)

इस सप्तवाक्य का आशय समझने से पूर्व उनमें प्रयुक्त 'स्यात्', 'अस्ति' और 'घट', इन तीन शब्दों का अभिप्राय समझना आवश्यक है।

स्यात् : इस 'स्यात्' शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया है कि कोई वाक्य किसी एक निश्चयात्मक अर्थ का बोधक नहीं है; बल्कि उसमें दूसरे अर्थ भी समन्वित हैं। उनको समझना भी आवश्यक है।

अस्ति : 'अस्ति' शब्द वस्तु में धर्मों की स्थिति का सूचक है। वस्तु में धर्मों की यह स्थिति आठ प्रकार से हो सकती है : काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द। इन आठ प्रकार के वस्तुधर्मों का स्पष्टीकरण सप्तभंगी नय के विवेचन में किया जायगा।

घट : जिस प्रकार किसी वस्तु के धर्मों की स्थिति आठ प्रकार से विद्यमान रहती है वैसे ही वस्तु की वास्तविक स्थिति चार प्रकार की मानी गयी है : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। उदाहरण के लिए मिट्टी से अनेक वस्तुएँ बनती हैं, किन्तु 'घट' नाम एक ही वस्तु का है। 'स्थापना' का आशय उस स्थान से है, जिसमें वह घट रखा गया है। घट में जो मृत्तिका है वही 'द्रव्य' है। घट जिस काल में वर्तमान है वह उसका 'भाव' कहलाता है। वह काल वर्तमान ही हो सकता है, भूत, भविष्यत्

नहीं। आशय यह है कि किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए उक्त चार बातों का होना आवश्यक है।

सात वाक्यों का प्रतिपादन

१. स्यादस्ति घटः

जैन तार्किकों ने प्रत्येक 'नय' के साथ 'स्यात्' शब्द की योजना साभिप्राय की है। उनका यह अभिप्राय है कि कोई भी 'नय' निरपेक्ष या एकान्त रूप से सत्य नहीं है; बल्कि आपेक्षिक है।

'शायद घट है' इसका पहला आशय यह है कि घड़ा अपने नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से विद्यमान है; किन्तु 'शायद' उसके साथ इसलिए जोड़ दिया गया है कि यह न समझा जाय कि घड़े में ये ही बातें सतत विद्यमान रहती हैं। उसमें जो लाल रंग है वह किसी विशेष परिस्थिति में है, बल्कि सर्वदा सब परिस्थितियों में नहीं है।

२. स्यान्नास्ति घटः

'शायद घट नहीं है' इसका यह आशय हुआ कि परनाम, पररूप, परद्रव्य और परकाल ये घट नहीं हैं। किन्तु इस वाक्य से घट के निषेध की अभिव्यक्ति नहीं होती है। 'नहीं' कहने से उसका सर्वथा अभाव नहीं हो गया; बल्कि उसका अस्तित्व गौण हो गया। यह वाक्य प्रथम वाक्य के विरुद्ध नहीं है।

'स्यात्' शब्द से यह आशय निकलता है कि जिस घड़े के सम्बन्ध में परामर्श हुआ है वह विशेष समय में नहीं है। अर्थात् इस समय वह उस स्थान पर नहीं है, जहाँ के लिए उसके सम्बन्ध में परामर्श दिया गया था।

३. स्यादस्ति नास्ति च घटः

'शायद घड़ा है, और नहीं भी है' इस संयुक्त परामर्श की इसलिए आवश्यकता हुई कि घड़ा लाल हो सकता है, कभी दूसरे ही रंग का भी हो सकता है। इस तीसरे तार्किक परामर्श से किसी वस्तु के होने और न होने, इन दोनों बातों का एक साथ बोध होता है।

'अस्ति' से घट की निजरूप सत्ता का होना बताया गया है और 'नास्ति' से, परसत्ताप्रधान होने के कारण उसका नहीं होना बताया गया है। जब घट के अस्तित्व की ओर देखो तो उसका होना पाया जाता है; किन्तु उसके पररूप की ओर देखो तो उसका नहीं होना भी पाया जाता है।

४. स्यादवक्तव्यो घटः

'शायद घट ऐसा है, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है' इसका आशय यह है कि एक समय में घट के निजरूप की सत्ता और उसके पररूप की सत्ता प्रधान होने से यह अव्यक्त हो जाता है। अर्थात् ऐसी वस्तु, जो एक ही समय में अपने

निजरूप तथा पररूप, दोनों की प्रधानता रखती हो, उसके सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है कि वह अवर्णनीय (अवक्तव्य) है।

इस परामर्श में एक वस्तु के परस्पर विरोधी गुणों पर एक साथ विचार किया गया है। ऐसी दशा में उसको **'स्यादवक्तव्यम्'** ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि यह पूछा जाय कि प्रत्येक समय और सभी अवस्थाओं में घड़े का क्या रंग होता है तो इस स्थिति में घड़े के रंग के बाबत कुछ कहा ही नहीं जा सकता है।

५. स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घटः

'शायद घट है, और अवक्तव्य भी है' इस वाक्य का अर्थ यह है कि यदि घट के द्रव्य रूप (मृत्तिका) को देखें तो घट है; किन्तु उसके द्रव्य रूप (मृत्तिका) और उसके परिवर्तनशील रूप, दोनों को एक समय में देखें तो उसका अस्तित्व स्वीकार करने पर भी यह कहना पड़ेगा कि वह अवक्तव्य है।

उदाहरण के लिए किसी विशेष परिस्थिति में हम घट को लाल कह सकते हैं; किन्तु जब दृष्टि का निश्चितीकरण न हो तो उस दशा में घड़े के रंग का वर्णन करना असंगत हो जाता है। उस हालत में यह कहना पड़ता है कि वह लाल है तो, किन्तु अवक्तव्य है।

६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः

'शायद घट नहीं है और अवक्तव्य भी है' इस परामर्श का यह तात्पर्य हुआ कि घट अपने पर्याय रूप की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वे रूप क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं। इसमें असत्तारहित अवक्तव्य की भावना की प्राधानता है। इसका यह आशय है कि 'स्यात्' नहीं है और वह अवक्तव्य भी है।

७. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः

'शायद घट है, नहीं भी है और वह अवक्तत्व भी है' इस वाक्य में द्रव्यपर्यायों के एक साथ होने और अलग-अलग होने के कारण घट का अस्तित्व, अनस्तित्व तथा अवक्तव्यत्व सूचित किया गया है। उदाहरण के लिए मृत्तिका की दृष्टि से वह 'है', उसके क्षण-क्षण में रूप बदलते रहते हैं, अतः वह 'नहीं है' और इन दोनों पर्यायों का एक साथ समन्वय होने के कारण वह 'अवक्तव्य' है।

इस प्रकार जैन दर्शन में सप्तभंगी नय का विवेचन किया गया है। नय की इन सात विधाओं को देखकर कहा जा सकता है कि किसी एक वस्तु का निर्णय करने के लिए उसको अनेक दृष्टि से देखना पड़ता है; क्योंकि जब तक हम, प्रत्येक वस्तु में अवस्थित अनेक धर्मों का परिचय न प्राप्त कर लेंगे तब तक उस वस्तु के प्रति हमारा ज्ञान अधूरा और हमारी व्यवस्था अपूर्ण कही जायगी।

जैन दर्शन के मुख्य नौ तत्त्व

जैन दर्शन में नौ प्रकार के मुख्य तत्त्व माने गये हैं, जिनके नाम हैं : 1. जीव,

२. अजीव, ३. आस्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा, ७. पुण्य, ८. पाप और ९. मोक्ष।

जीव : अजीव : जिन पदार्थों में चेतना है वे 'जीव' कहलाते हैं। यह जड़ शरीर तथा इसी की तरह दूसरे जड़ पदार्थ 'अजीव' हैं। जीव और अजीव दोनों के संबंध में आगे अलग से भी विचार किया गया है।

आस्रव : अच्छे तथा बुरे कर्मों के द्वार को 'आस्रव' कहते हैं। 'स्रव' नाम 'बहने' का है। आत्मा की ओर कर्मों का बहना ही 'आस्रव' है। जिस प्रकार नाले का गंदा पानी तालाब में गिरकर तालाब को गंदा कर देता है उसी प्रकार संसार के विषय इन्द्रियों के नाले से बहकर आत्मा में प्रवेश करते हैं और उसको मलिन कर देते हैं।

बंध : आत्मा का कर्मों में और कर्मों का आत्मा में मिल जाना ही 'कर्मबंध' है। जिस प्रकार पुरानी लकड़ी को अग्नि जल्दी ही जला देती है उसी प्रकार राग से रहित होकर और क्रोध का परित्याग करके जीव अपने कर्मों को जल्दी ही नष्ट कर देता है।

संवर : आत्मा में कर्मों का प्रवेश न होने देना ही 'संवर' कहलाता है। 'संवर' का अर्थ है 'रोकना'। भले, बुरे कर्मों के आस्रव (धारा) को आत्मा में जाने से जो रोक देता है वही 'संवर' है।

निर्जरा : कर्मों के प्रभाव को तप आदि साधनों के द्वारा निर्जरण कर डालना, अर्थात् ऐसे उपाय करना, जिनसे कर्म क्षय हो जायें, 'निर्जरा' है।

पाप : हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, उद्दण्डता का व्यवहार करना और माँगना, ये सभी पाप हैं।

पुण्य : इनके विपरीत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध और अपरिग्रह, ये पुण्य हैं।

मोक्ष : जीव से लेकर पाप तक के आठ कर्म जीवों के गुणों को ढाँप लेते हैं। उनका नाश कर देना ही मोक्ष है।

कर्मों के नाश करने के तीन साधन

इन आठ प्रकार के कर्मों को तीन तरह के साधनों या उपायों द्वारा नष्ट किया जा सकता है। ये तीन साधन हैं : १. सम्यक् दर्शन, २. सम्यक् ज्ञान और ३. सम्यक् चारित्र। इन तीनों का एक ही नाम 'रत्नत्रयी' (तीन रत्न) है।

जीव से लेकर पाप तक आठ कर्मों में किसी प्रकार की रुचि न करना 'सम्यक् दर्शन' है। धर्म का ऐसा ज्ञान, जिसमें सन्देह तथा भ्रम न हो ऐसा यथार्थ ज्ञान ही 'सम्यक् ज्ञान' है। निर्दोष तथा पवित्र आचरण ही 'सम्यक् चारित्र' है।

द्रव्य सिद्धान्त

द्रव्य का स्वरूप

जैन दर्शन का द्रव्य-सिद्धान्त बड़ा ही जटिल है। द्रव्य की परिभाषा करते हुए

वहाँ कहा गया है कि जिसमें गुण और पर्याय हों वह द्रव्य है **'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'** । गुण उसका स्वरूप धर्म है और पर्याय आगन्तुक धर्म । स्वरूप धर्म नित्य है और आगन्तुक धर्म परिवर्तनशील । स्वरूप धर्म द्रव्य में सतत विद्यमान रहता है और आगन्तुक धर्म बदलता रहता है । उदाहरण के लिए आत्मा का स्वरूप धर्म है चैतन्य, जो कि उसमें सर्वदा विद्यमान रहता है और आत्मा के आगन्तुक धर्म हैं संकल्प, इच्छा, क्रिया आदि जिनमें नित्य परिवर्तन होता रहता है ।

यह संसार द्रव्यों से निर्मित है । अतः द्रव्यों के स्वरूप के अनुसार संसार भी नित्य अनित्य, दोनों है । सत् होने से द्रव्य उत्पत्ति, क्षय और स्थिरता से युक्त है ।

द्रव्य के भेद

द्रव्य के दो भेद हैं : अस्तिकाय और अनस्तिकाय । काययुक्त द्रव्य अस्तिकाय और काल को अनस्तिकाय द्रव्य कहते हैं । उनमें भी अस्तिकाय द्रव्यों के दो भेद हैं : जीव और अजीव ।

जीव

चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं । संसार की दशा में आत्मा, जीव कहलाता है । उसमें प्राण तथा शारीरिक, मानसिक एवं इन्द्रियजन्य शक्ति विद्यमान होती है । जीव में शुद्ध ज्ञान तथा दर्शन अर्थात् निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञान रहता है । व्यावहारिक रूप में कर्म की गति से जीव में औपशमिक, क्षणिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, ये पाँच भावप्राण रहते हैं, जिनके कारण उसका विशुद्ध रूप ढँक जाता है ।

द्रव्य के रूप में परिणत होकर वही भावदशापन्न प्राण 'पुद्गल' कहलाता है और वही पुद्गलयुक्त जीव 'संसारी' कहलाता है । प्रत्येक वस्तु की दो अवस्थाएँ होती हैं : भाव और द्रव्य । अव्यक्त अवस्था को भाव और व्यक्त अवस्था को द्रव्य कहते हैं । जैन दर्शन परिणामवादी है । प्रत्येक वस्तु एक स्वरूप को छोड़कर दूसरा स्वरूप धारण करती है; अर्थात् भाव द्रव्य में और द्रव्य भाव में परिणत होते रहते हैं ।

जीव के गुण

विशुद्ध दशा में जीव ज्ञान और दर्शन से संयुक्त है । वह नित्य, अमूर्त, कर्ता, स्थूल कर्मफलों का उपभोक्ता, सिद्ध और ऊर्ध्वगामी है । जीव में अविद्या होती है, जिसके कारण वह 'कर्म' में प्रवेश करता है और बन्धन में बँध जाता है । बद्ध जीव चैतन्य और नित्य परिणामी है । उसमें 'संकोच' और 'विकास' दो गुण वर्तमान रहते हैं, जिनके कारण वह हाथी के शरीर में प्रवेश कर हाथी जितना बड़ा हो जाता है और चींटी के शरीर में प्रवेश कर चींटी जितना छोटा हो जाता है । जिस भी शरीर में वह प्रवेश करता है उसी का रूप ले लेता है । वह अमूर्त है । अतएव देखा नहीं जा सकता; किन्तु उसकी उपस्थिति अनुभव से जानी जाती है । बन्धन से मुक्त होने पर जीव में 'सम्यक् ज्ञान' की अभिव्यक्ति होती है और उसी के कारण वह मुक्ति की

ओर अग्रसर होता है। जीव में 'प्रदेश' होते हैं। अतः वह पर्याययुक्त या अस्तिकाय कहा जाता है। उसमें अवयव होते हैं। अतः वह अवयवी कहा जाता है।

परिणामी

जीव प्रति क्षण परिणामी होता है। उसका एक क्षण में जो स्वरूप है, दूसरे क्षण वह बदल जाता है। उसमें उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (क्षय) और ध्रौव्य (स्थिरता) ये तीनों विद्यमान रहते हैं। यह 'काल' के प्रभाव से है। स्वभाव से जीव में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त सामर्थ्य आदि गुण वर्तमान रहते हैं; किन्तु कर्मों से बद्ध होने के कारण उसके ये गुण प्रकट नहीं हो पाते। चेतना (अनुभूति) तथा उपयोग (चेतना फल), ये दो प्रमुख गुण जीव के हैं। उपयोग के दो भेद हैं : ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग, जिनको क्रमशः सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल और तीन विपर्यय—कुमति, कुश्रुत, विभंगावधि, ये आठ सविकल्प ज्ञान हैं। इनमें केवल ज्ञान कर्मों के नाश हो जाने के बाद नष्ट हो जाता है।

पर्याय

परिणाम ही पर्याय कहलाता है। दिव्य, मानुष, नारकीय और तिर्यक्, ये जीव के चार पर्याय हैं। पर्याय के प्रमुख दो भेद हैं : द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय। भिन्न-भिन्न द्रव्यों में एकता का अनुभव जिससे होता है वह 'द्रव्यपर्याय' है। परिणाम के कारण द्रव्यों के गुणों में जो परिवर्तन होता है उसे 'गुणपर्याय' कहते हैं।

जीव के भेद

जीव के दो प्रमुख भेद हैं : बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव संसारी है। उसके त्रस (जंगम) और स्थावर दो भेद होते हैं। स्थावर जीवों में केवल त्वगिन्द्रिय होती है। क्षिति, जल, तेज, वायु तथा वनस्पतियाँ 'स्थावर' जीव हैं। जिन जीवों में एकाधिक इन्द्रियाँ होती हैं वे 'त्रस' कहलाते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, नारकीय, ये सभी 'त्रस' जीव हैं। इनमें पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं। ये त्रस जीव अलग-अलग शरीरों के धारण करने से अलग-अलग होते हैं, जैसे पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय और तेजकाय। मुक्त जीव इन सबसे परे हैं। उसमें ज्ञान, दर्शन आदि होते हैं।

अजीव

अजीव द्रव्य वे हैं, जिनका शरीर अजीवों में होता है। अजीव के पाँच भेद हैं : धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। इनमें पूर्व के चार 'अस्तिकाय' और काल को 'अनस्तिकाय' कहते हैं।

अजीव के गुण

अजीव द्रव्य मूलतः अविनश्वर है। पुद्गल के अतिरिक्त अन्य अजीव द्रव्यों में

रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं होते । पुद्गल में चारों रहते हैं । धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक है; किन्तु पुद्गल अनेक हैं । प्रथम तीनों क्रियाहीन हैं, किन्तु पुद्गल सक्रिय है । इन पाँचों अजीव द्रव्यों का स्वरूप इस प्रकार है ।

पाँच अजीव द्रव्य

१. **धर्मास्तिकाय** : यह न तो क्रियाशील है न क्रिया का उत्पादक है; किन्तु अन्य क्रियाशील पुद्गलों की क्रिया में सहायक होता है । इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं होते । यह लोकाकाश में व्याप्त है । परिणामी होने पर भी वह मूलतः नित्य है ।

२. **अधर्मास्तिकाय** : वह लोकाकाश में व्याप्त है । स्वभावतः वह अमूर्त है । नित्य है, गतिहीन है । जब जीव तथा पुद्गल विश्रामावस्था में होते हैं तब अधर्मास्तिकाय उन्हें सहायता देता है । इसमें भी रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं होते ।

३. **आकाशास्तिकाय** : बिना आकाश के अस्तिकाय द्रव्यों का ठिकाना नहीं है । जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गल को उनके उपयुक्त स्थानों का आशय देने वाला 'आकाश' ही है । इसी को 'लोकाकाश' कहते हैं ।

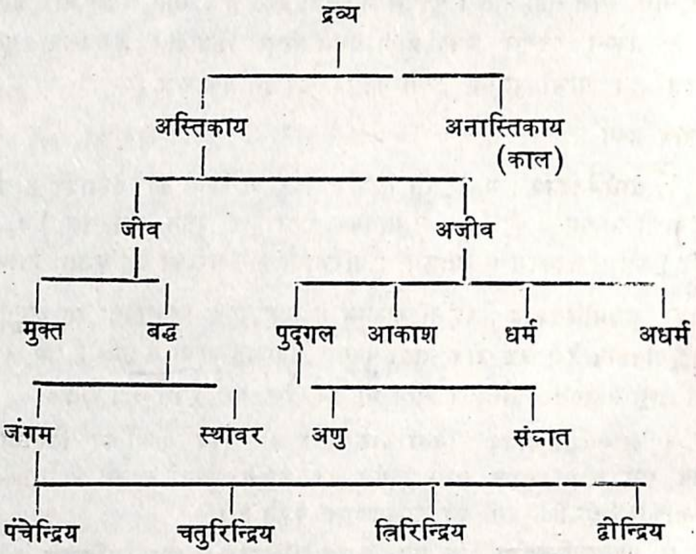
४. **पुद्गलास्तिकाय** : जो संघटन तथा विघटन के द्वारा परिणाम को प्राप्त करे वह 'पुद्गल' नाम का अजीव द्रव्य है । उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श चारों होते हैं । वह सीमित और मूर्त होता है । उसमें मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष ये आठ प्रकार के 'स्पर्श' होते हैं । उसमें तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर तथा कषाय ये पाँच प्रकार के 'रस' होते हैं । उसमें सुरभि और असुरभि दो प्रकार की 'गन्ध' है । उसमें कृष्ण, नील, लोहित, पीत तथा शुक्ल, ये पाँच प्रकार के 'रूप' होते हैं ।

पुद्गल के स्वरूप का अलग से विवेचन किया गया है ।

५. **काल** : काल सतत विद्यमान रहता है । इसीलिए पुद्गल में सतत गति रहती है । अन्य द्रव्यों के परिणामों का कारण 'काल' ही है । उसी का अपर नाम 'समय' है, जिसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं : घंटा, मिनट, दिन-रात आदि । समय 'परिणामभव' और 'क्षणिक' है । काल का वह अणु कहलाता है । 'काल अणु' (समय) अलग-अलग प्रदेशों में रहकर परस्पर नहीं मिलते । वे अदृश्य, अमूर्त, अक्रिय तथा असंख्य हैं । 'निश्चय काल' नित्य है और वह द्रव्यों के परिणाम में सहायक होता है । वह समय का आधार है । व्यावहारिक दृष्टि से 'समय' को 'काल' भी कहते हैं ।

काल के भेद

काल के दो भेद हैं : पारमार्थिक और व्यावहारिक । पारमार्थिक काल नित्य एवं निराकार है और व्यावहारिक काल सादि तथा सान्त है । अखण्ड द्रव्य होने के कारण तथा उसके विश्व भर में व्याप्त होने के कारण उसको 'अनस्तिकाय' कहा जाता है ।



स्याद्वाद

'स्याद्वाद' का सिद्धान्त जैन तत्त्वज्ञान की आधारशिला है। 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों के योग से 'स्याद्वाद' शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित्; किसी प्रकार से या किसी अपेक्षा से। 'वाद' कहते हैं सिद्धान्त या मन्तव्य को। अतः उसकी परिभाषा हुई 'वस्तु के तत्त्व-निर्णय में जो वाद अपेक्षा की प्रधानता पर निर्भर है वह 'स्याद्वाद' है।'

स्याद्वाद के अनुसार वस्तु अनेक धर्मात्मक है। (**अनन्त धर्मात्मकं सत्**)। इसका यह आशय हुआ कि वस्तु अनेक गुणों या विशेषताओं से युक्त है। जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं तो उसके एक धर्म को प्रमुख और अन्य धर्म को गौण बताते हैं। अनेक धर्मात्मक वस्तु का जो स्वरूप हमारे सामने मूर्तरूप में प्रत्यक्ष है उसके अतिरिक्त भी उसका एक अप्रत्यक्ष रूप है। वैज्ञानिक आविष्कारो के द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि प्रत्येक वस्तु का एक रूप अव्यक्त एवं अप्रकट भी रहता है।

वस्तु के व्यक्त और अव्यक्त सभी धर्मों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही हम वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत वस्तु के एकांगी स्वरूप या गुण को लेकर उसी में वस्तु की परिपूर्णता मान लेना वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न समझने के ही बराबर है। वस्तु या पदार्थ के अनन्त धर्मात्मक स्वरूप को विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षण करने, समझने और व्यक्त करने की विद्या को ही जैन तत्त्वज्ञों ने 'स्याद्वाद', 'अनेकान्तवाद' या 'अपेक्षावाद' का नाम दिया है।

वस्तु के व्यक्त रूप पर आधारित हमारा वस्तुज्ञान आपेक्षिक सिद्ध होता है।

आपेक्षिक, अर्थात् एक वस्तु, एक अपेक्षा से जैसी है, अन्य अपेक्षाओं से वह दूसरी प्रकार की भी हो सकती है। उदाहरण के लिए नीबू और नारंगी को एक साथ रखकर उनमें नारंगी को ही बड़ा मानना पड़ेगा; किन्तु नारंगी से जब नारियल की तुलना की जायगी तो उसी को हमें छोटा कहना पड़ेगा। इसलिए जैन तत्त्वज्ञों को कहना पड़ा कि यह जो गुरुत्व या लघुत्व हमारे व्यावहारिक जीवन में देखने को मिलता है वह आपेक्षिक है।

संसार के सभी धर्म और दर्शन सत्य हैं; किन्तु उनके जब आंशिक सत्य को लेकर शेष रूप की अवहेलना की जाती है तो वह गृहीत सत्य भी एक प्रकार से संकुचित एवं असत्य-सा जान पड़ता है। 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त के अनुसार एक बहुत बड़ी बात यह है कि उसमें जन-सामान्य के लिए स्पष्टरूप से कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को सही समझे; किन्तु दूसरे के विरोधी लगने वाले दृष्टिकोण को भी समझे। दूसरे के दृष्टिकोण को असत्य समझने का अर्थ होता है अपने ही दृष्टिकोण को मिथ्या साबित करना। इस सम्बन्ध में जैन विद्वानों ने व्यावहारिक दृष्टि से अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके अपने 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त की अव्यर्थता सिद्ध की है। जैसे लोक में देखा जाता है कि एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भानजा आदि सब कुछ है। ये अनेक धर्म लोकदृष्टि से एक ही व्यक्ति में सिद्ध हैं। जैसे ये अनेक धर्म एक ही व्यक्ति में रह सकते हैं; जैसे पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा आदि अनेक धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक ही व्यक्ति में रहते हैं उसी प्रकार एक ही पदार्थ में नित्य और अनित्य, दोनों प्रकार के धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से रहते हैं। यह सापेक्ष सिद्धान्त हमें बताता है कि जो व्यक्ति अपने पुत्र का पिता है वह अपने पुत्र का पुत्र नहीं हो सकता; किन्तु एक अपेक्षा से वह भी अपने पिता का पुत्र है। इसी दृष्टि से पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा नित्य है; किन्तु पर्याय की अपेक्षा में अनित्य है।

पूर्ण सत्य ही सापेक्ष सत्य है

कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद को लोकव्यवहार तक ही सीमित रखा है और कहा है कि वह आपेक्षिक सत्यों को पूर्ण सत्य मानने की प्रेरणा तो देता है; किन्तु निरपेक्ष या संपूर्ण सत्य की कल्पना किये बिना जैनों का स्याद्वाद तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। इस मन्तव्य के विपरीत जैन दर्शन के स्याद्वादी आचार्यों का कथन है कि 'सापेक्ष सत्य के विषय में जो सन्देहशीलता प्रतीत होती है उसका एक कारण यह है कि सापेक्ष सत्य को पूर्ण सत्य या वास्तविक सत्य से परे की वस्तु सोच लिया जाता है। किन्तु वास्तव में सापेक्ष सत्य उससे भिन्न नहीं है। ऊपर के उदाहरण से प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सकता है कि नारंगी छोटी है या बड़ी? वहाँ वास्तविक एवं पूर्ण सत्य यही है कि अपने से छोटे-बड़े पदार्थों की अपेक्षा वह छोटी भी है और बड़ी भी।' अतः सापेक्ष सत्य ही पूर्ण सत्य है।

स्याद्वाद को लोकव्यवहार तक ही सीमित रखने की बात भी उपयुक्त नहीं जान पड़ती है। 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' में कहा गया है कि एक क्षुद्र दीपक से लेकर महत्

व्योम तक की सारी वस्तुओं पर स्याद्वाद की मुहर अंकित है (**आदीपव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु**)। इसलिए काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य सब कुछ है। और काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य सब कुछ नहीं भी है, यह जो सप्तभंगी तत्त्व है उसका आशय यही है कि स्याद्वाद का सिद्धांत केवल लोक-व्यवहार तक ही सीमित नहीं है।

शंकराचार्य और स्याद्वाद

आचार्य शंकर ने जैनों के स्याद्वाद को संशयवाद तथा अनिश्चिततावाद की संज्ञा दी है। उसका कारण यह है कि उन्होंने 'स्यादस्ति' का आशय 'शायद' के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु आचार्य शंकर के इस मन्तव्य को जैन दार्शनिक स्वीकार नहीं करते हैं। वे वस्तु को अनेक धर्म (गुण) वाली कहते हैं और 'स्यादस्ति' के साथ 'एवं' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिए स्याद्वादी सिद्धांत का समर्थक विद्वान् किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए यही कहेगा कि अमुक अपेक्षा से ही ऐसा होता है।

शंकराचार्य ने जो शंका व्यक्त की है कि एक ही पदार्थ में नित्य और अनित्य धर्म नहीं रह सकते हैं उसका उत्तर ऊपर के उदाहरण में दिया जा चुका है। अर्थात् जैसे एक ही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है; इसी प्रकार एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्म अपेक्षाभेद से रहते हैं। उदाहरण के लिए केन्द्र में बैठा हुआ व्यक्ति उसके चारों ओर खड़े हुए व्यक्तियों के अपेक्षाभेद से भिन्न-भिन्न दिशाओं में बैठा हुआ सिद्ध होता है। उसी प्रकार पदार्थ के नित्यानित्य धर्मों में कोई निरोध नहीं आने पाता। छोटी और बड़ी वस्तुओं का छोटापन और बड़ापन अपेक्षाभेद से है।

निष्कर्ष

स्याद्वाद का सिद्धान्त किसी अनाधारित कल्पना पर नहीं टिका हुआ है। वह बुद्धि-सम्मत और जीवन के लिए व्यवस्थित सिद्धान्त है। शंकर आदि वेदान्तियों ने 'है', और 'नहीं भी है' इसके मूल स्वरूप को यथार्थ रूप में नहीं ग्रहण किया है; और इसीलिए उसको संदेहवाद तथा संशयवाद की कोटि में रखा है। किन्तु उस पर गंभीर विचार करने पर वह इतना ही सच्चा लगता है जैसे, दो और दो को मिलाकर चार होता है।

इसलिए स्याद्वाद का सिद्धान्त न तो संशयवाद है और न अपूर्ण सत्य या असत्य ही है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

स्याद्वाद के प्रसंग में 'सापेक्ष' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है। कुछ लोगों का कथन है कि स्याद्वाद की आधारभूमि आध्यात्मिक है और सापेक्षवाद की भौतिक। किन्तु इन दोनों सिद्धान्तों के प्रतिपादक एवं अध्येता विद्वानों का कहना है कि स्याद्वाद का जितना सम्बन्ध आत्मा से है उतना ही पुद्गल (भूत) से भी। इन दोनों के संबंध में उसके जो निष्कर्ष हैं उनसे स्पष्टतया यह सिद्ध हो जाता है कि स्याद्वाद का जितना सम्बन्ध अध्यात्म से है उतना ही भौतिक वस्तु से भी।

सापेक्ष्य और स्याद्वाद के जो मूल उद्देश्य हैं उनका सम्बन्ध परमाणु से ब्रह्माण्ड तक के भौतिक (पुद्‌गल) पदार्थों में समान रूप से है। इसी दृष्टि से इन दोनों वादों का अटूट सम्बन्ध है। इन दोनों वादों के विकास के एक महान् लाभ यह है कि दर्शन और विज्ञान के बीच जो खाईं बन गयी है वह पट जायगी। साथ ही स्याद्वाद को जो संशय की कोटि में रखा जा रहा है उसको भी सापेक्षवाद दूर करेगा। तब 'प्रत्येक निष्पक्ष विचारक को लगेगा कि स्याद्वाद ने दर्शन के क्षेत्र में विजय प्राप्त कर अब वैज्ञानिक जगत् में विजय पाने के लिये सापेक्षवाद के रूप में जन्म लिया है।'

पुद्‌गल

परमाणुवाद को समझने के लिए पुद्‌गल का समझना आवश्यक है। जैन दर्शन में समस्त द्रव्यों को छह भागों में विभक्त किया गया है, जिनके नाम हैं : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और कालास्तिकाय। इन छहों द्रव्यों में पुद्‌गलास्तिकाय द्रव्य का भी एक स्थान है।

जैन दर्शन में इस 'पुद्‌गल' शब्द को नितान्त पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त किया गया है। सामान्यतः उसकी निरुक्ति इस प्रकार हो सकती है कि जो पूर्ण रूप से गल जाय' (**पूरणात् पुत्, गलयतीति गलः**) वह 'पुद्‌गल' है। जैन आगमों में उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि उसमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श हैं; वह रूपी है, अजीव है, नित्य है, अवस्थित है और लोकद्रव्य है। इस दृष्टि से अवगत होता है कि जिस द्रव्य का स्वभाव वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से युक्त हो वह पुद्‌गल द्रव्य है। इसका यह आशय हुआ कि जो आँखों से देखा जा सके, कानों से सुना जा सके, जिसका जिह्वा से स्वाद लिया जा सके, जिसको सूँघा जा सके और जिसको स्पर्श करने से जिसके स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणों का पता लग सके वह द्रव्य 'पुद्‌गल' है।

पुद्‌गल के भेद प्रभेद

जैन ग्रंथों में इस लोकद्रव्य पुद्‌गल पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है। उसको अनेक दृष्टियों से अनेक भागों में वर्गीकृत किया गया है। सामान्यतः उसको चार प्रमुख भागों में विभक्त किया गया है : स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु। मूर्त द्रव्यों की एक इकाई का नाम ही 'स्कन्ध' है। उस एक इकाई में बुद्धिकल्पित एक भाग को 'स्कन्ध देश' कहा जाता है। वस्तु का वह अगिभागी अंश, जो इतना सूक्ष्मतम है कि जिसके फिर अंश नहीं बन सकते 'स्कन्ध प्रदेश' कहलाता है। स्कन्ध का जो अन्तिम भाग किसी भी प्रकार विभाजित नहीं हो सकता है, 'परमाणु' कहलाता है।

इन चार भेदों के अतिरिक्त कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने 'नियमसार' ग्रन्थ में पुद्‌गल के छह भेद किये हैं : अतिस्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म। श्री मुनि नागराज जी ने अपनी पुस्तिका में, आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा निर्धारित पुद्‌गल के उक्त छहों प्रभेदों को हिन्दी में इस प्रकार समझाया है : "जिस पुद्‌गल स्कन्ध का छेदन-भेदन हो सके वह 'अतिस्थूल'; जैसे भूमि, पर्वत आदि; जिस पुद्‌गल

स्कन्ध का छेदन-भेदन तो न हो सके किन्तु जो अन्यत्र वहन हो सके उसको 'स्थूल'; जैसे घी, तेल, जल; जिस पुद्गल स्कन्ध का न तो छेदन-भेदन हो सके और जिसको न तो अन्यत्र वहन किया जा सके उसको 'स्थूल-सूक्ष्म'; जैसे छाया, ताप; नेत्र को छोड़कर अन्य चार इन्द्रियों का विषयभूत पुद्गल स्कन्ध 'सूक्ष्म-स्थूल'; जैसे वायु तथा अन्य प्रकार की गैसें; जो अतीन्द्रिय पुद्गल स्कन्ध हैं उन्हें सूक्ष्म; जैसे मनोवर्गणा, भाषा-वर्गजा, वायुवर्गणा आदि; और जो पुद्गल स्कन्ध अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्कन्धों से भी सूक्ष्म हों उन्हें 'अतिसूक्ष्म' कहते हैं; जैसे द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि।"

इनके अतिरिक्त 'भगवतीशतक' में जीव और पुद्गल के पारस्परिक सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर उसके तीन भेद किये गये हैं : प्रयोग, मिश्र और विस्रसा। ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा गृहीत हैं 'प्रयोग परिणत'; जैसे इन्द्रियाँ, शरीर, रक्त, माँस आदि। ऐसे पुद्गल, जो जीव द्वारा परिणत होकर फिर मुक्त हो चुके हैं, 'मिश्र परिणत'; जैसे कटे हुए केश, नाखून तथा मल-मूत्र आदि। ऐसे पुद्गल, जिनमें जीव का सम्बन्ध नहीं तथा स्वयं परिणत हैं उन्हें 'विश्रसा परिणत' कहा जाता है; जैसे बादल, इन्द्र-धनुष आदि।

अनेकान्तवाद या विभज्यवाद

जैन दर्शन के क्षेत्र में 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त भगवान् महावीर की नयी देन है। यद्यपि महावीर स्वामी ने तत्कालीन विचारकों द्वारा उठाये गये प्रश्नों का यथोचित समाधान भी किया; किन्तु वे सभी प्रश्न गौण थे। उस युग के दार्शनिकों की सब से बड़ी समस्या यह थी कि जीव और परमाणु का अवस्थाभेद की दृष्टि से पार-स्परिक सम्बन्ध क्या है। संक्षेप में यही अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का मूल कारण है और उसका पहले-पहल सर्वसम्मत समाधान महावीर स्वामी ने किया।

बुद्ध के समक्ष तत्कालीन विचारकों ने तीन प्रश्न रखे : (१) संसार नित्य है या अनित्य, वह सान्त है या अनन्त ? (२) आत्मा तथा शरीर में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? और (३) मृत्यु के बाद जीव की क्या स्थिति है ? बुद्ध के समक्ष ये तीन प्रश्न थे, जिनका उत्तर उन्होंने नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने जो मार्ग चुना था उसकी दृष्टि से इन प्रश्नों का कोई सम्बन्ध नहीं था। इन प्रश्नों का उत्तर देने में भगवान् तथागत की सैद्धान्तिक मान्यताओं का खण्डन होता था। यदि वे संसार को नित्य बताते हैं तो उन्हें उपनिषदों का 'शाश्वतवाद' स्वीकार करना पड़ता और यदि उसको अनित्य बताते हैं तो उन्हें चार्वाक का 'उच्छेदवाद' स्वीकार करना पड़ता। इसी प्रकार के अन्य प्रश्न भी थे। बुद्ध न तो शाश्वतवाद के पक्षपाती थे और न उच्छेदवाद के ही। इसलिए उन्होंने उक्त प्रश्नों पर अपना कोई अभिमत न देकर उन्हें 'अव्याकृत', 'स्थापित' तथा 'प्रतिक्षिप्त' कहकर टाल दिया। उन्होंने कहा, 'जगत् नित्य हो या अनित्य, जन्म और मरण तो है ही। यही जन्म-मरण मेरी दृष्टि का विषय है। यही मेरा 'अव्याकृत' है, और इसी से तुम्हारा कल्याण होने वाला है।'

महावीर स्वामी के समक्ष भी वे ही प्रश्न थे। उनको वे तथागत की भाँति टाल नहीं सकते थे। उन प्रश्नों पर विभिन्न विचारक जो अलग-अलग राय दे चुके थे, उनकी परीक्षा करके महावीर ने उनके स्वीकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पक्षों का समन्वय किया। यह समन्वय क्या था ? यह समन्वय था, पहले सभी वादों पर जड़-मूल से गंभीरतापूर्वक विचार करना और उनके सम्बन्ध में अपने द्वारा निकाले गये निष्कर्षों को जैनागमों के आधार पर प्रस्तुत करना।

भगवान् तथागत ने 'अध्याकृत' कहकर जिन प्रश्नों को टाल दिया था, भगवान् महावीर ने उसका उत्तर इस प्रकार दिया :

१. जगत् सान्त भी है और अनन्त भी। अपेक्षाभेद से लोक सान्त है, क्योंकि संख्या में एक है; किन्तु पर्यायों (भावों) की दृष्टि से वह अनन्त भी है, क्योंकि लोक द्रव्य के पर्याय अनन्त हैं। लोक अनन्त है, इसलिए वह शाश्वत (नित्य) है क्योंकि तीनों कालों में उसका अस्तित्व है। लोक सान्त होने से अनित्य है, क्योंकि उसकी भी एक परिधि है और वह आकाश में नहीं है।

२. इसी प्रकार महावीर स्वामी के मत से आत्मा, शरीर से अभिन्न भी है और भिन्न भी। जिस अवस्था में शरीर, आत्मा से भिन्न है उस अवस्था में शरीर रूपि और अचेतन है; किन्तु जिस अवस्था में शरीर, आत्मा से अभिन्न है उस अवस्था में शरीर अरूपि और सचेतन है।

३. जीव की मरणोत्तर अवस्था के सम्बन्ध में महावीर स्वामी ने कहा है जीव (अर्हत) की दो अवस्थायें हैं: एक तो शुद्धावस्था और दूसरी अशुद्धावस्था। शुद्धावस्था को प्राप्त जीव अशुद्धावस्था को नहीं लौटता। इसलिए जीव का मरणोत्तर अवस्था में भी अस्तित्व बना रहता है, क्योंकि जीव द्रव्य नष्ट ही नहीं होता। किन्तु मनुष्य का रूप धारण करने वाला जो कर्मकृत जीव है वह नष्ट हो जाता है। अतः जीव शुद्धावस्था या सिद्धावस्था में तो अमर (सत्य) है और संसारावस्था या कर्मावस्था में मरणशील। इसी प्रकार द्रव्य तथा क्षेत्र की अपेक्षा से जीव सान्त है; किन्तु काल तथा भाव (पर्याय) की अपेक्षा से अनन्त है।

भगवान् महावीर ने अपेक्षाभेद से द्रव्य के एकत्व और अनेकत्व के सम्बन्ध में जो समन्वयवादी विचार व्यक्त किये हैं, जैनागमों में उनका उल्लेख इसी प्रकार किया गया है। महावीर स्वामी के बाद आचार्य उमास्वाति तथा आचार्य कुन्दकुन्द आदि ने भी 'अनेकान्तवाद' पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। जैनों के परवर्ती साहित्य में अनेकान्तवाद पर जो विश्लेषण हुआ है वह बड़े महत्त्व का है।

इस दृष्टि से अनेकान्तवाद की सम्यक् जानकारी के लिए उसका प्रतियोगी शब्द 'एकान्त' का आशय जान लेना आवश्यक है। जैन दर्शन की दृष्टि से पदार्थ में अनेक धर्मों को स्वीकार किया गया है। उसका 'स्याद्वाद' और 'नयवाद' यही बताता है। इसी पर 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त टिका हुआ है।

जैन विचारकों ने एकान्त और अनेकान्त को दो प्रकार से माना है : सम्यक् और मिथ्या। एक पदार्थ में विद्यमान अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को प्रधान

मानकर दूसरे धर्मों का जब निषेध नहीं किया जाता तब उसको 'सम्यक् एकान्त' कहते हैं। इसी प्रकार किसी पदार्थ के एक धर्म को स्वीकार कर जब उसके अन्य धर्मों का निषेध किया जाता है तब वह 'मिथ्या एकान्त' कहलाता है।

एकान्त के उक्त दो प्रकारों की ही भाँति अनेकान्त के भी दो प्रकार हैं। उनमें 'सम्यक् अनेकान्त' उसको कहते हैं, जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों को अस्वीकार किये बिना ही एक वस्तु से अनेक धर्मों का निरूपण किया जाय। इसके विपरीत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असम्मत होकर एक वस्तु में अनेक धर्मों की कल्पना करना 'मिथ्या अनेकान्त' कहलाता है।

ऊपर एकान्त और अनेकान्त के प्रकारों की जो परिभाषा दी गयी है उसके अनुसार 'सम्यक् एकान्त' को 'नय' और 'मिथ्या एकान्त' को 'नयाभास' कहा जाता है। इसी प्रकार 'सम्यक् अनेकान्त' को 'प्रमाण' तथा 'मिथ्या अनेकान्त' को 'प्रमाणाभास' कहा जाता है। जैन दर्शन में 'सम्यक् एकान्त' और 'सम्यक् अनेकान्त' को माना गया है, 'मिथ्या एकान्त' और 'मिथ्या अनेकान्त' को नहीं।

जैनों के 'अनेकान्त' को कुछ आस्तिक दर्शनों में छल की संज्ञा दी गयी है; किन्तु यह ठीक नहीं है। छल के सिद्धान्त में एक ही शब्द के दो अर्थ माने जाते हैं, जो अनेकान्तवाद की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। एक पदार्थ को एक दृष्टि से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार करना और उसी को दूसरी दृष्टि (अपेक्षा) से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार न करना—एक शब्द के दो अर्थ नहीं हैं, जैसा कि छल में होता है। वह तो व्यापक सिद्धान्तों एवं विचारों पर आधारित है। अतः अनेकान्तवाद को छल नहीं कहा जा सकता है।

अनेकान्तवाद, संशय का हेतु भी नहीं है, क्योंकि सप्तभंगी नय में समझाया गया है, कि प्रत्येक पदार्थ में स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप के विशेषों की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद में संशय की कोई गुंजाइश नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि हम चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय और मीमांसा आदि दर्शनों के तात्त्विक विवेचन तथा सैद्धान्तिक स्वरूप को देखते हैं तो हमें विश्वास होता है कि जैनों का अनेकान्तवाद कुछ ऐसा गढ़ा हुआ सिद्धान्त नहीं है, जिसमें जैन दर्शन की वैयक्तिक दृष्टि का आभास मिलता हो। वह तो लोकदृष्टि से जितना उपयोगी है, विचार की दृष्टि से भी उतना ही उपयोगी है।

परमाणुवाद

आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व जैन विचारक 'परमाणुवाद' पर गंभीरता से विचार कर चुके थे। आज समस्त विश्व को परमाणुवाद के द्वारा जो सर्वथा नयी दिशा मिली है उससे व्यक्ति-व्यक्ति परिचित है। विज्ञान की दिशा में परमाणुवाद की प्रगति ने आज असंभव बातों को भी संभव बना करके रख दिया है। इस दृष्टि से आज के

वैज्ञानिकों ने परमाणुओं के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए शेष नहीं रखा है; फिर भी यहाँ हम परमाणुवाद पर उस दृष्टि से विचार करेंगे, जो जैन विचारकों ने किया था।

पुद्‌गल के विवेचन में हम संकेत कर चुके हैं कि उसके प्रमुख भेदों में 'परमाणु' भी एक है। परमाणु अविभाज्य है (अविभाज्यः परमाणुः)। स्कन्ध (द्रव्य की इकाई) का जो अन्तिम भाग विभाजित नहीं हो सकता है वही 'परमाणु' कहा जाता है।

उसकी परिभाषा करते हुए तथा 'भगवतीशतक' में लिखा गया है कि वह वस्तुमात्र का अन्तिम कारण है। वह सूक्ष्मतम है। वह भूत में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। उसमें एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श हैं। वह किसी पार्थिव साधन (कार्यलिंग) से नहीं देखा जा सकता है। उसके स्वरूप को तो केवल ज्ञानी ही देख सकते हैं।

कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एको रस गन्धं वर्णौ द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

परमाणु अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है। उसको आग से नहीं जलाया जा सकता और न ही पानी से गलाया जा सकता है। उसकी न तो कोई लम्बाई है, न चौड़ाई और न गहराई ही। वह इतना सूक्ष्म है, जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। चक्षु, घ्राण, रसना और त्वचा आदि विषयों के रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि चार गुण उसमें विद्यमान रहते हैं। किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द गुण उसमें नहीं मिलता; क्योंकि शब्द तो स्कन्धों का ध्वनिरूप परिणाम है। ये ही उसके मूलभूत गुण हैं।

परमाणु के भेद प्रभेद

परमाणु के प्रमुख चार भेद बताये गये हैं : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनमें भी भाव परमाणु के चार प्रकार कहे गये हैं। भाव का अर्थ है गुण। वे चार भाव हैं : वर्ण, गंध, रस और स्पर्श। इनके अतिरिक्त परमाणु के १६ अवान्तर भेद बताये गये हैं, जिनके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

जीवात्मवाद

जैन दर्शन में शरीर से आत्मा को अलग एवं स्वतंत्र माना गया है। भगवान् महावीर की वाणी में धर्माचरण, अर्थात् संयम, तप, जाप, स्मरण, स्वाध्याय और चिन्तन आदि का अन्तिम प्रयोजन आत्मतत्त्व की स्वतंत्र सत्ता में स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन के इस शरीर भिन्न आत्मतत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करने से पूर्व, आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास न करने वाले भौतिकवादी विचारकों का मन्तव्य जान लेना आवश्यक है।

भौतिकवादियों की युक्तियाँ

भौतिकवादी विचारक चार्वाक का कथन है कि आत्मा, शरीर भिन्न, कोई अलग तत्त्व नहीं है। उसकी गणना चार महाभूतों के अन्तर्गत हो जाती है। वे चार

महाभूत या महातत्त्व हैं : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु । इस सम्पूर्ण जगत् के संचालन के लिए चार महाभूतों को एकमात्र कारण चार्वाक आदि जड़वादियों ने स्वीकार किया है । उनकी दृष्टि में पाँच महाभूतों के अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है ।

भौतिकवादियों की युक्तियों का खण्डन

भौतिकवादियों ने ऊपर जिन चार पदार्थों या महाभूतों के अन्तर्गत ही आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया है, जैन दर्शन की दृष्टि से वह उचित नहीं है । क्योंकि उन महाभूतों में चेतनतत्त्व का अभाव है । इसलिए स्पष्ट है कि चेतनहीन महाभूतों से सचेतन आत्मा का न तो अन्तर्भाव हो सकता है और न उत्पत्ति ही ।

यदि शरीर की ही भाँति आत्मा भी महाभूतों से उत्पन्न है तो इसका उत्तर क्या हो सकता है कि जब मनुष्य निद्रा में होता है या उसकी मृत्यु हो जाती है उस समय महाभूतों के वर्तमान रहने पर भी उसमें सुनने-बोलने की शक्ति नहीं रहती है । इस दृष्टि से स्पष्ट होता है कि आत्मा, शरीर से अलग है । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि आत्मा एक निर्णेता है और वह शरीर से भिन्न है ।

इन युक्तियों के अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टि से कहा जाता है कि 'यह मेरी आँख है', 'यह मेरा शरीर है' । इससे यह प्रमाणित होता है कि 'मैं', 'मेरा' कहने वाली कोई स्वतंत्र सत्ता शरीर में विद्यमान है । अतः सिद्ध है कि महाभूतों से अत्मा उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उनके रहने पर भी चेतना नहीं दिखाई देती है ।

मति और चेतना में अन्तर है । जैसे वाष्प में धक्का देने की शक्ति तो है; किन्तु एक इंजीनियर या ड्राइवर के बिना उस धक्का देने वाली शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं । इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि इंजिनीयर में रहने वाली चेतना-शक्ति ही आत्मशक्ति है, न कि इंजिन में रहने वाली भाप की गति को आत्मशक्ति कहा जाएगा । इन सब का यह निष्कर्ष है कि आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है और उसी के माध्यम से जन्मान्तर की कल्पना तर्कसंगत प्रतीत होती है ।

जीवात्मवाद की सिद्धि

वैज्ञानिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि संसार में अनेक प्रकार के ऐसे पदार्थ हैं, जो न तो इन्द्रियों से दृष्टिगोचर होते हैं और जिनको न तो स्पर्श किया जा सकता है; किन्तु वे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है । आत्मा ऐसा ही पदार्थ है । उसको न तो देखा जा सकता है और न छुआ ही जा सकता है; किन्तु उसका अस्तित्व है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं । वह चेतन है और उसका अस्तित्व जीव के द्वारा 'मैं' तथा 'हूँ' के रूप में अहर्निश प्रमाणित होता है ।

कर्मों की दृष्टि से आत्मा और शरीर की पृथक्ता स्पष्ट हो जाती है । अनादि काल से आत्मा के साथ कर्म बँधे हुए हैं और इसलिए पुनर्जन्म तथा परलोक का सिद्धान्त अभ्रान्त तथा अव्यर्थ सिद्ध होता है । प्रत्येक प्राणी के शुभ और अशुभ कर्म आत्मा के साथ जुड़कर प्राणी के जन्म-जन्मान्तरों तक चलते हैं । जहाँ तक कर्मफल भोगने शेष

रहते हैं वहाँ तक आत्मा का उनसे सम्बन्ध बना रहता है और जीव उनका अनुभव करता रहता है। कर्मफलों की अवधि समाप्त हो जाने पर आत्मा स्वतंत्र हो जाता है। जीव की यह अवस्था जीवन्मुक्त कही जाती है।

जीव और आत्मा की अनन्तता

जैन दर्शन में जीवों की दो श्रेणियाँ मानी गयी हैं : संसारी और मुक्त। संसारी जीव की अपरावस्था ही मुक्त जीव है। यह संसारी जीव भी दो प्रकार का होता है : त्रस और स्थावर। जिनमें सुख प्राप्त करने और दुःख से विमुक्त होने की प्रवृत्ति है वे 'त्रस' और जिनमें यह प्रवृत्ति नहीं है वे 'स्थावर' कहलाते हैं।

जैन दर्शन की दृष्टि से द्रव्यरूप में जीव अनन्त हैं; किन्तु ज्ञानरूप में एक है। इसलिए द्रव्यरूप से प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा भिन्न-भिन्न है और ज्ञानरूप से एक है।

आत्मा का स्वरूप

जैन मत से जो आत्मा है, वह विज्ञाता है; जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है वह आत्मा है। जानने के सामर्थ्य के द्वारा ही आत्मा की प्रतीति सिद्ध होती है। उसके स्वरूप को बताया नहीं जा सकता है।

तीर्थंकर महावीर स्वामी ने कहा है कि आत्मा मुक्त है। वह न बड़ा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मण्डलाकार है। न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है, न श्वेत है, न सुगंधिवाला है, न दुर्गंधिवाला है। न कड़वा है, न खट्टा है, न कसैला है, न मीठा है। न कठोर है, न कोमल है। न भारी है, न हल्का है। न ठण्डा है, न नर्म है, न चिकना है, न रूखा है।

उसका न तो शरीर है न पुनर्जन्म होता है। वह न तो स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक ही। उसके लिए कोई शब्द नहीं, उसका कोई रूप नहीं और उसके लिए कोई उपमा नहीं।

वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है।

परमात्मा या ईश्वर

जैनियों का परमात्मा (परम+आत्मा) या जिनेश्वर ही ईश्वर है। तीर्थंकर भी उसके लिए परमात्मा के ही रूप हैं। इसी दृष्टि से वे उनकी पूजा करते हैं।

उस परमात्मा में मुख्य चार गुण माने गये हैं : १. अनन्त ज्ञान, २. अनन्त दर्शन, ३. अनन्त वीर्य और ४. अनन्त सुख।

वह परमात्मा अपने ही अनन्त गुणों में विराजमान है। उसको इस संसार की किसी भी वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं है। वह इस जगत् के नियमों तथा कार्यों से ऊपर है। पाप और पुण्य से वह अछूता है। वह न तो कर्मों का फल भोगता है और न लोगों को उनके कर्मों का फल देता है।

वह संसार का भाग्यविधाता भी नहीं है। वह क्रोध, अपमान, लोभ, हानि, भय

तथा विस्मय आदि विकारों से रहित है। वह सर्वज्ञ है, अजर, अमर है। विश्व के उत्पत्ति, विनाश आदि कार्यों से उनका कोई वास्ता नहीं है।

उसी को जैन धर्म में परम आत्मा या ईश्वर माना गया है।

पुनर्जन्म और मोक्ष

कर्म की श्रेष्ठता पर जैन धर्म में बारीकी से विचार किया गया है। वहाँ कहा गया है कि अच्छे कर्म करने चाहिए और बुरे कर्मों से अलग रहना चाहिए। अच्छे कर्मों से पुण्य और बुरे कर्मों से पाप होता है। पुण्य के संचय से सुख और पाप के संचय से दुःख होता है। जैन धर्म का यह विश्वास है कि अच्छे कर्मों के करने से अच्छे वंश में जन्म मिलता है।

जैनी यह मानते हैं कि जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। अपने द्वारा कमाये गये कर्मों के अनुसार ही उसको दूसरा जन्म मिलता है। जैसा कि वैदिक दर्शनों में भी माना गया है कि पुण्य से स्वर्ग और पाप से नरक मिलता है। जैनी लोग भी यही मानते हैं। उनका कहना है कि जब पुण्य और पाप समान होते हैं या पाप से पुण्य अधिक होता है तब जीव को अच्छी गति मिलती है। ब्राह्मण तथा गाय की योनि में जन्म लेना अच्छा माना गया है।

पुण्य कर्मों के निरन्तर करते जाने से 'सम्यक् दृष्टि' प्राप्त होती है। उसके बाद मनुष्य पाप-पुण्य दोनों पर विजय प्राप्त करके जिन (देवता) हो जाता है। जिन होने के बाद शेष जीवन धर्म का प्रचार करते रहने से वह तीर्थंकर कहलाता है। तीर्थंकर महात्माओं की सभी इच्छाएँ अपने वश में होती हैं। वे ही मोक्ष के अधिकारी हैं।

मोक्ष का मूल कारण ज्ञान है। 'जो एक को जानता है वह सब को जानता है; और जो सबको जानता है, वह एक को भी जानता है' :

जे एगं जाणइ से सव्व जाणइ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥

यही मोक्ष का मूल कारण 'सम्यक् ज्ञान' है।

आचार दर्शन

चार कषाय

ये कषाय मनुष्य को बुराई की ओर ले जाने वाले, सुख में दुःख बन कर आने वाले और तपस्या में रोग का रूप धारण करने वाले सबसे बड़े पाप हैं। इनको दूर करना परम आवश्यक है। कहा भी है :

'जिस प्रकार नील चढ़े कपड़े पर कसूबे का रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार जिसकी आत्मा कषायों से कलुषित हो चुकी है उसके अन्तःकरण में धर्म की बात नहीं उतरती।'

जैसे दावानल से वन के तमाम वृक्ष राख हो जाते हैं उसी प्रकार कषायों के वश

में हुआ जीव अपने जन्मान्तर के कार्यों को नष्ट कर देता है। इसलिए धर्म की रक्षा के लिए कषायों का उन्मूलन आवश्यक बताया गया है।

ये कषाय संख्या में चार हैं १. क्रोध, २. मान, ३. माया और ४. लोभ। इसका स्वरूप, इनसे होने वाला अनिष्ट और इन पर विजय पाने के लिए संयम की आवश्यकता है। यह संयम, सदाचार से प्राप्त होता है। अतः जैन धर्म में आचार शास्त्र या आचार दर्शन का मुख्य स्थान है।

सदाचार

शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि दुर्व्यसनों का परित्याग करने के लिए जो आचरण किया जाता है उसी को 'सदाचार', 'संयम' या 'सम्यक् चारित्र्य' कहा जाता है। पापकर्मों का परित्याग और पुण्यकर्मों का आचरण ही सदाचार है।

हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, उद्दण्डता (क्रोध) का व्यवहार करना और माँगना—ये सभी पापकर्म हैं। इनसे दूर रहना चाहिए। इनके विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध और अपरिग्रह ये पुण्यकर्म हैं। ये सदाचार हैं। इनसे चरित्र का निर्माण होता है।

अहिंसा : राग, द्वेष आदि विकारों या व्यसनों की उत्पत्ति को हिंसा और उनके दमन को अहिंसा कहा गया है। स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर, किसी भी जीव की मन, वाणी तथा शरीर से हिंसा न करना, न कराना तथा करते हुए का समर्थन न करना ही अहिंसा का परिपालन करना है।

सत्य : असत्य (झूठ) न बोलना ही 'सत्य' है। मन, वाणी और शरीर से क्रोध, लोभ, मोह या भय से अथवा मजाक में कभी झूठ का आचरण न करना, न कराना और न करते हुए का समर्थन करना सत्य का आचरण है।

अस्तेय : दूसरे की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई या बिना दी हुई वस्तु को ले लेना; दूसरे को ले लेने की राय देना या उसका समर्थन करना, सब चोरी है। इससे विमुख रहना 'अस्तेय' है।

अक्रोध : क्रोध न करना ही 'अक्रोध' है। मन, वाणी तथा शरीर से किसी जीव पर क्रोध न करना, न कराना और न करते हुए का अनुमोदन करना 'अक्रोध' है।

अपरिग्रह : किसी से कोई वस्तु ग्रहण न करना, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना, न कराना और न करते हुए का अनुमोदन करना 'अपरिग्रह' है।

सदाचार का आधार दया

सदाचार का आधार दया है। दया के चार रूप हैं : १. बदले की भावना न करके भलाई करना; २. दूसरे की उन्नति पर खुश होना; ३. दुखियों के लिए सहानुभूति और उनके दुःख दूर करने के लिए यत्न करना; ४. पापकर्म करने वालों के प्रति करुणा।

बारह प्रकार की भावना

जैन धर्म के आदेशानुसार प्रत्येक जैनी को इस बारह प्रकार की 'भावना' या 'अनुपेक्षा' का पालन करना चाहिए।

१. **असत्य भावना** : इस संसार में कोई अमर नहीं है। सब कुछ क्षणभंगुर है।

२. **अशरण भावना** : इस संसार में जीव का कोई सहारा नहीं है। जो जैसा कर्म करेगा उसको वैसा ही फल मिलेगा।

३. **संसृति भावना** : पूर्व जन्म में हमने अनेक तरह के दुःख भोगे हैं। अब हमें उन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये यत्न करना चाहिए।

४. **एकत्व भावना** : मैं इस संसार में अकेला ही हूँ। पुत्र-पिता आदि के ये सारे संबंध व्यर्थ हैं।

५. **अन्यत्व भावना** : संसार की सभी वस्तुएँ मुझ से भिन्न है। उनसे मेरा कोई संबंध नहीं है।

६. **अशुचि भावना** : यह शरीर बड़ा अपवित्र है। इसका अभिमान करना व्यर्थ है।

७. **आस्रव भावना** : जिनके कारण नये सत्कर्म उत्पन्न हों, ऐसी बातों को सोचने रहना चाहिए।

८. **संवर भावना** : नये कर्मों से आत्मा न बँध जाय, ऐसे उपायों को सोचते रहना चाहिए।

९. **निर्जरा भावना** : कर्मों के बंधन को क्षीण करने के उपाय को सोचते रहना चाहिए।

१०. **लोक भावना** : यह संसार किन-किन द्रव्यों से बना है तथा इसके तत्त्व क्या-क्या हैं, इसका चिन्तन करते रहना चाहिए।

११. **बोधि-दुर्लभ भावना** : सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र, ये तीन रत्न दुर्लभ हैं। इनके अतिरिक्त संसार की सभी वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं, ऐसा सोचते रहना चाहिए।

१२. **धर्म भावना** : ये तीन रत्न ही संसार के सभी प्रकार के सुखों को देने वाले धर्म हैं, ऐसा विचार करते रहना चाहिए।

कर्मों का परित्याग

जीव को अपने किये हुए भले-बुरे कर्म भोगने पड़ते हैं। चाहे अपना कुटुम्ब ही क्यों न हो; उनको भोगने के लिए हाथ नहीं बँटाता। सब प्रकार के जीव कर्म के अधीन हैं। कर्म किसी को भी क्षमा नहीं करता।

अपने इस जीवन के लिए; यश, मान, सत्कार के लिए; जन्म, मृत्यु, दुःख से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अनेक प्रकार की क्रियाओं में प्रवृत्त होना पड़ता है।

मैंने किया, मैंने करवाया, करते हुए दूसरे का अनुमोदन किया; मैं करता हूँ,

करवाता हूँ, करते हुए का अनुमोदन करता हूँ; मैं करूँगा, मैं करवाऊँगा, करते हुए का अनुमोदन करूँगा—संसार में समस्त कार्यों के इतने ही रूप होते हैं। इनसे अधिक नहीं।

यह दिखाई देने वाली सारी लीला कर्म की है। प्रत्येक जीव मोह के नशे में माता, पिता आदि के संबंधों को सच्चा मान कर अनन्तकाल से दुःखों के सागर में गोता लगाता चला आ रहा है; और आगे के लिए उसी नरककुण्ड में जाने के लिए कर्म कर रहा है। जीव की यह सबसे बड़ी भ्रांति है, और इसी भ्रांति के कारण वह अपने वास्तविक कल्याण को नहीं पहचान पा रहा है।

जैनों की दृष्टि से कर्म ही भ्रांति है। अन्य दर्शनों में जिसको माया, प्रपंच, प्रारब्ध, संचित तथा अदृश्य आदि भिन्न-भिन्न नामों के कहा गया है वह कर्म ही है। इसी के कारण धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने की भ्रांति होती है।

इस भ्रांति का नाश करने के लिए भगवान् ने कहा है 'हे मनुष्यो, तुम पाप-कर्मों से मुक्त हो जाओ (**पुरिसो रम पापकम्मणा**)।' यह जीव कर्मों के वश में है। इस-लिए प्रतिक्षण वह दुःखी है। कभी-कभी जीव दुःखी को दुःख नहीं समझता, क्योंकि दुःखों को सहने का उसे अभ्यास हो जाता है। ये दुःख यदि ज्ञानपूर्वक वैराग्य से सहे जायँ तो कल्याण हो सकता है।

कर्मों की भट्टी में चढ़ा हुआ जीव सुख-दुःख को उल्टा करके देखता है। उदा-हरण के लिए माँगना एक सामाजिक बुराई है; किन्तु साधुओं के लिए वही उचित बताया गया है। इसी प्रकार भूमि पर सोना दरिद्रता का लक्षण है। साधु के लिए भूमिशयन ही उचित बताया गया है। संसार में जिनको सुख कहा जाता है, वैराग्य में वे ही दुःख हैं। वास्तविक सुख वह है, जिसका अन्त भी सुख ही हो। इसी प्रकार दुःख वही है, जिसका अन्त भी दुःख ही हो। जिस दुःख का अन्त सुख में है वही वास्तविक सुख है। इसी प्रकार जिस सुख का अन्त दुःख में हो वही वास्तविक दुःख है।

यह जानते हुए भी कि मनुष्य निराधार है, वह प्रशंसा, सम्मान, सत्कार आदि के लिए नित्य प्रति पृथ्वी में रहनेवाले (पृथ्वीकाय) अनन्त जीवों की हिंसा करता है; दूसरों से करवाता है और करने वालों का समर्थन करता है।

कर्म के स्वरूप को जानकर, कर्म की जड़ हिंसा को मानकर और सब उपायों द्वारा राग-द्वेष से दूर हटकर 'संयम' का अभ्यास करना चाहिए।

'मैंने आसक्त होकर बड़े पापकर्म किये हैं' ऐसा सोचकर सत्य में दृढ़ विश्वास करना चाहिए। सत्य में जिसका अडिग विश्वास है वह सभी प्रकार के पापकर्मों का विनाश कर डालता है। इसलिए महावीर स्वामी ने कहा है 'हे आर्य, संसार के जन्म और वार्धक्य को देख। विचार कर जान कि सब प्राणियों को सुख अधिक प्रिय है। जो जानकर (तत्त्वज्ञ) लोग हैं वे सत्य में आस्था रखते हुए पापकर्मों को नहीं करते।' जो सत्यवादी पुरुष है वह अपना कल्याण स्वयं देख लेता है।

साँप की केंचुली से कर्मों की तुलना करते हुए एक गाथा में कहा गया है कि

'हे भव्य जीवो, केंचुली त्याग देने योग्य होती है। इसलिए सर्प उसका त्याग कर देते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनकी दुर्दशा होती है।'

इसी तरह कर्म भी त्याग देने योग्य हैं। जितने भी क्रोध, मद, माया और लोभ आदि कषाय (नशे) हैं, मुनि लोग उनको कर्म का कारण समझ कर त्याग देते हैं। कर्म और कषाय का अन्वय-व्यतिरेक संबंध है। अर्थात् कषायों के होने पर कर्म होते हैं और कषायों के नष्ट होने पर कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। 'कारण नहीं होने से कार्य नहीं होता' ऐसा विचार कर मुनि लोग गोत्र, जाति, कुल और रूप आदि के मद से उन्मत्त नहीं होते।

विषय वासनाओं का परित्याग

एक गाथा में कहा गया है 'हे भव्य जीवों, यदि तुम इस संसार की पीड़ाओं से घबरा गये हो, यदि जन्म, वार्धक्य तथा मृत्यु के दुःख से तुम्हारा मन उद्विग्न हो गया है, और यदि तुम्हारी इच्छा इस संसार रूपी वन को छोड़ कर मुक्तिमंदिर में जाने की है तो तुम्हें चाहिए कि विषयरूपी विषवृक्ष के नीचे एक क्षण भी न रुको।'

इन्द्रियों का विषयों में रमण करना ही इस संसार का मूल कारण है। विषयों की इच्छा करनेवाला व्यक्ति प्रमादी हो जाता है और माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, संपत्ति आदि के लोभ, मोह में पड़ा हुआ वह चिन्ता के झूले में झूलता रहता है। ऐसा व्यक्ति समय-असमय का ध्यान रखे बिना लूट-खसोट करता रहता है।

यह शरीर नाशवान् है। फिर भी मनुष्य प्रमादवश 'जो किसी ने नहीं किया' ऐसा करने का दंभ भरता रहता है। किन्तु जो बुद्धिमान होते हैं वे विषयों से विमुख होकर धर्म में मन लगाते हैं। जो व्यक्ति बिना किसी प्रकार का लोभ किये साधु का जीवन धारण कर संयम का पालन करता है वही वास्तव में सब कुछ देखता और जानता है।

मनुष्य हिंसा इसलिए करता है कि वह अपने को सब में सब प्रकार से बड़ा बनाये रखे। या वह भय से, या पाप से अथवा किसी आशा से हिंसा करता है। ये सभी व्यसन हैं। बुद्धिमान् मनुष्य को इनसे दूर रहना चाहिए।

ये रंग-विरंगे कपड़े, ये मणि-कुण्डल और सुवर्ण के आभूषण; ये स्त्री, पुत्र आदि सभी तो विषय हैं। मनुष्य को उलझा देने वाले हैं। इनमें आसक्त रहने वाले व्यक्ति को तप, दम, सियम आदि कुछ नहीं दिखायी देते।

जिस पुरुष को शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इन विषयों की जानकारी हो गयी है वही आत्मज्ञानी, वेदज्ञ, धर्मज्ञ और ब्रह्मज्ञ है।

जो पुरुष शब्दादि विषयों की इच्छा से उत्पन्न होने वाली हिंसा को जानता है वह संयम को भी जानता है; और जो संयम को जानता है वह शब्दादि विषयों से उत्पन्न होने वाली हिंसा को भी जानता है।

अहिंसा का स्वरूप

जैन धर्म का अहिंसाव्रत जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है । प्रत्येक संसारी व्यक्ति और यतिधर्म में दीक्षित विरक्ति के लिए अहिंसा का परिपालन करना पहला आवश्यक कर्तव्य है ।

यद्यपि अन्य धर्मों में भी अहिंसा के परिपालन पर बड़ा बल दिया गया है; किन्तु जैन धर्म में अहिंसा का विचार कुछ नये ढंग का है । बल्कि महावीर स्वामी का तो यहाँ तक कहना है कि अन्य धर्मों तथा शास्त्रों में हिंसा के पक्ष पर जो विचार किया गया है वह भ्रामक है ।

जैन धर्म में अपकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय आदि छह प्रकार के जीव बताये गये हैं । चींटी से लेकर हाथी तक जितने भी चेतन प्राणी हैं और राई से लेकर पर्वत तक जितने भी जड़ या अचेतन प्राणी हैं, सब को जैन धर्म में जीव माना गया है । इन अचेतन प्राणियों का स्वरूप वैसा ही है, जैसा मनुष्य आदि चेतन प्राणियों का है ।

उदाहरण के तौर पर जैसे मनुष्य पैदा होता है वैसे ही वनस्पति (पेड़-पौधे) की भी पैदाइश होती है । जैसे मनुष्य का शरीर बढ़ता है वैसे ही वनस्पतियाँ भी बढ़ती हैं । जैसे मनुष्य का शरीर काट देने से वह सूख जाता है वैसे ही वनस्पतियों को काट देने से वे कुम्हला जाती हैं । जैसे मनुष्य खाता है वैसे ही वनस्पतियाँ भी खाती हैं । जैसे मनुष्य अनित्य है वैसे ही वनस्पतियाँ भी अनित्य हैं ।

इसी भाँति पाँच प्रकार के अन्य जीवों का भी संबंध है । जब कि संसार की प्रत्येक वस्तु में प्राण है तो निश्चित ही जाने या अनजाने में निरन्तर हमारे द्वारा हिंसा होती रहती है । उन्हीं से बचे रहने के लिए महावीर स्वामी आदि तीर्थंकरों ने कुछ उपाय बताये हैं ।

इन अनेक प्रकार की हिंसाओं से बचने के लिए पहली आवश्यकता है इन्द्रियों को वश में करने की । जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, ऐसा विषयों में फँसा हुआ पुरुष हर जगह हर किसी को कष्ट पहुँचाता है । वे विषय केवल भोग वासना के ही नहीं हैं; बल्कि पूजा-अर्चना से लेकर माँस खाने तक अनन्त हैं ।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि ये हिंसाएँ हमसे अनजाने में ही हो जाती है । उसका कारण यह है कि जीव इतने सूक्ष्म भी है, जो पलक मारने से ही मर जाते हैं । इन जीवों को हम अर्थ के लिए भी मारते हैं और बिना अर्थ के लिए भी । इन सूक्ष्म जीवों की हम अनेक उद्देश्यों से हिंसा करते हैं :

१. इसने मुझे पहले कभी मारा था, अतः इसको भी मारना चाहिए, इस भावना से ।

२. यह मुझे मारता है, अतः इसको भी मैं मारता हूँ, इस भावना से ।

३. यह मुझे आगे चल कर मारेगा, अतः इसको भी अभी मारना चाहिए, इस भावना से ।

ये अनेक तरह की भावनाएँ ही हमें अनेक प्रकार की हिंसाओं को करने के लिए विवश करती हैं।

महावीर स्वामी ने जीवों की हिंसा को चोरी (**अदत्तादान**) कहा है (**अदुवा अदिन्नादाणम्**)। जो व्यक्ति अपने सुख की तरह दूसरों के मुख का ध्यान रखता है वह हिंसा के कुकर्म से बच जाता है।

इन हिंसाओं से बचने के लिए बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह उक्त सभी प्रकार की हिंसाओं का परित्याग कर दे। उसका प्रचार भी करे और उसके प्रचार करने वालों की हामी भरे।

इस लोक में जो व्यक्ति प्रयोजन के लिए या बिना प्रयोजन के लिए षट्काय (छह तरह के) जीवों की हिंसा करता है वह इन्हीं जीव-योनियों में बार-बार जन्म लेकर फिर-फिर मारा जाता है।

अहिंसा का एक मात्र रास्ता है, जिस पर चलकर सभी रास्तों का अपने आप पता लग जाता है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि वह किसी जीव की हिंसा न करे, न कराये और न हिंसा करने वाले का साथ दे।

यह संसार (**नरभव**) एक अवसर है। ऐसे अवसर को पा जाने के बाद प्रमाद नहीं करना चाहिए। दूसरे प्राणियों को अपने ही समान देखना चाहिए। किसी भी प्राणी की सब तरह की हिंसा से दूर रहना चाहिए।

मुनि धर्म या यति धर्म

मुनि

संसार सागर को तरने वाला ही 'मुनि' या 'यति' कहलाता है। उसी को 'तीर्ण', 'मुक्त' या 'विरक्त' कहा गया है (**एस ओहन्तरे मुणी, तिण्णे मुत्ते बिरए बियाहिए त्तिबेमि**)। जो प्रज्ञा (बुद्धि या ज्ञान) की आँखों से लोक के स्वरूप को अच्छी तरह देखता या जानता है वही 'मुनि' या 'यति' है।

मुनि होने के लिए ममता का परित्याग

जो जीव मुनि होना चाहता है उसको चाहिए कि पहले वह अपने कुटुम्ब के लोगों से अपना पीछा छुड़ा ले। छुड़ाने की रीति इस प्रकार है। वह कहे :

'हे इस जन के भाई-बन्धुओं, मेरा आत्मा, तुम्हारा आत्मा नहीं है—ऐसा तुम निश्चय कर जान लो। मेरे आत्मा में ज्ञान का प्रकाश हुआ है। इसलिए मेरा आत्मा अपने असली भाई-बन्धुओं से मिलने जा रहा है। हे माता-पिता, तुमने मुझे पैदा किया मेरे आत्मा को पैदा नहीं किया। इसलिए इसकी ममता छोड़ो। हे इस जन की स्त्री, तू इस आत्मा को प्रसन्न नहीं करती, इस जन को प्रसन्न करती है। अतः इस आत्मा से ममताभाव छोड़ दे। हे इस जन के पुत्र, तू इस जन से पैदा हुआ है,

इस जन के आत्मा से तेरा कोई नाता नहीं है। इसलिए इस आत्मा से ममता छोड़ दे।'

इसी प्रकार भाई, माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि से पीछा छुड़ाना चाहिए।

वैराग्य से ही मोहबंधन को काटा जा सकता है

एक गाथा में कहा गया है: 'हे भव्य जीवो, समझो, समझते क्यों नहीं? परलोक में धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है। गया समय फिर वापिस नहीं आता। बार-बार मनुष्य-जीवन मिलना कठिन है। कई वालकपन में, कई वृद्धावस्था में और कई जन्मते ही मर जाते हैं। आयु समाप्त होने पर जीवन किसी तरह नहीं टिकता। जिस प्रकार श्येन पक्षी छोटी-छोटी चिड़ियों को खा जाता है उसी प्रकार काल भी जीवों का संहार कर लेता है।'

'जो जीव माता-पिता आदि के मोह में पड़ा है, उसको अच्छी गति नहीं मिलती। वह दुर्गति को जाता है।······लोहे की जंजीरों को शरीर के बल से तोड़ा जा सकता है; किन्तु माता, पिता, पुत्र, स्त्री और बंधु रूपी पदार्थ से बनी हुई, मोह-जंजीर शरीर के बल से भी नहीं टूट पाती। उसको तोड़ने के लिए परम वैराग्य रूपी तेज कुठार की आवश्यकता है।'

इसलिए 'हे भव्य जीवो, सन्तोष को अपनाओ और मोह-ममता को छोड़ दो। थोड़े समय के सुखाभास के लिए सागर के समान दुःख को किस लिए अपने सिर लेते हो?'

'जिस कुटुम्ब के लिए हम प्रयत्न कर रहे हो वह तुम्हारे साथ चलने वाला नहीं। जो कुटुम्बी तुम्हारे साथ चलने वाले हैं उनको अपनाने के लिए यदि थोड़ा सा भी प्रयत्न करोगे तो हमेशा के लिए सुखी बन जाओगे।'

संसार दुःखमय है

१. 'हे भव्य जीवो, यह संसार, समुद्र की तरह अपार है, और प्राणियों को चौरासी लाख योनियों में भटकाने वाला है।'

२. इस संसाररूपी नाटकशाला में जीव, कभी तो ब्राह्मण का रूप धारण करता है, कभी चाण्डाल का, कभी सेवक का और कभी स्वामी का। कभी तो वह ब्रह्मा का पार्ट अदा करता है और कभी छोटा-सा कीड़ा बन जाता है।

३. यह संसारी जीव, किराये की कोठरी की तरह किस योनि में नहीं जाता और किस को छोड़ता है? वह सब में जाता है और सब को छोड़कर लौट भी जाता है।

४. नाना प्रकार के रूप रचकर यह जीव, कर्म के योग से समस्त लोकाकाश में फिरता है। बाल भर भी स्थान नहीं बचा, जहाँ जीव न गया हो। अर्थात् वह इस लोक में आकर अनन्त बार जन्म-मरण ग्रहण कर चुका है।

५. यह संसारी जीव चार प्रकार की योनियों में विभक्त है: १. नरक, २. तिर्यंच (पृथ्वीकाय), ३. मनुष्य और ४. देव। इन चारों गतियों में जीव कर्मपीड़ित और दुःखी है।

दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय

इन नाना प्रकार के सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए पुरुष को 'शीतोष्णत्याग' और 'निर्ग्रंथ अरतिरति' होने की आवश्यकता है। सर्दी-गर्मी में एक समान बने रहने वाले पुरुष को 'शीतोष्णत्यागी' और धर्म में अरुचि तथा अधर्म में रुचि पैदा करने वाले प्रसंगों को जो सहन करता है उसको 'निग्रंथ अरतिरति' कहते हैं। कितने ही कठोर, भयप्रद एवं कष्टकर परिस्थितियाँ क्यों न आ जायँ उनसे जो विचलित नहीं होता वही दुःखों को जीतने वाला है। 'गीता' में ऐसे पुरुष को 'स्थितधी' (स्थिर बुद्धि) कहा गया है। इसी को यतिव्रत कहा गया है।

यतिव्रत को धारण करने से मनुष्य समस्त सांसारिक क्लेशों से छुटकारा पा सकता है।

यति धर्म के आवश्यक कर्तव्य तथा नियम

तीर्थंकर महावीर स्वामी ने कहा है:

जो भिक्षु १. भिक्षा के समय को जानने वाला (कालज्ञ), २. भिक्षा देने वाले की शक्ति को जानने वाला (कालज्ञ), ३. भिक्षा की मात्रा को जानने वाला (मात्राज्ञ), ४. भिक्षा के अवसर को जानने वाला (क्षणज्ञ), ५. भिक्षा के नियमों को जानने वाला (विनयज्ञ), ६. अपने सिद्धान्त और दूसरे के सिद्धान्त को जानने वाला (स्व-समयज्ञ पर-समयज्ञ), ७. दूसरे के अभिप्राय को जानने वाला (भावज्ञ), ८. भोगोपभोग की सामग्री (परिग्रह) में ममता न करने वाला, ९. समय से अनुष्ठान करने वाला और १०. प्रतिज्ञा को जानने वाला होता है वह राग-द्वेष का छेदन कर मोक्ष के मार्ग से आगे बढ़ता है।

भिक्षुक को चाहिए कि वह वस्त्र, पात्र (प्रतिग्रह), कम्बल, रजोहरण (पाद-पुंछनक), स्थान (अवग्रह), शय्या (कटासन) और आसन आदि सामग्री को गृहस्थों से माँग ले।

भोजन मिल जाने पर उसमें से कितना लेना चाहिए, इसका ध्यान रखे।

भिक्षुक को चाहिए कि भिक्षा मिल जाने पर वह गर्व न करे। न मिलने पर शोक न करे। अधिक मिलने पर उसका संग्रह न करे। भोगों से अपने को दूर रखे।

इस मोक्ष मार्ग को आर्य तीर्थंकरों ने बताया है। ऐसा आचरण करने से बुद्धिमान् पुरुष कभी भी कर्मों के फंदे में नहीं जकड़े जाते।

संयम या आत्मनिग्रह का पालन

इन्द्रियों का निग्रह ही आत्मनिग्रह है। यह संयम से ही संभव है। साधक पुरुष अपने ही भीतर चुपचाप अपने मित्र को खोज लेता है। इसी को महावीर स्वामी ने 'अपनी आत्मा का निग्रह' कहा है।

यदि संयमी पुरुष किसी कारण कामवासना (ग्राम धर्म) से पीड़ित हो जाय तो वह ऐसा आहार करे, जिसमें कोई तत्त्व न हो। वह आहार की मात्रा कम कर दे।

निरन्तर ध्यान में लगा रहे। एक गांव से दूसरे गाँव चला जाय। आहार को बिल्कुल छोड़ दे।

वह स्त्रियों से बातें न करे। स्त्रियों की,ओर न ताके। उनके साथ एकान्तवास न करे। ऐसी वेश-भूषा न बनाये, जिस पर स्त्रियाँ रीझती हों। वह ब्रह्मचर्य का पालन करे।

'हे दुःखी एवं प्रमादी मनुष्यो, मैं तुम्हें सच्ची बात बताता हूँ। मृत्यु के मुँह में पड़े प्राणी को मृत्यु न आये, ऐसा हो नहीं सकता। जो वासनाओं के वश में है, असंयमी है, समय की लपेटों में है और जो रात-दिन संग्रह करने में लगा है, निश्चित ही वह अनेक प्रकार के जीवों में जन्म लेकर दुःखों की भट्टी में तपता रहता है।'

शरीर को क्षीण करना

मुनि को चाहिए कि वह शरीर को धुने (कृश करे)। वह रूखे आहारों का भक्षण करे। जो बुद्धिमान मनुष्य शरीर से आत्मा को अलग करके देखता है वह बिना मोह किये शरीर को तप से क्षीण करता है।

तप से शरीर और कर्म क्षीण हो जाते हैं

त्यागी यतियों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए तप एक आवश्यक विधान है। तप से होने वाले लाभ के संबंध में एक गाथा में कहा गया है कि :

'जिस प्रकार भीत (दीवाल) पर लगाये गये चूने या मिट्टी-गोबर के गिर जाने से भीत पतली या कमजोर हो जाती है उसी प्रकार अनशन (उपवास) आदि छह प्रकार के बाह्य तप का अनुष्ठान करने पर शरीर के कृश होने के साथ ही कर्म भी कृश हो जाते हैं। उसके बाद सर्वज्ञ, वीतराग एवं अहिंसा प्रधान सर्वोत्तम धर्म की प्राप्ति होती है।'

तप से उपसर्गों पर विजय

उपसर्ग दो प्रकार के हैं : अनुकूल और प्रतिकूल। ये दोनों आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं। इनका जब परस्पर संघर्ष होता है तब अनुकूल उपसर्गों की ही विजय होती है। इसको तप या संयम द्वारा ही जीता जा सकता है। कहा गया है कि संसार-त्यागी, यति धर्म के पालन में तत्पर, निर्दोष आहार करने वाले और अनेक प्रकार के तप करने वाले अनागार (गृहत्यागी) को 'अनुकूल उपसर्ग' संयम के ऊँचे स्थान से लेशमात्र भी नहीं गिरा पाते।

माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि के करुणाजनक वचन एवं रुदन, शोक ही 'अनुकूल उपसर्ग' हैं। जो धातु इनकी ओर ध्यान नहीं देता वही अपने चरित्र को भ्रष्ट नहीं होने देता। वही मुक्ति को प्राप्त करता है।

मोक्ष के पाँच रत्न

मोक्ष के पाँच उपायों को जैन धर्म में 'पाँच रत्न' कहा गया है। उनके नाम

हैं : १. संसार, २. मोक्ष, ३. मोक्ष के साधक, ४. मोक्षसाधन के मनोरथ और ५. शिष्यों का शास्त्रपठन लाभ।

१. **संसार** : जिन जीवों में मिथ्याबुद्धि है, वे ही जीव संसार हैं। यह मिथ्याबुद्धि ज्ञान से मिटायी जा सकती है। ज्ञान ही मोक्ष का दाता है।
२. **मोक्ष** : जो प्रत्येक दृष्य से मुक्त अपने ही स्वरूप में लीन है वे ही जीव मुक्त हैं।
३. **मोक्ष के साधक** : संसार के कर्मरूप किवाड़ों के उद्घाटन में उन्होंने अपनी शक्ति दिखायी है और जो बड़े प्रभावशाली हैं, ऐसे शुद्ध जीव मोक्ष के साधक हैं।
४. **मोक्ष साधन के मनोरथ** : महामुनि का जीवन ही सब प्रकार के कर्मों का साधन है। इसी दशा में होने पर सब मनोरथ पूर्ण होते हैं।
५. **शिष्यों का शास्त्रपठन लाभ** : जो श्रावक और मुनि इस भगवान् प्रणीत उपदेश को समझता है वह थोड़े ही समय में परमात्मभाव को समझ लेता है।

यति जीवन के अन्य आवश्यक कर्तव्य

१. मूर्च्छा (मित्रता या आसक्ति) का त्याग
२. एकाकी जीवन में रहना
३. स्त्री आदि के संसर्ग का त्याग
४. वचन-शुद्धि
५. अज्ञानजन्य प्रवृत्ति का त्याग
६. विषयों का त्याग
७. निष्कपट भाव में रुचि
८. विषयों की इच्छा का त्याग
९. मानसिक बल
१०. कषायों का त्याग
११. मोह का त्याग
१२. स्वार्थपरता का त्याग

इस प्रकार जैन धर्मानुयायी समाज में आचार के नियमों का परिपालन करना आवश्यक बताया गया है। ऐहिक जीवन के अभ्युदय और पारलौकिक जीवन की निःश्रेयस सिद्धि के लिए आचार दर्शन को जैन मुनि-समाज में श्रेष्ठ माना गया है। किसी भी धर्मप्रवण जैनी के लिए, शास्त्रनिर्दिष्ट नियमों का समुचित निर्वाह करना अनिवार्य बताया गया है।

जैन दर्शन में आचार की श्रेष्ठता को जिस रूप में स्वीकार किया गया है उसकी तुलना मीमांसा दर्शन से की जा सकती है। मीमांसा के धर्म-विधान और कर्म-विधान का लक्ष्य परमपद की उपलब्धि है। जैन दर्शन में तीर्थंकर महात्माओं को उसी परम पद का अधिकारी बताया गया है। जैनों के आचार दर्शन में एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि उसके आधार व्यावहारिक जीवन की वास्तविकताओं से परीक्षित हैं।

बौद्ध दर्शन

* * * *

बौद्ध धर्म

तथागत बुद्ध की जो शिक्षाएँ और उपदेश हैं उनमें दो बातों की प्रधानता है। बुद्ध ने दो तरह से कहा है। उनके विचारों का एक पक्ष तो व्यष्टिमय है और दूसरा समष्टिमय। व्यक्तिगत जीवन की सद्गति के लिए उन्होंने जो बातें कहीं हैं वे व्यष्टि-मय और लोकहित के लिए उन्होंने जो बातें कही हैं वे समष्टिमय कहलाती हैं। उनके व्यष्टिमय विचारों में त्याग तथा योग को बड़ा माना गया है। इस दृष्टि से बुद्ध मनुष्य पहले हैं और देवता बाद को। उनके समष्टिमय विचारों में 'बहुजनहिताय' (सब के लिए कल्याणकामना) की भावना है।

बुद्ध के पहली कोटि के विचारों के अनुसार श्रीलंका, बर्मा तथा थाई देशों में बौद्ध धर्म का विकास हुआ। उनकी दूसरी विचारधारा को मौर्यों, कुषाणों तथा गुप्त राजाओं ने अपनाया। मौर्यों के बाद यही परम्परा चीन, नेपाल, तिब्बत, कोरिया और जापान आदि देशों में फैली।

बौद्ध धर्म को राज धर्म का सम्मान

बौद्धों से पहले के भारत में वैदिक धर्म ही राज धर्म का स्थान पाता रहा। बौद्ध धर्म के बाद भी भारत के कुछ अंचलों में यद्यपि वैदिक धर्म की कुछ शाखाएँ, जैसे वैष्णव, शैव आदि धर्म, राज धर्म का स्थान ले रही थीं। फिर भी केन्द्र का स्थान बौद्ध धर्म को ही प्राप्त था।

अशोक

अशोक का नाम उन यशस्वी सम्राटों में है, जिनके कारण इस देश का नाम एशिया के अनेक देशों में फैला। स्वयं उस पर बौद्ध धर्म का इतना प्रभाव पड़ा कि वह राजा से 'प्रियदर्शी' बन गया। अपने देश में स्थान-स्थान पर उसने बुद्ध के उपदेशों को पत्थरों पर खुदवाकर लोगों तक पहुँचाया। उसने अपनी प्रजा के आराम के लिए स्थान-स्थान पर पेड़ लगवाये, कुएँ खुदवाये और चिकित्सालय बनवाये।

अपना सारा जीवन और अपने विशाल साम्राज्य की शक्ति को उसने बुद्ध के आदर्शों को चमकाने तथा बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार करने में लगाया।

यही नहीं, मानवमात्र का कल्याण करने वाली इन उपकारी बातों को अशोक ने समस्त राष्ट्र और समस्त एशिया में फैलाया। उसने अपने राजदूतों को तथा धर्म-संघों को बाहरी देशों में भेजा। अशोक ने २६७-२७२ ई० पूर्व के बीच, आज से लगभग २२-२३ सौ वर्ष पहले, २५ वर्षों तक विपत्तियों का सामना करते हुए मगध की गद्दी पर शासन किया।

कनिष्क

अशोक के लगभग ढाई-तीन सौ वर्ष बाद कनिष्क महान् हुआ। वह ७८ ई० में गद्दी पर बैठा। उत्तर भारत में जिस शक संवत् का आज भी प्रचलन है और जिसको आज हमारा राष्ट्रीय संवत् माना जाता है। उसको कनिष्क ने ही आरँभ किया था। पेशावर (पुरुषपुर) उसकी राजधानी थी।

सम्राट् कनिष्क बौद्ध धर्म का संरक्षक था। कनिष्क के समय बौद्ध धर्म के क्षेत्र में एक सुधार यह हुआ कि उसमें जो धार्मिक संकीर्णताएँ घर कर गयी थीं वे दूर हो गयीं।

कनिष्क ने यद्यपि बौद्ध धर्म का समर्थन किया; किन्तु स्वयं उसका कोई धर्म नहीं था। उसके सिक्कों पर ग्रीक, ईरानी, हिन्दू और बौद्ध सभी धर्मों के देवताओं एवं महापुरुषों की आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं। फिर भी बौद्ध धर्म के प्रति उसमें गहरी आस्था थी। इसलिए बौद्ध समाज उसको बौद्ध ही मानता है। उसने बौद्ध-साहित्य तथा बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए बौद्ध विद्वानों की एक विराट् सभा (संगीति) का आयोजन किया था। उसी के समय बौद्ध धर्म संपूर्ण एशिया में फैला।

गुप्त राजा

गुप्त राजा भागवत धर्म के मानने वाले थे। फिर भी बौद्ध धर्म के प्रति उनका बड़ा प्रेम था। बौद्ध धर्म की उन्नति तथा वृद्धि के लिए उनसे जो कुछ हो सकता था, उन्होंने किया। बौद्ध धर्म के अनुयायी लोगों के लिए गुप्तयुग में पूरी सुविधाएँ थीं।

गुप्तयुग में बौद्ध धर्म की अपेक्षा बौद्धकला और बौद्ध-साहित्य की उन्नति हुई। मथुरा, नालंदा, अजंता, वाघ आदि कला-तीर्थों में जो कला-कृतियाँ पायी गयी हैं उनको देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस युग में बौद्धकला की कितनी उन्नति हुई।

इसी प्रकार गुप्तयुग में स्थापित नालंदा महाविहार, काश्मीर, वाराणसी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी तथा विक्रमपुरी में बौद्ध-साहित्य का निरन्तर निर्माण होता रहा। नालंदा जैसे उस समय के विश्वविख्यात विद्यापीठ की स्थापना गुप्तयुग में ही हुई।

गुप्त राजवंश का समय २७५-५१० ई० के बीच निश्चित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में बौद्ध धर्म राज धर्म के रूप में सम्मान पाता रहा ।

बौद्धकालीन भारत की चार संगीतियाँ

बौद्धयुग में धर्म और साहित्य की उन्नति के लिए तत्कालीन विद्वानों एवं भिक्षुओं ने एक साथ बैठकर जो विचार-विनिमय किया उसी को 'संगीति' के नाम से कहा गया है। इस प्रकार की चार संगीतियाँ आयोजित हुईं। इन संगीतियों का उद्देश्य था कि समाज के भीतर, ज्ञान के क्षेत्र में और अधिकारों के क्षेत्र में जो बुराइयाँ आ गई थीं उनको किस प्रकार दूर किया जाय।

पहली संगीति

बुद्ध निर्वाण के लगभग चौथे मास बाद प्रथम संगीति का आयोजन हुआ। यह संगीति राजगृह के कुशीनगर में हुई। इसको अजातशत्रु ने बुलाया था। महाकश्यप उसके सभापति थे। उसमें पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया। इस संगीति का मुख्य उद्देश्य बुद्ध के उपदेशों का संग्रह तथा प्रचार करना था।

दूसरी संगीति

दूसरी संगीति बुद्ध निर्वाण के १०० वर्ष बाद वैशाली में हुई, जो पूरे आठ मास तक चलती रही। भिक्षु अजित उसके प्रधान और आचार्य सब्बकामी सभापति थे। उसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया।

इस संगीति में 'विनय' और 'धम्म' पर नये रूप में विचार किया गया। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए बुद्ध-वचनों को तीन पिटकों (पिटारियों), पाँच निकायों, नौ अंगों और ४८,००० धर्मस्कन्धों में अलग किया गया।

तीसरी संगीति

तीसरी संगीति सम्राट् अशोक ने मगध में बुलायी थी। अशोक के गुरु तिस्स मोग्गलिपुत्त इस अधिवेशन के सभापति थे। निरन्तर नौ महीने तक वह चलती रही। उसमें १००० भिक्षुओं ने भाग लिया।

इस संगीति में अन्य अनेक सुधारों के अतिरिक्त त्रिपिटकों का अंतिम रूप से संकलन किया गया। आज के त्रिपिटकों की पाठ-व्यवस्था उसी संगीति के अनुसार मानी जाती है। इस संगीति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि अशोक ने वृहद भारत और एशिया के अनेक देशों में अपने धर्म-प्रचारक भिक्षुओं के शिष्ट-मंडलों को भेजा था।

चौथी संगीति

चौथी संगीति का आयोजन सम्राट् कनिष्क ने १०० ई० में किया था। यह परिषद् काश्मीर के कुण्डलवन महाविहार में हुई। आचार्य पार्श्व इसके सभापति थे। इसमें ५०० भिक्षु शामिल हुए।

इस परिषद में. पिटकों पर भाष्य लिखने का प्रस्ताव पारित किया गया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसी समय सर्वप्रथम संस्कृत भाषा को मान्यता मिली और संस्कृत में ही आगे का कार्य किये जाने का निश्चय हुआ। इससे पहले प्रायः सारा कार्य और बौद्ध धर्म के सभी ग्रंथ पालि में थे।

बौद्ध धर्म के पंथ

बौद्ध धर्म के क्षेत्र में जो विभिन्न मत-मतान्तर एवं वाद-विवाद प्रचलित हुए वे तथागत की संभावना एवं दृष्टि से ओझल थे। यद्यपि वे खुले रूप में बुद्ध-निर्वाण के बाद ही प्रकाश में आये; तथापि उनकी भूमिका बुद्ध के जीवनकाल में ही तैयार हो चुकी थी। बुद्ध का चचेरा भाई देवदत्त बुद्ध के सिद्धान्तों का प्रवल प्रतिद्वन्द्वी था। उसके अतिरिक्त उपनन्द, चन्न, भेत्तिय भुम्मजक और षड्वर्गीय भिक्षु बुद्ध के जीवन-काल में ही विनय के नियमों की कटु आलोचना करने लग गये थे। सुभद्र जैसे उद्दण्ड मति के बौद्ध को जीवन की स्वच्छन्दता में नियमों की हथकड़ी पसन्द नहीं थी। इसलिए बुद्ध की मृत्यु का समाचार सुनकर उन्होंने चैन की साँस ली।

बुद्ध-विरोधी इस गुट ने, बुद्ध परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद ही, उनके विचारों के विरुद्ध आवाज लगायी। वैशालि के बज्जियों ने इस दिशा में खूब उत्सुकता प्रकट की। महाकश्यप के राजगृह में ५०० भिक्षुओं का जो अधिवेशन आयोजित किया गया था उसमें सम्मिलित होने वाले पुराणपंथी या गवांपति बौद्धों ने संगीति में निर्णीत नियम को स्वीकार करने से इसलिए इन्कार कर दिया कि उनमें बुद्ध के नाम से जो साहित्य संकलित किया गया है वह वास्तविक एवं प्रमाणित नहीं है। इस संघ (संगीति) के प्रधान महादेव नामक विद्वान् द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों को अविकल रूप से स्वीकार करने में मतभेद हो गया। इसलिए वैशाली में दूसरी संगीति को आयोजित करने की माँग की गयी। कुछ भिक्षुओं ने स्वीकृत अति कठोर नियमों के विरुद्ध भी आवाज उठायी। इस प्रकार बौद्ध भिक्षुओं की दो शाखाएँ हो गयीं : एक तो कट्टर पुराणपंथी और दूसरी उदार मतावलम्बी। पुराणपंथी भिक्षुओं के गुट को थेरवादिन् (स्थविरवादी) और उदार मतावलम्बी भिक्षुओं के समूह को महासंघिक (महासांघिक) कहा गया।

वैशाली में आयोजित उक्त संगीति में जो निर्णय किये गये वे पुराणपंथी भिक्षुओं के अनुरूप थे। अतः महासांघिकों ने दस-हजार भिक्षुओं की तीसरी संगीति का आयोजन करके उसमें अपने नये सिद्धान्तों को स्वीकार किये जाने की घोषणा की।

आगे चलकर इन दोनों दलों का विरोध बढ़ता ही गया। फलतः बुद्ध-निर्वाण की दूसरी-तीसरी शताब्दी बाद ही थेरवाद की ग्यारह और महासांघिक की सात उपशाखाएँ प्रकाश में आयीं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन में बड़ा अन्तर है। इस अन्तर के परिचायक हैं हीनयान और महायान।

महायान की लोकप्रियता :

बौद्ध धर्म नैतिक नियमों पर आधारित धर्म है, जिसमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है; न ही उसमें ईश्वर को मनुष्य के भाग्य का एकमात्र कर्ता-धर्ता माना गया है। बुद्ध के विचारों से यह सुविदित है कि उनमें कर्म के द्वारा मुक्तिलाभ का सहज उपाय बताया गया था; किन्तु बुद्ध के निर्वाण के तीन-चार सौ वर्ष बाद महायान बौद्धों ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक और नियन्ता स्वीकार किया। इसलिए बौद्ध धर्म में उस समय महान् परिवर्तन हुआ। बौद्ध धर्म अब भक्तिप्रधान धर्म बन गया। बुद्ध के विचारों के सर्वथा विपरीत बौद्ध धर्म के मुक्ति का सिद्धान्त भक्ति एवं भावनामय प्रार्थना के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। महायान के इस ईश्वरवादी दृष्टिकोण को हिन्दू धर्म ने प्रभावित किया। महायान की लोकप्रियता का यह सबसे बड़ा कारण था। महायान के अनुयायी बोधिसत्वों ने वासुदेव भक्ति के सिद्धान्तों को अपनाया। इस उदारता के कारण भी महायान को अधिक लोकप्रियता एवं पर्याप्त लोकसम्मान प्राप्त हुआ। चीन, जापान, लंका और तिब्बत में महायान की इस विशेषता को बड़े पैमाने पर आदर के साथ अपनाया गया।

हीनयान और महायान

बौद्ध धर्म एवं बौद्ध दर्शन को हीनयान तथा महायान, ये दो प्रमुख शाखाएँ हैं। दर्शन के क्षेत्र में हीनयान ने स्थविरवाद तथा वैभाषिक को और महायान ने माध्यमिक तथा योगाचार को जन्म दिया। इनकी भी आगे चलकर अनेक शाखाएँ प्रकाश में आयीं।

बौद्ध धर्म और बौद्ध दर्शन का इतिहास तथा उनके मौलिक तथ्यों को जानने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी विभिन्न शाखाओं का अध्ययन किया जाय।

स्थविरवाद

वैशाली की सर्वास्तिवादी दार्शनिकों की चौथी बौद्ध संगीति में भारतीय बौद्धसंघ स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद और महासांघिक, इन तीन शाखाओं में विभाजित हुआ। इन महसांघिकों ने ही आगे चलकर महायान संप्रदाय के सिद्धान्तों का विकास किया।

स्थविरवाद संप्रदाय बौद्ध धर्म का अति प्राचीन संप्रदाय है। इस संप्रदाय के सिद्धान्तों का प्रवचनकार स्वयं बुद्ध थे। इस संप्रदाय का सारा साहित्य पालि भाषा में है। स्थविरवादी संप्रदाय के पालि-ग्रन्थों के प्रामाणिक टीकाकार गुप्त युग में हुए। ये टीकाग्रन्थ दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से जितने उपयोगी हैं, साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य कुछ कम नहीं है।

स्थविरवादी विचारधारा भी दो कूलों में विभाजित है : सौत्रान्तिक और वैभाषिक। दोनों के दार्शनिक सिद्धान्त सर्वास्तिवादी हैं।

स्थविरवाद का अर्थ है स्थविरों, अर्थात् ज्ञानी पुरुषों और तत्त्वदर्शियों का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिए 'स्थविर' कहा गया है। स्थविरवादी भिक्षु 'विभज्यवाद'

के अनुयायी थे। अतः 'विभज्यवाद' और 'स्थविरवाद' एक ही सिद्धान्त के द्योतक हैं। 'विभज्यवाद' का अर्थ है विश्लेषण द्वारा प्रत्येक वस्तु के अच्छे-बुरे अंश को अलग कर देना।

'अर्हत' अवस्था प्राप्त करना इस सिद्धान्त के अनुयायियों का चरम लक्ष्य है। 'अर्हत' जीवन की वह अवस्था है, जिसको प्राप्त कर जीव सांसारिक क्रिया-कलापों की ओर नहीं मुड़ता। इस अवस्था तक पहुँचने का मार्ग बुद्ध ने बताया है।

सर्वास्तिवाद

सर्वास्तिवादी, स्थविरवादियों के अधिक निकट हैं। स्थविरवाद जब ह्रास की स्थिति पर था तब महायान संप्रदाय का प्रबल विरोध सर्वास्तिवादियों ने ही किया। जिन बौद्धवादों के सिद्धान्त संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं उनमें सर्वास्तिवाद का प्रमुख स्थान है। सम्राट् कनिष्क (प्रथम शताब्दी) इस संप्रदाय के आश्रयदाता थे। उनके द्वारा आमंत्रित संगीति में इस संप्रदाय के सिद्धान्तों पर गंभीरता से विचार हुआ। आचार्य वसुबन्धु का 'अभिधम्मकोश' सर्वास्तिवाद का पहला एवं प्रामाणिक ग्रंथ है।

सर्वास्तिवाद के अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व त्रिकालजीवी है। उसमें ७५ तत्त्व या धर्म माने गये हैं, जिनमें ७२ संस्कृत और ३ असंस्कृत हैं। ११ रूप, ४६ चित्त-संप्रयुक्त, १४ चित्तविप्रयुक्त और १ मानसिक-भौतिक-संप्रयुक्त—ये ७२ संस्कृत तत्त्व हैं; और १ आकाश, १ प्रतिसंख्या निरोध तथा १ अप्रतिसंख्या निरोध—ये ३ असंस्कृत तत्त्व हैं।

महासांघिक

महासांघिक ही महायान संप्रदाय के निर्णायक हुए। महासांघिकों ने विनय के नियमों को अपने सैद्धान्तिक स्वरूपों में ढालकर एक ओर तो अपने नये संप्रदाय की प्रतिष्ठा की और दूसरे में उसकी लोकप्रियता को बढ़ाया। महासांघिकों का तात्त्विक सिद्धान्त 'आचारिकवाद' के नाम से कहा जाता है।

महासांघिक और स्थविरवादी सैद्धान्तिक दृष्टि से मिलते-जुलते हैं। चार आर्य सत्य, आठ मार्ग, आत्मा का अनस्तित्व, कर्मसिद्धान्त, प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त, ३० बोधिसंबंधी धर्म और आध्यात्मिक चिन्तन की दृष्टि से उक्त दोनों संप्रदायों में एकता है। इन विचारधाराओं के अनुसार बुद्ध और बोधिसत्त्वों में देवत्व की प्रतिष्ठा की गयी। महासांघिकों की विचारधारा को योगाचार संप्रदाय के आदर्शवादी दर्शन को पूर्व पीठिका कहा जा सकता है।

बाद में महासांघिक संप्रदाय एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवाद, कुक्कुटिक (गोकुलिक), बहुश्रुतीय और प्रज्ञप्तिवाद आदि अनेक विचारधाराओं में विभाजित हुआ।

वैभाषिक

हीनयान शाखा का वैभाषिक संप्रदाय, विचारों की दृष्टि से सर्वास्तिवादी है। वैभाषिक अभिधर्म के प्रायः सारे ग्रन्थ अपने मूल रूप पालि तथा संस्कृत में न होकर चीनी-तिब्बती अनुवादों के रूप में उपलब्ध होते हैं। मनोरथ और संघभद्र नामक

इसके दो आचार्यों का पता चलता है। सम्राट् अशोक के संरक्षण और आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में आयोजित पाँच सौ भिक्षुओं की बौद्ध संगीति में, आर्य कात्यायनी पुत्र द्वारा विरचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर लिखी गयी 'विभाषा' नामक टीका के आधार पर इस संप्रदाय का 'वैभाषिक' नामकरण हुआ।

माध्यमिक

समस्त बौद्धधर्मानुयायी सर्वप्रथम दो गुटों में विभाजित थे : श्रावकयान और महायान। बाद में महायान संप्रदाय भी दो विचारधाराओं में विभक्त हुआ : माध्यमिक और योगाचार।

भगवान् तथागत ने वाराणसी में जो पहला उपदेश दिया था वह माध्यमिक मार्ग से सम्बन्धित था, जिसके आधारों को लेकर आगे माध्यमिक मत की प्रतिष्ठा हुई। दार्शनिक दृष्टि से माध्यमिक मत का 'शून्यवादी' सिद्धान्त बौद्धन्याय का सर्वाधिक तर्कपूर्ण, व्यवस्थित और सूक्ष्म सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की स्थापना यद्यपि आचार्य नागार्जुन से पहले ही हो चुकी थी; किन्तु उसको वैज्ञानिक दृष्टि से व्यवस्थित करने का कार्य आचार्य नागार्जुन (२०० ई०) ने ही किया। नागार्जुन के बाद आर्यदेव (२०० ई०), बुद्धपालित (५०० ई०), भावविवेक (५०० ई०), चन्द्रकीर्ति (६०० ई०) और शांतिदेव (७०० ई०) आदि अनेक आचार्यों ने माध्यमिक विचारधारा को धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से संवर्द्धित किया।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी में माध्यमिक मत का दो उपशाखाओं में विकास हुआ, जिनके नाम थे : प्रासंगिक और स्वातन्त्र्य और जिसके प्रवर्तक थे क्रमशः बुद्धपालित तथा भावविवेक।

योगाचार

महायान संप्रदाय से उद्भूत एक शाखा 'योगाचार' नाम से प्रसिद्ध हुई, जिसके प्रतिष्ठाता आचार्य मैत्रेयनाथ (३०० ई०) थे। असंग, वसुबन्धु, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मपाल, धर्मशील, शांतरक्षित और कमलशील प्रभृत्ति विख्यात विद्वान् इस संप्रदाय के अनुयायी हुए। असंग ने उसको 'योगाचार' नाम दिया और वसुबन्धु ने 'विज्ञानवाद' के नाम से उसकी दार्शनिक व्याख्या की।

'योग' या 'बोधि' प्राप्त करने के कारण इस संप्रदाय का ऐसा नामकरण हुआ। वही विज्ञानवाद है। किन्तु जहाँ 'योगाचार' ने दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को ग्रहण किया वहाँ 'विज्ञानवाद' ने उसके तात्त्विक पक्ष की मीमांसा की।

योगाचार के अनुसार ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं : परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न। परिकल्पित ज्ञान कल्पनाश्रित, परतन्त्र ज्ञान सापेक्ष्य और परिनिष्पन्न ज्ञान सत्याश्रित है।

महीशासक

स्थविरवादियों से पृथक् हुए पुत्तकों ने इस पंथ का प्रवर्तन किया। पौराणिक

पंथी सर्वप्रथम इस संप्रदाय के अनुयायी थे, जिन्होंने राजगृह की प्रथम संगीति में निर्धारित नियमों को मानने से इन्कार कर दिया। इस शाखा का विकास श्रीलंका में हुआ।

महीशासक तीन असंस्कृत धर्मों को मानते हैं। सर्वास्तिवादियों की भाँति वे भी गत, आगत और अन्तराभाव में विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार स्कन्ध, आयतन और धातु-बीजों के रूप में विद्यमान रहते हैं।

हैमवत

आचार्य वसुमित्र के कथनानुसार हैमवत, स्थविरवादियों की ही एक शाखा थी; किन्तु भव्य और विनीतिदेव उसको महासांघिकों के ही अन्तर्गत मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमालय प्रदेश के किसी छोर में इस पंथ का आविर्भाव हुआ था। इस पंथ के अनुसार बोधिसत्वों का कोई स्थान नहीं है; देवता ब्रह्मचर्य का पवित्र जीवन नहीं बिता सकते और अश्रद्धालु जनों में चामत्कारिक शक्ति नहीं होती।

इस सिद्धान्तों को देखकर यह प्रतीत होता है कि 'हैमवत' संप्रदाय व्यावहारिक दृष्टि से ठोस और सैद्धान्तिक दृष्टि से ऊँचे आधारों पर अवस्थित है।

वात्सीपुत्रीय तथा सम्मितीय

ये दोनों पंथ पुद्गल के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार पुद्गल एक स्थायी तत्त्व है और उसके साक्षात्कार के बिना पूर्वजन्म का परिचय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। वे लोग दिव्यपंथ के पाँच तत्त्वों पर विचार करते हैं। कहते हैं कि राजा हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री ने इन दोनों पंथों को राज्याश्रय दिया था। 'अभिधम्मकोश' के अन्त में एक अध्याय जोड़ कर वसुबन्धु ने इस पंथ की कटु आलोचना की है।

धर्मगुप्तिक

महीशासकों में जब फूट हुई तो इस पंथ का जन्म हुआ। इस पंथ के अनुयायी बौद्ध, बुद्ध को भेंट चढ़ाना और स्तूपों पर श्रद्धा करना अपना प्रधान कार्य समझते थे, जो कि महीशासकों के विरुद्ध था। इनका अर्हत पर विश्वास था। यह मत मध्य एशिया और चीन में फैला।

काश्यपीय

यह पंथ स्थविरवादी विचारधारा के अधिक समीप है। इसी कारण काश्यपीय लोगों को स्थविरवादी भी कहा जाता है। विगत के प्रति उदासीनता और आगत के प्रति आशा, इस मत के अनुयायियों का सिद्धान्त है। इन काश्यपीय बौद्धों ने सर्वास्तिवादियों और विभज्यवादियों के बीच के विरोध को कम करने में बड़ी सहायता की। तिब्बत में इस पंथ का अधिक प्रचार रहा।

बहुश्रुतीय

बौद्ध धर्म के एक बहुश्रुत नामक आचार्य द्वारा प्रवर्तित बहुश्रुतीय पंथ का

उल्लेख अमरावती और नागार्जुनी कोण्डा के शिलालेखों में मिला है। यह पंथ महासांघिक शाखा से जन्मा है। शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, ज्ञान-दर्शन आदि तत्त्वों से निर्मित धर्मकाय में बहुश्रुतियों का विश्वास है। तथागत के अनित्यता, दुःख, शून्य, अनात्मन् और निर्वाण सम्बन्धी उपदेशों को वे सर्वमान्य समझते थे। बौध धर्म की दो प्रमुख शाखाओं (श्रावकयान और महायान) की विरोधी भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करने में बहुश्रुतीय बौद्धों ने उल्लेखनीय कार्य किया।

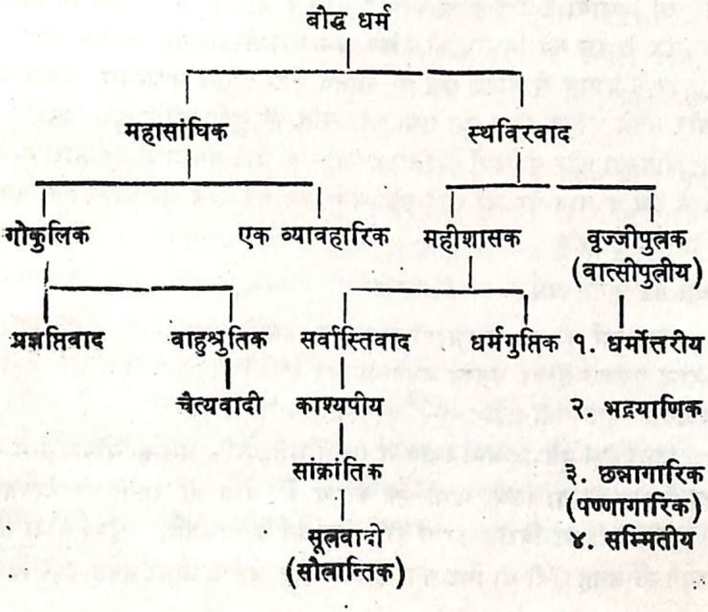
चैत्यक

महादेव नामक एक भिक्षु ने बुद्ध-निर्वाण के लगभग दो सौ वर्षों बाद इस पंथ को प्रतिष्ठित किया था। मथुरा के महादेव से यह भिक्षु भिन्न था। इस भिक्षु ने महासांघिकों के पाँच सिद्धान्तों के आधार पर अपना नया ही पंथ प्रचलित किया।

चैत्ययुक्त पर्वत के निवासी होने के कारण ही वे लोग चैत्यक कहलाये, जिसका इतिहास अमरावती और नागार्जुनी कोण्डा के शिलालेखों में सुरक्षित है।

ये लोग चैत्यों के निर्माण, उनकी अर्चना-सज्जा, बुद्ध-आसक्ति, सम्यक् दृष्टि और निर्वाण में विश्वास रखते थे। बौद्ध धर्म का यह पहला पंथ था, जिसने बुद्ध और बोधिसत्त्वों को दैवी रूप में प्रतिष्ठित कर बौद्ध धर्म की लोकप्रियता को बढ़ाया।

बौद्ध धर्म के क्षेत्र में जो मत-मतान्तर प्रकाश में आये उनकी प्रमुख शाखाओं का परिचय प्रस्तुत किया जा चुका है। इतिहासकारों की दृष्टि में सम्राट् अशोक के समय (२६९ ई० पूर्व) तक बौद्ध धर्म जितने सम्प्रदायों में बँट चुका था उसका अन्दाजा इस चार्ट से लगाया जा सकता है :



Transfiguration of Mahaveer / Jainism by Buddha.

बौद्ध धर्म का वैदिक धर्म पर प्रभाव

यद्यपि वैदिक धर्म पर ब्राह्मण धर्म की संकीर्णताओं के विरोध में बौद्ध धर्म का जन्म हुआ था; फिर भी मूलतः वह वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म का ही अंश था। बौद्ध धर्म में जो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, सब प्राणियों पर दया करना आदि नीति धर्म हैं वे वैदिक धर्मग्रन्थों से ही लिये गये हैं। बौद्धों के 'धम्मपद' में हमें 'मनुस्मृति' के ही आचारों का स्वरूप देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय को अपने देश और एशिया के अनेक देशों में इतने विस्तार से अपनाये जाने का एकमात्र कारण यह था कि उसमें वासुदेव भक्ति का अनुकरण किया जाने लगा था।

एक समय ऐसा आया, जब वैदिक धर्म, ब्राह्मण धर्म के रूप में एक सम्प्रदाय या गुट का धर्म बन गया था। ऐसी ही स्थिति में उसके विरोधी जैन-बौद्ध धर्मों का उदय हुआ। इन दोनों धर्मों के कारण वैदिक धर्म की अनेक बुराइयाँ दूर हुईं। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वैदिक धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ता।

उपनिषदों के वैराग्य और निराशा की भावना को जैन धर्म ने अपनाया। किन्तु उसको व्यवहार में उतारने तथा लोक में फैलाने का कार्य किया बौद्ध धर्म ने। जीवन में अनेक प्रकार के कष्टों तथा दुःखों से छुटकारा पाने के लिए बुद्ध ने बड़े सरल ढंग से समाज में वैराग्य को एकमात्र उपाय बताया, उन्होंने बताया कि मनुष्य के जीवन का वास्तविक सुख जीवित रहने में नहीं है। वह तो तब प्राप्त होता है, जब मरने के बाद फिर जन्म लेने की स्थिति न आने पाये। जगत् के रूप में जो अंधकार हमें दिखायी दे रहा है उसको दूर करने के बाद ही सच्चा सुख मिलता है।

बुद्ध के इस नये विचार को वैदिक धर्म में ज्यों-का-त्यों अपनाया गया।

इसके प्रभाव से वैदिक धर्म के मानने वाले समाज में आचार-विचार, खान-पान और सबसे अधिक छुआ-छूत तथा जात-पाँत की कुप्रथाओं में कुछ ढिलाई आयी। अहिंसा, जीवदया और दुःखियों के लिए करुणा—ये बातें समाज में बड़े जोरों से फैलीं। समाज में धर्म के नाम पर जो छोटे-छोटे वर्ग बन गये थे वे भी श्रावकों के समानता के उपदेशों से टूट गये।

बौद्ध धर्म का मानव धर्म के रूप में सम्मान

बौद्ध धर्म की इन अच्छाइयों के कारण उसकी लोकप्रियता बढ़ती ही गयी। सारा राष्ट्र एकमत होकर उसका अनुयायी बन गया। बाहरी देशों में भी जहाँ-जहाँ उसका संदेश पहुँचा वहीं-वहीं उसको अपनाया गया।

किन्तु यहाँ हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भले ही बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म का विरोध किया; किन्तु इसी एक कारण से बौद्ध को इतनी लोकप्रियता नहीं मिली। यदि वेदों का विरोध करना ही बौद्ध धर्म का एकमात्र उद्देश्य होता तो वह आगे बढ़ने की जगह कभी का मिट गया होता। बौद्ध धर्म के भीतर सबसे बड़ी विशेषता

यह थी कि उसमें वे बातें कही गयी थीं, जो सारी मानवता पर लागू होती थीं। यही कारण था कि उसको 'मानव धर्म' के रूप में सम्मान मिला।

तथागत बुद्ध ने अपने वर्षों के चिन्तन के बाद एक ऐसा कारण खोज निकाला, जिससे सारा संसार पीड़ित था। वह कारण था 'दु:ख'। बुद्ध ने इस दु:ख की ऐसे ढंग से व्याख्या की, कि वह साधारण लोगों की समझ में सरलता से आ जाय। उन्होंने बताया कि सारे संसार की अशांति का एकमात्र कारण यही दु:ख है, दु:ख को खोज निकालने और उसको दूर करने के लिए उन्होंने जिन उपायों को बताया वे 'चार आर्य सत्यों' के नाम से विख्यात हैं। बुद्ध के चार आर्य सत्य हैं :

१. दु:ख ही जन्म, जरा (बुढ़ापा), व्याधि और अभाव का कारण है।
२. दु:ख ही सारी लोभ, मोह आदि तृष्णाओं का कारण है।
३. दु:ख का उन्मूलन ही सुख-शांति का कारण है।
४. दु:ख से छुटकारा पाने के लिए आठ बातों का पालन करना आवश्यक है। वे आठ बातें हैं : (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि।

बुद्ध के उपदेश लोकभाषा पालि में थे

बुद्ध के उपदेशों और उनकी शिक्षाओं को समाज में इतना आदर मिलने का कारण यह भी था कि वे संस्कृत में न होकर लोक भाषा पालि में थे। बुद्ध की इस दूरदर्शिता के कारण एक ओर तो उनके उपदेशों को समझने में लोगों को कोई कठिनाई नहीं हुई और दूसरी ओर पालि भाषा को आगे बढ़ने का सुयोग मिला।

बुद्ध ने कर्म और सदाचार पर सबसे अधिक बल दिया। उन्होंने ज्ञान और भक्ति को कर्मों के ही भीतर माना और मनुष्य को कर्म करने के लिए कहा। उनका यह कर्म-सिद्धान्त 'गीता' से प्रभावित था।

बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया उसमें आचार की श्रेष्ठता थी। उन्होंने बताया कि मनुष्य इसलिए इतनी वेदनाओं, दु:खों और पीड़ाओं से संतप्त है कि वह आचारों का पालन नहीं करता। कर्मों के द्वारा आचारों का पाठ आता है और उससे जीवन में निर्मलता एवं शांति का आवास होता है। सत्कर्म करते रहना ही मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए।

बुद्ध का ब्राह्मणों से कोई द्वेष नहीं था

वैदिक युग से सारी वर्णाश्रम-व्यवस्था कर्मों पर नहीं, जाति पर आधारित थी। उसकी आलोचना बुद्ध ने इसलिए करना आवश्यक समझा कि उसमें व्यक्तिगत हितों की रक्षा थी, सारे समाज की नहीं। आध्यात्मिक उन्नति का एकमात्र अधिकार ब्राह्मणों या पुरोहितों ने अपने अधीन कर लिया था। इससे देश की सारी बौद्धिक प्रगति भी रुक गयी थी।

बुद्ध के धर्म में व्यक्ति-व्यक्ति को स्वतंत्रता थी। समाज के प्रति उत्तरदायी रहकर कोई भी किसी धर्म का पालन कर सकने में स्वतन्त्र था। बुद्ध का धर्म, दूसरे धर्मों का विरोधी न होकर, दूसरे धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण करने वाला लोकप्रिय धर्म था।

वेदों का यज्ञवाद और ब्राह्मण-ग्रन्थों की कर्म-पद्धतियाँ निश्चित ही बुद्ध को मान्य नहीं थीं। यह नयी बात भी नहीं थी, क्योंकि उपनिषदों में भी यही कहा गया था। सांख्य दर्शन के पिता महर्षि कपिल ने वैदिक यज्ञों की सबसे वड़ी बुराई यह बतायी कि वे पशुहिंसा के कारण अपवित्र हैं; दूसरे में वे विनाशयुक्त हैं; और तीसरे में उनमें ऊँच-नीच की भावना है।

वस्तुतः देखा जाय तो तथागत का ब्राह्मणों के प्रति कोई व्यक्तिगत द्वेष-भाव नहीं था; बल्कि ब्राह्मणों से उनके सम्बन्ध बड़े मैत्रीपूर्ण थे। यही कारण था कि जिन ब्राह्मणों ने बुद्ध के उपदेशों को सुना वे उन्हीं के उपासक या भक्त हो गये। यही कारण था कि जिस हिन्दू धर्म ने तथागत को नास्तिक कहकर बदनाम किया, बाद में उसी ने बुद्ध को अपने दस अवतारों में रखकर संपूज्य समझा।

बुद्ध के उपदेश ब्राह्मण धर्म के आदर्शों के अनुरूप ही थे। बुद्ध के ब्रह्मज्ञान की व्याख्या वर्णों और आश्रमों की सीमाओं से बँधी न होकर सबके लिए थी।

बुद्ध के पुण्य-सम्बन्धी सिद्धान्त 'गीता' से प्रभावित थे। उन्होंने वैदिक यज्ञों में कही गयी पुण्य-सम्बन्धी परिभाषाओं में दान को श्रेष्ठ यज्ञ कहा है। धर्म तथा संघ की शरण में आ जाना और संयमपूर्वक शिक्षाप्रदों का पालन करना ही बुद्ध की दृष्टि से श्रेष्ठ यज्ञ है। दान करने से आनन्द लोक मिलता है। वह दान ऐसा होना चाहिए जिसमें बुराई न हो और जो प्रसन्न होकर दिया जाय।

बुद्ध के बाद बौद्धों और ब्राह्मणों में जो द्वेष और विरोध बढ़ता गया उसका एक कारण यह भी था कि दोनों ने बुद्ध की बातों को उतनी गहरी दृष्टि से नहीं देखा।

बौद्ध धर्म का अन्त

जिस पवित्र बौद्ध धर्म ने एक समय भारत और संसार के अन्य अनेक देशों को अतिशय रूप से प्रभावित किया था और जिसने समाज की कुरीतियों तथा बुराइयों को दूर करके मानवता की बड़ी सेवा की थी, एक समय आया कि वह अपनी जन्मभूमि में ही क्षीण हो गया। उसके क्षीण होने के कारण कुछ इस प्रकार थे:

१. स्त्रियों के भिक्षुणी होने के कारण व्यभिचार बढ़ा।
२. आत्मा को अनित्य कहने के कारण समाज के विश्वास को खो दिया।
३. श्रमण संतों ने सादे जीवन की जगह राजसी जीवन को अपना लिया।
४. पौराणिक कथाओं के द्वारा बुद्ध के उपदेशों का हलकापन प्रकट किया।
५. मंत्र और योगाचार जैसे स्थूल आचारों का प्रचलन किया गया।

६. मंत्रयान और वज्रयान जैसे नये संप्रदायों को जन्म देकर सुख-ही-सुख की खोज में रहना।
७. इस्लाम धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण।
८. भिक्षु-भिक्षुणी, श्रावक-श्रावकी और कापालिक-कापालिकी के गुप्त व्यभिचारों का प्रचलन।
९. मद्य-मैथुन की छूट। सहजिया वज्रयानियों ने शून्यता और करुणा को प्रज्ञा तथा उपाय की संज्ञा देकर दोनों के बीच नर-नारी के सम्बन्धों की नयी बात रखी। उपाय का प्रतीक तो साधक हो गया और प्रज्ञा का प्रतीक नारी बन गयी।

ये सभी कारण थे, जिन्होंने मिलकर इस महान् मानव धर्म की जड़ें खोखली कर दीं।

आज के भारत में बौद्ध धर्म

जहाँ तक बौद्ध धर्म की वर्तमान स्थिति का सम्बन्ध है, वह चीन, जापान, तिब्बत, बरमा, श्रीलंका, कोरिया आदि देशों में पहले की तरह लोकप्रिय है। भारत में कई सौ वर्षों बाद आज फिर उसको अपनाया जाने लगा है। उसके अच्छे आदर्शों को आज राष्ट्रीय आदर्शों के रूप में स्वीकार किया गया है। उसके पंचशील के सिद्धान्तों को लेकर संसार में शांति और सद्भाव को बढ़ावा देने के लिए मदद मिल रही है।

बौद्ध दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

बौद्ध दर्शन के आचार्यों और उनकी कृतियों का अध्ययन करने के लिए पालि और संस्कृत, दोनों भाषाओं का आश्रय लेना आवश्यक है। जिस प्रकार संस्कृत ने विद्वत्समाज की वाणी के रूप में सम्मान पाकर इस देश की गौरवशाली ज्ञान-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा उसी प्रकार प्राकृत तथा पालि ने भी जन सामान्य की आंच-लिक बोलियों के रूप में अपना विकास किया। जहाँ तक प्राकृत और पालि का प्रश्न है, प्राकृत की अपेक्षा पालि ने भारतीय भाषाओं के निर्माण में ही महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया, बल्कि भारत के पड़ोसी देशों सिंहल, बरमा और स्याम आदि द्वीपसमूहों के भाषा-सम्बन्धी सुधारों को भी प्रभावित किया।

भारतीय विचार-परम्परा में जो विकार या जड़त्व आ गया था उसी की प्रति-क्रियास्वरूप हमें बुद्ध मिले, किन्तु बुद्ध के पहिले और बुद्ध के समय में भी ऐसे विचारक ज्ञान के क्षेत्र में आ चुके थे, जिनके विचारों से बुद्ध भी स्वयं प्रभावित हुए। इस प्रकार के विचारकों में जिनका विशेष महत्त्व रहा है उनके नाम हैं :—

१. भौतिकवादी : अजित केशकम्बल, मक्खलि गोशाल
२. नित्यतावादी : पूर्णकाश्यप, प्रक्रुद्ध कात्यायन

३. अनिश्चिततावादी : संजय वेलट्ठिपुत्त, निगंठ नातपुत्त
४. अभौतिक क्षणिक अनात्मवादी : गौतम बुद्ध

अजित केशकम्बल

ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के केशों का कम्बल धारण करने के कारण इनका ऐसा नामकरण हुआ, क्योंकि रैक्व ने भी सयुग्वा (बैलगाड़ी) को अपना बाना बनाया था। अजित केशकम्बल भौतिकवादी दार्शनिक थे। वे ५२३ ई० पूर्व में हुए। उनके संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है; किन्तु इतना अवश्य विदित होता है कि बुद्ध के समय उनको एक सम्प्रदाय प्रवर्तक (तीर्थंकर) के रूप में सम्मानित किया जाने लगा था और जनसमाज में उनकी बड़ी लोकप्रतिष्ठा थी। वे बुद्ध से उम्र में और विचारों में भी कुछ बड़े थे; क्योंकि 'संयुत्तनिकाय' (३।१।१--बुद्धचर्या) में कोसलराज प्रसेनजित् ने एक बार बुद्ध से कहा था, 'हे गौतम, जो श्रमण, ब्राह्मणसंघ के अधिपति, गणाधिपति, गण के आचार्य, यशस्वी तीर्थंकर, बहुत जनों के द्वारा सुसम्मत है---जैसे पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगण्ठ नातपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुद्ध कात्यायन और अजित केशकम्बल के यह पूछने पर कि अन्य लोगों ने अनुपम सच्ची सम्बोधि (परम ज्ञान) प्राप्त कर ली है, यह दावा नहीं करते; फिर जन्म से अल्प-वयस्क और प्रव्रज्या (संन्यास) में नये आप सुविदित गौतम के लिए तो क्या कहना है!'

ये छहों व्यक्ति बुद्ध से बड़े थे, किन्तु थे बुद्ध के समकालीन हो; क्योंकि 'मज्झिमनिकाय' (२।३।७—बुद्धचर्या) में लिखा हुआ है कि एक बार इन छहों व्यक्तियों का राजगृह में (५२३ ई० पूर्व) वर्षावास हुआ था।

मक्खलि गोशाल

मक्खलि गोशाल अकर्मण्यवादी दार्शनिक था। उसका निर्देश जैन और बौद्ध, दोनों के साहित्य में देखने को मिलता है। जैनों के पिटक से विदित होता है कि उसको जैन संप्रदाय से बहिष्कृत कर दिया गया था। उक्त पिटकग्रन्थ में उसकी प्रकृति एवं उसके व्यक्तित्व को हीनता से दर्शाया गया है। राहुल जी ने उसके सम्बन्ध में लिखा है कि उसको महावीर स्वामी का प्राणघातक तथा ब्राह्मणों के देवताओं पर पेशाब करने वाला विचिल व्यक्ति कहा गया है। किन्तु बौद्धों के पिटकों में उसे बुद्धकालीन छह प्रसिद्ध आचार्यों में गिना गया है। वैयाकरण पाणिनि ने 'मस्करि' (मक्खलि) शब्द को गृहत्यागी अर्थ में प्रयुक्त किया है। मक्खलि गोशाल का स्थितिकाल ५२३ ई० पूर्व था।

पूर्ण काश्यप

पूर्ण काश्यप के सम्बन्ध में इतना ही विदित होता है कि वह बुद्ध का समकालीन तथा मक्खलि गोशाल के समय (५२३ ई० पूर्व) में हुआ। वह अक्रियावादी दार्शनिक था।

प्रक्रुद्ध कात्यायन

प्रक्रुद्ध कात्यायन नित्यपदार्थवादी दार्शनिक था। वह भी मक्खलि गोशाल तथा

पूर्ण काश्यप के समय (५२३ ई० पूर्व) में हुआ, और उसी की भाँति समाज में उसका भी बड़ा सम्मान था। इससे अधिक उसके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

संजय वेलट्ठिपुत्त

संजय वेलट्ठिपुत्त का समय भी ५२३ ई० पूर्व में था और वह अनेकान्तवादी दार्शनिकों में अपना निराला स्थान रखता था।

इन प्राचीन बौद्ध विचारकों को यद्यपि आज स्मरण तक नहीं किया जाता है; किन्तु बुद्धवाणी की जिस समर्थ विचारधारा का आज हम अध्ययन करते हैं उसको अपनाने एवं प्रचारित करने में उनका बड़ा हाथ रहा है। इन विचारकों की सैद्धांतिक मान्यताओं के लिए बौद्ध त्रिपिटकों का अध्ययन करना चाहिए।

महात्मा बुद्ध से बौद्ध धर्म का उदय माना जाता है। उम्र में उनसे श्रेष्ठ विचारकों ने भी बुद्ध को ही मान्य समझा। बुद्ध के बाद बौद्ध धर्म की अपेक्षा बौद्ध दर्शन का अधिक विकास हुआ; क्योंकि वह युग ही ऐसा था कि दर्शन के बिना धर्म की रक्षा नहीं हो सकती थी।

भगवान् बुद्ध

बौद्ध धर्म के प्राचीन तथा मध्यकालीन अनेक ग्रन्थों में तथागत बुद्ध का जीवन-चरित लिखा हुआ मिलता है। ऐसा कहा गया है कि जन्म लेने से पूर्व बुद्ध ने यह विचार कर लिया था कि उन्हें किस देश में किस माता-पिता के घर पैदा होना है। उन्होंने पहले ही यह निश्चित कर लिया था कि मध्यदेश के कपिलवस्तु नामक नगर में क्षत्रिय राजा शुद्धोदन की सदाचरणशील पत्नी मायादेवी की कोख से जन्म लेना है। शुद्धोदन शाक्य प्रजातन्त्र का राजा था।

उस समय कपिलवस्तु में लोग आषाढ़ का उत्सव मना रहे थे। उत्सव की अन्तिम रात्रि आषाढ़ी पूर्णिमा को मायादेवी ने यह स्वप्न देखा कि कोई दिव्य ज्योति उसकी कोख (कुक्षि) में प्रवृष्टि हुई है।

दूसरे दिन रानी ने अपना स्वप्न राजा को सुनाया। राजा ने ब्राह्मणों को बुलाकर उनसे स्वप्न का फल पूछा। ब्राह्मणों ने बताया, 'महाराज, आप चिन्ता न करें। आपकी देवी की कोख में गर्भ धारण हुआ है। यह बालक है। आपको पुत्र होगा। वह यदि घर में रहेगा तो चक्रवर्ती राजा होगा और घर छोड़कर साधु बन गया तो महायाज्ञी (बुद्ध) होगा।'

गर्भ के दसवें मास मायादेवी ने, महाराज शुद्धोदन से, अपने नैहर जाने की इच्छा प्रकट की। राजा ने सहर्ष स्वीकृति दे दी और रानी के मार्ग का पूरा प्रबन्ध कर दिया। रानी के नैहर का नाम था देवदह नगर।

कपिलवस्तु और देवदह नगर के बीच लुम्बिनी नामक एक सुन्दर वन था। वहाँ पहुँचकर रानी ने कुछ समय वन-विहार की इच्छा प्रकट की। आज्ञा पाते ही

परिचायकों ने देवी को वन में पहुँचाया। वहाँ भ्रमण करते हुए देवी ने एक शाल (साखू) की शाखा पकड़ने के लिए ज्यों ही हाथ उठाया कि उनको प्रसव वेदना आरम्भ हो गयी। सभी लोग इधर-उधर हट गये। उसी शालवृक्ष के नीचे खड़े-खड़े महारानी ने एक बालक को जन्म दिया। बालक के जन्म लेते ही चारों महाब्रह्मा वहाँ उपस्थित हुए और बालक को सोने की थाल पर रखकर वे माता के पास ले गये। उन्होंने कहा 'देवी, खुशी मनाइये। तुम्हें महाप्रतापी पुत्र पैदा हुआ है।' यह घटना ५०५ वि० पूर्व (५३६ ई० पूर्व) की है। 'मज्झिमनिकाय' (अट्ठकथा १।२।८) की एक कथा में बुद्धजन्म का यह सारा वृत्तान्त लिखा हुआ है।

लुम्बिनी नामक वन में जिस स्थान पर बुद्ध का जन्म हुआ था, वहाँ पर सम्राट् अशोक ने, इस पवित्र स्मृति में पाषाण स्तम्भ का निर्माण करवाया था।

जिस समय लुम्बिनी में बालक का जन्म हुआ उसी समय यशोधरा (राहुल माता), छन्दक, काल उदायी, उत्तम गज, कंथक अश्वराज, महाबोधि वृक्ष और संपत्ति से भरे चार घड़े भी पैदा हुए। ये सब एक-दूसरे से कुछ ही दूरी पर उत्पन्न हुए।

बालक के जन्म की शुभ सूचना पाकर दोनों नगरों के लोग लुम्बिनी पहुँचे और बालक को लेकर कपिलवस्तु लौट आये। बालक राजमहल में पहुँचा ही था कि कालदेवल नामक एक तपस्वी देवलोक से उतर कर महल में आये और उन्होंने राजा से कहा, 'महाराज, मैं आपके पुत्र को देखना चाहता हूँ।'

पुत्र को मँगाया गया। तपस्वी ने बालक की वंदना की। फिर कुछ सोचने के बाद एकाएक उसकी आँखों से आँसू गिरने लगा। लोगों ने आशंका से पूछा, 'क्यों भन्ते, हमारे आर्यपुत्र पर कोई संकट आने वाला तो नहीं है?'

'नहीं।' तपस्वी ने कहा, 'यह तो निश्चय बुद्ध होंगे; किन्तु मैं इसलिए रो रहा हूँ कि इस प्रकार के पुरुष को मैं बुद्ध (ज्ञानी) हुए न देख पाऊँगा।'

जन्म के पाँचवें दिन वेद पारंगत एवं भविष्य-फल को बतानेवाले दैवज्ञों (ज्योतिषियों) को बुलाकर जब सगुन विचारा गया तो उनमें से सात ने कहा, 'ऐसे शुभ लक्षणों वाला गृहस्थ चक्रवर्ती राजा होता है; और साधु होने पर बुद्ध।' उनमें कम उम्र वाले कौण्डिन्य नामक तरुण ब्राह्मण ने कहा, 'इसके घर में रहने का कोई कारण नहीं है; अवश्य ही यह महाज्ञानी होगा।' सिद्धार्थ के पैदा होने के कुछ दिन बाद उनकी माता का निधन हो गया। उसके बाद उनकी सौतेली माता प्रजापति गौतमी ने उनका पालन-पोषण किया।

राजा ने रूपवती एवं निर्दोष धाइयों को बालक की परिचर्या के लिए नियुक्त कर दिया। बालक दिन-ब-दिन शोभा तथा श्री के साथ बढ़ता गया। जब सिद्धार्थ बालक से १६ वर्ष का युवा हुआ तो राजा ने उसके लिए तीन ऋतुओं के अनुकूल तीन महल बनवा दिये। उन महलों में संगीत और शृङ्गार की समुचित व्यवस्था कर दी गयी। सिद्धार्थ उन भोगों में रम गया। किन्तु बाहरी जाति-बिरादरी वालों में यह

अफवाह फैल गयी कि युवराज सिद्धार्थ भोगों में लिप्त हो रहे हैं। किसी कला को नहीं सीख रहे हैं। युद्ध करना पड़ेगा तो उस समय क्या होगा ?

महारानी ने सिद्धार्थ को बुलाकर यही बात उनसे कह दी। सिद्धार्थ ने राजा से, सारी प्रजा में यह प्रचारित करने के लिए कह दिया कि सातवें दिन कुमार अपनी कला (कर्तब) का प्रदर्शन करेगा। ऐसा ही ढिढोरा पिटवाया गया। निश्चित दिन पर सिद्धार्थ ने अपने कौशलों को दिखाकर प्रजा को दंग कर दिया।

एक दिन सिद्धार्थ रथ पर सवार होकर उपवन-भ्रमण के लिए बाहर निकले। इसी समय सिद्धार्थ के लिए बुद्धत्त्व प्राप्ति का ठीक मौका देखकर देवताओं ने रास्ते में एक ऐसे बूढ़े पुरुष को खड़ा कर दिया, जिसके दाँत टूट गये थे, जिसके बाल पक गये थे, जिसका शरीर झुक गया था और जो हाथ में लकड़ी लिये थर-थर काँप रहा था। सिद्धार्थ ने अपने सारथी से उस वृद्ध पुरुष के संबंध में पूछा। सारथी का उत्तर सुनकर सिद्धार्थ ने उदास हो रथ को घर की ओर मोड़ देने का आदेश दिया।

दूसरी बार सिद्धार्थ ने एक रोगी को देखा। तीसरे दिन एक मृतक को देखा। चौथे दिन उन्होंने देखा कि एक संन्यासी जा रहे हैं। सिद्धार्थ ने सारथी से संन्यासी का सारा वृत्तान्त जाना। ये सभी बातें देवताओं की ओर से हो रही थीं और उनसे सिद्धार्थ का मन वैराग्य की ओर खिंच रहा था।

सिद्धार्थ जब युवक हुए तब युवकोचित उल्लास के विपरीत उनकी गम्भीर एवं चिंतित मानसिक स्थिति से आशंकित होकर महाराज शुद्धोदन ने उनका विवाह कोलिय प्रजातंत्र की कन्या यशोधरा (कापिलायनी) से संपन्न कर दिया। इस विवाह की रोचक चर्चा 'ललितविस्तर' नामक बौद्धग्रन्थ में विस्तार से वर्णित है।

ठीक समय पर यशोधरा से राहुल का जन्म हुआ। सारे घर में, राज्य में खुशियाँ मनायी गयीं; किन्तु सिद्धार्थ उदास बने देखते रहे। उनके मन में जो वैराग्य घर कर चुका था वह विवाह करने और पुत्र पैदा होने से भी दूर न हुआ।

एकाएक एक रात को सिद्धार्थ ने छन्दक को जगाकर कहा, 'छन्दक, आज ही मैं महाभिनिष्क्रमण (गृहत्याग) करना चाहता हूँ। मेरे लिए एक घोड़ा तैयार करो।' छन्दक ने अश्वराज कन्थक को सजाया। कन्थक ने अपने सौभाग्य मनाये। उधर सिद्धार्थ राहुल और राहुलमाता को देखने के लिए शयनागार की ओर गये। वहाँ उन्होंने माता-पुत्र को आनन्द से सोते देखकर एक भी शब्द नहीं किया। महल से उतरकर वे घोड़े की पीठ पर चढ़े। कन्थक हर्ष के मारे हिनहिना उठा। छन्दक भी घोड़े की पूंछ पकड़े साथ ही चल दिया। एक ही रात में सिद्धार्थ तीन राज्यों की सीमा पार करके अनोमा (औमी) नदी (जिला गोरखपुर) के तट पर जा पहुँचे। घोड़े ने एक ही टाप में नदी को भी पार कर लिया। नदी पार जाकर सिद्धार्थ ने कहा, 'सौम्य छन्दक, तू मेरे आभूषणों तथा कन्थक को लेकर लौट जा,मैं संन्यास लूंगा। माता-पिता को मेरा आरोग्य कहना।' छन्दक बेचारा कंथक को साथ ले रोता हुआ नगर को लौट आया।

वहाँ एक सप्ताह रहने के बाद सिद्धार्थ पैदल चलकर राजगृह पहुँचे। वहाँ

उन्होंने भिक्षा की। लोगों ने भिक्षुक को देखकर करुणा से आँसू बहाये। भिक्षा के उस अन्न को सिद्धार्थ ने जैसे-तैसे खा लिया। वहाँ से वे, उस समय के प्रसिद्ध योगी आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र के पास गए। वहाँ भी उनका मन न लगा। वे उरुबेला के रमणीय प्रदेश में जा पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने छह वर्ष तक सेवा-तपस्या की। उनके मन को संतोष न हुआ।

एक दिन प्रातःकाल ही बुद्ध शौच-स्नान से निवृत्त होकर बरगद के पेड़ के नीचे आसन बाँधकर ध्यान में बैठ गये। कुछ समय बाद सुजाता नाम की एक तरुणी ने आकर सिद्धार्थ के आगे खीर की थाली रखी और कहा, 'जैसे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ वैसे ही तुम्हारा भी पूर्ण हो।' वह वहाँ से लौट आयी। बोधगया में निराहार रहते हुए सिद्धार्थ को सात सप्ताह (४६ दिन) हो रहे थे। उन्होंने थाल में रखी खीर को खाया। सायंकाल वे बोधिवृक्ष (बोधगया की प्रसिद्ध पीपल का पेड़) के पास गये। सिद्धार्थ ने बोधिवृक्ष की प्रदक्षिणा की और यह प्रतिज्ञा कर बोधिवृक्ष के नीचे आसन मार कर बैठ गये कि 'चाहे मेरा चमड़ा, नसें, हड्डी ही क्यों न बाकी रह जायँ; चाहे शरीर के माँस, रक्त क्यों न सूख जायँ; लेकिन मैं 'सम्यक् संबोधि' को प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।' भगवान् उस बोधिवृक्ष के नीचे मोक्ष का आनन्द लेते हुए एक सप्ताह तक ध्यान लगाये बैठे रहे। सातवीं रात के पहले याम में उन्हें संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने जाना कि अज्ञान, वेदना, तृष्णा, उपादान, जन्म, जरा, मरण, शोक, दुःख आदि का रहस्य क्या है।

दूसरे दिन उस समाधि से उठकर वे बरगद के वृक्ष के नीचे गये। वहाँ भी एक सप्ताह तक चिन्तन में बैठे रहे। इस समाधि के बाद जब उन्होंने आँखें खोलीं तो वे पूर्णतः 'बुद्ध' हो गये थे। उन्होंने करुणाभरी दृष्टि से प्राणियों की ओर देखा। प्राणियों पर दया करके ये धर्मोपदेश के लिए उद्यत हुए। इस समय उनकी आयु ३६ वर्ष (५२८ ई० पूर्व) की थी।

वे बोधगया से वाराणसी आये और वहाँ उन्होंने अपना पहला उपदेश पंचवर्गीय भिक्षुओं को किया। भगवान् बुद्ध ने कहा :

'हे भिक्षुओ, इन दो अन्तों (अतियों) का प्रव्रजियों (भिक्षुओं) को सेवन नहीं करना चाहिए : एक तो कामवासनाओं में काम-सुख-लिप्त होना और दूसरा अनर्थों से युक्त पीड़ा से आत्मा को संतप्त करना। भिक्षुओ, इन दोनों का परित्याग कर मैंने मध्यम मार्ग को खोज निकाला है। यह मध्यम मार्ग, आँख देने वाले, ज्ञान कराने वाले निर्वाण का है।'

उसके बाद तथागत ने 'निर्वाण' के कल्याणकारी परिणामों को विस्तार से समझाया।

आगे भगवान् ने भिक्षुओं से कहा, 'भिक्षुओ, जितने भी दिव्य और मानुष बंधन हैं, मैं उन सब से परे हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष बंधनों से मुक्त हो सकते हो। हे भिक्षुओ, बहुजन हितार्थ, बहुजन सुखार्थ, लोक पर दया करने के लिए,

देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। हे भिक्षुओ, आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण, अन्त में कल्याण—ऐसे धर्म का उपदेश करो। भिक्षुओ, मैं भी धर्मदेशना के लिए जाऊँगा।'

उसके बाद बुद्ध उरुबेला, उत्तर कुरु (मेरु पर्वत की उत्तर दिशा) और अनवतप्त सरोवर (मानसरोक्षर झील) तक उपदेश करने के लिए गये।

अन्त में वि० पूर्व ४२७-२६ (४८५-८४ ई० पूर्व) में तथागत यह कहते हुए महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए, 'आश्चर्य भन्ते, अद्भुत भन्ते, मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु संघ की भी। भन्ते, मुझे भगवान् के पास से प्रव्रज्या मिले, उपसंपदा मिले।'

त्रिपिटक और अनुपिटक

बौद्ध-साहित्य की ग्रन्थ-सामग्री दो भाषाओं में लिखी गयी : पालि और संस्कृत में। बौद्धों के धर्मविषयक प्रायः सभी ग्रन्थ पालि भाषा में लिखे गये हैं। इसी प्रकार बौद्धों के दर्शनविषयक जितने ग्रन्थ हैं वे संस्कृत भाषा में लिखे गये।

त्रिपिटक

भगवान् तथागत के बुद्धत्त्व (ज्ञान) प्राप्त करने से लेकर निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करने तक, उन्होंने जो कुछ भी कहा उसी का संग्रह या संकलन 'त्रिपिटक' में है। 'त्रिपिटक' अर्थात् तीन पिटारियाँ; जिनके नाम हैं :

१. विनयपिटक (अनुशासन विषयक)
२. सुत्तपिटक (उपदेशात्मक)
३. अभिधम्मपिटक (मनोवैज्ञानिक)

'विनयपिटक' में बुद्ध की उन वाणियों का संकलन है, जिनमें उपदेश की बातें कही गयी हैं; दूसरे 'सुत्तपिटक' में अनुशासन (संघविषयक नियम) संबंधी वाणियों का संकलन है; और तीसरे 'अभिधम्मपिटक' में अध्यात्म तथा नीति की बातें संकलित हैं।

त्रिपिटकों को अनुश्रुति ग्रन्थ कहा गया है; अर्थात् जो मौखिक रूप में रक्षित पठन-पाठन के द्वारा वर्षों तक जीवित रहते आये। मगध में उनका संकलन ३०० ई० पूर्व, अशोक द्वारा आयोजित तीसरी बौद्ध संगीति में हुआ।

इन त्रिपिटकों में लगभग ३४ ग्रन्थों का संग्रह है, जिनकी जानकारी इस चार्ट से की जा सकती है :

- त्रिपिटक
  - विनयपिटक (७ ग्रंथ)
    - सुत्तविभंग
      - महाविभंग
      - भिक्षुक विभंग
    - खंधक
      - महावग्ग
      - चुल्लवग्ग
    - परिवार
  - मुत्तपिटक (५ ग्रंथ)
    - दीघनिकाय
    - मज्झिमनिकाय
    - संयुत्तनिकाय
    - अंगुत्तरनिकाय
    - खुद्दकनिकाय (१५ ग्रन्थ)
  - अभिधम्मपिटक (७ ग्रंथ)
    1. धम्मसंगणि
    2. विभंग
    3. धातुकथा
    4. पुग्गलं पंजत्ति
    5. कथावस्तु
    6. यमक
    7. पत्थनि

१. खुद्दकपाठ, २. धम्मपद, ३. उदान, ४. इतिवृत्तक, ५. सुत्तनिपात, ६. विमानवत्थु, ७. पेतवत्थु, ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निदेस, १२. पति संविधा, १३. अपादनि, १४. बुद्धवंश, और १५. धम्मपिटक या चरीय पिटक।

विनयपिटक

'विनयपिटक' में भगवान् तथागत के संदेश संगृहीत हैं, जिनमें संघ के लिए अनेक प्रकार के नियम बताये गये हैं। साथ ही उन परिस्थितियों का भी इस पिटक में उल्लेख है, जिनके कारण ये नियम बनाये गये। संघ में शामिल होने के लिए, उसके व्रतों का पालन करने के लिए और उनका प्रचार करने के लिए क्या-क्या करना चाहिए, इसका भी उल्लेख 'विनयपिटक' में है।

सुत्तपिटक

'सुत्तपिटक' सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण पिटक है। इसमें भी भगवान् बुद्ध की वाणियाँ संगृहीत हैं। इसके 'धम्मपद' खण्ड में बुद्ध के ४२३ उपदेशों को २६ अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसके 'खुद्दकनिकाय' को बहुत पसन्द किया जाता है। उसमें धर्मविषय की छोटी-छोटी कथाएँ बड़े सुन्दर ढंग से कही गयी हैं। 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' में भिक्षु-भिक्षुणियों की कविताएँ हैं। जातकों में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ हैं।

अभिधम्मपिटक

आदि के दो पिटकों को छोड़कर, विषय की दृष्टि से, इस तीसरे पिटक के सम्बन्ध में ही कुछ परिचय दे देना उपयुक्त समझा गया है। अन्य दो पिटकों की अपेक्षा इसमें जो विशेषता है वह है अध्यात्म-सम्बन्धी। इसके जिन सात ग्रंथों को गिनाया गया है वे सभी बहुत बाद की रचनाएँ हैं।

ऐसी अनुश्रुति है कि जब बुद्ध भगवान् अपने विचारों का प्रचार करने के लिए देवलोक में गये तो उन्होंने उस समय 'अभिधम्म' का पाठ किया था। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म के इतिहास में इस पिटकग्रन्थ को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। कहा जाता है कि इसकी रचना सम्राट् अशोक के शासनकाल २५० ई० पूर्व के आस-पास हुई थी।

अनुपिटक

पिटकों के बाद लिखे गये पालि भाषा के समस्त ग्रन्थों को अनुपिटक कहा जाता है। इन अनुपिटकों के अन्तर्गत 'नेतिप्रकरण', 'पेटकोपदेश', 'सुत्तसंग्रह', 'मिलिन्दपंह', 'विसुद्धिमग्ग', 'अट्ठकथाएँ', 'अभिधम्मत्थसंग्रह' आदि ग्रन्थों की गणना की गयी है।

इनके अतिरिक्त बौद्धों के १२ वंशग्रन्थों का नाम आता है। ये वंशग्रन्थ वैदिक धर्म के पुराणों जैसे हैं, जिनमें अनेक प्रकार की ऐतिहासिक तथा धार्मिक कथाएँ संगृहीत हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना बड़े पैमाने पर होती रही।

मिलिन्दप्रश्न

अनुपिटक साहित्य में 'मिलिन्दप्रश्न' का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। उसको आचार्य नागसेन ने संकलित किया था। उसके वास्तविक रचनाकार और रचनाकाल के संबंध में विवाद है; किन्तु जिस रूप में आज वह उपलब्ध है वही उसका मूल रूप था। उसमें सात अध्याय हैं। बौद्ध न्याय की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशिष्ट स्थान है।

उसमें नागसेन की जीवनी पर भी प्रकाश डाला गया है। ऐसा विदित होता है कि नागसेन ब्राह्मण था और पंजाब उसका घर था। ब्राह्मण पुत्र होने के कारण उसने वेदशास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। जब वह युवक था तो उसकी भेंट बौद्ध भिक्षु रोहषेण से हुई और उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह बौद्ध हो गया। जब आचार्य रोहषेण ने नागसेन को पारंगत बना दिया तो एक दिन गुरु की आज्ञा प्राप्त कर वह उस समय के सुपात्र विद्वान् अश्वगुप्त के पास गया। अश्वगुप्त को नागसेन की प्रतिभा का भेद उस समय विदित हुआ जब उसने एक दिन किसी गृहस्थ के यहाँ बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित अपने विचारों को प्रस्तुत किया। आचार्य अश्वगुप्त ने अपने इस योग्य शिष्य को उस युग के प्रतिभाशाली आचार्य धर्मरक्षित के सान्निध्य में पटना भेज दिया। पाटलिपुत्र के अशोकाराम में आचार्य धर्मरक्षित के निकट रहकर नागसेन ने बौद्ध दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। उसके बाद वे पंजाब लौट आये।

जब नागसेन की यह स्थिति थी ठीक उसी समय राजा मिनान्दर (मिलिन्द) ने अपने शास्त्राभिमान में कई बौद्ध विद्वानों को पराभूत कर दिया था। विद्वान नागसेन को भी यह कुसमाचार मिला। नागसेन तत्काल स्यालकोट पहुँचा, जहाँ मिनान्दर था। राजा मिनान्दर ने नागसेन का सत्कारपूर्वक स्वागत किया। राजा को नागसेन के व्यक्तित्व को जानने में देर न लगी। उसने अपनी आदत के अनुसार नागसेन से भी अनेक प्रश्न पूछे। नागसेन ने राजा को जो उत्तर दिए वे असाधारण थे। बाद में राजा ने नागसेन को महल में बुलाया और सम्मानित तथा शिष्ट ढङ्ग से उसके सम्मुख अपनी जिज्ञासाओं को रखा।

राजा मिनान्दर और आचार्य नागसेन के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए थे उन्हीं का संकलन 'मिलिन्दप्रश्न' में है।

बौद्धज्ञान, बौद्धनीति और बौद्धमनोविज्ञान की विशेषताओं के अतिरिक्त 'मिलिन्दप्रश्न' का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। एक प्रकार से वह उस युग के बौद्ध धर्म का विश्वकोश है। इसीलिए उसको त्रिपिटकों के बाद स्थान मिला।

बुद्धदत्त

पालि भाषा की कृतियों में 'मिलिन्दप्रश्न' के बाद आचार्य बुद्धदत्त की कृतियों का स्थान आता है। उन्होंने 'अभिधर्मपिटक' की 'अट्ठकथाओं' का संक्षेप 'अभिधम्मावतार' नाम से और 'विनयपिटक' की 'अट्ठकथाओं' का संक्षेप 'विनयविनिच्छय' के नाम से किया।

बुद्धदत्त, चेलिराज्य के उरईपुर के निवासी थे और उनकी शिक्षा-दीक्षा अनुराधापुर के महाविहार से संपन्न हुई। वे बुद्ध की वाणियों के अध्ययनार्थ सिंहल भी गये थे और वहाँ से लौटकर उन्होंने एक विहार में रहकर अपनी कृतियों का निर्माण किया।

बुद्धघोष

बौद्ध-साहित्य में आचार्य बुद्धघोष का ऊँचा स्थान माना जाता है। आचार्य बुद्धदत्त से उनका साक्षात्कार उस समय हुआ, जब वे उसी कार्य के लिए सिंहल जा रहे थे। 'विसुद्धिमग्ग' को उन्होंने सिंहल में ही लिखा था।

बुद्धघोष के समय तक, बौद्ध विद्वानों में संस्कृत भाषा का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। जिन बौद्ध विद्वानों ने अपनी कृतियों के लिए संस्कृत को अपनाया उनमें अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु और दिङ्नाग प्रमुख हैं। इन विद्वानों का परिचय आगे प्रस्तुत किया जायगा।

वंशग्रन्थ

किन्तु पालि ग्रन्थों की परम्परा में आचार्य बुद्धघोष की कृतियों के बाद वंशग्रंथों का क्रम आता है। पालि साहित्य में वंशग्रन्थों की वही स्थिति है, जो संस्कृत-साहित्य में अष्टादश महापुराणों, 'महाभारत' तथा 'राजतरंगिणी' आदि ग्रन्थों की है। इस प्रकार के प्रमुख वंशग्रन्थों के नाम हैं 'दीपवंश', 'महावंश', 'चूलवंश', 'बुद्धघोसुप्पत्ति',

'सद्धमसंग्रह', 'महाबोधिवंश', 'थूपवंश', 'अत्तनलुगविहारवंश', 'दाठावंश', 'छकेस-धातुवंश', 'ग्रन्थवंश' और 'शासनवंश'। इस प्रकार के पालि साहित्य में काव्यों और व्याकरण-विषयक ग्रन्थों का भी महत्त्व है, किन्तु दर्शन विषय के लिए इनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

संस्कृत के ग्रन्थकार

जिस प्रकार बौद्ध धर्म की स्थविरवादी शाखा के प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ पालि भाषा में उल्लिखित हैं उसी प्रकार सर्वास्तिवादी शाखा के प्रवर्तक एवं अनुवर्तक विद्वानों की प्रायः समस्त कृतियाँ संस्कृत भाषा में लिखी हुई मिलती हैं। इन बौद्ध विद्वानों ने संस्कृत में ग्रन्थ रचना करके संस्कृत भाषा को ही समृद्ध नहीं किया, अपितु संस्कृत के प्रति बौद्धों में जो संकीर्णता चली आ रही थी उसको भी दूर किया।

अश्वघोष

इस कोटि के विद्वानों में अश्वघोष का पहला नाम आता है। वे अयोध्या के निवासी थे और ब्राह्मण से बौद्ध हुए। वे संगीतज्ञ, कवि और दार्शनिक थे। वे सम्राट् कनिष्क के समकालीन (७८ ई०) और बौद्धन्याय की शून्यवादी शाखा के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन से पहले, प्रथम शताब्दी ई० में हुए। तिब्बत तथा चीन की अनुश्रुतियों में उन्हें कनिष्क की विद्वत्सभा का विद्वान्, गुरु और निकट का व्यक्ति माना गया है। सम्राट् कनिष्क द्वारा काश्मीर में आयोजित चौथी बौद्ध संगीति (१०० ई०) के वे ही अध्यक्ष थे।

अश्वघोष की जिन कृतियों के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं उनके नाम हैं 'बुद्धचरित', 'सौन्दरनन्द' और 'शारिपुत्र प्रकरण'। आदि के दो महाकाव्य और अन्त का तीसरा नाटक है। इनके अतिरिक्त जिन कृतियों को अश्वघोषकृत कहने में विद्वानों का मतभेद रहा है; किन्तु तिब्बत और चीन की परम्परा जिन्हें अश्वघोष की बताती है उनके नाम हैं: 'सूत्रालंकार', 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह', 'वज्रसूचिकोपनिषद्' और 'गाण्डीस्तोत्रगाथा'।

नागार्जुन

आचार्य नागार्जुन के कारण भारतीय साहित्य में, और विशेषतः बौद्ध-न्याय में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवादक कुमारजीव ने ४०१-४०९ ई० के भीतर आचार्य नागार्जुन और आचार्य वसुबन्धु की जीवनी पर दो ग्रन्थ लिखे। इस जीवनी ग्रन्थ के अध्ययन से विदित होता है कि उसका जन्म दक्षिण भारत विदर्भ (बरार) में हुआ और वह ब्राह्मण से बौद्ध हुआ। वह आंध्रराजा गौतमपुत्र यज्ञश्री (१६६-१९६ ई०) का समकालीन था। उसका स्थितिकाल १७५ ई० के लगभग है।

उसको बौद्ध-साहित्य का जितना गम्भीर ज्ञान प्राप्त था, ब्राह्मण-साहित्य में

भी उसकी उसी रूप में असाधारण गति थी। जिस दार्शनिक नागार्जुन का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह वैद्य एवं रासायनिक नागार्जुन से भिन्न था। बौद्ध हो जाने पर नागार्जुन ने अपना स्थायी निवास श्रीपर्वत (नागार्जुनी कोंडा) को बनाया।

विद्वत्समाज में नागार्जुन की जिन कृतियों को आज स्वीकार किया गया है उनकी संख्या १२ है और उनके नाम हैं : १. 'माध्यमिक कारिका' या 'माध्यमिक शास्त्र', २. 'दशभूमि विभाषाशास्त्र', ३. 'महाप्रज्ञा पारमितासूत्रकारिका', ४. 'उपायकौशल', ५. 'प्रमाणविध्वंसन', ६. 'विग्रहव्यावर्तिनी', ७. 'चतु:स्तव', ८. 'युक्तषष्ठिका', ९. 'शून्यतासप्तति', १०. 'प्रतीत्यसमुत्पादहृदय', ११. 'महायाननिशंक' और १२. 'सुहृल्लेख'। इन बारह ग्रन्थों में 'विग्रहव्यावर्तिनी', और 'माध्यमिक कारिका' ही मूल संस्कृत में उपलब्ध है। शेष कृतियाँ चीनी तथा तिब्बती अनुवादों के रूप में मिलती हैं।

असंग

असंग और वसुबन्धु, दोनों सहोदर थे। पुरुषपुर (पेशावर) में उनका जन्म हुआ। दोनों भाइयों की शिक्षा काश्मीर में सम्पन्न हुई। वे पठान ब्राह्मण थे। असंग को योगाचार दर्शन का पहला आचार्य माना जाता है। उन्हीं के प्रभाव से वसुबन्धु ने सर्वास्तिवाद को त्यागकर योगाचार को अपनाया। मैत्रेयनाथ, असंग के गुरु थे। असंग का स्थितिकाल ३५० ई० के लगभग था।

महापंडित राहुल जी ने असंग द्वारा विरचित जिन पाँच ग्रन्थों की सूचना दी है उनके नाम हैं : 'महायानोत्तरतंत्र', 'महायानसूत्रालंकार', 'योगाचारभूमिशास्त्र', 'वस्तुसंग्रहणी' और 'बोधित्वपिसिटकापवाद'। असंग के ये ग्रन्थ राहुल जी को तिब्बती, चीनी तथा जापानी अनुवादों और वहाँ के हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों में प्राप्त हुए हैं। 'योगाचारभूमिशास्त्र' और 'महायानोत्तरतंत्र' ये दोनों ग्रन्थ राहुल जी को तिब्बत में मूल संस्कृत में भी मिले। 'महायानसूत्रालंकार' असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना है, जिसकी कारिकाएँ मैत्रेयनाथ की और व्याख्या असंग की है। बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में असंग की 'योगाचारभूमि' को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि तब से 'विज्ञानवाद' को योगाचार-दर्शन के नाम से कहा गया।

वसुबन्धु

असंग के प्रसङ्ग में वसुबन्धु का कुछ उल्लेख किया जा चुका है। फिर भी असंग की अपेक्षा वसुबन्धु का व्यक्तित्व कई दृष्टियों से बढ़कर है। वसुबन्धु की जानकारी के लिए उन पर लिखे गये दो जीवनीग्रन्थ उनके सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। उनकी एक जीवनी तो कुमारजीव ने ४०१-४०९ ई० के बीच लिखी थी और दूसरी परमार्थ ने ४९९-५६० ई० के बीच। कुमारजीव की पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है; किसी परमार्थ की पुस्तक आज भी चीनी भाषा में उपलब्ध है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् ताकाकुसु ने किया है।

इस जीवनीग्रन्थ से ज्ञात होता है कि वसुबन्धु युवावस्था में ही अपनी जन्म-

भूमि को छोड़कर ज्ञान की तृषा को पूरा करने के लिये अयोध्या चले गये थे। वहीं उन्होंने स्थविर बुद्धमित्र से हीनयान सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। वहीं गुरुमठ में रहकर उन्होंने बौद्ध दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। अस्सी वर्ष तक अयोध्या में रहकर उन्होंने अनेक महान् ग्रन्थों की रचना की। स्थिरमति, दिङ्नाग, विमुक्तसेन और गुणभद्र जैसे पारंगत नैयायिक वसुबन्धु के ही शिष्य थे।

वे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रेमपात्र और उनके पुत्र चन्द्रगुप्त या चन्द्रप्रकाश के अध्यापक रहे। अतः वे चौथी शताब्दी में हुए।

जीवन के अन्तिम दस वर्ष अपने अग्रज असङ्ग की प्रेरणा एवं संसर्ग के कारण वसुबन्धु ने वैभाषिक मत का परित्याग करके महायान सम्प्रदाय के योगाचार मत को स्वीकार किया। असङ्ग ने ही उन्हें योगाचार में दीक्षित किया। ० वर्ष तक उन्होंने हीनयान सम्प्रदाय के और तदुपरांत १० वर्ष तक महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ लिखे। उनके अनेक ग्रन्थ तो विनष्ट हो चुके हैं; किन्तु तिब्बत, चीन आदि बौद्ध देशों में जो ग्रन्थ सुरक्षित रह सके हैं उनके नाम इस प्रकार हैं।

हीनयान की कृतियाँ : 'परमार्थसप्तति', 'तर्कशास्त्र', 'वादविधि', 'गाथासंग्रह' और 'अभिधर्मकोश'।

महायान की कृतियाँ : 'सद्धर्मपुण्डरीकटीका', 'महापरिनिर्वाणसूत्रटीका', 'वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताटीका' और 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (विंशिका, त्रिंशिका)।

वसुबन्धु का 'अभिधर्मकोश' सर्वास्तिवाद दर्शन का प्रौढ़ ग्रन्थ है। उसको राहुल जी ने तिब्बत से खोज निकाला। उस पर वसुबन्धु ने विस्तृत भाष्य भी लिखा था और उस भाष्य पर यशोमित्र ने 'स्फुटार्था' टीका लिखी थी।

दिङ्नाग

दिङ्नाग को बौद्धन्याय का पिता कहा जाता है। तिब्बती परम्पराएँ उनको तमिल प्रदेश के कंजीवरम् (काँची) का निवासी तथा वसुबन्धु का शिष्य बताती हैं। सिंहवक्र उनके गाँव का नाम था और ब्राह्मण परिवार में उसका जन्म हुआ। उड़ीसा उनकी विश्रान्त भूमि थी और वहीं उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उनका समय ४२५ ई० के आसपास था।

उनके पहले गुरु भिक्षु नागदत्त थे, जिन्होंने उन्हें बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। कुछ दिन उन्होंने वहीं रहकर अध्ययन किया; किन्तु बाद में गुरु के साथ उनका मत-भेद हो गया और वे दक्षिण को छोड़कर उत्तर भारत में आकर वसुबन्धु के शिष्य हो गये। वहाँ उन्होंने बौद्धन्याय का विशेष ध्यान किया और तदुपरान्त ग्रन्थ निर्माण किया।

धर्मकीर्ति, शांतरक्षित, कर्मशील और शंकर स्वामी उनके शिष्य थे। दिङ्नाग ने न्याय दर्शन पर लगभग एक सौ ग्रन्थ लिखे, जिनमें से कुछ ही उपलब्ध हैं। उनके

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में 'प्रमाणसमुच्चय', 'प्रमाणसमुच्चयवृत्ति', 'न्यायप्रवेश', 'हेतुचक्र-निर्णय' और 'प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश' आदि का प्रमुख स्थान है।

धर्मकीर्ति

आचार्य धर्मकीर्ति दाक्षिणात्य के थे। उनका जन्म तमिल (चोल) प्रांत के अन्तर्गत तिरूमलै नामक गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। तिब्बती परम्परा में उन्हें कुमारिल भट्ट का भानजा बताया जाता है। आरम्भ में उन्होंने वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया और बाद में बुद्ध धर्म की तत्कालीन ख्याति से प्रभावित होकर वे नालन्दा गये और वहाँ उस युग के विज्ञानवाद के दार्शनिक तथा नालन्दा के प्रधान आचार्य धर्मपाल के शिष्य बन गये। दिङ्नाग की शिष्य-परम्परा के आचार्य ईश्वरसेन से भी उन्होंने न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। उनका स्थितिकाल ६०० ई० था।

धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के नाम हैं : 'प्रमाणवार्तिक', 'प्रमाणविनिश्चय', 'न्यायविन्दु', 'हेतुविंदु', 'सम्वन्धपरीक्षा', 'वादान्याय' और 'सन्ताँनांतरसिद्धि'। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'प्रमाणवार्तिक' 'सम्वन्धपरीक्षा' पर वृत्तियाँ भी लिखीं।

उनके ग्रन्थों की लोकप्रियता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उन पर अनेक टीकाएँ, उपटीकाएँ, भाष्य और वृत्तियाँ लिखी गयीं। उदाहरण के लिए उनके 'प्रमाणवार्तिक' पर देवेन्द्र वुद्धि (६२५ ई०), शाक्यबुद्धि (६५ ई०), प्रज्ञाकरगुप्त (६७५ ई०), जयानन्द (७०० ई०), रविगुप्त (७०० ई०), यमारि (७२५ ई०), मनोरथनन्दि (७०० ई०) और शंकरानन्द (७७५ई०) प्रभृति अनेक ख्यातिवन्त विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं। उनके अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति रही है।

तिब्वती भाषा में मूल संस्कृत के जितने भी बौद्ध-न्याय विषयक ग्रन्थों का अनुवाद किया गया है उनमें सर्वाधिक संख्या धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की है। उनके ग्रन्थों के अधिकतर टीकाकार उनके शिष्य थे, जिनकी परम्परा वहुत लम्वी है।

बौद्धन्याय

भगवान् तथागत ने जिस महान् लोकोपकारी धर्म को जन्म दिया था उसके मूल में सामाजिक समझौता था। दलगत विचारधाराओं का उन्होंने जीवनपर्यन्त वहिष्कार किया। उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे दार्शनिक गुत्थियों के जंजाल में पड़कर तथा अपने धार्मिक उपदेशों से दूर रहकर दर्शन के ऊहापोह में फँसते। अपने जीवनकाल में वड़ी कड़ाई से उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओं को उधर जाने से रोका, टोका और निषेध किया। यही कारण है कि ज्ञानोपलब्धि के बाद सारनाथ में उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओं के समक्ष जो पहला उपदेश (५२८ ई० पूर्व) किया था उसमें उन्होंने यही कहा था कि 'हे भिक्षुओ, बहुजन हित के लिए और बहुजन सुख के लिए विचरण करो।' गृहस्थ के लिए भी उन्होंने दस अकुशल कर्मपथों का प्रवचन किया था।

भगवान् तथागत के जीवनदर्शन के दो प्रमुख आधार रहे : एक व्यष्टिमय और दूसरा समष्टिमय। उनका व्यष्टिमय जीवन नितांत एकाकी, समाधिस्थ योगी

जैसा था। उनके इस जीवन के परिचायक थेरवाद, बौद्ध धर्म एवं प्रियदर्शी अशोक की धर्मलिपियाँ हैं, जिनके अनुसार बुद्ध असाधारण लक्षणों एवं विभूतियों से युक्त होते हुए भी मनुष्य थे, देवता नहीं। बुद्ध के जीवन का दूसरा समष्टिमय पक्ष 'बहुजनहिताय' पर आधारित था। उसमें प्राणिमात्र की कल्याण-कामना और प्राणिमात्र की दुःख-निवृत्ति की भावना विद्यमान थी। इस दूसरी भावना में विश्वसेवा के उच्चादर्श समन्वित थे, जिनको क्रियारूप में उतारने का कार्य किया मौर्यों के बाद कुषाण और गुप्त राजाओं ने। बुद्ध के जीवन-दर्शन के इन दोनों पक्षों में पहली परम्परा का विकास श्रीलंका, बरमा एवं थाई देशों में और दूसरी परम्परा का अनुवर्तन नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन तथा जापान आदि देशों में हुआ।

किन्तु बुद्ध निर्वाण (३८४ ई० पूर्व) के लगभग दो वर्ष के भीतर ही उनके अनुयायियों का दृष्टिकोण बदल गया और बुद्ध के पवित्र उद्देश्यों को छोड़कर वे जीव, जगत् और आत्मा के सूक्ष्म रहस्यों का समाधान करने की दिशा में प्रवृत्त हो गये। बौद्ध धर्म के क्षेत्र में जिन चार दार्शनिक सम्प्रदायों का आज हम परिचय पाते हैं उनके उदय का कारण यही था।

बौद्ध दर्शन के चार संप्रदाय

बौद्ध दर्शन के चार संप्रदायों और उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त सार इस प्रकार समझा जा सकता है :

संप्रदाय	सिद्धान्त	मान्यताएँ
वैभाषिक	प्रत्यक्षवादी	संसार सत्य, निर्वाण सत्य
सौत्रांतिक	वाह्यार्थानुमेयवादी	संसार सत्य, निर्वाण असत्य
योगाचार	विज्ञानवादी	संसार असत्य, निर्वाण सत्य
माध्यमिक	शून्यवादी	संसार असत्य, निर्वाण असत्य

वैभाषिक

वैभाषिकों के प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक वस्तु में, जिसके द्वारा असंख्य प्राणियों का जीवन-निर्वाह हो रहा है, अनन्त सत्ता विद्यमान है। अतएव वह सत्य है और उसके द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण सम्बन्धी मान्यताएँ भी सत्य हैं।

वैभाषिकों का दृष्टिकोण है कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हम तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब प्रत्यक्ष उपाय से काम लें। यह ठीक है कि धुआँ देखकर हम आग के होने का अनुमान कर लेते हैं। यह इसलिए होता है, क्योंकि धुआँ और आग के सान्निध्य का हमारा संस्कार अनादि एवं अमिट है। इसके विपरीत यह भी संभावना की गयी है कि जिस व्यक्ति ने आग और धुआँ को कभी भी एक साथ नहीं देखा है वह धुआँ को देखकर आग का अनुमान कैसे लगायेगा ? इसलिए यह सिद्ध होता है कि जिसने वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया है वह कल्पना से उसका स्वरूप निर्धारित नहीं कर

सकता है। अतः हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि वस्तु के अत्यक्ष हुए विना उसका ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। अतः वैभाषिक मत को प्रत्यक्षवादी दर्शन कहा गया है।

वैभाषिक इसका नामकरण कैसे हुआ, इसका आधार या कारण संप्रदायों के प्रसंग में बताया गया है। काश्मीर इस मत का मुख्य स्थल था।

सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिक मत वाह्यार्थानुमेयवादी है। वाह्यार्थानुमेय के अनुसार वाह्य पदार्थ नाशवान् होने के कारण उनका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। अतः वे अनुमान पर आधारित ज्ञान हैं। वैसे ही जैसे दर्पण के प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब का अनुमान लगाया जाता है। अनुमिति से वाह्य पदार्थों की सत्यता पर विश्वास किया जा सकता है।

सौत्रान्तिकों का कथन है कि संसार सत्य है और निर्वाण भी सत्य है। अर्थात् चित्त और वाह्य पदार्थ, दोनों सत्य हैं। उनका अभिमत है कि यदि वाह्य पदार्थों के अस्तित्व को नहीं माना जाता है तो वाह्य वस्तुओं की प्रतीति हमें कैसे होगी ?

विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए सौत्रांतिक कहते हैं कि वस्तु और उसका ज्ञान समकालीन नहीं है। जब हम घट को देखते हैं तो वह बाहर विद्यमान रहता है; किन्तु उसका ज्ञान हमारे अन्दर रहता है। इसलिए वस्तु का अलग स्थान है और उसके ज्ञान का अलग। इस प्रकार वाह्य वस्तुओं की सत्ता पर विश्वास करना पड़ता है। जिस प्रकार वाह्य वस्तुओं की निश्चित संख्या नहीं है उसी प्रकार उनके ज्ञान की श्रेणियाँ भी अनेक हैं। बौद्ध सौत्रांतिकों ने ज्ञान के चार कारण बताये हैं : आलम्बन, समनन्तर, अधिकारी और सहकारी। ज्ञान के इन्हीं चार प्रत्ययों या कारणों के आधार पर समस्त वस्तुएँ चार कोटियों में आ जाती हैं।

योगाचार

योगाचार मत के सैद्धांतिक दृष्टिकोण को विज्ञानवाद कहते हैं। विज्ञानवादी दृष्टिकोण के अनुसार, प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब का आनुमानिक ज्ञान असत्य एवं मिथ्या है। चित्त ही एकमात्र सत्ता है, जिसके आभास को हम जगत् के नाम से कहते हैं। चित्त ही विज्ञान है।

विज्ञानवादी माध्यमिक वाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं; किन्तु वे चित्त के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं; क्योंकि चित्त या मन के द्वारा ही हम विचार-प्रतिपादन की प्रक्रिया को सम्पन्न करते हैं।

चित्त की सत्ता को सर्वोपरि मानने के कारण विज्ञानवाद का कहना है कि शरीर तथा जितने भी अन्य पदार्थ हैं वे सभी हमारे मन के भीतर विद्यमान हैं। जिस प्रकार हम स्वप्न तथा मतिभ्रम के कारण वस्तुओं को वाह्य समझ बैठते हैं उसी प्रकार

मन की साधारण अवस्था में हमें जो पदार्थ बाहरी प्रतीत होते हैं, वे वास्तव में वैसे नहीं हैं। दृष्टिविकार के कारण ही हम वस्तुओं की वाह्यता को देखते हैं। यदि भ्रम से हम चन्द्रमा को दो देखते हैं तो वह हमारे वस्तुज्ञान की कमी ही कही जायगी। जो वस्तु वाह्य प्रतीत होती है वह मन के विकार के कारण से है। यथार्थ में वैसा है नहीं। इसी को पाश्चात्य दर्शन में 'सब्जेक्टिव आइडियलिज्म' कहा जाता है। इसलिए ज्ञान से वस्तु को भिन्न मानने का कोई कारण ही नहीं है।

इसी लिए विज्ञानवादी, विभिन्न विज्ञानों का भंडार होने से मन को 'आलय विज्ञान' कहते हैं। वह नित्य और अपरिवर्तनशील नहीं है; वल्कि परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का एक प्रवाह है। इस 'आलय विज्ञान' को आत्मसंयम तथा योगाभ्यास के द्वारा वश में करके निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। योग, जिज्ञासा को और आचार, सदाचार को कहते हैं। असंग, वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे प्रखर तार्किक इस दार्शनिक मत के प्रवर्तक थे।

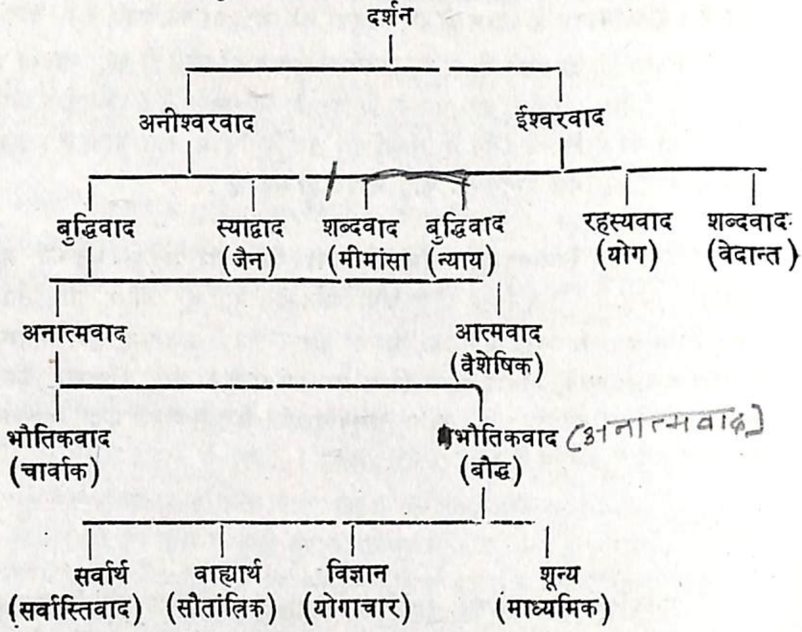
माध्यमिक

माध्यमिक सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत शून्यवाद के नाम से कहा जाता है। शून्यवाद के अनुसार चित्त अस्वतन्त्र है। पदार्थ की भाँति विज्ञान भी क्षणिक है। शून्य ही परमार्थ है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक और शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। पारमार्थिक शून्य ही सत्य है।

माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवादी सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन थे। नागार्जुन के आगमन से बौद्ध दर्शन में नये युग का सूत्रपात हुआ। यह युग ऐसा था, जिसमें कि एक ओर तो अनीश्वरवादी दर्शन की प्रौढ़ परम्परा उत्तरोत्तर विकास पर थी और दूसरी ओर ईश्वरवादी दर्शनों की निरन्तर ख्याति हो रही थी। नागार्जुन के स्थितिकाल की यह दूसरी शताब्दी ई० का युग विचार-संघर्ष का क्रांतिकारी युग रहा है। इस समय बौद्ध दार्शनिकों ने अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिए ऐसी वैज्ञानिक युक्तियों का आलम्बन लिया, जिससे प्रतिस्पर्शी आस्तिक दर्शनों के कटाक्षों का प्रत्युत्तर देकर वे अपनी स्थिति को कायम रख सकते।

बौद्ध धर्म के अनुयायियों में जो इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा एवं अपने ही बीच मत-मतांतर की स्थिति उत्पन्न हुई उसका प्रमुख कारण था बुद्ध का निर्वाण हो जाना। बुद्ध-निर्वाण के बाद ही इस प्रकार की विचारधाराओं का जन्म हुआ। इन विचार-धाराओं का सर्वेक्षण अगले पृष्ठ के चार्ट से किया जा सकता है।

नागार्जुन के समय तक भारतीय दर्शनों की स्थित



भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों का उक्त विभाजन महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी के दृष्टिकोण से किया गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त दर्शन-सम्प्रदायों का जन्म न किसी एक निश्चित दिन पर ही हुआ और न किसी एक व्यक्ति विशेष के द्वारा। छठी शताब्दी ई०पूर्व० से लेकर नवीं शताब्दी तक १५०० वर्षों की अवधि में बौद्ध दर्शन का संक्रांति काल रहा। इस कालावधि को बौद्ध-साहित्य में 'त्रि-चक्र-परिवर्तन' के नाम से कहा गया है, जिसको ५००-५०० वर्षों के तीन भागों में विभक्त किया गया है।

बौद्ध साहित्य की दार्शनिक परम्परा का इतिहासबद्ध अध्ययन हम आचार्य नागार्जुन की कृतियों में कर सकते हैं। बौद्ध-दर्शन के इतिहास में नागार्जुन को युग-विधायक मनस्वी के रूप में याद किया जाता है। बौद्धन्याय की प्रतिष्ठा और उसके प्रचार-प्रसार का सम्पूर्ण श्रेय आचार्य नागार्जुन की कृतियों को प्राप्त है।

नागार्जुन के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने से पूर्व भारतीय दर्शन की परंपरा से परिचित होना आवश्यक है। भारतीय षड्दर्शनों के क्षेत्र में न्याय और वेदांत का अपना विशिष्ट स्थान है। ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय दर्शन दो मुख्य धाराओं में आगे बढ़ा। पहला स्थान अक्षपाद गौतम (५०० ई० पूर्व) के 'न्यायसूत्र' और उस पर लिखे गये 'वात्स्यायन-भाष्य' (३०० ई०) से आरंभ होता है। इसको 'प्रकृत न्याय' के नाम से कहा गया है। दूसरी परम्परा के प्रवर्तक जैन-बौद्ध थे। न्याय दर्शन की इन दोनों शाखाओं में कई शताब्दियों तक बड़ी प्रतिस्पर्धा रही। उसके बाद एक स्वतंत्र विचारशैली

का उदय हुआ, जिसको 'नव्य-न्याय' के नाम से कहा जाता है। प्रकृत न्याय और नव्य न्याय में तो आपसी समझौता हो गया; किन्तु जैन और बौद्ध न्याय का उनसे अंत तक मतभेद बना रहा।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डॉ० विद्याभूषण ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में न्याय दर्शन की इन तीन प्रवृत्तियों को तीन युगों में इस प्रकार विभाजित किया है :

प्रकृत न्याय ६५० ई० पूर्व से १०० ई० तक
मध्ययुगीन न्याय १०० ई० से १२०० ई० तक
नव्य न्याय [illegible] ई० से 1100 AD —

मध्ययुगीन न्याय का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि सम्राट् कनिष्क से लेकर सम्राट् हर्ष तक का उसका शास्त्रीय युग और गुप्तकाल से लेकर पालयुग तक उसका नैयायिक युग रहा है।

गौतम के सूत्रों पर 'वात्स्यायन भाष्य' के बाद न्यायदर्शन का संक्रांतियुग आरम्भ होता है। इस संक्रान्ति का मूल कारण बौद्ध न्याय का आविर्भाव था। गौतमीय न्याय और बौद्धन्याय की इस प्रतिस्पर्धा से एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि भारतीय न्याय के क्षेत्र में आश्चर्यचकित कर देने वाले महान् सिद्धान्तों का समुदय हुआ।

इस सैद्धान्तिक संघर्ष में गौतमीय नैयायिकों के विरुद्ध जिन बौद्ध नैयायिकों ने भाग लिया उनमें नागार्जुन (१७५ ई०), वसुबन्धु (४०० ई०), दिङ्नाग (४२५ ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०) का प्रमुख स्थान है। दोनों न्यायदर्शनों में यह पारस्परिक प्रतिस्पर्धा की भावना १२वीं शताब्दी तक बनी रही। १२वीं शताब्दी में मिथिला के गंगेश उपाध्याय ने नव्य न्याय की प्रतिष्ठा कर प्रकृत न्याय को प्रोत्साहित किया।

नागार्जुन, महायान सम्प्रदाय के माध्यमिक मत के अनुयायी आचार्य थे। बौद्ध धर्म के इतिहास में माध्यमिक मत अति प्राचीन और अति मान्य मत माना गया है। तथागत इस मत के जन्मदाता थे। इस मत का सर्वप्रथम ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमितासूत्र' है, जिस पर आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' नामक व्याख्या लिखी। यह ग्रन्थ उनकी महती मेधा का परिचायक है।

शून्यवाद

आचार्य नागार्जुन का दार्शनिक दृष्टिकोण 'शून्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शून्यवाद दार्शनिक जगत् का अति प्रभावशाली एवं सूक्ष्म मत माना जाता है। 'शून्य एवं धर्मा' माध्यमिकों का मूल मंत्र है। शून्य के परिचायक पंचविध धर्मों (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) का विस्तृत निरूपण आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' में किया है। नागार्जुन का परमतत्त्व अष्टनिरोधक है। अष्टनिषेधयुक्त, अर्थात् अविरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद्य, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनागम, अनिर्गम और अनानार्थ। किन्तु वह सत्तात्मक है; ऐसा सत्तात्मक शून्य कि जो स्वयं में कल्पनातीत, अशब्द, अनक्षर और अगोचर है। नागार्जुन के मतानुसार समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न

पदार्थों की स्वभावहीनता ही पारमार्थिक है। उक्त पंचविध धर्मों की निःस्वाभाविकता का नाम ही परमार्थ है। निर्वाण का दूसरा नाम ही परमार्थ सत्य है। 'माध्यमिक कारिका' के २५वें अध्याय में निर्वाण की व्याख्या करते हुए आचार्यपाद ने कहा है कि निर्वाण भाव और अभाव, दोनों से अलग एक अनिर्वचनीय तत्त्व है।

शून्यवाद के अनुसार समझा जाता है कि यह संपूर्ण चराचरमय जगत् शून्य है। ये संपूर्ण दृश्यमान वस्तुएँ असत्य हैं। उदाहरण के लिए जब हम किसी रस्सी को भ्रमवश या अज्ञानवश साँप समझ बैठते हैं उस समय ज्ञात वस्तु रस्सी के असत्य होने पर हम और हमारा ज्ञान, दोनों स्वतः असत्य सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए शून्यवादियों की दृष्टि में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की कोई स्थिति न होने के कारण सब असत्य हैं। तब संसार की सत्ता शून्य है।

शून्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ही नागार्जुन का 'शून्यवाद' है। 'विग्रहव्यावर्तिनी' की ७वीं कारिका में आचार्य ने कहा है कि 'जो इस शून्यता को समझ लेता है वही सब पदार्थों को समझ सकता है, और जो उसको नहीं समझता वह कुछ भी नहीं समझता।' आचार्य के इस कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि वे पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। किन्तु इन पदार्थों का ज्ञान बुद्धि से नहीं किया जा सकता है। जो सत्य है वह तो निरपेक्ष है और उसका अस्तित्व किसी भी वस्तु पर निर्भर नहीं है। प्रत्येक वस्तु का यह अस्तित्व पारमार्थिक है। वस्तुओं का यही पारमार्थिक स्वरूप 'शून्य' है; किन्तु वह अवर्णनीय है। इसी अवर्णनीयता को सिद्ध करने या समझने के लिए 'प्रतीत्यसमुत्पाद' (वस्तुओं की पर-निर्भरता) की आवश्यकता है। नागार्जुन के मतानुसार शून्यवाद का सिद्धान्त ही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है। जो शून्यता को समझता वही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को समझ सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त करने पर चारों आर्य सत्य ग्रहण किये जा सकते हैं और तभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझकर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

प्रतीत्यसमुत्पाद, जिसको कि राहुल जी ने 'विच्छिन्न प्रवाह के रूप में उत्पत्ति' कहा है, से ही धर्म, धर्म का हेतु और फल जाना जा सकता है। वही यह समझ सकता है कि सुगति तथा दुर्गति क्या है; उनमें पड़ना और उनसे निकलने का मार्ग क्या है।

सभी वस्तुएँ सच्ची हैं, क्योंकि अच्छे या बुरे रूप में अनेक अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। जो है ही नहीं, प्रतिषेध्य है, उसको सिद्ध नहीं किया जा सकता है। समस्त भावों (सत्ताओं) की सिद्धि शून्यता या प्रतीत्यसमुत्पाद से है। किन्तु जिन प्रमाणों से भावों (वस्तुओं या सत्ताओं) की वास्तविकता को सिद्ध किया जा सकता है उन प्रमाणों को सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रमाण को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। भावों की शून्यता भी प्रमाणित है।

बौद्धन्याय का परवर्ती स्वरूप

आचार्य नागार्जुन के प्रबल समर्थक उन्हीं के शिष्य आर्यदेव (२०० ई०) हुए। आर्यदेव के बाद की दो शताब्दियों में बौद्धन्याय की क्या स्थिति रही, इसका इतिहास आचार्य वसुवन्धु की कृतियों से आरंभ होता है।

गौतमीय नैयायिकों के प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमा का नागार्जुन ने पर्याप्त खण्डन किया। उनकी दृष्टि में 'शून्य' ही परम तत्त्व है, जिसको शब्द और प्रमाणादि से नहीं समझा जा सकता है। न वह भाव है न अभाव और न इन दोनों का संघात-विघात ही। शून्यता को उन्होंने निःस्वभाव कहा है और इसी का दूसरा रूप बताया है 'प्रतीत्यसमुत्पाद' **'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते माता'**।

नैयायिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान पर भी बौद्धाचार्यों ने भरपूर विवाद किया। प्रमाण मीमांसा, नैयायिकों का मूल विषय है। प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान और शब्द, न्याय के ये चार प्रमाण हैं। बौद्धाचार्यों की सैद्धान्तिक मान्यतायें हैं कि भौतिक और मानसिक जितने भी पदार्थ हैं, सब मायाजन्य है। अतएव वे अस्तित्वहीन और कल्पित हैं। यह संसार वासनालिप्त है। इस स्वप्नोपम जगत् के विशेष्य विशेष और भाव-अभाव का अस्तित्व ही क्या! नागार्जुन के अनुसार जब ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों ही कल्पित हैं तब उनके आधार पर वास्तविक ज्ञान की वात सोचना ही व्यर्थ है।

गौतमीय न्याय के उत्तरवर्ती विद्वानों ने नागार्जुन के दार्शन्कि दृष्टिकोण को 'अत्यन्ताभाव' की संज्ञा दी है। नागार्जुन की दृष्टि से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सभी निःस्वभाव हैं। उन्होंने दुःख को कल्पित, मोक्ष को मिथ्या और कर्मफल को असत्य तो बताया है; किन्तु कहीं-कहीं आवेश में आकर निर्वाण के निरर्थक एवं नैतिक आदर्शों की आलोचना भी कर डाली। नागार्जुन की आदि से अन्त तक एक दृष्टि रही है। प्रतीत्यसमुत्पाद ही उनकी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु रहा है। उसी की व्याख्या शून्यवाद है और उसी के आधार पर उनके समस्त सिद्धान्त प्रतिपादित हैं।

आचार्य नागार्जुन के बाद बौद्धन्याय के क्षेत्र में आचार्य वसुबन्धु का क्रम है। अल्पावस्था में ही, वसुबन्धु बड़े वाग्मी, तार्किक और बौद्ध दर्शन के धुरंधर विद्वान हो गये थे। 'परमार्थसप्तति' नामक महान् ग्रन्थ के निर्माणान्तर विद्वत्समाज में उनके व्यक्तित्व की ख्याति हो गयी थी। अपने गुरुपाद के विजेता सुप्रसिद्ध सांख्याचार्य की 'सांख्यसप्तति' के खंडनार्थ उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ के प्रकाश में आते ही बौद्धन्याय के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित हो गया।

आचार्य वसुबन्धु के साथ संघभद्र नामक एक सर्वास्तिवादी विद्वान् के शास्त्रार्थ होने का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रसंग है कि वसुबन्धु ने 'अभिधर्मकोश' लिख कर वैभाषिक संप्रदाय के सिद्धान्तों का खूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया था। संघभद्र ने उक्त ग्रन्थ के खण्डनार्थ 'न्यायानुशास्त्र' की रचना की और साथ ही वसुबन्धु को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा; किन्तु इतिहासकारों और विशेषरूप से ह्वेन-त्सांग के वृत्तान्तानुसार

उसके तत्काल बाद ही संघभद्र की मृत्यु हो जाने के कारण दोनों में शास्त्रार्थ न हो सका। वसुबन्धु ने उक्त विपक्षी ग्रन्थ पर एक टीका लिखकर अपने उदार पाण्डित्य का परिचय दिया।

आचार्य वसुबन्धु के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक ग्रंथ उनका 'अभिधर्म-कोश' है। काश्मीर के वैभाषिक इस ग्रन्थ को बड़ा प्रामाणिक और अपना सर्वस्व मानते थे। बौद्ध दर्शन की विचारधारा का इतना समर्थ और मौलिक प्रतिपादन दूसरे ग्रन्थ में नहीं मिलता है। वाणभट्ट ने तो यहाँ तक कहा है कि शुकसारिका तक भी इस ग्रन्थ में पारंगत थी और वे उसका उपदेश देती थी **'शुकैरपि शाक्यशाशनकुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः'** 'अभिधर्मकोश' वैभाषिक संप्रदाय से विशिष्ट सम्बद्ध होने पर भी सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का विश्वकोश है। इस ग्रन्थ पर प्राचीन बौद्धाचार्यों से लेकर आधुनिक विद्वानों तक ने अनेक टीकाएँ लिखीं।

आचार्य वसुबंधु सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। भगवान् तथागत द्वारा प्रतिपादित त्रिकाल के अनित्यतासम्बन्धी वचनों के विरोध में 'सर्वास्तिवादी' मत का अविर्भाव हुआ था। आचार्य वसुवंधु ने 'अभिधर्मकोश' में लिखा है कि पंचविध धर्म (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) की सत्ता का भूत, वर्तमान एवं भविष्य, तीनों कालों में अस्तित्व प्रतिपादित करने वाला मत ही सर्वास्तिवादी मत के नाम से कहलाता है **(तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादो मतः)**। सर्वास्तिवादी मत के अनुसार त्रिकाल नित्य और अस्तित्वयुक्त है। यदि अतीत और अनागत को अनित्य एवं अस्तित्वहीन कहा जायगा तो मनोविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त ही व्यर्थ हो जाएँगे, जैसा कि सम्भव तथा सत्य नहीं है।

इसी कारण आचार्य वसुबंधु ने पंचविध धर्म की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ माना है। उनके मतानुसार बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के बिना क्लेशों तथा रागादि द्वेषों का उपशमन हो ही नहीं सकता है। **(धर्माणं प्रतिमयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः)**। आचार्य वसुबन्धु ने धर्म की नित्यता और सर्वव्यापकता पर बड़ी सूक्ष्मता एवं मौलिकता से विचार करके यह सिद्ध किया है कि वे शाश्वत एवं सनातन सत्ता वाले हैं। वसुबंधु के कोश ग्रंथ पर 'स्फुटार्थी' लिखते हुए आचार्य यशोमित्र ने उन्हें द्वितीय बुद्ध के नाम से सम्मानित किया है **'यं बुद्धिमताग्रं द्वितीयमिव बुद्धामित्याहुः।'**

नागार्जुन और वसुवन्धु के बाद, कालक्रम की दृष्टि से, बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में दिङ्नाग का नाम आता है। आचार्य दिङ्नाग को मध्ययुगीन बौद्धन्याय का पिता कहा गया है। एक दिग्विजयी विद्वान् होने के साथ ही वे महान् तार्किक भी थे।

क्षणभंगुरवाद, प्रायः सभी उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों का मान्य सिद्धान्त रहा है; किन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे 'स्वातंत्रिक' विज्ञानवादियों ने इस पर विशेष रूप से विचार किया है। दिङ्नाग के मतानुसार द्रव्य, गुण और कर्म से सम्बन्धित सारा ज्ञान मिथ्या है। जब कि सभी बाह्य पदार्थ क्षणिक हैं फिर वे ज्ञान का विषय कैसे

हो सकते हैं (**क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुं अशक्यत्वात्**)। ड ाग का यह भी कहना है कि भूत, भविष्य की प्रपंचजन्य कल्पना ही हमें क्षणि ार्थों में स्थिरता की बुद्धि कराती है। वास्तविक वस्तु तो विज्ञान है।

बौद्धन्याय के इतिहास को जानने के लिए तथा ाकी उत्तरोत्तर स्थिति का परिचय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उस युग के आस्तिक दार्शनिकों एवं दर्शन-संप्रदायों का भी अध्ययन किया जाय। इस दृष्टि से लगभग छठी सदी ई० से लेकर बारहवीं सदी ई० तक का समय भारतीय दर्शन का क्रांतिकारी युग रहा है। ब्रह्मपालित, भावविवेक, धर्मकीर्ति, शांतरक्षित, धर्मपाल, ईश्वरसेन तथा कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिक; उदयन, गंगेश उपाध्याय जैसे नैयायिक; पार्थसारथी जैसे मीमांसक; वाचस्पति मिश्र तथा श्रीहर्ष जैसे वेदान्ती और वसुगुप्त जैसे शैव दार्शनिक इसी युग में हुए। यह युग पुरातन 'वादों' के विरुद्ध नये 'प्रतिवादों' का युग था। गंगेश का नव्य न्याय और बौद्धों का न्याय इसके उदाहरण हैं।

बुद्ध के उपदेशों की विशेषताएँ

१. यथार्थवाद

बुद्ध के उपदेशों की पहली विशेषता थी उनके यथार्थवादी विचारों में। उनके ये विचार उनके द्वारा आँखों देखी सत्यता पर आधारित थे। अपने जीवन में उन्होंने जिन बातों का अनुभव किया वे ही दूसरों के लिए कहीं। उनकी दृष्टि में वेद, कर्म, ईश्वर आदि परोक्ष कही जाने वाली सभी बातें अविश्वसनीय हैं; उन्होंने समाज को उधर जाने से रोका भी।

२. व्यवहारवाद

बुद्ध ने अपने यथार्थवादी अनुभवों को लोकजीवन से संकलित किया था और उनका उद्देश्य भी लोकजीवन की भलाई रही। अतः उन्होंने अच्छे और बुरे, मानव-जीवन के इन दोनों पक्षों को अपने विचारों में अभिव्यक्त किया। उनकी शिक्षाएँ इसीलिए व्यावहारिक कही जाती हैं। उनके चार आर्य सत्य व्यावहारिक जीवन की गहन अनुभूति के परिचायक हैं।

३. निराशावाद

बुद्ध निराशावादी विचारक थे; किन्तु उनका यह निराशावाद, पलायनवाद या अकर्मण्यतावाद नहीं था। उनमें निराशवाद का उदय मानवजीवन की पीड़ाओं को देखकर हुआ था। यह सारा संसार दुःखी है, पीड़ित है, अज्ञान में पड़ा हुआ विवश है। इसलिए बुद्ध ने करुणार्द्र होकर संसार के इन दुःखों का कारण खोज निकाला। उन्होंने अपने उपदेशों में लोगों को समझाया कि वे दुःखी क्यों हैं और उस दुःख से उन्हें छुटकारा कैसे मिल सकता है। इन्हीं को बुद्ध की शिक्षाओं में दुःख का कारण और उपाय कहा गया है।

४. विवादों से उदासीनता

बुद्ध का विश्वास केवल विचारों को दमन कर देने मात्र से नहीं था; बल्कि उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए था। उन्होंने अपने जीवन में यह सोचा भी नहीं था कि उनके द्वारा प्रवर्तित यह विशुद्ध धर्म आगे चलकर दर्शन के प्रपंच में फँस जायगा। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को प्रमाणित करने के लिए न तो तर्कों का आश्रय लिया और न दूसरों के तर्क ही सुने। वे तो अपनी अनुभूतियों पर विश्वास करते थे और उन्होंने इसलिए दार्शनिक विवादों की आलोचना भी की।

उन्होंने- **'अव्याकृतानि'** नाम से इस प्रकार के दस प्रश्नों को व्यर्थ कहा। पालि-ग्रन्थों में वे इस प्रकार हैं : (१) क्या यह जगत् शाश्वत है ? (२) क्या यह अशाश्वत है ? (३) क्या यह सान्त है ? (४) क्या यह अनन्त है ? (५) क्या आत्मा तथा शरीर एक है ? (६) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है ? (७) क्या मरने के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है ? (८) क्या मरने के बाद उनका पुनर्जन्म नहीं होता ? (९) क्या पुनर्जन्म होता भी है और नहीं भी होता ? (१०) क्या पुनर्जन्म होना, न होना, दोनों ही बातें असत्य हैं ? इन दस प्रश्नों का उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, क्योंकि जन-सामान्य के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं था। वे तो बौद्धिक प्रतिस्पर्धा का विषय था। इसीलिए उनको **'अव्याकृतानि'** कहा गया।

५. शील

शील के आचरण पर बुद्ध ने बड़ा बल दिया है। शील कहते हैं सदाचार को; जिसको अपनाकर मनुष्य मध्य मार्ग का आश्रय लेकर अपना और समाज का बड़ा उपकार कर सकता है। बुद्ध ने सर्वसाधारण और भिक्षुओं के लिए अलग-अलग शील बताये हैं। उन्होंने सर्वसाधारण के लिए पाँच शील और भिक्षुओं के लिए दस शील बताये हैं। आज संसार के कोने-कोने में सभी शांतिप्रिय राष्ट्र जिस 'पंचशील' के सिद्धान्त को मानव-कल्याण का सबसे बड़ा साधन स्वीकार कर चुके हैं; बुद्ध का यह पंचशील था : (१) हिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) यौन दुराचार से अलग रहना, (४) झूठ न बोलना और (५) नशीली वस्तुओं का सेवन न करना। इन पाँच प्रकार के आचार-नियमों के अतिरिक्त बुद्ध ने मन, वचन और कर्म की पवित्रता के लिए इन्द्रियों पर संयम रखना भी आवश्यक बताया है। बहुजन हित के लिए विचरण करने की सीख ही पुण्य था और बहुजन अहित ही पाप था। इसी प्रकार उनकी दृष्टि से बहुजन सुख ही सुख था और बहुजन असुख ही दुःख था।

६. समाधि

बौद्धग्रन्थों में मन को स्थिर एवं अचंचल रखने के लिए ध्यान का नियम बताया है। ध्यान की चार अवस्थाएँ हैं। चौथी अवस्था में पहुँचकर साधक का मन शोक-आनन्द, सुख-दुःख, उल्लास-संताप से ऊपर उठकर परिशुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। इसी को समाधि का अन्तिम लक्ष्य कहा गया है। इसलिए मन के जितने

विकार, संकल्प-विकल्प, आशा-उत्कंठाएँ आदि योगसिद्धि की बाधाएँ हैं उनको दूर करके ऐसी अवस्था को प्राप्त करना जो कि परिशुद्ध हो, समाधि से ही संभव है।

७. प्रज्ञा

बुद्ध के विचारों का एक भाग प्रज्ञा से सम्बन्धित है। प्रज्ञा कहते हैं ज्ञान को। बुद्ध ज्ञानी थे, संबुद्ध थे। उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमा प्रतिपद के सिद्धान्तों के द्वारा अपने ज्ञान-सम्बन्धी विचारों को प्रकट किया है।

चार आर्य सत्य

बुद्ध की जीवनी में यह संकेत किया जा चुका है कि आत्मा, परमात्मा, जगत्, परलोक, पाप, पुण्य और मोक्ष आदि दार्शनिक विवादों में उलझने का उनका कभी भी उद्देश्य नहीं रहा है। किन्तु इन सभी सूक्ष्म बातों पर बुद्ध से पूर्व, बुद्ध के समय और उनके बाद भी बड़े विवाद होते रहे। बुद्ध का ध्येय इन असामान्य एवं अप्रत्यक्ष बातों पर विचार करने का नहीं था। उनका तो एकमात्र ध्येय था समस्त जीवों के दुःख का अन्त किस प्रकार किया जा सकता है।

जीवों का दुःख से पीछा छूटने के लिए बड़े चिन्तन-मनन एवं प्रत्यक्ष व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद सबसे पहले सारनाथ में जो उपदेश किया था उसमें चार आर्य सत्यों की व्याख्या की। ये चार आर्य सत्य हैं: (१) दुःख, (२) दुःख का कारण, (३) दुःख का अन्त और (४) दुःखों के अन्त का उपाय। इन चार आर्य सत्यों के प्रतिष्ठाता तथा प्रवर्तक यद्यपि गौतम बुद्ध थे; फिर भी इनका समावेश हम सभी भारतीय दर्शनों में देखते हैं, यद्यपि उनका तरीका भिन्न-भिन्न है।

१. दुःख

जनसाधारण को स्थायी सुख-शांति के लिए भगवान् बुद्ध ने जिस सरल, किन्तु महान् उपाय को खोज निकाला था उसकी प्रेरणा उन्हें 'दुःख' से मिली थी। जरा, मरण, शोक और रोग के दृश्यों को देखकर ही उन्होंने घर छोड़ा था। सबसे पहले उन्होंने इसी पर विचार किया। दुःख सत्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है: 'यह जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण, शोक, रुदन, अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग और इच्छित वस्तु की अप्राप्ति; ये सभी दुःख हैं।' रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँचों उपादानस्कन्धों को उन्होंने 'दुःख' कहा है। इस पंचस्कन्ध को समझ लेने के बाद बुद्ध के इस प्रथम आर्य सत्य को समझ लेने के लिए कुछ भी बाकी नहीं रह जाता है।

पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि, ये चारों महाभूत ही 'रूप' कहलाते हैं। वस्तुओं से हमारा सम्बन्ध स्थापित होकर जब हम सुख, दुःख का अनुभव करते हैं उसी को 'वेदना' कहते हैं। पूर्व संस्कारों के कारण हमारे हृदय में जो 'यह वही वस्तु है' ऐसा भावोदय होता है उसी को 'संज्ञा' कहते हैं। रूपों और संज्ञाओं की जो छाया

तथा स्मृति हमारे मस्तिष्क में बनी रहती है और जिनकी सहायता से हम किसी वस्तु को चीन्हते हैं उसी का नाम 'संस्कार' है। चेतना या मन को ही 'विज्ञान' कहते हैं।

यही पाँच उपादानस्कन्ध हैं जो तृष्णा का स्वरूप धारण करके दुःख का कारण बनते हैं।

२. दुःख का कारण

दुःख-समुदय (हेतु) को दूसरा आर्य सत्य कहा गया है। जिन पाँच उपादान-स्कंधों का ऊपर उल्लेख किया है, ये ही दुःख के कारण हैं। दुःख को यद्यपि सभी दार्शनिक मानते हैं; किन्तु उसके कारणों के सम्बन्ध में मतभेद है। महात्मा बुद्ध का 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का सिद्धान्त ही दुःख के कारणों को जानने का एकमात्र उपाय है। संसार का कोई भी पदार्थ बिना कारण नहीं है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसका विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

राहुल जी ने लिखा है कि दुःख का प्रबल कारण तृष्णा है। भोग की तृष्णा, भव की तृष्णा और विभव की तृष्णा—ये अनेक रूप तृष्णा के हैं। इन्द्रियों के जितने भी विषय हैं उनका खयाल तृष्णा को जन्म देता है। इसी तृष्णा (काम) के लिए राजा राजाओं से लड़ते हैं। और तो क्या माता, पिता, भाई, बहिन और मित्र भी परस्पर लड़ पड़ते हैं। इस तृष्णा की पूर्ति के लिए जो अनेक उपाय प्रयोग में लाये जाते हैं वे ही दुःख के कारण हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रसंग में आगे जिन द्वादश निदानों का उल्लेख किया जायगा वे ही दुःख के मूल कारण हैं। वे त्रिकालजीवी हैं और उनकी शृङ्खला ऐसा बनी हुई है कि वे स्वतः ही होते रहते हैं। उनको 'द्वादश निदान' या 'भवचक्र' भी कहा गया है।

३. दुःख का अन्त

ऊपर दुःख की जिस तृष्णा का उल्लेख किया गया है उसी के निरोध से ही दुःख का अन्त बताया गया है। तृष्णा का परित्याग तथा विनाश तब होता है जब कि मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाले विषयों से विमोह हो जाता है। विषयों की ओर से जब मन विमुख हो जाता है तब भव (लोक) का निरोध होता है। भव के निरोध से पुनर्जन्म की आशंकाएँ मिट जाती हैं; और जब जन्म-मरण पर काबू पा लिया जाता है तब शोक, विषण्णता, दुःख, कष्ट आदि सबका नाश हो जाता है। अर्थात् इन सबका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी को दुःखों का अन्त कहते हैं। यह दुःख-निरोध समस्त बौद्ध दर्शन और विशेषतः भगवान् तथागत के सिद्धान्तों का सर्वस्व है। इस दुःख-निरोध की अवस्था को प्राप्त करके जीवितावस्था में ही निर्वाण का सुख प्राप्त किया जा सकता है।

४. दुःखों के अन्त का उपाय

दुःख क्या है, वह क्यों होता है और उसका अन्त कर देने से क्या लाभ है—बुद्ध के इन तीन आर्य सत्यों के बाद चौथा आर्य सत्य है दुःखों के अन्त करने का उपाय।

जिन कारणों से दु:ख का उदय होता है उनके नष्ट करने के उपायों को ही निर्वाण-मार्ग कहा गया है। इस दु:ख-निरोध के उपायों या निर्वाण-मार्ग को अष्टांगिक कहा गया है। गृहस्थ हो या संन्यासी, इन आठ मार्गों पर चलकर अपना अभ्युदय कर सकता है। इन आठ मार्गों के नाम हैं : सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बौद्ध विद्वानों ने इन आठ श्रेष्ठ मार्गों को तीन भागों (स्कन्धों) में विभक्त किया है, जिनका विवरण इस प्रकार है :

१ ज्ञान	सम्यक् दृष्टि सम्यक् संकल्प
२ शील	सम्यक् वाणी सम्यक् कर्म सम्यक् जीविका
३ समाधि	सम्यक् प्रयत्न सम्यक् स्मृति सम्यक् समाधि

१. सम्यक् दृष्टि

शरीर, मन और वाणी से भले-बुरे कर्मों का यथार्थ रूप में ज्ञान प्राप्त करना ही 'सम्यक् दृष्टि' है। हिंसा, चोरी और व्यभिचार—ये कायिक दुष्कर्म हैं; मिथ्या भाषण, चुगलखोरी, कटु बोलना तथा व्यर्थ बोलना—ये वाचिक दुष्कर्म हैं; और लोभ, प्रतिहिंसा तथा असत्य धारणा—ये मानसिक दुष्कर्म हैं। इनके प्रतियोगी सुकर्म कहे जाते हैं। इन्हीं अच्छे-बुरे कर्मों का ज्ञान प्राप्त कर समुचित मार्ग को अपनाना ही 'सम्यक् दृष्टि' है।

२. सम्यक् संकल्प

आर्य सत्यों के अनुसार जीवन बिताने की दृढ़ इच्छा ही 'संकल्प' है। राग, हिंसा और प्रतिहिंसा का परित्याग करना ही 'सम्यक् संकल्प' कहा जाता है।

३ सम्यक् वाणी

सम्यक् संकल्प के विमुक्त हुए व्यक्ति की पहली प्रतिक्रिया वाणी के द्वारा प्रकाश में आती है। झूठी बात, चुगलखोरी, कटु भाषण और व्यर्थ की बातों का परित्याग कर मीठी वाणी बोलने का नाम ही 'सम्यक् वाणी' है।

४. सम्यक् कर्म

हिंसा, चोरी और व्यभिचार से रहित होकर जो कार्य किया जाता है उसी को 'सम्यक् कर्मान्त' कहते हैं।

५. सम्यक् जीविका

छल-प्रपंचों एवं निषिद्ध कर्मों की जगह शुद्ध, निष्कपट एवं वास्तविक कर्मों के द्वारा जीविका का उपार्जन करना ही 'सम्यक् आजीविका' है। तत्कालीन शासक

की शोषक प्रवृत्ति को देखकर बुद्ध ने कहा था कि 'प्राणिहिंसा, युद्ध, प्राणी का व्यापार, मद्य का व्यापार, विष का व्यापार—इनके द्वारा जीवन-निर्वाह करना झूठी जीविका है।' इनका परित्याग ही सच्ची जीविका है।

६. सम्यक् प्रयत्न

इसी का अपर नाम 'सम्यक् व्यायाम' भी है। संक्षेप में बुरी भावनाओं को छोड़कर अच्छी भावनाओं की ओर प्रवृत्त होना ही 'सम्यक् प्रयत्न' है। पुराने बुरे भावों का पूरी तरह नाश कर देना, नये बुरे भावों को न अपनाना, मन को सतत अच्छे विचारों की ओर उन्मुख रखना और उन शुभ विचारों को मन में बैठाकर रख देना, ये चार प्रयत्न कहे गये हैं। धर्म मार्ग पर सतत आगे बढ़ने के लिए इन सम्यक् प्रयत्नों की नितान्त आवश्यकता है।

७. सम्यक् स्मृति

शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को चित्त और मानसिक अवस्था को मानसिक अवस्था के रूप में बराबर स्मरण करते रहना ही 'सम्यक् स्मृति' है। शरीर, चित्त, वेदना और मन की अवस्थाओं को सब कुछ मानने के कारण ही हम दुःख में पड़ जाते हैं। किन्तु इन वस्तुओं के प्रति यदि हमारी स्वाभाविक अनासक्ति हो जाय तो हमें स्वभावतः किसी प्रकार के दुःख का सामना न करना पड़ेगा। ऐसा न करने का तरीका 'सम्यक् स्मृति' से प्राप्त होता है। सम्यक् स्मृति के कारण मनुष्य सभी विषयों से विरक्त होकर सांसारिक बन्धनों में नहीं पड़ता है।

८. सम्यक् समाधि

चित्त की एकाग्रता को ही 'समाधि' कहते हैं। चित्त की एकाग्रता के लिए बुद्ध ने कहा है कि 'सारी बुराइयों से दूर रहना, अच्छाइयों का अर्जन करना और अपने [illegible] का संयम करना चाहिए।' उन्होंने अपने उपदेशों में चित्त की एकाग्रता का सार बताते हुए कहा है, 'भिक्षुओ, वह ब्रह्मचर्य का जीवन न तो लाभ, सत्कार तथा प्रशंसा के लिए है; न उससे सदाचार की आशा करनी चाहिए; न वह समाधि प्राप्ति के लिए है और न ज्ञान के लिए ही। यह ब्रह्मचर्य चित्त की मुक्ति के लिये है।'

उक्त जिन सात दुःखान्त उपायों का निर्देश किया है उनके अनुसार चलकर अन्त में मनुष्य सम्यक् समाधि में लीन हो जाता है। इस सम्यक् समाधि की चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। प्रथम तो वह विचारों में निमग्न होकर विरक्ति का अनुभव करता हुआ परम शांति का लाभ करता है। जब विचारों एवं वितर्कों का जंजाल समाप्त हो जाता है तब आनन्द के साथ-साथ शांति का अनुभव होता है। यह दूसरी अवस्था है। तीसरी कोटि की समाधि में आनन्द के प्रति भी उदासीनता हो जाती है। चौथी अवस्था में न तो दैहिक सुख और न आनन्द का भान होता है। यह अवस्था सुख और दुःख से अतीत है। इसी को 'पूर्ण प्रज्ञा' की अवस्था कहा जाता है। यही निर्वाण है।

प्रतीत्यसमुत्पाद

बुद्ध के विचारों में और विशेषतः बौद्ध दर्शन में जीव, आत्मा, जगत् और जन्म के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है उसका आधार 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है।

'प्रतीत्यसमुत्पाद' मध्य मार्ग का सिद्धान्त है। इस मध्यमत के अनुसार एक ओर तो वस्तुओं के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है; किन्तु उनको नित्य नहीं कहा जा सकता है। उनकी उत्पत्ति दूसरी वस्तुओं से होती है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार वस्तुओं का पूर्ण विनाश भी नहीं होता; बल्कि उनका अस्तित्व बना रहता है। इसलिए वस्तु न तो पूर्ण नित्य है और न पूर्ण विनाशशील ही।

'प्रतीत्यसमुत्पाद' को बुद्ध ने धर्म के नाम से कहा है। उनके विचारों का यह मुख्य पहलू है। एक वस्तु के बाद दूसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है, इसी सनातन नियम को बुद्ध ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' नाम दिया है। बुद्ध के इस मत के अनुसार प्रत्येक (वस्तु या घटना की) उत्पत्ति का कोई कारण होता है। इसी कारण या हेतु को बुद्ध ने 'प्रत्यय' कहा है। यह 'प्रत्यय' किसी वस्तु या घटना के प्रकाश में आने के पहले क्षण सदैव लुप्त रहता है। इसलिए 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के अनुसार कार्य-कारण-सम्बन्ध को विच्छिन्न माना जाता है। बुद्ध के इस सिद्धान्त में आत्मा को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उपनिषदों तथा 'गीता' के अनुसार न तो वह नित्य है, न ध्रुव है और न अविनाशी ही। उनकी दृष्टि से 'आत्मवाद' भयंकर अन्धकार (महा अविद्या) है। इस अविद्या के कारण ही जीव बारह अवस्थाओं (भयचक्र) में चक्कर काटता रहता है। इनको जीव के 'द्वादशांग' कहा गया है।

'विग्रहव्यावर्तिनी' में आचार्य नागार्जुन ने 'प्रतीत्य समुत्पाद' को 'शून्यता' के नाम से कहा है। उन्होंने उसको दो अर्थों में ग्रहण किया है। पहले अर्थ के अनुसार सभी वस्तु अपनी उत्पत्ति के लिए दूसरे हेतु (प्रत्यय) पर निर्भर हैं। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का दूसरा अर्थ क्षणिकता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु या घटना क्षण भर के लिए उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है। इस दूसरे अर्थ से यह सिद्ध हुआ कि वस्तुओं का प्रवाह विच्छिन्न है। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के उक्त दोनों अर्थ निष्प्रयोजन नहीं हैं। यह बुद्ध के आदर्शों के अनुसार है। बुद्ध न तो आत्मवादी थे और न भौतिकवादी ही। उन्होंने आत्मवादियों तथा भौतिकवादियों के विरुद्ध, वस्तुओं के विच्छिन्न प्रवाह में विश्वास किया है। उन्होंने प्रतीत्य (विच्छिन्न) का मध्यम मार्ग अपनाया।

'प्रतीत्यसमुत्पाद' का अर्थ है पराश्रित उत्पादन। अर्थात् सभी वस्तुओं की उत्पत्ति दूसरी वस्तुओं पर निर्भर है। इस दृष्टि से इन पराश्रित सत्ता वाली वस्तुओं के कर्त्ता, कर्म, कारण और क्रिया को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार वस्तुओं के पराश्रित उत्पाद (प्रतीत्यसमुत्पाद) होने से किसी भी वस्तु की सत्ता को सिद्ध, असिद्ध, न सिद्ध और न असिद्ध कहा जा सकता है उसी भाँति उनके कार्य, कारण, कर्म और कर्त्ता की भी व्यवस्था नहीं हो सकती है।

अनित्यतावाद और क्षणिकवाद

बुद्ध और परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने वस्तु की सत्ता पर गम्भीर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। किसी वस्तु का अस्तित्व तब है, जब पहले वह अनित्य है। इस दृष्टि से बाहरी स्थूल जगत् और आन्तरिक सूक्ष्म जगत्, दोनों ही क्षणिक हैं। बुद्ध का यह दृष्टिकोण, उपनिषदों के आत्मवाद के विपरीत था। आत्मवाद के अनुसार क्षण-क्षण परिवर्तनशील इस स्थूल जगत् की तह में एक सूक्ष्म तत्त्व है, जिसका नाम आत्मा है। इसी आत्मवाद को ब्रह्म-वाद कहा गया है और वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित् तथा आनन्द बताया गया है। इस ब्रह्मवाद तथा आत्मवाद के विरोध में बुद्ध तथा बौद्ध विचारकों ने अनित्यता-वाद एवं क्षणिकवाद की प्रतिष्ठा कर वेदान्त के सत्, चित्, आनन्द को क्रमशः अनित्य, दुःख और अनात्म कहकर अमान्य घोषित किया। वेदांत का सत् अर्थात् नित्य को अनित्य, चित् अर्थात् आत्मा को अनात्म और आनन्द अर्थात् सुख को दुःख कहकर बुद्ध ने एक नयी विचारधारा को जन्म दिया।

अनित्यतावाद

'महापरिनिर्वाणसूत्र' में लिखा है, "जो नित्य तथा स्थायी जान पड़ता है, वह भी नश्वर है; जो महान् दिखायी देता है उसका भी पतन है; जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है; और जहाँ जन्म है वहाँ मृत्यु भी है।" 'संयुक्तनिकाय' में प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष बताये गये हैं। 'प्रत्येक वस्तु है' एक पक्ष यह है और 'प्रत्येक वस्तु नहीं है' यह दूसरा पक्ष है। ये दोनों पक्ष एकान्तिक हैं। बुद्ध ने इन दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। उनका कहना है कि जीवन संभूति है, भावरूप है। दुनिया की सभी वस्तुएँ अनित्य धर्मों के संघात पर टिकी हैं। अतः वे अनित्य हैं। उनमें उत्पाद है, स्थिति है और निरोध है। यही बुद्ध का अनित्य सिद्धान्त है।

क्षणिकवाद

बुद्ध ने जिसको अनित्यवाद के नाम से कहा था, बुद्ध के अनुयायियों ने उसको 'क्षणिकवाद' नाम दिया। क्षणिकवाद के अनुसार जिसकी उत्पत्ति है उसका अवश्य ही विनाश होता है। क्षणिकवाद प्रत्येक वस्तु को अनित्य तो मानता है, किन्तु वह इससे भी बढ़कर प्रत्येक वस्तु की सत्ता को क्षणभंगुर मानता है।

इनकी पुष्टि में बौद्ध विचारकों ने अनेक तर्क दिये हैं। उनका कहना है कि जो वस्तु खरगोश के सींग की भाँति सर्वथा असत् है उससे उत्पत्ति और विनाश की क्रिया का कोई संबंध नहीं। इसलिए जो वस्तु कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती वह असत् है और जो वस्तु कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती उसका कोई अस्तित्व नहीं है। एक वस्तु

में एक समय एक ही कार्य हो सकता है, दूसरे क्षण दूसरा कार्य। एक बीज एक क्षण में एक ही क्रिया उत्पन्न करता है। एक क्षण वह पौधे को जन्म देता है तो दूसरे क्षण वह थोड़ा बढ़ जाता है। दूसरे क्षण के आने पर उसका पहला क्षण समाप्त हो जाता है। इसका यह आशय हुआ कि विकास की क्रिया में कोई भी दो क्षण एक ही नहीं हैं। इस दृष्टि से कोई भी मनुष्य किन्हीं दो क्षणों में एक जैसा नहीं रहता है। यही क्षणिकवाद का सिद्धान्त है।

दिङ्नाग आदि बौद्धों ने वस्तु की क्षणिकता को तार्किक भूमि पर ले जाकर यह सिद्ध किया कि वस्तु की स्थिति क्षणिक है। वह उत्पन्न हुई, यही उसका विनाश है। उत्पत्ति और विनाश का फल एक ही है (**अर्थोत्पन्नः विनष्टः इत्येककालः। उत्पत्ति-विनाशौ एककालौ**)। इस दृष्टि से संसार की प्रत्येक वस्तु जन्म के साथ ही मृत्यु को भी बाँधे रहती है। इसलिए प्रिय के प्रति आसक्ति और अप्रिय के प्रति विराग ये सभी बातें क्षणिक हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि क्षणिक होने के भय से जीवन की सभी दिशाओं को सूना समझकर मनुष्य अकर्मण्य हो जाय; बल्कि जीवन के प्रति अधिक सक्रिय और निष्ठावान् बनकर वह आने वाले क्षण को अपनी रुचि के अनुसार उन्नत बनाने की चेष्टा करे।

क्षणिकवाद की आलोचना

बौद्धों के क्षणिकवाद का जैनों और वेदान्तियों ने प्रबल खण्डन किया है। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने क्षणिकवाद के विरुद्ध पाँच तर्क उपस्थित किये हैं। वे हैं :

१. कृत प्रणाशा, २. कृत कर्मभोग, ३. भवभंग, ४. मोक्षभंग और ५. स्मृतिभंग।

१. कृत प्रणाशा : कृत प्रणाशा का अर्थ है कर्म का सर्वथा लोप। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण बदलता रहता है तो जिस क्षण में जिस व्यक्ति ने जो कर्म किया है, दूसरे क्षण, दूसरा व्यक्ति हो जाने के कारण वही उस कर्म का फल कैसे प्राप्त कर सकता है? इस दृष्टि से तो कर्म करने वाला और कर्मफल का उपभोक्ता, कोई भी न होगा।

२. कृताकर्मभोग : यदि आत्मा क्षण-क्षण परिवर्तनशील है तो किये गये कर्मों के फलोपभोग भी परिवर्तित होते रहेंगे और इस प्रकार कर्मभोग की कोई स्थिति न रह जायगी।

३. भवभंग : यदि आत्मा क्षण-क्षण परिवर्तनशील है तो तृष्णाओं के कारण अज्ञान नष्ट न होगा और इसलिए जीव सतत इस 'भवचक्र' में घूमता रहेगा।

४. मोक्षभंग : क्षणिकवाद के अनुसार कर्म, व्यक्ति, आत्मा आदि जब क्षणिक हैं तो दुःख भी क्षणिक है। अतः उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न भी व्यर्थ है। इस दृष्टि से बुद्ध के चार आर्य सत्य निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं और निर्वाण का सिद्धान्त भी व्यर्थ सिद्ध होता है।

५. स्मृतिभंग : जब कि मनुष्य क्षण-क्षण परिवर्तनशील है तो उसके विगत

अनुभवों की स्मृति भी क्षणिक होने से क्षण के साथ ही विलुप्त हो जाती है। इसलिए मन की स्मृति आदि क्रियाओं का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

शङ्कराचार्य

१. **ज्ञान का अभाव** : जब कि आत्मा, मन आदि परिवर्तनशील हैं तब प्रवृत्तियाँ भी जिनमें ज्ञान संचित रहता है, परिवर्तनशील होने के कारण, मनुष्य में ज्ञान का स्थायित्व नहीं बना रह सकता। प्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त वह ज्ञान मन ग्रहण करता है और मन के द्वारा वह आत्मा तक पहुँचता है। आत्मा उस ज्ञान को संचित रखता है। किन्तु जब इन्द्रिय, मन और आत्मा सभी क्षणिक हैं तो ज्ञान के इस तारतम्य को कैसे बनाये रखा जा सकता है ?

२. **कार्यकारण का अभाव** : इसी प्रकार क्षणिकवाद के अनुसार जब एक कारण की स्थिति एक ही क्षण है तो उससे कार्य की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है। ऐसी स्थिति में कार्य की उत्पत्ति शून्य से मानी जाने लगेगी और 'बिना कारण के कर्म की उत्पत्ति' का नया सिद्धान्त स्थापित हो जायगा। इसलिए यदि कारण से कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी और उसकी स्थिति एवं विनाश पर विश्वास किया जायगा तो क्षणिकवाद का सिद्धान्त बन ही नहीं सकता है।

इसलिए क्षणिकवाद का सिद्धान्त अनैतिक, अव्यावहारिक और अवैज्ञानिक है।

अनात्मवाद और पुनर्जन्म

अनात्मवाद

बुद्ध के दर्शन में जिस प्रतीत्यसमुत्पाद और आर्य सत्यों का निरूपण किया गया है उसका आधार है दुःख, अनात्म और अनित्य। बुद्ध के मतानुसार इस दृश्यमान जगत् की सभी वस्तुएँ विनाशशील (अनित्य) हैं। उनमें एक क्षण के लिए भी स्थिरता नहीं है। इसके अतिरिक्त उनका कहना है कि जीव के भीतर कोई भी वस्तु नहीं है, जिसको हम आत्मा कह सकें। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—इन पाँचों का संघात हमारा जीवन (शरीर) है।

बुद्ध के मतानुसार रूप, वेदना, संस्कार, संज्ञा और विज्ञान, जगत् की ये सारस्वरूप श्रेष्ठ वस्तुएँ अनित्य हैं। अनित्य होने के कारण वे दुःखप्रद हैं। यदि वे दुःखप्रद हैं तो उनके सम्बन्ध में यह सोचना भी कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ' तथा 'यह मेरी आत्मा है' सर्वथा अनुचित है। ज्ञान हो जाने पर सभी वस्तुओं के वास्तविक अस्तित्व और स्थिति का पता चलता है।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा समझना भूल है, क्योंकि एक तो वे रोग तथा बाधाओं से ग्रस्त हैं और दूसरे में क्षणिक हैं। इनको आत्मा नहीं कहा जा सकता, वरन् दुःख कहा जा सकता है। जब ये वस्तुएँ आत्मा नहीं हैं तो इनसे सम्बन्ध रखना ही उचित नहीं है। बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा है कि इनसे मनुष्य जाति

का जब कोई कल्याण सम्भव ही नहीं तो उनके ऊहापोह में पड़ने की आवश्यकता ही क्या ?

इनकी असारता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार कहा :

क्या रूप अनित्य है या नित्य ?
अनित्य ।
जो अनित्य है वह सुख है या दुःख ?
दुःख ।
जो चीज अनित्य है, दुःख है, विपरिणामी है, क्या उसके विषय में इस प्रकार के विकल्प करना ठीक है कि 'यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरा आत्मा है' ?
नहीं ।

इसी प्रकार उन्होंने वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न किये और उन सबको अनात्म बताया ।

रूप, वेदना, संस्कार, संज्ञा और विज्ञान इन पाँच स्कंधों के मेल से बने हुए इस शरीर का तथा इसमें रहने वाले आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका स्पष्टीकरण इस कथा में किया गया है ।

पाँच स्कन्धों का सघात (मेल)

एक बार एक ग्रीक राजा, एक बौद्ध-भिक्षु के पास गया । उस भिक्षु का नाम था नागसेन । राजा ने नागसेन से पूछा, 'महाराज, आप कहते हैं कि हमारे व्यक्तित्व में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो स्थिर हो । फिर यह बताइये कि वह क्या है, जो संघ के सदस्यों को आज्ञा देता है, पवित्र जीवन व्यतीत करता है, उपासना करता है, निर्वाण प्राप्त करता है और पाप-पुण्य का फल भोगता है ? आपको संघ का सदस्य नागसेन कहते हैं । यह नागसेन कौन है ? क्या सिर के बाल नागसेन हैं ?'

भिक्षु ने उत्तर दिया, 'ऐसा नहीं है ।'

राजा ने कहा, 'क्या ये दाँत, मांस तथा मस्तिष्क आदि नागसेन हैं ?'

'नहीं ।' भिक्षु ने कहा ।

राजा का प्रश्न था, 'फिर क्या आकार, वेदनाएँ अथवा संस्कार नागसेन हैं ?'

'नहीं ।' भिक्षु का फिर भी वही उत्तर था ।

'तो क्या ये सब वस्तुएँ मिलाकर नागसेन कहलाती हैं ? या इनके बाहर की कोई वस्तु है, जो नागसेन है ?'

उत्तर था, 'नहीं ।'

'तो फिर इसका यह मतलब हुआ कि नागसेन कुछ नहीं है । जिसे हम अपने सामने देख रहे हैं और जिसको हम नागसेन कह रहे हैं वह कौन है ?'

भिक्षु ने राजा के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया । उसने राजा से ही प्रश्न करना

आरम्भ किया। कहा, 'राजन्, क्या आप पैदल आये हैं ?'

'नहीं, रथ पर।' राजा ने कहा।

'फिर तो आप जरूर जानते होंगे कि रथ क्या है। क्या यह पताका रथ है ?' भिक्षु ने प्रश्न किया।

राजा का उत्तर था, 'नहीं'।

'क्या ये पहिये या यह धुरी रथ है ?'

'नहीं।'

'फिर क्या ये रस्सियाँ या यह चाबुक रथ है ?'

'नहीं।'

'तो, क्या इनके बाहर कोई चीज है, जो रथ है ?'

'नहीं।'

अब भिक्षु ने समझाया, 'तो फिर रथ कुछ नहीं है। जिसे हम अपने सामने देख रहे हैं, और रथ कह रहे हैं. यह क्या है ?'

इस पर राजा बोला, 'इन सब के साथ होने पर ही उसे रथ कहा जाता है, महात्मन्।'

इस पर भिक्षु नागसेन ने कहा, 'राजन्, तुम ठीक कहते हो। ये सब वस्तुएँ ही मिलकर रथ हैं। इसी प्रकार पाँच स्कन्धों के संघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने बुद्ध के इस अनात्मवाद पर आक्षेप किये हैं। किन्तु उस युग में तथा उससे पूर्व आत्मा को जो स्थान दिया गया था वह बुद्ध के अनात्मवाद से भी अधिक अस्पष्ट था। बुद्ध से पहले यह कहा गया था कि आत्मा बन्ध्य, कूटस्थ तथा नगर द्वार पर खड़े स्तम्भ की तरह है। वह जड़ है। चार महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) से उसका निर्माण हुआ है। उसके माँ बाप हैं। शरीर के बाद उसका विनाश हो जाता है। मृत्यु के बाद वह रहता ही नहीं। यह जो आत्मा को अनुभव होता है और जहाँ-जहाँ वह अपने भले-बुरे कर्मों के विधान को अनुभव करता है, वहाँ वह शाश्वत है, नित्य है, अपरिवर्तनशील है और अनन्तकाल तक वैसा ही बना रहेगा।

बुद्ध ने आत्मा से सम्बन्धित इन परम्परागत तथा सामाजिक सिद्धान्तों पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला कि शरीरान्त के बाद आत्मा का नाश (विच्छेद) हो जाता है। बुद्ध ने उक्त वादों से बचकर 'नैरात्म्यवाद' को अपनाया।

बुद्ध की मान्यता है कि इस क्षणभंगुर संसार में निर्वाण को छोड़कर सभी वस्तुएँ विनाशशील तथा परिवर्तनशील हैं। हमारी यह काया ही जब क्षणिक है तो आत्मा जैसी स्थिर वस्तु उसमें रह ही कैसे सकती है ?

जन्म-मरण का प्रश्न लेकर जब किसी ने बुद्ध से प्रश्न किया तो अपने उस जिज्ञासु को बुद्ध ने समझाया, शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानना एक अन्त है, और शरीर से भिन्न आत्मा है, ऐसा मानना दूसरा अन्त है। मैं इन दोनों को छोड़कर मध्यम मार्ग का उपदेश देता हूँ।

'अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से छह आयतन, छह आयतनों से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति (जन्म) से जरा-मरण, यही इसका रहस्य है और, यही प्रतीत्यसमुत्पाद है।'

भगवान् बुद्ध को केवल शरीरात्मवाद ही अमान्य है, बल्कि सर्वान्तर्यामी, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, ऐसा अनात्मवाद भी उन्हें अमान्य है। उनके मत से न तो आत्मा, शरीर से अत्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा, शरीर-अभिन्न ही।

बुद्ध ने उच्छेदवाद और शाश्वतवाद की अतिवादिता को त्याग कर बीच का मार्ग अपनाते हुए यह सिद्ध किया है कि संसार में दुःख, सुख, कर्म, जन्म, मरण, बंध, मोक्ष आदि सब हैं; किन्तु इन सबका कोई स्थिर आधार आत्मा नहीं है। ये अवस्थाएँ एक नयी अवस्था को पैदा कर फिर नष्ट हो जाती हैं। पूर्व का न तो सर्वथा उच्छेद होता है और न वह नित्य ही है। पूर्व की सारी शक्ति उत्तर में हस्तान्तरित हो जाती है; या यों कहना चाहिए कि पूर्व का उत्तर में अस्तित्व हो जाता है।

पुनर्जन्म – Misconception of Buddhism

अनात्मवाद को मानते हुए भी बौद्ध विचारकों के मत से पुनर्जन्म का सिद्धांत वास्तविक है। पुनर्जन्म का सिद्धांत जानने के लिए 'अहं' वस्तु का जान लेना आवश्यक है, जिसका उचित समाधान प्रतीत्यसमुत्पाद और कर्मवाद के प्रसंग में किया जा चुका है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त वस्तुतः भवचक्र पर आधारित है। उत्पत्ति-प्रक्रिया ही भवचक्र है।

बुद्ध ने जरा-मरण के रहस्य को समझ कर चार आर्य सत्यों को खोज निकाला। इस भवचक्र में उन्होंने दुःख का हेतु 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के द्वारा स्पष्ट किया। प्रतीत्य अर्थात् कार्य के प्रति कारणों के इकट्ठा होने पर और समुत्पाद अर्थात् उत्पत्ति। इसका यह आशय है कि ऐसे कारण कौन-कौन से हैं, जिनके होने पर जरा-मरण रूप दुःख उत्पन्न होता है। बुद्ध ने उसके बारह कारण गिनाये : १. अविद्या, २. संस्कार, ३. विज्ञान, ४. नामरूप, ५. षडायतन, ६. स्पर्श, ७. वेदना, ८. तृष्णा, ९. उपादान, १०. भव, ११. जाति और १२. जरा-मरण। इसको 'भवचक्र' कहा गया है।

बुद्ध का कथन है कि जीव का इससे भी पहले भी कोई जन्म अवश्य था, जिसके कारण मनुष्य अनादि काल से अज्ञान (अविद्या) के अन्धकार में पड़ा हुआ है। ये जन्मान्तर के बुरे कर्म ही 'संस्कार' हैं। उन कर्मों को भोगने के लिए मनुष्य इस जन्म में आया, इसका रहस्य 'विज्ञान' बताता है। जन्म धारण करने के बाद मनुष्य को 'नामरूप' अर्थात् भौतिक और मानसिक स्वरूप मिले। उसके बाद उसमें छह इन्द्रियों का समावेश हुआ और उसको 'षडायतन' कहा गया। इन्द्रियों के प्राप्त हो जाने पर जीव में बाह्य-जगत् के 'स्पर्श' का आधान हुआ, जिसके फलस्वरूप उसको 'वेदना' का अनुभव हुआ। इन्द्रिय तथा विषयों का संयोग होने के बाद उसमें 'तृष्णा'

का आधान हुआ, जिससे उसकी सुखप्रद वस्तुओं के प्रति रुचि हुई। इसी को 'उपादान' (ग्रहण करना) या आसक्ति कहा जाता है। इस प्रकार वह 'भव' (संसार) के अच्छे बुरे कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ। इन कर्मों के परिणामस्वरूप उसको दूसरे 'जन्म' (जाति) में लिप्त होना पड़ा जिसका परिणाम मृत्यु, अर्थात् 'जरा-मरण' है।

इस दृष्टि से पुनर्जन्म का सम्बन्ध, भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों कालों से है। यह भवचक्र मनोवैज्ञानिक है; किन्तु बुद्ध का कहना है कि मनुष्य या जीव तब तक इस भवचक्र में घूमता रहता है, जब तक उसका वह अज्ञान नष्ट न हो जाय, जो तृष्णा का कारण है।

तथागत के भवचक्र का स्वरूप इस रूप में समझा जा सकता है :

१. अविद्या २. संस्कार	भूत जीवन
३. विज्ञान ४. नामरूप ५. षडायतन ६. स्पर्श ७. वेदना ८. तृष्णा ९. उपादान १०. भव	वर्तमान जीवन
११. जाति १२. जरा-मरण	भविष्य जीवन

जन्म-मरण का रहस्य लेकर किसी ने जब बुद्ध से प्रश्न किया तो अपने उस जिज्ञासु को तथागत ने समझाया, 'शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानना एक अन्त है और आत्मा, शरीर से भिन्न है, यह मानना दूसरा अन्त है।'

कर्मवाद

प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रसंग में कहा जा चुका है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन, उसकी पूर्ववर्ती अवस्था का ही परिणाम है। कर्मवाद भी यही बताता है। एक बार एक शिष्य का सिर फट गया। वह तथागत के पास गया। तथागत ने उससे कहा, 'हे अर्हत, इसे ऐसा ही सहन करो। तुम अपने उन कर्मों का फल भुगत रहे हो, जिनके कारण तुम्हें दीर्घकाल तक नरक जैसा कष्ट सहन करना पड़ता।' इस उक्ति के अनुसार बुद्ध ने कर्मों की भवितव्यता को बड़ा बलवान् बताया।

बौद्ध दर्शन के अनुसार जीव का वर्तमान जीवन, उसके पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का परिणाम है और उसके वर्तमान जीवन के कर्म उसके भावी जीवन का फल निर्धारित करते हैं। यह कर्मफल जीवन के चरित्र के अनुसार मिलता है। जैसा कर्म जो करेगा वैसा ही उसको फल मिलेगा। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि जीव कर्मों के अधीन है, बल्कि कर्म उसके अधीन है। वह कर्मों से नहीं बँधा है। उसके

वर्तमान चरित्र पर निर्भर है कि वह अपना भविष्य पापमय बनाये या पुण्यमय। यदि मनुष्य कर्मों से बँधा माना जाय तो अकर्मण्यता फैल जायगी। कर्मों का करने के लिए व्यक्ति धार्मिक-जीवन बिताता है। दुःखों से छुटकारा पाने के लिए वह अच्छे कर्म करता है। भवचक्र के अनुसार कारण-कार्य, कर्म-कर्मफल की शृङ्खला अटूट रूप से बनी रहती है। जन्म और मरण उसी के फल हैं। किन्तु इस भवचक्र से आध्यात्मिक जीवन बिताते हुए पूर्व-कर्मों का नाश और पर-कर्मों का संचय न करके मुक्ति पायी जा सकती है। जन्म-मरण का आत्यन्तिक अभाव ही 'निर्वाण' है। निर्वाण, ज्ञान की अन्तिम अवस्था है। उससे पूर्व कर्मों की शृङ्खला अज्ञान और वासनाओं का कारण है। निर्वाण के बाद यह शृङ्खला टूट जाती है।

बुद्ध के अनुसार तब पुनर्जन्म नहीं होता। निर्वाण प्राप्ति के बाद कर्म और विज्ञान, दोनों नष्ट हो जाते हैं।

कर्मवाद और अनात्मवाद

कर्मवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में बताया गया है कि नया जन्म पिछले कर्मों का फल है। किन्तु यदि आत्मा, जो कि जन्मान्तर में व्यक्ति के कर्मों का संचय ले जाता है, जब अनित्य है तो फिर जन्मान्तर और कर्म का सिद्धान्त कैसे बन सकता है? बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद तो आत्मा को क्षणिक और कर्मान्तर, जन्मान्तर का सिद्धान्त ही समाप्त कर देता है। यदि क्षण-क्षण अलग-अलग आत्माओं की स्थिति भी मान ली जाय तो एक आत्मा में संचित कर्म दूसरे आत्मा में किस प्रकार प्रवेश कर सकते हैं?

इसके उत्तर में बौद्ध विचारकों का कथन है कि यद्यपि आत्मा अनित्य है, क्षणिक है, फिर भी वह अपने द्वारा संचित संस्कारों को अगले आत्मा में पहुँचा देता है। उन्होंने दीपक की लौ का उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार दीपक की लौ में अटूट सम्बन्ध होते हुए भी वैसा ही दिखाई देता है; अर्थात् बिना व्यक्तिक्रम के एक लौ दूसरी लौ को ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार एक आत्मा दूसरी आत्मा के संचित संस्कारों को ग्रहण कर लेता है; और इस तरह कर्मवाद तथा अनात्मवाद का समन्वय हो जाता है।

विज्ञानवाद और ब्रह्मवाद

बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त 'विज्ञानवाद' के नाम से और शंकर के अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त 'ब्रह्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों सिद्धान्तों में कहाँ तक एकता और कहाँ तक अनेकता है, यह जान लेना आवश्यक है।

बौद्धों के चार दार्शनिक और धार्मिक संप्रदाय हुए : माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इनमें सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत वाले बौद्ध विद्वान् घट, पट आदि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं। उनमें अन्तर यही है कि वैभाषिक जहाँ बाह्य अर्थों को प्रत्यक्षसिद्ध मानते हैं, वहाँ सौत्रान्तिक अर्थों को प्रत्यक्ष न

मानकर अनुमानसिद्ध मानते हैं। शेष दोनों संप्रदाय वाह्य अर्थों को नहीं मानते। माध्यमिक मत 'शून्यवाद' को और योगाचार 'विज्ञानवाद' को मानता है।

विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है, अर्थों का कोई अस्तित्व नहीं है। ये घट-पटादि पदार्थ स्वप्न में देखी गयी वस्तुओं के समान केवल कल्पित और भ्रमयुक्त हैं। ज्ञान के द्वारा हम व्यावहारिक जगत् के स्वप्नाविष्ट और दृष्टि-गोचर, दोनों प्रकार के पदार्थों का बोध कर सकते हैं। ज्ञान के अतिरिक्त अर्थों का कोई अस्तित्व नहीं है। यह समस्त दृश्यमान जगत् स्वप्नवत्, कल्पित और मिथ्या है।

शंकर के ब्रह्मवाद के अनुसार इस परिवर्तनशील जगत् का यथार्थ तत्त्व 'ब्रह्म' है। यह जगत् स्वतः कल्पित और भ्रममात्र है। शंकर के अनुसार यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्त अर्थात् 'अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति'; जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति।

शंकर का यह सिद्धान्त और उनसे पूर्व भी गौड़पाद तथा 'माण्डूक्य उपनिषद्' की कारिकाओं में जगत् तथा ब्रह्म का यही दृष्टिकोण विवेचित है। शंकर का यह जगद्-विषयक अभिमत विज्ञानवादी बौद्धों के मतानुसार स्वप्नाविष्ट तथा परिकल्पित वस्तुओं के समान भ्रममात्र है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से बौद्धों के 'विज्ञानवाद' और शंकर के 'ब्रह्मवाद' में पर्याप्त समानता है, यद्यपि दोनों सिद्धान्त एक ही नहीं हैं। उनमें कुछ अन्तर भी है। बौद्धों के विज्ञानवाद के अनुसार सब कुछ क्षणिक है; किन्तु शंकर के मतानुसार ब्रह्म नित्य है। दोनों सिद्धान्तों में समानता इस बात में है कि बौद्ध 'विज्ञान' के अतिरिक्त और शंकर 'ब्रह्म' के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। इन दोनों के समान दृष्टिकोणों को लेकर विज्ञान भिक्षु ने 'पद्मपुराण' का एक श्लोक अपने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में उद्धृत कर शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। श्लोक है :

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मय्यैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

विज्ञानवाद का 'ज्ञान' ही ब्रह्मवाद का 'ब्रह्म' है। यही इन दोनों सिद्धान्तों का निष्कर्ष है।

निर्वाण

बुद्ध की दृष्टि से निर्वाण कहते हैं बुझ जाने को। विच्छिन्न प्रवाह के रूप से उत्पन्न नामरूप तृष्णा के वशीभूत होकर जो एक जीवन-प्रवाह का रूप धारण कर सतत गतिशील है, इसी गति या प्रवाह का सर्वथा विच्छेद हो जाना ही 'निर्वाण' है। दीपक में डाले गये तेल के समाप्त हो जाने पर जैसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार काम, भोग, पुनर्जन्म और आत्मा के नित्यत्व आदि आस्रवों के क्षीण हो जाने पर आवागमन नष्ट हो जाता है। बुद्ध ने उस अवस्था को निर्वाण की अवस्था कही है, जहाँ तृष्णा नष्ट हो गयी है और भोगादि आस्रवों का कोई अस्तित्व नहीं रह गया है।

किन्तु निर्वाण, अर्थात् जीव के मर जाने के बाद क्या होता है, इसको बुद्ध ने इस आशय से कहना छोड़ दिया है कि जो व्यक्ति अनात्मवाद को जान लेता है उसके लिए 'निर्वाण' की उक्त अवस्था का जानना शेष नहीं रह जाता है। इस सम्बन्ध में अधिक कहना उन्होंने वैसे ही समझा जैसे कि अज्ञानी बालकों के सामने गूढ़ बातों की व्याख्या करके उन्हें चौंका दिया जाय। इसको उन्होंने 'अव्याकृत' (अकथनीय) के अन्तर्गत माना है। बुद्ध ने लोक, अनित्य, जीव, शरीर, पुनर्जन्म और निर्वाण (मुक्ति) के सम्बन्ध में कहा है कि उन्हें बताने की आवश्यकता ही नहीं है। उन्होंने कहा है कि 'मैं इन दस अव्याकृतों (अकथनीयों) के सम्बन्ध में कुछ कहना इसलिए उपयुक्त नहीं समझता कि न तो वे ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी हैं, न वैराग्य, न शान्ति, न निर्वाण के लिए ही।'

निर्वाण का आशय जीवन की समाप्ति नहीं; बल्कि जीवन की अनन्त शांति की अवस्था है। निर्वाण का आशय है मृत्यु के बाद सर्वथा अस्तित्वरहित हो जाना। निर्वाण से जो 'बुझने' का अर्थ लिया जाता है उसका आशय जीवन का 'अन्त' न होकर लोभ, घृणा, हिंसा आदि प्रवृत्तियों के बुझ जाने से है। जब वासनाएं बुझ जाती हैं तो भूत जीवन, भावी जीवन और वर्तमान जीवन के जो द्वादश भवचक्र हैं उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। जीवन के इन आस्रवों (नशों) का ठंडा पड़ जाना ही जीवन का निर्वाण है। इसलिए निर्वाण को 'सितिभाव की अवस्था' कहा गया है। जीवन की वह पवित्रता, शांति, शिवत्व और प्रज्ञा की अवस्था है।

राग, द्वेष, घृणा, कर्म आदि बंधन के बीज हैं। इन्हीं से पूर्वजन्म का चक्र चलता है। किन्तु बीज का निरोध कर देने से वह पल्लवित तथा अंकुरित नहीं होने पाता। जैसे भूंजे हुए बीज को धरती में बो देने से वह उग नहीं पाता उसी प्रकार कर्म-बन्धनों के बीज निरुद्ध हो जाने पर वे फिर नहीं फलते।

निर्वाण वस्तुतः निःश्रेयस, मुक्ति, अमृत, परमानन्द और परम शांति की अवस्था है। वह वर्णनातीत है। वह तर्क और प्रमाण से रहित अलौकिकावस्था है। उस अवस्था तक पहुँचने के लिए बौद्ध दर्शन में आठ मार्ग (अष्टांग) बताये गए हैं।

बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' में कहा गया है कि 'स्वास्थ्य की प्राप्ति बड़ा लाभ है, संतोष ही सबसे बड़ा धन है, विश्वास ही सबसे बड़ा सम्बन्धी और निर्वाण ही परम सुख है':

आरोग्या परमा लाभा संतुष्ठि परमं धनम्।
विस्साम परमा जाति निब्बाणं परमं सुखम्॥

*

न्याय दर्शन

* * * *

नामकरण

न्याय दर्शन की सत्ता बहुत प्राचीन है। न्याय दर्शन तर्कवादी दर्शन है। तर्कशास्त्र का अस्तित्व बौद्धों से पहले का है। उपनिषद्, 'रामायण', 'महाभारत', 'मनुस्मृति', 'गौतमधर्मसूत्र', 'अर्थशास्त्र' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' आदि ग्रन्थों में तर्कशास्त्र को हेतुविद्या, तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, वादविद्या, न्यायविद्या, न्यायशास्त्र और प्रमाणशास्त्र आदि अनेक नामों से कहा गया है। न्याय का प्राचीन नाम 'आन्वीक्षकी' भी था। 'अन्वीक्षा' का अर्थ है प्रत्यक्ष तथा आगम के द्वारा उपलब्ध ज्ञान या प्रत्यक्ष तथा शब्द के द्वारा उपलब्ध विषय का अनु = पश्चात्, ईक्षण = अवलोकन करना। अतः तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुसंधान करना ही 'आन्वीक्षकी' है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में अन्वीक्षकी की गणना चार विद्याओं में की गयी है और उसको सब विद्याओं का प्रदीप, तथा सब कर्मों का उपाय और सब धर्मों का आशय कहा गया है। 'महाभारत' में महर्षि नारद को पंचावयवयुक्त वाक्य के गुणदोषों का जानने वाला कहा गया है **'पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषविद'**। 'महाभारत' के इस प्रसंग की व्याख्या श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण के ग्रन्थ (हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लॉजिक, पृ० १७) में बड़े विस्तार से की गयी है।

'न्याय' शब्द का अर्थ है 'जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्ध की जा सके या जिसके द्वारा किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके' (**नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः**)। इस विवक्षितार्थ की सिद्धि पंचावयव वाक्यों से होती है। इसीलिए पंचावयव वाक्यों का अपर नाम न्याय या न्याय-प्रयोग भी है (**पञ्चावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः**)। ये पंचावयव वाक्य हैं : प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय या विवक्षितार्थ की सिद्धि का तरीका इस प्रकार है :

१. पर्वत पर अग्नि है	**प्रतिज्ञा**
२. क्योंकि वहाँ धुआँ है	**हेतु**
३. जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ आग भी रहती है; जैसे रसोईघर	**उदाहरण**

४. पर्वत पर भी धुआँ है — उपनय
५. इसलिए पर्वत पर अग्नि है — निगमन

इस उदाहरण में प्रतिपाद्य विषय है 'पर्वत पर अग्नि का होना'। वह साध्य है। उसी की सिद्धि उक्त पंचावयव वाक्यों से की गयी है।

न्याय दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

भारतीय दर्शनों की परम्परा में न्याय दर्शन का क्षेत्र बहुत विस्तृत और उसकी ख्याति अधिक है। लगभग विक्रमी पूर्व से लेकर आज तक अबाध रूप से उसका अध्ययन-अध्यापन, निर्माण और मनन-अनुसंधान होता आ रहा है। इस पर भी न्याय दर्शन का एक बड़ा भाग अब तक अप्रकाशित ही है। न्याय सूत्रों की ठीक रचनातिथि के सम्बन्ध में बहुत विवाद है; किन्तु अधिक विद्वानों का मत है कि उनका निर्माण लगभग ४००-५०० ई० में हो चुका था।

न्याय दर्शन की समृद्धि में गुप्त युग का बड़ा योग रहा है। इस युग में न्याय सूत्रों पर बृहद् भाष्यों और वार्तिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस युग में ही न्याय सूत्रों की दुरूहता को भाष्यकारों ने सुगम बनाया और इससे न्याय दर्शन की लोकप्रियता बढ़ी।

न्याय दर्शन की दो शाखाएँ

न्याय दर्शन का समस्त साहित्य दो भागों में विभक्त है: पदार्थ मीमांसा (कैटेगोरिस्ट) और प्रमाण मीमांसा (एपिस्टेमोलॉजी)। न्याय की पदार्थ मीमांसा शाखा के प्रवर्तक महर्षि गौतम हुए, जिनके 'न्यायसूत्र' में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन सोलह पदार्थों का विवेचन है।

प्रमाण मीमांसा का प्रवर्तन मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक गंगेश उपाध्याय (१२वीं शताब्दी) ने 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ को लिखकर किया। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों का गम्भीर विवेचन किया गया है।

पदार्थ मीमांसा और प्रमाण मीमांसा को क्रमशः 'प्राचीन न्याय' और 'नव्य न्याय' कहते हैं।

प्राचीन न्याय का मुख्य लक्ष्य था मुक्ति की उपलब्धि किन्तु नव्य न्याय में एकमात्र तर्क को प्रमुखता दी गयी। प्राचीन न्याय के षोडश पदार्थों में भी यद्यपि तर्क के लिए स्थान था; किन्तु उसका प्रचलन नव्य न्याय में अधिक हुआ। आज नव्य न्याय को ही अधिक अपनाया जाता है।

न्याय तर्क श्रेणी का दर्शन है। उसका पदार्थ-विवेचन और प्रमाण-विश्लेषण बहुत ही वैज्ञानिक ढंग का है। उसकी विषय-विवेचन-पद्धति सूक्ष्म, दुर्गम और नितान्त पारिभाषिक है। जैन-बौद्ध आचार्यों से बौद्धिक संघर्ष में अपने पक्ष की प्रतिष्ठा करने

में नैयायिकों ने जिस अद्भुत पाण्डित्य का परिचय दिया उसका इतिहास हमारे सामने है।

गौतम

गौतम के नाम और स्थितिकाल के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। 'पद्मपुराण', 'स्कंधपुराण', 'गांधर्वतंत्र', 'नैषधचरित' और विश्वनाथ पंचानन की 'न्यायसूत्रवृत्ति' में महर्षि गौतम को न्याय दर्शन का रचयिता बताया गया है। उधर 'न्यायभाष्य', 'न्यायवार्तिक', 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' और 'न्यायमंजरी' आदि ग्रन्थों में 'न्यायसूत्र' को अक्षपाद की कृति बताया गया है। इन दोनों नामों के विपरीत भास के 'प्रतिमा नाटक' में न्यायशास्त्र का रचयिता मेधातिथि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार गौतम, अक्षपाद और मेधातिथि, ये तीन नाम न्यायशास्त्र के साथ जुड़े हैं।

इस सम्बन्ध में अधिक विद्वानों का यही अभिमत है कि गौतम या गोतम नाम से दो अलग-अलग व्यक्ति हुए : एक मेधातिथि गौतम और दूसरे अक्षपाद गौतम। इनमें मेधातिथि गौतम ही न्यायशास्त्र के आदि निर्माता हुए और उनके न्यायशास्त्र के प्रतिसंस्कर्ता अक्षपाद गौतम। 'कर्तभाषा' की भूमिका में आचार्य विश्वेश्वर ने विभिन्न इतिहासकारों के अभिमतों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष दिया है कि "सबसे पूर्व गोतम (मेधातिथि) के अध्यात्म प्रधान 'न्यायसूत्र' की रचना हुई। उसके बाद अध्यात्म प्रधान उपनिषदों से अक्षपाद (गोतम) ने आन्वीक्षकी से न्यायविद्या को पृथक् करने के लिए उसमें प्रमेय प्रधान स्वरूप के स्थान पर प्रमाण प्रधान स्वरूप देकर अक्षपाद ने उसका नवीन संस्करण किया; और बौद्ध युग में उसमें कुछ प्रक्षेप और परिवर्धन होकर ही न्यायशास्त्र को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हो सका है।"

मेधातिथि गौतम का स्थान दरभंगा (बिहार) के उत्तर-पूर्व २८ मील की दूरी पर एक ऊँचा टीला बताया जाता है, जिसके निकट आज भी एक कुण्ड है, जिसको कि गौतम कुण्ड कहा जाता है। 'गौतम स्थान' नामक टीले पर आज भी चैत्र नवमी को एक मेला लगता है।

इसी प्रकार अक्षपाद गौतम के स्थान का नाम काठियावाड़ के निकट 'प्रभासपत्तन' बताया जाता है। 'ब्रह्माण्ड पुराण' में लिखा हुआ है कि अक्षपाद गौतम, शिव के अंशभूत सोमशर्मा ब्राह्मण के पुत्र थे। वे प्रभासपत्तन के निवासी और जातुकर्णी व्यास के समकालीन थे।

न्यायशास्त्र के आधारभूत इन दोनों आचार्यों के स्थितिकाल का ठीक-ठीक उल्लेख करना असम्भव है; किन्तु अब तक की खोजों के आधार पर उनका आनुमानिक समय ६००-४०० ई० पूर्व में रखा जा सकता है। कदाचित् मेधातिथि गौतम, अक्षपाद गौतम से १०० या १५० वर्ष पहले हुए।

वात्स्यायन

वात्स्यायन को अक्षपाद के 'न्यायसूत्र' का प्रामाणिक भाष्यकार माना जाता

है। वात्स्यायन का भाष्य न्यायसूत्रों के अर्थोद्‌घाटन की कुंजी है। हेमचन्द्र की 'अभिधानचिन्तामणि' में उल्लिखित एक श्लोक के आधार पर कुछ विद्वानों ने 'अर्थशास्त्र' के निर्माता कौटिल्य और भाष्यकार वात्स्यायन को एक ही व्यक्ति माना है, जो उचित नहीं है। वात्स्यायन दाक्षिणात्य (काँची) थे और उनका एक नाम पक्षिलस्वामी था, जिसका उल्लेख वाचस्पति मिश्र की 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' के आरम्भ में किया गया है।

वात्स्यायन ने अपने भाष्य में पतंजलि के 'महाभाष्य' और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से अनेक उदाहरण दिये हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने बौद्ध दार्शनिक आचार्य नागार्जुन (३०० ई०) के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया है। वात्स्यायन के आक्षेपों का खण्डन किया है बौद्धाचार्य दिङ्नाग (५०० ई०) ने। अतः वात्स्यायन का समय ४०० ई० में निश्चित है। प्रशस्तपाद और वात्स्यायन लगभग एक ही समय हुए।

वात्स्यायन के पूर्व का विलुप्त भाष्य

वात्स्यायन से पूर्व भी न्यायसूत्रों पर कोई भाष्य लिखा गया था, जिसका पता वात्स्यायन भाष्य के उन स्थलों से चलता है, जहाँ उन्होंने एक ही सूत्र के दो-दो वैकल्पिक अर्थ किये हैं। कुछ विद्वानों ने इस आधार पर वात्स्यायन से पहले किसी भाष्य के होने का अनुमान लगाया है; किन्तु अनुमान की सिद्धि के लिए कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है।

उद्योतकर

बौद्ध दिङ्नाग 'वात्स्यायन भाष्य' का पहला आलोचक था, जिसके तर्कों का खण्डन किया उद्योतकर ने। उसने 'वात्स्यायन भाष्य' पर 'न्यायवार्तिक' नामक टीका लिखकर उसकी प्रस्तावना में अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा, 'दिङ्नाग के कुतर्कों द्वारा फैलाये गये अज्ञान की निवृत्ति के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।' रैंडिल महोदय ने उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' को तर्कशास्त्र का महत्त्वपूर्ण एवं विश्व-साहित्य की ख्याति का ग्रन्थ माना है।

उद्योतकर थानेश्वर का निवासी था। वह भारद्वाज गोत्रीय और पाशुपत सम्प्रदाय का विद्वान् था। सुबन्धु (६५० ई०) की 'वासवदत्ता' में उद्योतकर का उल्लेख होने के कारण और बौद्ध धर्मकीर्ति (७०० ई०) के द्वारा उद्योतकर की आलोचना होने के कारण उद्योतकर का स्थितिकाल छठीं शताब्दी के अन्त में निश्चित होता है।

बौद्ध नैयायिकों और वैदिक नैयायिकों का विवाद

लगभग तीसरी शताब्दी ई० से लेकर नवीं शताब्दी ई० तक का समय भारतीय दर्शन की चरमोन्नति का समय है। इस युग में बौद्धन्याय और वैदिक न्याय-वैशेषिक। तीनों दर्शन सम्प्रदायों का विशेष रूप से विकास हुआ है। यह युग बौद्ध दार्शनिकों और वैदिक दार्शनिकों के बौद्धिक संघर्ष का युग था। गौतम के 'न्यायसूत्र' पर अनेक प्रकार के आक्षेप करके, इस बौद्धिक प्रतिस्पर्धा और आलोचना-प्रत्यालोचना का आरम्भ किया नागार्जुन (३०० ई०) ने; जिनका प्रत्युत्तर दिया वात्स्यायन

(४०० ई०) ने अपने भाष्य ग्रन्थ में। उसके बाद दिङ्नाग (५०० ई०) ने नागार्जुन के समर्थन और वात्स्यायन के खण्डन में बड़ी ही प्रामाणिक युक्तियाँ प्रस्तुत कीं; जिनका उत्तर दिया उद्योतकर (६०० ई०) ने 'न्यायवार्तिक' लिख कर। उद्योतकर का खण्डन धर्मकीर्ति (७०० ई०) ने 'न्यायविन्दु' की रचना करके किया और उसके बाद 'न्यायविन्दु टीका' में धर्मोत्तर (८०० ई०) ने दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति की युक्तियों पर अपनी सहमति की मुहर लगायी। उसके बाद वाचस्पति मिश्र (६०० ई०) ने अपनी 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' में बौद्धों का भरपूर विरोध करके न्याय वैशेषिक की सत्ता का पाण्डित्य के साथ प्रतिष्ठित किया। उसके बाद वाचस्पति मिश्र के अनुकरण पर जयन्त तथा उदयन ने दसवीं शताब्दी में न्याय वैशेषिक का अच्छा विकास किया।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र भारतीय दर्शन के उज्ज्वल रत्न हैं। वे अद्‌भुत प्रतिभा के विद्वान् थे। सभी शास्त्रों पर उनका समान अधिकार था। ऐसा कोई भी दर्शन सम्प्रदाय नहीं है, जिस पर उन्होंने ग्रन्थ न लिखा हो। इसलिए उनका उल्लेख सभी दर्शनों में किया गया है। विषय की दृष्टि से उनके ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है:

न्याय	न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका; न्यायसूत्री निबन्ध
सांख्य	सांख्यतत्त्व कौमुदी; युक्तिदीपिका (अप्राप्य)
योग	तत्त्ववैशारदी (व्यास भाष्य पर)
मीमांसा	न्यायकणिका; तत्त्वविन्दु
वेदान्त	भामती; तत्त्वसमीक्षा या ब्रह्मतत्त्व समीक्षा; ब्रह्मसिद्धि; वेदान्ततत्त्व कौमुदी (अन्त के तीनों ग्रन्थ अप्राप्य)

जयन्त भट्ट

जयन्त भट्ट भी वाचस्पति मिश्र के समकालीन अथवा उनसे कुछ बाद में हुए। जयन्त भट्ट के पुत्र अभिनन्द के 'कादम्बरी कथासार' में लिखा हुआ है कि जयन्त के प्रपितामह शक्तिस्वामी काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड के मन्त्री थे। मुक्तापीड का समय ७२४-७६० ई० है। इस दृष्टि से जयन्त का स्थितिकाल ६वीं शताब्दी के अन्त में या १०वीं शताब्दी के आदि में होना चाहिए। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायकणिका' की प्रस्तावना में 'न्यायमंजरी' के कर्त्ता जयन्त को अपना गुरु मानकर नमस्कार किया है। श्लोक है:

अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिरां।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे गुरवे नमः॥

इस दृष्टि से जयन्त भट्ट का समय वाचस्पति मिश्र से पहले या उनके समकालीन ठहरता है।

'न्यायमंजरी' न्यायदर्शन की प्रौढ़ एवं पाण्डित्यपूर्ण कृति है। हाल ही में

सरस्वती भवन सीरीज से प्रकाशित भावसर्वज्ञ के 'न्यायसार' पर 'न्यायकलिका' नामक टीका को भी जयन्त की रचना कहा जाता है।

भावसर्वज्ञ

भावसर्वज्ञ, जयन्त की कोटि के विद्वान् थे। उनका स्थितिकाल नवम शताब्दी के अन्त में या दशम शताब्दी के आदि में था। जिस प्रकार वैशेषिक दर्शन में शिवादित्य को प्रकरण ग्रन्थों का प्रवर्तक कहा गया है उसी प्रकार भावसर्वज्ञ ने भी न्याय दर्शन में सर्वप्रथम 'न्यायसार' नामक प्रकरण ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ विशुद्ध प्रमाणवाद पर लिखा गया और जिसको आधार मानकर आगे गंगेश उपाध्याय ने नव्य न्याय की प्रतिष्ठा की। यह ग्रन्थ इतना सम्मानित हुआ कि हरिभट्ट के 'षड्दर्शन समुच्चय' के टीकाकार गुणरत्न के कथनानुसार जिस पर १८ टीकाएँ लिखी गयीं। इनमें 'न्यायभूषण' या 'भूषण' नामक टीका का विशेष महत्त्व है। इस टीका को रत्नकीर्ति (१० वीं श०) ने अपनी 'आपोहसिद्धि' में जयन्त के नाम से ही उद्धृत किया है।

उदयनाचार्य

न्याय वैशेषिक के क्षेत्र में उदयनाचार्य का मुख्य स्थान है। वे मैथिल थे और दरभंगा के अन्तर्गत करियन नामक गाँव इनका जन्मस्थान बताया जाता है। इन दोनों दर्शन सम्प्रदायों पर अलग-अलग और संयुक्त रूप से जितने ग्रंथ इन्होंने लिखे उतने किसी ने नहीं। वाचस्पति मिश्र के बाद इन्हीं का स्थान माना जाता है। इनका समय दसवीं शताब्दी के अन्त में बैठता है, जैसा कि 'लक्षणावली' की पुष्पिका में उन्होंने उसका समाप्तिकाल ९०६ शकाब्द (९८४ ई०) स्वयं ही लिखा है। इनके ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है:

न्याय	न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका परिशुद्धि (वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका की उपटीका); न्याय परिशिष्ट या (प्रबोधसिद्धि)
वैशेषिक	किरणावली (प्रशस्तपाद भाष्य की टीका); लक्षणावली (प्रक्रिया ग्रन्थ)
न्याय-वैशेषिक	न्याय कुसुमांजलि; आत्मतत्त्व विवेक (या बौद्धाधिकार)

गंगेश उपाध्याय

गंगेश उपाध्याय को नव्य न्याय का जनक माना जाता है। नव्य न्याय की प्रतिष्ठा यद्यपि दसवीं शताब्दी में उदयन, जयन्त और भावसर्वज्ञ के द्वारा हो चुकी थी और ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में वरदराज की 'तार्किकरक्षा' तथा केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' में उसका अधिक परिमार्जित रूप सामने आया; फिर भी न्याय दर्शन के क्षेत्र में इस परिवर्तित विचारधारा के प्रवर्तक गंगेश उपाध्याय को ही माना जाना है।

गंगेश उपाध्याय मिथिला में हुए। प्राचीन काल में मिथिला का बड़ा महत्त्व रहा है। न्याय दर्शन को वस्तुतः मिथिला की ही देन है। गौतम, वाचस्पति मिश्र,

उदयन, पक्षधर मिश्र, रुद्रदत्त और शंकर मिश्र आदि विद्वान् वहीं पैदा हुए। इस परम्परा में गंगेश का नाम उल्लेखनीय है।

गंगेश उपाध्याय ने भावसर्वज्ञ की शैली पर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रकार के प्रमाणों की गम्भीर व्याख्या अपने पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ 'तत्त्व-चिन्तामणि' में की। यह नव्य न्याय का आधारभूत ग्रन्थ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार शब्दों में विभाजित है और उसमें प्रामाण्यवाद, प्रत्यक्षकरणवाद, मनोऽणुतत्त्ववाद तथा व्याप्तिग्रहोपाद आदि नवीन विषयों पर गहन विचार किया गया है। इस ग्रन्थ के द्वारा प्राचीन न्याय का पदार्थशास्त्र नवीन न्याय के प्रमाणपत्र के नाम से कहा गया और न केवल विषय की दृष्टि से अपितु भाषा, शैली की दृष्टि से भी सर्वथा नवीनीकरण हुआ।

इस नव्य न्याय के प्रवर्तक ग्रन्थ पर लिखी गयी अनेक टीकाएँ और उपटीकाएँ उसकी उपयोगिता एवं प्रामाणिकता को प्रकट करती है। इन टीकाओं में वर्धमान उपाध्याय (१३वीं श०) का 'प्रकाश', पक्षधर मिश्र (१३वीं श०) का 'आलोक', वासुदेव सार्वभौम (१५०० ई०) की 'तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या' और रघुनाथ शिरोमणि (१६०० ई०) की 'दीधिति' प्रमुख हैं।

गंगेश द्वारा प्रवर्तित न्याय की नवीन विचारधारा के समर्थक अनेक विद्वान् मिथिला में हुए। उनमें वर्धमान उपाध्याय और पक्षधर मिश्र का नाम उल्लेखनीय है।

वर्धमान उपाध्याय

वर्धमान, गंगेश उपाध्याय के पुत्र और नव्य न्याय के उद्भट विद्वान् थे। अपने पिता द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों की व्याख्या उन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' की 'प्रकाश' नामक टीका को लिखकर की। इसके अतिरिक्त उन्होंने उदयन की 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका परिशुद्धि' पर 'न्याय निबन्ध प्रकाश', 'कुसुमांजलि' पर 'कुसुमांजलिप्रकाश', बल्लभाचार्य की 'न्याय लीलावती' पर 'न्याय लीलावती प्रकाश' (लीलावती कण्ठा-भरण) और श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' पर 'खण्डनखण्डप्रकाश' आदि टीकाएँ लिखीं।

केशव मिश्र

केशव मिश्र नव्य न्याय की मैथिल शाखा के नैयायिक थे। उनके पिता का नाम बलभद्र था। उनके बड़े भाई पद्मनाभ मिश्र न्याय और वैशेषिक के प्रख्यात विद्वान् थे। उनके गुरु का नाम गोवर्द्धन मिश्र था। केशव मिश्र १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए।

न्याय के क्षेत्र में केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' की बड़ी ही लोकप्रियता है। इस ग्रंथ पर १३वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक लगभग १४ टीकाएँ लिखी गयीं।

पक्षधर मिश्र (जयदेव)

नव्य न्याय के क्षेत्र में दूसरे मैथिल विद्वान् पक्षधर मिश्र हुए, जिनका वास्त-विक नाम जयदेव मिश्र था। पक्षधर इनका इसलिए नामकरण हुआ कि ये जिस पक्ष को लेते थे उनको बिना सिद्ध किये नहीं छोड़ते थे। ये १३वीं शताब्दी में हुए।

इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'मण्यालोक' नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्या लिखी। इसका लिखा हुआ 'प्रसन्नराघवं' नाटक भी प्रसिद्ध है। रुचिदत्त इन्हीं के शिष्य थे, जिन्होंने वर्तमान के 'कुसुमांजलि प्रकाश' पर 'मकरन्द' नामक टीका लिखी। वासुदेव सार्वभौम और रघुनाथ शिरोमणि इन्हीं की शिष्य-परम्परा के विख्यात विद्वान् थे; जिन्होंने बंगाल में नव्य न्याय की प्रतिष्ठा कर उनके नाम को उजागर किया। इन दोनों विद्वानों द्वारा बंगाल में प्रवर्त्तित नव्य न्याय की शाखा को आज 'नवद्वीप' या 'नदिया' की नव्य नैयायिकों की स्वतन्त्र शाखा के रूप में कहा जाता है।

नवद्वीप के नैयायिक

यद्यपि गंगेश द्वारा नव्य न्याय का जन्म मिथिला में हुआ और वर्धमान, पक्षधर आदि विद्वानों ने उसका अनुवर्तन किया; फिर भी उसके भावी विकास का श्रेय बंगाल (नदिया) के नैयायिकों को है। नदिया में नव्य न्याय की यह परम्परा १६वीं से १७वीं शताब्दी, एक सौ वर्ष तक अटूट रूप में बनी रही। नव्य न्याय का यह काल 'स्वर्णयुग' के नाम से कहा जाता है।

मिथिला से नव्य न्याय की यह ज्ञानथाती बंगाल में किस प्रकार प्रविष्ट हुई, इसकी भी एक रोचक कथा बतायी जाती है। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि मिथिला के तत्कालीन विद्वद्वर्ग को इसका बड़ा गौरव और ध्यान था कि नव्य न्याय का कोई भी अध्येता मिथिला में आकर ही उसका ज्ञानार्जन करे। नव्य न्याय की जितनी भी कृतियाँ हस्तलेखों के रूप में विद्यमान थीं उन पर कड़ी दृष्टि रखी जाती कि न तो वे बाहर जाने पावें और न ही उनकी प्रतिलिपि करने दी जाय। पक्षधर मिश्र की शिष्य परम्परा में वासुदेव सार्वभौम ने मिथिला में रहकर नव्य न्याय का अध्ययन किया और तत्सम्बन्धी समस्त प्रामाणिक ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर वे अपने घर नदिया गये। वहाँ जाकर उन्होंने कण्ठस्थ ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया और तदन्तर बंगाल में नव्य न्याय की प्रतिष्ठा की।

वासुदेव सर्वभौम

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, वासुदेव सार्वभौम नदिया (नवद्वीप, बंगाल) के निवासी थे। मिथिला में आकर उन्होंने नव्य न्याय का अध्ययन किया और बाद में बंगाल वापिस आकर वहाँ एक विद्यापीठ की स्थापना की। इनका स्थितिकाल १५वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। इनके द्वारा स्थापित नवद्वीप का यह विद्यापीठ बहुत ही प्रसिद्ध हुआ और अपने युग में वह नव्य न्याय के अध्यापन का एकमात्र केन्द्र सिद्ध हुआ। वासुदेव सर्वभौम ने 'तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या' नामक ग्रन्थ लिखा; किन्तु उनकी ख्याति बंगाल में नव्य न्याय के विद्यापीठ को स्थापित करने और अनेक सुयोग्य शिष्यों को पैदा करने में अधिक है। रघुनन्दन, कृष्णानन्द और रघुनाथ शिरोमणि आदि उन्हीं के शिष्य थे। चैतन्य महाप्रभु को भी इन्हीं का शिष्य बताया जाता है।

रघुनाथ शिरोमणि

नव्य न्याय के क्षेत्र में ख्याति एवं पाण्डित्य की दृष्टि से गंगेश उपाध्याय के

बाद रघुनाथ शिरोमणि का नाम आता है। ये अद्भुत तार्किक थे और इनके इसी अद्भुत पाण्डित्य के कारण नवद्वीप के विद्वत्समाज ने इन्हें 'तर्कशिरोमणि' की उपाधि से सम्मानित किया था। इनका जन्म १४७७ ई० को नदिया में हुआ था। इन्होंने पक्षधर मिश्र के 'तत्त्वचिन्तामणि मण्यालोक' पर 'मण्यालोचदीधिति' नाम से एक टीका लिखकर नव्य न्याय के क्षेत्र में युग परिवर्त्तन किया। यह टीका ग्रन्थ 'दीधिति' नाम से प्रसिद्ध है और इसका मौलिक महत्त्व है। बाद में नैयायिकों ने इसी टीका ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखीं।

मथुरानाथ तर्कवागीश

ये रघुनाथ तर्कशिरोमणि के शिष्य थे। इनका स्थितिकाल १६वीं शताब्दी है। इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर और 'दीधिति' पर दो टीकाएँ लिखीं, जो 'माथुरी' नाम से प्रसिद्ध है।

जगदीश भट्टाचार्य

नवद्वीप के नैयायिकों में जगदीश भट्टाचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये १७वीं शताब्दी में हुए। इन्होंने 'दीधिति' पर एक टीका लिखी, जो 'जागदीशी' नाम से विख्यात है। इसके अतिरिक्त शब्दशक्ति पर लिखी हुई इनकी 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' नामक कृति इनके मौलिक पाण्डित्य का परिचय देती है। प्रशस्तपाद के भाष्य पर इन्होंने 'भाष्यसूक्ति' टीका लिखी। इनका 'तर्कामृत' और इनके अनेकों स्फुट निबन्ध भी इनके पांडित्य के सूचक हैं।

गदाधर भट्टाचार्य

नव्य न्याय के क्षेत्र में जगदीश भट्टाचार्य के बाद गदाधर भट्टाचार्य का नाम एक महारथी के रूप में स्मरण किया जाता है। इनका समय भी १७वीं शताब्दी था। इन्होंने 'दीधिति' पर बृहत् व्याख्या लिखी, जो 'गादाधरी' के नाम से प्रसिद्ध है। नव्य न्याय के क्षेत्र में 'जागदीशी' और 'गादाधरी' का बड़ा ही सम्मान एवं प्रचलन है। इस टीका के अतिरिक्त उन्होंने उदयन के 'आत्मतत्त्वविवेक' पर टीका और 'तत्त्वचिन्तामणि' के प्रमुख अंशों पर 'मूलगादाधरी' नामक व्याख्या लिखी। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'व्युत्पत्तिवाद', 'शक्तिवाद' आदि अनेक निबन्ध भी लिखे।

नव्य न्याय के अन्य आचार्य

यद्यपि १५वीं शताब्दी के अन्त में बंगाल का विद्यापीठ स्थापित होकर नव्य न्याय का एकमात्र केन्द्र बना हुआ था; फिर भी इस बीच मिथिला और देश के अन्य भागों में भी नव्य न्याय की दिशा में निरन्तर कार्य हो रहा था। इस प्रकार के विद्वानों में शंकरमिश्र, विश्वनाथ पंचानन और अन्नंभट्ट का नाम उल्लेखनीय है। इन्हें नव्य-न्याय के नवीन युग का प्रमुख टीकाकार भी माना जाता है।

शंकर मिश्र

शंकर मिश्र मैथिल ब्राह्मण थे। मिथिला में वे अयाची मिश्र के नाम से विख्यात हैं और उनके इस नाम के मूल में एक मनोरंजक कथा भी है। उनके पिता भवनाथ मिश्र न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। शंकर मिश्र का स्थितिकाल १५वीं शताब्दी था। उन्होंने 'जागदीशी टीका' और 'वैशेषिकसूत्र' पर 'उपस्कर' नामक टीका बड़ी ही सरल भाषा में लिखी है। ये टीकाएँ छात्रोपयोगी दृष्टि से बड़ी लोकप्रिय हैं।

विश्वनाथ पंचानन

ये बंगीय ब्राह्मण थे और १७वीं शताब्दी में हुए। उन्होंने 'न्यायसूत्रवृत्ति', 'भाषा परिच्छेद' या 'कारिकावली' और उसकी टीका 'सिद्धान्त-मुक्तावली' आदि ग्रन्थ लिखे। इनके ये ग्रन्थ छात्रोपयोगी और बहुप्रचलित हैं।

अन्नंभट्ट

ये दक्षिणात्य थे। इनकी लोकप्रिय कृति 'तर्कसंग्रह' का कई दृष्टि से महत्त्व है। वास्तव में पिछले २५०-३०० वर्षों से विश्वनाथ पंचानन की 'न्यायसिद्धान्त मुक्तावली' और अन्नंभट्ट के 'तर्कसंग्रह' की जितनी ख्याति रही है उतनी किसी अन्य ग्रन्थ की नहीं। ये दोनों कृतियाँ न्याय में प्रविष्ट होने वाले विद्यार्थी के लिए कुञ्जियाँ हैं। दोनों ही सरल, सुगम और सुबोध हैं। 'तर्कसंग्रह' पर ग्रन्थकर्ता की 'तर्कसंग्रह-दीपिका' नामक टीका भी है। इसके अतिरिक्त अन्नंभट्ट ने पक्षधर मिश्र के 'मण्यालोक' पर 'सिद्धाञ्जन' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका भी लिखी है।

न्यायसूत्र

गौतम का 'न्यायसूत्र' न्यायदर्शन का आधार है। इसकी विषय-सामग्री पाँच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक (खण्ड) हैं।

प्रथम अध्याय में न्याय के सोलह पदार्थों का नाम-निर्देश करने के उपरान्त प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों का विवेचन, आत्मा, शरीर आदि बारह प्रकार के प्रमेयों का निरूपण; फिर संशय, प्रयोजन दृष्टान्त और सर्वतंत्र, प्रतितंत्र आदि पर चार प्रकार के सिद्धान्तों की व्याख्या; उसके बाद प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, तर्क, निर्णय का विवेचन; और अन्त में वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, त्रिविध छल, जाति तथा अन्त में निग्रह-स्थान पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरा अध्याय अधिक तर्कपूर्ण है। उसमें संशय, प्रमाणचतुष्टय, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, व्यक्ति, आकृति और जाति के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की शंकाओं तथा आक्षेपों का युक्तियुक्त समाधान करके न्याय के पक्ष को अधिक मजबूत बनाया गया है।

तीसरे अध्याय में आत्मा आदि बारह प्रमेयों का विस्तार से विवेचन किया गया है। उसमें नास्तिकवादी विचारकों के इन्द्रियचैतन्यवाद और शरीरात्मवाद का

खण्डन करके आत्मा के नित्यत्व तथा इन्द्रिय एवं विषयों की निःसारता का प्रतिपादन किया गया है।

चौथे अध्याय में प्रवृत्ति तथा दोष का विवेचन, जन्मान्तर का सिद्धान्त, दुःख एवं मोक्ष और अवयव-अवयवी आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

पाँचवें अध्याय का विषय चौबीस प्रकार की जाति के प्रभेदों और बाईस प्रकार के निग्रहस्थान के लक्षण निर्धारित करके उनके स्वरूप को समझाया गया।

इस प्रकार यदि 'न्यायसूत्र' के उक्त पाँच अध्यायों की सामग्री को विषयक्रम से विभक्त किया जाय तो उसको चार प्रमुख भागों में रखा जा सकता है। पहले भाग में प्रमाण सम्बन्धी विवेचन, दूसरे भाग में भौतिक जगत् का स्वरूप, तीसरे भाग में आत्मा तथा मोक्ष का निरूपण और चौथे भाग में ईश्वर-सम्बन्धी विचारों को देखा जा सकता है।

पदार्थ परिचय

दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय में अपनी-अपनी दृष्टि से जगत्, जीव, आत्मा परमात्मा, मोक्ष और जन्मान्तर आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। सभी दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य है निःश्रेयस की प्राप्ति। सभी दर्शनों ने इस निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए अलग-अलग साधन और उपाय बताये हैं। न्याय दर्शन के आधारभूत ग्रन्थ, गौतम के 'न्यायसूत्र' में इस निःश्रेयसिद्धि के लिए सोलह उपाय, जिन्हें 'पदार्थों' की संज्ञा दी गयी है, बताये गये हैं। वे सोलह पदार्थ है : (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) अवयव, (६) दृष्टान्त, (७) सिद्धान्त, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान।

(१)

प्रमाण विचार

ज्ञान का स्वरूप और उसके भेद

प्रमाण-विचार से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि ज्ञान का स्वरूप क्या है। ऊपर जिन सोलह पदार्थों को गिनाया गया है उनका ज्ञान प्राप्त करने से ही निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से हम घट, पट आदि वस्तुओं को पहचानने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार ज्ञान के आलोक से ही पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है।

ज्ञान के प्रमुख दो भेद हैं : प्रमा और अप्रमा। यथार्थ ज्ञान को प्रमा (प्रमिति) कहते हैं (**यदर्थ विज्ञानं सा प्रमा**)। अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको ठीक वैसी ही समझना 'प्रमा' है। इसके विपरीत किसी वस्तु को भ्रमवश या अज्ञानवश दूसरी तरह की समझना 'अप्रमा' है। उदाहरण के लिए सर्प को सर्प समझना और

सीपी को सीपी समझना 'प्रमा' है और रस्सी को सर्प समझना और सीपी में चाँदी का भ्रम होना 'अप्रमा' है। संक्षेप में यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' तथा अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' कहते हैं।

प्रमा के चार प्रभेद हैं : प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। इसी प्रकार अप्रमा के भी चार प्रभेद हैं : स्मृति, संशय, भ्रम और तर्क। प्रमा के प्रभेदों का विवेचन आगे किया जायगा। अप्रमा का पहला प्रभेद स्मृति है। किसी बीती हुई वस्तु या घटना के अनुभव पर आधारित ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है, जो यथार्थ ज्ञान नहीं है। यदि यह अनुभव यथार्थ होता है तो 'स्मृति' भी यथार्थ होती है और यदि अनुभव अयथार्थ होता है तो 'स्मृति' भी अयथार्थ होती है। 'स्मृति' को यथार्थ ज्ञान इसलिए भी नहीं माना जाता क्योंकि उससे कोई नया ज्ञान नहीं होता, बीते हुए अनुभव की पुनरावृत्तिमात्र होती है। 'संशय' ज्ञान संदिग्ध कोटि का होने से 'प्रमा' नहीं कहलाता। 'भ्रम' में 'संशय' नहीं होता और उसका प्रत्यक्ष भी होता है; किन्तु उससे विषय की यथार्थता प्रकट नहीं होती है। 'तर्क' के द्वारा भी वस्तुओं के यथार्थ रूप की जानकारी नहीं हो सकती है। 'तर्क' से अनुमानित ज्ञान की पुष्टि भले ही हो सकती है, यथार्थ ज्ञान उससे भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

ज्ञान का आधार

ऊपर हमने जिसको यथार्थ ज्ञान (प्रमा या प्रमाण) कहा है उसकी पूर्ण जानकारी 'प्रमाता' और 'प्रमेय' के बिना नहीं हो सकती है। ज्ञान (प्रमाण) की अपेक्षा के लिए चेतन व्यक्ति की आवश्यकता है। उसी को 'ज्ञाता' अथवा 'प्रमाता' कहा जाता है। ज्ञान का आधार होता है विषय, उसी को 'प्रमेय' कहा जाता है (**योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्**)। ज्ञाता (प्रमाता) और विषय (प्रमेय) के बिना ज्ञान का होना संभव नहीं है। घट, पट, अश्व आदि प्रमेय हैं। उदाहरण के लिए आपके आगे अश्व खड़ा है। इस अश्व को आप तभी अश्व समझेंगे, जब कि आप, अश्व और देखना, ये तीनों हेतु एक साथ उपस्थित हों। आप 'प्रमाता' हैं, अश्व 'प्रमेय' है और देखना 'प्रमाण' है। ये तीनों प्रमा (ज्ञान) के हेतु हैं।

प्रमाण का लक्षण

प्रमाण के साथ प्रमेय और प्रमाता की क्या स्थिति है, इसको जान लेने के बाद हम प्रमाण का वास्तविक लक्षण इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं। जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

लौकिक पदार्थों के मान (तौल) का निर्धारण करने के लिए जिस प्रकार तुला (तराजू) की आवश्यकता होती है; उसी प्रकार न्याय दर्शन में ज्ञान के सत्यासत्य निर्धारण के लिए प्रमाण पदार्थ की आवश्यकता होती है। न्याय दर्शन में इसीलिए प्रमाण की सत्ता सर्वोपरि मानी गयी है और इसी कारण न्याय दर्शन का अपर नाम प्रमाणशास्त्र भी है।

प्रमाण के अवान्तर भेद

ऊपर हमने प्रमा के चार प्रभेद बताये हैं : प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। इन चारों ज्ञानों को उत्पन्न करने में जो सब से अधिक सहायक है उसी को 'प्रमाण' कहते हैं। चार्वाक से लेकर वेदान्त दर्शन तक प्रमाणों पर गंभीरता से विचार किया गया है। चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार किया है। बौद्धों तथा वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान, दो प्रमाण माने हैं। सांख्य में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द को प्रमाण माना गया है। मीमांसा में गुरुमत के प्रतिष्ठापक प्रभाकर मिश्र के मतानुसार पाँच प्रमाण हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। मीमांसा में कुमारिल भट्ट और वेदान्तियों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इन छह प्रमाणों को स्वीकार किया है। न्याय दर्शन में चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष का लक्षण

जों वस्तु आँखों के सामने विद्यमान है, इन्द्रियाँ जिसको प्रत्यक्ष देख रही हैं, सामान्यतः वही 'प्रत्यक्ष' है। इसलिए उसको निर्विवाद और निरपेक्ष कहा गया है। कहा भी गया है **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'**। अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग (सन्निकर्ष) से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। इसी को यथार्थ ज्ञान कहा गया है। उदाहरण के लिए मेरे सामने जो पुस्तक है, मेरी आँखें जिसको देख रही हैं, जिसके पुस्तक होने में मुझे कोई सन्देह नहीं है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है।

प्रत्यक्ष की परिभाषा में हमने तीन बातों का उल्लेख किया है : इन्द्रिय, पदार्थ और सन्निकर्ष। इनको जान लेने के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण की बहुत कुछ स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

इन्द्रिय

इन्द्रियों के प्रमुख दो भेद हैं, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए हमें ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता होती है। वे हैं आँख, जीभ, नाक, त्वचा और कान। उनके द्वारा क्रमशः हमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है।

पदार्थ

इन्द्रिय सम्बन्ध के लिए घट-पटादि वस्तुओं (पदार्थों) का होना आवश्यक है। तभी तो हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। न्याय में सात प्रकार के पदार्थ माने गये हैं, जिनके नाम हैं : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

सन्निकर्ष

पदार्थों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध या संयोग को ही 'सन्निकर्ष' कहते हैं। चक्षु

आदि जिन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे विषय तक पहुँचकर उसके रूप का संस्कार लेकर लौट आते हैं। इसीलिए इन्द्रियों को प्राप्यकारी (विषय के संस्कार को ग्रहण करने वाली) कहा गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और पदार्थ का होना आवश्यक है। पदार्थों के साथ इन्द्रियों के सयोग को ही 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष' कहा गया है।

सन्निकर्ष के भेद

सन्निकर्ष के छह भेद हैं : संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेष्यविशेषणाभाव।

(१) **संयोग** : किसी द्रव्य के साथ किसी इन्द्रिय का संयोग 'संयोग सन्निकर्ष' कहलाता है। यह संयोग टूट जाने वाला (विच्छेद्य) होता है। जैसे पुस्तक के साथ चक्षु का संयोग।

(२) **संयुक्तसमवाय** : पुस्तक के साथ या गुलाब के साथ चक्षु का संयोग 'संयोगसन्निकर्ष' हुआ। किन्तु पुस्तक के साथ उसका 'रूप' और गुलाब के साथ उसका 'गुलाबी रंग' समवेत है। उनसे भी हमारी आँखों का सन्निकर्ष होता है। यही 'संयुक्त समवाय' कहलाता है।

(३) **संयुक्तसमवेतसमवाय** : किसी इन्द्रिय के साथ किसी द्रव्य की सामान्य जाति का समवेत-संयोग 'संयुक्तसमवेतसमवाय' कहलाता है। जैसे घट की जाति 'घटत्व' है। घट की इस सामान्य जाति ने उसको पट से अलग कर दिया है। चक्षु के साथ घट का 'संयोग' सम्बन्ध; चक्षु के साथ 'घटरूप' का 'संयुक्त समवाय' सम्बन्ध; और चक्षु के साथ 'घट-रूप-त्व' का 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सम्बन्ध है।

(४) **समवाय** : आकाश के साथ शब्द का 'समवाय' सम्बन्ध है; क्योंकि शब्द उसका विशेष गुण है। श्रवणेन्द्रिय की उपयोगिता इसी में है कि उसके द्वारा शब्दज्ञान प्राप्त हो। इसलिए श्रवणेन्द्रिय में शब्द (आकाश) समवेत रूप में विद्यमान रहता है। अतः पदार्थ (शब्द) के साथ श्रवणेन्द्रिय के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। कान से ही शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

(५) **समवेत समवाय** : शब्द के साथ उसका शब्दत्व (जाति) समवेत (अविच्छेद्य) रूप में रहता है। अतः समवेत पदार्थ शब्द में, समवाय रूप में विद्यमान 'शब्दत्व' जाति के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध को 'समवेत समवाय' सम्बन्ध कहते हैं।

(६) **विशेष्य विशेषणभाव** : 'मेज पर पुस्तक नहीं है' इस वाक्य में 'मेज' 'विशेष्य' और 'पुस्तक का न होना' (अभाव) उसका विशेषण है। यद्यपि हम वस्तु के अभाव को नहीं देखते, बल्कि देखते हैं उस अभाव

युक्त आधार को फिर भी हमारा इन्द्रिय-सम्बन्ध विशेष्य-विशेषणभाव से उस अभाव पदार्थ के साथ भी हो जाता है। अर्थात् विशेष्य (भाव) के द्वारा हम विशेषण (अभाव) का भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं।

मन और आत्मा का प्रत्यक्ष

वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए, इन्द्रिय सन्निकर्ष के अतिरिक्त मन और आत्मा का सन्निकर्ष भी आवश्यक है; क्योंकि इन्द्रिय और विषय का संयोग होने पर कभी-कभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता। इन्द्रिय और आत्मा के बीच के क्रिया-व्यापार को जोड़ने के लिए मन एक कड़ी है। विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध, इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध और मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। बाहरी विषयों को ग्रहण करके इन्द्रियाँ भीतर पहुँचती हैं और उसके बाद उनको आत्मा तक ले जाने का कार्य करता है मन। इस-लिए प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए मन और आत्मा का संयोग भी आवश्यक है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के छह कारण

न्याय के अनुसार छह ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ऊपर हमने मन के सहित जिन पाँच इन्द्रियों को गिनाया है वे ही मिलकर छह ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें ही प्रत्यक्ष ज्ञान के छह 'करण' कहा गया है। इनमें मन अन्तरिन्द्रिय और नाक, जिह्वा, आँख, त्वचा तथा कान वाह्येन्द्रिय हैं, जिनके द्वारा क्रमशः गन्ध, रस, रंग, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष के भेद

प्रकृत नैयामिकों और नव्य नैयायिकों ने अनेक तरह से प्रत्यक्ष के भेदों का निरूपण किया है। किन्तु मोटे तौर से प्रत्यक्ष के दो भेद माने जाते हैं; जिनके नाम हैं लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष।

लौकिक प्रत्यक्ष

वस्तु के साथ इन्द्रिय का संयोग ही लौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वह संयोग दो प्रकार से होता है: वाह्य तथा मानस। वाह्य प्रत्यक्ष आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होता है और मानस प्रत्यक्ष मानसिक अनुभूतियों के साथ मन के संयोग से होता है। इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष के छह प्रकार होते हैं: चाक्षुस, श्रौत, स्पार्श, रासन, घ्राणज और मानस। यह दृष्टिकोण नव्य नैयायिकों का है।

प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार प्रत्यक्ष के दो प्रकार होते हैं: सविकल्प और निर्विकल्प। इन दो भेदों पर प्रथम विचार वाचस्पति मिश्र की 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' में हुआ है। इससे पूर्व इनका उल्लेख न तो गौतम के 'न्यायसूत्र' में हुआ है और न 'वात्स्यायन भाष्य' में ही। सांख्यकारों, मीमांसकों और वेदान्तियों ने भी इन भेदों को स्वीकार किया है।

सविकल्प प्रत्यक्ष

सविकल्प कहते हैं सप्रकारक ज्ञान को '**सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पम्**'। 'प्रकार' कहते 'विशेषण' के लिए। कोई भी वस्तु जब हमारे सामने आकार (उद्देश्य विशेष्य) और प्रकार (विधेय-विशेषण), दोनों रूपों में विद्यमान रहती है तब उस वस्तु का जो ज्ञान हमें उपलब्ध होता है उसी को 'सविकल्प प्रत्यक्ष' कहते हैं। 'विद्यार्थी के हाथ में पुस्तक है', यह सविकल्प ज्ञान हुआ। इसी को 'आख्यात' (भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति) तथा विशिष्ट ज्ञान भी कहते हैं।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष

निष्प्रकारक ज्ञान को 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' कहते हैं '**निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पम्**'। दूसरे शब्दों में केवल वस्तुमात्र के ज्ञान को 'निर्विकल्प' कहते है। 'घट' के साथ 'घटत्व' का ज्ञान सप्रकारक ज्ञान है; किन्तु केवल घट मात्र का ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है। ऊपर के उदाहरण में 'विद्यार्थी', 'हाथ' और 'पुस्तक' इस प्रकार विशेषण-रहित वस्तुमात्र का ज्ञान 'निर्विकल्प' है। इसको अनाख्यात और अविशिष्ट ज्ञान कहा जाता है।

इस प्रकार 'सविकल्प' विशिष्ट ज्ञान है और 'निर्विकल्प' अविशिष्ट ज्ञान। अविशिष्ट (विशेषण रहित) ज्ञान के बाद ही सविशिष्ट (विशेषणयुक्त) ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन दोनां ज्ञानों में वस्तु की आत्मा एक ही रहती है; किन्तु भेद इतना ही है कि निर्विकल्प में जहाँ वह (आत्मा) अनाख्यात (अव्यक्त) रहता है, सविकल्प में वहाँ वह आख्यात (व्यक्त) होता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष

नव्य नैयायिकों ने अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार बताये हैं: सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज।

सामान्य लक्षण

जन सामान्य की कहावत है कि मनुष्य मरणशील है। इसका आशय न तो एक मनुष्य से है और न किसी मृत व्यक्ति से ही; बल्कि भूत, भविष्य ओर वर्तमान में, जितने भी मनुष्य हैं वे सब मरणशील हैं। यह सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए है। यह जो एक मनुष्य से सम्पूर्ण मनुष्य जाति का बोध होता है वह अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही सम्भव है। एक मनुष्य से मनुष्यत्व और मनुष्यत्वधर्मशिष्ट सम्पूर्ण मानवता का बोध ही सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष है।

ज्ञान लक्षण

एक इन्द्रिय का विषय दूसरी इन्द्रिय द्वारा अनुभूत होना ही 'ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष' है। यह अनुभव अतीत ज्ञान के कारण होता है। उदाहरण के लिए चन्दन के रंग को देखकर हमारे मन में उसके गंध का भी अनुभव होता है। यह अनुभव

इसलिए होता है, क्योंकि उसको हम पहले देख चुके हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण और दे देना यथेष्ट है। बहुधा हम कहते हैं 'बर्फ ठंडी दीख रही है'। यहाँ बर्फ का ठंडापन देखने का विषय, अर्थात् आँख का विषय नहीं है। बल्कि त्वचा का विषय है। इस प्रकार एक इन्द्रिय के विषय को दूसरी इन्द्रिय के द्वारा अनुभव करना ही 'ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष' हैं।

योगज

योगाभ्यास द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त व्यक्तियों को ही 'योगज' प्रत्यक्ष होता है। इस योगज प्रत्यक्ष ये द्वारा योगी अतीत-अनागत और समीपस्थ-दूरस्थ वस्तुओं की साक्षात् अनुभूति कर लेता है।

अनुमान प्रमाण

अनुमान का लक्षण

अनुमान का शब्दार्थ होता है पश्चाद्ज्ञान। एक बात से दूसरी बात को देख लेना (अनु+ईक्षा) अथवा एक बात को जान लेने के बाद उसी के द्वारा दूसरी बात को जान लेना (अनुमितिकरण) 'अनुमान' कहलाता है। धूमं को देखकर अग्नि के होने का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पश्चाद्ज्ञान है। प्रत्यक्ष वस्तु धूम के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु अग्नि का ज्ञान प्राप्त कर लेना 'अनुमान प्रमाण' का विषय है।

अनुमान के साधन

गौतम के अनुमान खण्ड पर विचार करने से पूर्व उसके अवयवों को जान लेना आवश्यक है। अनुमान के ये साधन हैं : लिंग, लिंगी, साध्य, साधन (हेतु), पक्ष, व्याप्ति, व्याप्य, व्यापक, पक्षधर्मता, परामर्श और अनुमिति।

लिंग : लिंगी

'लिंग' कहते हैं चिह्न या निशान को; और यह चिह्न या निशान जिस दूसरी वस्तु का परिचायक होता है उसे कहते हैं 'लिंगी'। धूम लिंग है और अग्नि लिंगी; क्योंकि 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस वाक्य में अग्नि का परिचायक हुआ धूम और धूम से हमें जिस वस्तु के अस्तित्व का परिचय मिल रहा है वह है अग्नि।

साध्य : साधन : पक्ष

अनुमान के द्वारा हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसे 'साध्य' कहते हैं; और जिस लक्षण के आधार पर ऐसा अनुमान किया जाता हैं उसे कहते हैं 'साधन' (हेतु)। जिस स्थान पर साध्य और साधन का होना पाया जाता है उसे कहते हैं 'पक्ष'। अग्नि साध्य हुआ, धूम साधन और पर्वत पक्ष।

व्याप्ति : व्याप्य : व्यापक

धूम के साथ अग्नि का नित्य सम्बन्ध-पाया जाता है। इसीलिए तो कहा जाता

है 'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है'। धूम और अग्नि के इसी नित्य साहचर्य को 'व्याप्ति' कहते हैं। इस व्याप्ति ज्ञान पर आगे प्रकाश डाला गया है। ऊपर के उदाहरण में आग व्यापक है और धूम व्याप्य।

पक्षधर्मता

पक्ष (स्थान = पर्वत) पर धर्म (लिंग = धूम) का पाया जाना ही 'पक्षधर्मता' कहलाती है। यदि पर्वत पर धूम का होना नहीं पाया जाता तो वहाँ अनुमान के लिए कोई गुंजायश नहीं रहती है।

परामर्श

परामर्श कहते हैं विशिष्ट ज्ञान को। पक्षधर्मता (पर्वत और धूम) तथा व्याप्ति (धूम और अग्नि), इन दोनों सम्मिलित के ज्ञान से जो विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है उसे ही 'परामर्श' कहते हैं (**व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः**)।

अनुमिति

परामर्श के द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'अनुमिति' कहते हैं (**परामर्शजन्यं ज्ञानं अनुमितिः**)। 'पर्वत पर अग्नि है' यह परामर्श ज्ञान हुआ। अनुमान प्रमाण का यही अन्तिम फल है। इसी 'फलोत्पत्ति' को 'अनुमिति' कहते हैं।

अनुमान के पाँच अवयव

गौतम के अनुसार अनुमान के पाँच अवयव या अंग होते हैं, जिनके नाम हैं: प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस पंचावयवयुक्त अनुमान को ही 'पंचावयववाक्य' या 'न्यायप्रयोग' कहते हैं।

(१) **प्रतिज्ञा** : प्रतिपाद्य विषय को उपस्थित करना ही 'प्रतिज्ञा' कहलाती है। जैसे 'पर्वत पर अग्नि है' ऐसा कहकर पर्वत पर आग को सिद्ध किया गया है।

(२) **हेतु** : प्रतिज्ञा को प्रमाणित करने के लिए जिन युक्तियों (साधनों) का आश्रय लिया जाता है उन्हें 'हेतु' कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में पर्वत (पक्ष) पर अग्नि (साध्य) वर्तमान है, इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए वह युक्ति दी जायगी, क्योंकि 'पर्वत में धूम है' **धूमात्**।

(३) **उदाहरण** : प्रतिपाद्य (प्रतिज्ञा) के समान कोई दूसरा दृष्टान्त देना ही 'उदाहरण' कहलाता है। किन्तु इस दृष्टान्त में हेतु और साध्य का व्याप्ति-सम्बन्ध होना आवश्यक है। इसीलिए बाद के नैयायिकों को कहना पड़ा '**व्याप्तिप्रतिपादकं उदाहरणम्**'। जैसे 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, यथा 'रसोईघर', इस वाक्य के 'रसोईघर' के उदाहरण में हेतु और साध्य का व्याप्ति सम्बन्ध भी है।

(४) **उपनय** : 'उपनय' शब्द का अर्थ है अपने निकट ले आना या उपसंहार

करना। प्रप्रिपाद्य विषय को अपने पक्ष में ले आने के लिए हम कहेंगे 'पर्वत में भी वही अग्निव्याप्य धूम विद्यमान है'।

(५) **निगमन** : प्रतिपाद्य (प्रतिज्ञा वाक्य) जब साध्य कोटि (असिद्ध स्थिति) से हेतु के द्वारा सिद्ध कोटि में आ जाता है तब उसे 'निगमन' कहा जाता है। अब हम 'अतः पर्वत में अग्नि है, इस वाक्य को प्रतिज्ञा न कहकर 'निगमन' कहेंगे।

इस पंचावयव वाक्य का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है :

१. पर्वत में अग्नि है : **प्रतिज्ञा**
२. क्योंकि वहाँ धूम है : **हेतु**
३. जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर : **उदाहरण**
४. पर्वत में भी उसी प्रकार का धूम है : **उपनय**
५. इसलिए पर्वत में भी अग्नि है : **निगमन**

व्याप्ति का सिद्धान्त

ऊपर हमने 'व्याप्ति' के सम्बन्ध में कुछ संकेत किया है। न्याय दर्शन के क्षेत्र में 'व्याप्ति' का बड़ा महत्त्व माना गया है। दो वस्तुओं के नियत साहचर्य (सर्वदा एक साथ रहने) को ही 'व्याप्ति' कहते हैं। जहाँ दो सहचर वस्तुओं की अनियमिति (सर्वदा एक साथ न रहना) हो वहाँ 'व्यभिचार' कहा जाता है। उदाहरण के लिए धूम और अग्नि का नियत साहचर्य है; किन्तु जल और मछली दोनों वस्तुओं का सहचर-सम्बन्ध होने पर भी दोनों का एक दूसरे के बिना रहना भी पाया जाता है। इसलिए जल और मछली का व्यभिचारित (अनियमित) सम्बन्ध है। किन्तु धूम और अग्नि का अव्यभिचरित (नियत) सम्बन्ध है। इसी नियत-सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं। इसी के अपर नाम 'एकान्तिकभाव' (एक का दूसरे के आश्रित) तथा 'अविनाभाव' (एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में न रहना) भी हैं।

अनुमान के भेद

प्राचीन न्याय के अनुसार

गौतम के 'न्यायसूत्र' के अनुसार अनुमान प्रमाण के तीन प्रकार होते हैं : पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्टि। अनुमान के ये भेद व्याप्तिभेद के अनुसार हैं। संक्षेप में कहा जाय तो पूर्ववत् तथा शेषवत् अनुमान कार्य-कारण के नियत सम्बन्ध के द्वारा होते हैं, जबकि सामान्यतोदृष्टि में कार्य-कारण की आवश्यकता नहीं होती है।

१. **पूर्ववत्** : पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं, जिसमें भविष्यत् कार्य का अनुमान वर्तमान कारण से होता है। न्याय में अव्यवहित पूर्ववर्ती घटना को 'कारण' कहते हैं और इस कारण के नित्य अव्यवहित परवर्ती घटना को

'कार्य' कहते हैं। जैसे मेघ को जल से भरा हुआ देखकर 'बारिश होगी' यह अनुमान 'पूर्ववत्' कहा जाता है।

२. **शेषवत्** : 'शेष' कहते 'कार्य' के लिए। जिसमें वर्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है उसे 'शेषवत्' कहते हैं। जैसे नदी की गन्दली तथा वेगवती धारा को देखकर 'कहीं बारिश हुई है' यह अनुमान करना।

इन दोनों अनुमान-भेदों में साधन-साध्य के बीच कारण-कार्य तथा कार्य-कारण का सम्बन्ध दिखाया गया है।

३. **सामान्यतोदृष्टि** : किसी वस्तु के साधारण रूप को देखकर उसके आधार पर उस वस्तु के परोक्ष रूप का जिसके द्वारा ज्ञान होता है उसको 'सामान्यतोदृष्टि' अनुमान कहते हैं। जैसे सूर्य को प्रातःकाल पूर्व दिशा में देखने के पश्चात् सायंकाल को पुनः पश्चिम दिशा में देखकर यह अनुमान किया जाता है कि 'सूर्य गतिशील है'। यद्यपि सूर्य की गति को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते; किन्तु उसके स्थान-परिवर्तन से यह अनुमान लगा लेते हैं कि उसमें गति है। इसी को 'सामान्यतोदृष्टि' अनुमान कहा गया है।

नव्य न्याय के अनुसार

नव्य न्याय के अनुसार अनुमान के तीन प्रभेद माने गये हैं : केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयतिरेकी। अनुमान के इन तीनों प्रभेदों की परिभाषाएँ समझने से पूर्व उनमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

'अन्वय' का अर्थ होता है साथ (साहचर्य) और 'व्यतिरेक' का अर्थ होता है साहचर्याभाव या अविनाभाव (एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में न रहना)। 'जहाँ आग है वहाँ धूम है' यह हुआ 'अन्वय' का उदाहरण, और 'जहाँ आग नहीं वहाँ धूम भी नहीं' यह हुआ 'व्यतिरेक' का उदाहरण।

इसी प्रकार 'पक्ष', 'सपक्ष' और 'विपक्ष' के सम्बन्ध में भी जान लेना आवश्यक है। 'पक्ष' उसको कहते हैं, जिसमें साध्य का होना पहले से निश्चित न हो; जैसे 'पर्वत में अग्नि है' इस उदाहरण में पर्वत 'पक्ष' में अग्नि 'साध्य' का होना पहले से निश्चित नहीं था। इसी साध्य (अग्नि) के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता हुई है। इसी प्रकार जिस वस्तु में साध्य का होना निश्चित रूप से ज्ञात हो उसे 'सपक्ष' कहते हैं, जैसे रसोईघर में आग का रहना निश्चितप्राय है। जिस वस्तु में साध्य का न होना (अभाव) निश्चित रूप से ज्ञात है उसे 'विपक्ष' कहते हैं; जैसे यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि पानी में आग नहीं होती।

१. **केवलान्वयी** : जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित हो और जिसमें व्यतिरेक का सर्वथा अभाव हो वह 'केवलान्वयी' अनुमान कहलाता है। इस अनुमान में उद्देश्य और विधेय के बीच व्याप्ति सम्बन्ध होता

है। घट, पट आदि सभी वस्तुएँ इसके उदाहरण हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका नाम न दिया जा सके। सभी वस्तुएँ ज्ञातव्य (प्रमेय) भी हैं और उनके नाम भी दिये जा सकते (अभिधेय) हैं। 'जो अभिधेय नहीं हैं वे अज्ञेय हैं' ऐसा दृष्टान्त नहीं मिल सकता है।

२. **केवल व्यतिरेकी** : जिसमें साध्य के अभाव के साथ-साथ साधन के अभाव का व्याप्तिज्ञान से अनुमान होता है, साधन और साध्य की अन्वय-मूलक व्याप्ति से नहीं, वह 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जहाँ केवल व्यतिरेक का दृष्टान्त पाया जाय, अन्वय का नहीं, जैसे 'जो-जो आत्मावान् नहीं हैं, वे-वे चैतन्यवान् भी नहीं हैं, यथा 'जड़ पदार्थ' इस वाक्य में साधन 'चैतन्य' को पक्ष 'आत्मा' के बिना कहीं भी देखना-सुनना संभव नहीं है।

३. **अन्वय व्यतिरेकी** : जिसमें अन्वय 'सपक्ष' और व्यतिरेक 'विपक्ष' दोनों के दृष्टान्त देखने को मिलें। इसमें व्याप्ति का ज्ञान अन्वय और व्यतिरेक, दोनों की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर होता है जैसे : (१) सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् है; पर्वत धूमवान् है; अतः पर्वत वह्निमान् है। (२) सभी वह्निहीन पदार्थ धूमहीन है; अतः पर्वत वह्निहीन होने के कारण धूमहीन है।

हेत्वाभास

हेत्वाभास न्याय का स्वतन्त्र पदार्थ है, जिसका क्रम 'वितण्डा' के बाद और 'छल' से पूर्व रखा गया है; किन्तु 'हेतु' अनुमान का आधार होने के कारण उसका विवेचन अनुमान प्रकरण में यहीं पर किया जाना आवश्यक है। यदि हेतु विशुद्ध हों, दोषों से रहित हों तो अनुमान शुद्ध होता है और यदि हेतु दुष्ट हों तो अनुमान भी दूषित हो जाता है; और तब उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं।

'हेतु' का लक्षण देते हुए बताया जा चुका है कि जिसमें साध्य को सिद्ध करने की योग्यता हो वह 'हेतु' है। किन्तु जो हेतु न होने पर भी हेतु की तरह दिखाई दे, अर्थात् जिसमे साध्य का सिद्ध करने की योग्यता न हो उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं (**असाधको हेतुत्त्वेनाभिमतो हेत्त्वाभासः**)। ऐसे दुष्ट हेतु से अनुमान में हेत्वाभास दोष आ जाता है। प्रकृत (प्राचीन) और नव्य न्याय में इसके पाँच-पाँच भेद बताये गये हैं। किन्तु उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। प्रकृति न्याय के सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम और कालातीत, इन पाँच भेदों का पर्यवसान नव्य न्याय के सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और वाधित, इन पाँच भेदों में हो जाता है। बल्कि प्रकृत न्याय के हेत्वाभासों की अपेक्षा नव्य न्याय के हेत्वाभासों पर गम्भीरता से विचार किया गया है।

१. **सव्यभिचार** : जिस हेतु में अव्यभिचरित (नियत) व्याप्ति न हो उसे 'सव्यभिचारी' हेत्वाभास कहते हैं; जैसे :

सभी द्विपद बुद्धिमान् हैं

हंस द्विपद है
अतः हंस बुद्धिमान है

यहाँ हेतु 'द्विपद' और साध्य 'बुद्धिमान' में अव्यभिचारी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि कुछ द्विपद बुद्धिमान होते हैं और कुछ नहीं भी होते। इस प्रथम हेत्वाभास को 'अनैकान्तिक' भी कहते हैं; जैसे :

सभी द्विपद बुद्धिहीन हैं, जैसे कबूतर
हंस द्विपद है
अतः हंस बुद्धिहीन है

यहाँ साहचर्य एकान्तरूप से साध्य के साथ ही नहीं, अन्य वस्तुओं के साथ भी है।

२. **विरुद्ध** : जिस अनुमान में साध्य के अस्तित्व के विपरीत उसके अभाव को ही पक्ष में सिद्ध किया जाता है वह 'विरुद्ध हेत्वाभास' कहलाता है। जैसे :

शब्द नित्य है
क्योंकि वह उत्पन्न होता है

के शब्द यहाँ उत्पन्न होने से उसके नित्यत्व को नहीं, वरन् उसके अनित्यत्व को सिद्ध किया गया है, क्योंकि उत्पत्तिशील वस्तुएँ सदा ही विनाशशील होती हैं, नित्य नहीं।

३. **सत्प्रतिपक्ष** : जिस हेतु में साध्य के वैपरीत्य को सिद्ध करने के लिए दूसरा प्रतिपक्षी हेतु दिया गया हो वह 'सप्रतिपक्ष' हेत्वाभास है; जैसे :

क. शब्द नित्य है
क्योंकि इसमें अनित्य धर्म नहीं है
ख. शब्द अनित्य है
क्योंकि इसमें नित्यधर्म नहीं है

यहाँ प्रथम अनुमान में हेतु 'अनित्यधर्म' के द्वारा शब्द की नित्यता सिद्ध की गयी है किन्तु दूसरे अनुमान में हेतु 'नित्यधर्म' के द्वारा उसकी अनित्यता सिद्ध की गयी है। यहां दूसरे अनुमान का हेतु ठीक है, इसलिए उसके द्वारा पहले अनुमान का हेतु खण्डित य हो जाता है।

४. **असिद्ध** : जहाँ हेतु की वास्तविकता अनिश्चित हो उस अनुमान को 'असिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं; जैसे :

आकाश का कमल सुगन्धित है
क्योंकि वह कमल है
जो कमल है वह सुगन्धित होता है
जैसे तालाब में उगने वाला कमल

यहाँ 'आकाश का कमल' पक्ष है, 'सुगन्धित' साध्य है, 'कमल है' हेतु है और 'तालाब में उगने वाला कमल' दृष्टान्त है। हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक बताया गया है; किन्तु यहाँ 'आकाश का कमल' जो पक्ष है उसी का होना असम्भव है, क्योंकि आकाश

में फूल का होना संभव नहीं है। अतः उसमें हेतु का रहना भी कल्पनामात्र है और इसलिए वह सुगन्धित भी नहीं हो सकता है।

५. **बाधित** : जिस अनुमान में आधारित प्रमाणों के द्वारा पक्ष में साध्य का होना बाधित अर्थात् सिद्ध न हो उसको 'बाधित' हेत्वाभास कहते हैं;जैसे :

आग गरम नहीं है
क्योंकि वह उत्पन्न होती है
जैसे जल

यहाँ 'गरम नहीं है' यह साध्य है और 'उत्पन्न होना' उसका हेतु है। यह अनुमान गलत है, क्योंकि आग गरम होती है, इस बात को सभी प्रत्यक्ष जानते हैं। इसलिये यहाँ प्रमाण के द्वारा पक्ष में साध्य का होना सिद्ध नहीं होता है।

उपमान प्रमाण

उपमान कहते हैं समानधर्म, सारूप्यता या समानजातीयता को। किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य से किसी न जानी हुई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही 'उपमान' प्रमाण है। काव्यशास्त्र की भाषा में कहा जाय तो कहना चाहिए कि किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से किसी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही 'उपमान' है। उदाहरण के लिए हमने गाय तो देखी है; किन्तु नीलगाय नहीं देखी है। कोई जंगल का रहने वाला व्यक्ति आप से जब कहता है कि नीलगाय, ठीक गाय जैसी ही होती है, तब आप जंगल में जाकर उसी आकार-प्रकार का पशु देखकर यह समझ जाते हैं कि यही नीलगाय है। ऐसा ज्ञान उपमान प्रमाण के द्वारा होता है।

उपमिति

उपमान के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'उपमिति' कहते हैं; अर्थात् एक वस्तु की उपमा या समानता के द्वारा दूसरी वस्तु का जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'उपमिति' कहते हैं। उपमिति फल है और उपमान कारण। ऊपर के उदाहरण में गाय वाचक है और नीलगाय वाच्य। घर पर देखी हुई गाय के आधार पर जंगल में हमें जिस नीलगाय का बोध होता है वही वाचक (उपमान = गाय) का फल है।

शब्द प्रमाण

शब्द का स्वरूप

हमारी श्रवणेन्द्रिय जिस अर्थ या विषय को ग्रहण करती है वही 'शब्द' है। शब्द 'वाचक' है; क्योंकि वह वस्तु का संकेत है। शब्द दो प्रकार का होता है ध्वन्यात्मक और वर्णनात्मक। जो शब्द ध्वनि प्रधान होती है वह 'ध्वन्यात्मक' और जो शब्द वर्णों के द्वारा उच्चरित होता है वह 'वर्णनात्मक' कहलाता है। शंख का शब्द ध्वन्यात्मक का और मनुष्य की वाणी वर्णनात्मक शब्दों का उदाहरण है। यह वर्णनात्मक शब्द भी 'सार्थक' और 'निरर्थक' भेद से दो प्रकार का होता है। 'गाय', 'पुस्तक' आदि शब्द सार्थक हैं और बच्चों की किलकारियाँ निरर्थक। न्याय में सार्थक शब्द के अनेक प्रभेद बताये गये हैं।

शब्द संकेत

ऊपर हमने शब्द को वस्तु का संकेत कहा है। 'गाय' तथा 'गमन' आदि संज्ञा तथा क्रिया शब्दों को कहने से जो अर्थबोध होता है उसी को 'संकेत' कहते हैं। शब्दों की इस अर्थबोध शक्ति (संकेत) को मीमांसक, नैसर्गिक तथा नित्य मानते हैं, किन्तु नैयायिकों की दृष्टि से शब्द और अर्थ, दोनों में कृत्रिम सम्बन्ध है। यह शब्द-संकेत भी दो प्रकार का माना गया है : आजानिक और आधुनिक। आजानिक शब्द संकेत उसको कहते हैं जो अज्ञातकाल से चला आ रहा है और आधुनिक संकेत उसको कहते हैं ; जो इच्छानिर्मित है। 'घट' शब्द को कहने से हमें जिस पात्र विशेष का बोध होता है वह परम्परा से अज्ञात रूप में चला आ रहा है; किन्तु अपने नवजात बच्चे का 'देवदत्त' यह नामकरण इच्छानिर्मित है।

शब्द का लक्षण

गौतम ने कहा कि आप्त व्यक्ति का उपदेश ही 'शब्द प्रमाण' है (**आप्तोपदेशः शब्दः**)। गौतम के इस सूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि प्रत्यक्ष अनुभव से किसी विषय की जो जानकारी प्राप्त होती है उसे 'आप्ति' कहते हैं। इस दृष्टि से आप्त व्यक्ति वह हुआ, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव से किसी पदार्थ का स्वयं साक्षात किया है। ऐसा व्यक्ति, दूसरों के उपकार के लिए जो कुछ भी कहता है वह माननीय है, प्रामाणिक है। इसलिए शब्द प्रमाण न तो प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है और न अनुमान की ही कोटि में। न्याय में उसको स्वतंत्र प्रमाण माना गया।

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ

यह शब्द प्रमाण दो प्रकार का माना गया है : दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। दृष्टार्थ कहते हैं प्रत्यक्षदृष्ट, अर्थात् लौकिक। उदाहरण के लिए हांडी का एक चावल देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि सभी चावल पक गये हैं। इसी प्रकार कुछ आप्त वाक्यों की प्रत्यक्ष सत्यता देखने के बाद अन्य वाक्यों की सत्यता पर विश्वास हो जाता है। अदृष्टार्थ कहते हैं पारलौकिक को। वैदिक वाक्य इसके उदाहरण हैं, क्योंकि उनका अर्थ लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध नहीं होता। नैयायिकों और वैशेषिकों का कथन है कि वेद आप्त वाक्य होने के कारण प्रामाणिक हैं। आप्त वाक्य, अर्थात् ईश्वरप्रणीत। न्याय वैशेषिक में इसी दृष्टि से वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की गयी है। महात्माओं की विश्वासयोग्य बातें, धर्माचार्यों के वचन, न्यायालय में साक्षियों का कथन, धर्मग्रन्थों के विधान—ये सभी अदृष्टार्थ के अन्तर्गत आते हैं। यह अदृष्टार्थ तीन प्रकार का माना गया है : विधिवाक्य (आज्ञासूचक वाक्य), अर्थवाद (वर्णनात्मक वाक्य) और अनुवाद (अनुवचन वाक्य)।

पद और वाक्य

शब्द प्रमाण के लक्षण में आप्तोपदेश का उल्लेख किया गया है। यह आप्तोपदेश कथित अथवा लिखित वाक्यों के द्वारा प्रकट किया जाता है। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। न्याय की दृष्टि से पद और वाक्य की क्या स्थिति है, इसको समझना आवश्यक है।

पद का स्वरूप और उसके भेद

जिस शब्द में किसी अर्थ विशेष को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है उसको 'पद' कहते हैं। 'गो' एक पद है। यह एक मूर्तिमान अर्थात् द्रव्य व्यक्ति है। इसकी अपनी आकृति (स्वरूप) है और उससे जाति (गोत्व) विशेष का बोध होता है। इसलिए नैयायिकों की दृष्टि से पद के द्वारा व्यक्ति, आकृति और जाति, इन तीनों का बोध होता है।

रूढ़ : यौगिक : योगरूढ़

यह 'पद' अवयवार्थ (व्युत्पत्ति के अधीन) और समुदायार्थ (वर्ण समुदाय के अधीन) भेद से तीन प्रकार का होता है : रूढ़, यौगिक और योगरूढ़। जिस पद का प्रयोग (प्रकृति) वर्ण समुदाय के अधीन होता है वह 'रूढ़', जिस पद का प्रयोग व्युत्पत्ति के अधीन होता है वह 'यौगिक' और जिस पद का प्रयोग कुछ तो वर्णों के अधीन और कुछ व्युत्पत्ति के अधीन होता है वह 'योगरूढ़' कहा जाता है। 'घट' पद 'घ' और 'ट' इन दो वर्णों के समुदाय से एक विशिष्ट अर्थ का द्योतन करता है। अतः वह 'रूढ़' है। 'दाता' पद 'दा' धातु से 'तृच' प्रत्यय योजित करने से व्युत्पन्न होने के कारण व्युत्पत्ति के अधीन है। अतः यौगिक है। इसी प्रकार 'पंकज' पद 'योगरूढ़' दोनों है। पंक + ज (कीचड़ में उत्पन्न) यह उसका यौगिक (व्युत्पन्न) अर्थ है, और वह कमल जो शुष्क स्थल में उगता है। उसे भी 'पंकज' कहा जाता है, यह उसका रूढ़ार्थ (वर्णासमुदायार्थ) हुआ।

वाक्य

पदों के समूह का नाम वाक्य है (**वाक्यं पदसमूहः**)। इस वाक्य से जिस अर्थ का प्रकाश होता है उसे 'शब्दबोध' कहते हैं। शब्दों में अर्थबोध कराने की जो क्षमता है उसे शब्दों की शक्ति कहा जाता है। न्याय के अनुसार यह शक्ति ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। किस शब्द से कौन अर्थ समझना चाहिए, यह ईश्वर ने ही निश्चित किया है।

वाक्यार्थबोध के नियम

प्रत्येक अर्थपूर्ण वाक्य का आशय समझने के लिए चार बातों की आवश्यकता बतायी गयी है; जिनके नाम हैं : आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य।

१. **आकांक्षा** : पदों की परस्परापेक्षा को 'आकांक्षा' कहते हैं। दूसरे पद के उच्चारण हुए बिना जब किसी एक पद का अभिप्राय समझ में नहीं आता

तो ऐसे पदों के परस्पर सम्बन्ध को ही 'परस्परापेक्षा' कहते हैं। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति कहता है 'देवदत्त'; तो सुनने वाले के मन में प्रश्न होता है 'देवदत्त क्या ?'। इस प्रकार की आकांक्षा की निवृत्ति तब होती है जब कहा जाता है 'पढ़ता है'। 'देवदत्त पढ़ता है' कहने से एक सार्थक वाक्य बन जाता है और तब आकांक्षा पूरी हो जाती है।

२. **योग्यता :** पदों के सामंजस्य (ठीक संगति) को 'योग्यता' कहते हैं। अर्थात् पदों के द्वारा जिन वस्तुओं का अर्थबोध होता है उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए। जैसे 'आग से पेड सींचो' इस वाक्य में पदों की ठीक संगति नहीं है, क्योंकि पेड़ों को आग से नहीं पानी से सींचा जाता है।

३. **सन्निधि :** पदों के व्यवधानरहित (निकटवर्ति) प्रयोग को 'सन्निधि' कहते हैं। इसको 'आसत्ति' भी कहते हैं। यदि किसी वाक्य का एक शब्द प्रातः, दूसरा मध्याह्न और तीसरा सायंकाल कहा जाय तो उस वाक्य से कोई सम्बद्ध अर्थ का बोध नहीं हो सकता है। 'देवदत्त-पुस्तक-पढ़ता है' इस वाक्य के एक-एक पद को यदि एक-एक दिन में कहा जाय तो उनसे वाक्य नहीं बन सकता है। इसलिए वाक्यार्थ बोध के लिए 'सन्निधि' की आवश्यकता बतायी गयी है।

४. **तात्पर्य :** नव्य नैयायिकों ने शब्दबोध के लिए तात्पर्य की अनिवार्यता बतायी है। तात्पर्य कहते हैं वक्ता के अभिप्राय को। प्रकरण के अनुसार प्रत्येक शब्द का वक्ता की इच्छा (विवक्षा) को दृष्टि में रखकर ही अर्थबोध होता है। भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' इस वाक्य का आशय वक्ता के अभिप्राय (तात्पर्य) को ध्यान में रखकर 'नमक लाओ' यह अर्थ ग्रहण किया जायगा, न कि 'घोड़ा लाओ'। इसी प्रकार वैदिक मंत्रों को समझने के लिए मीमांसा के निर्देशों का तात्पर्य जानना आवश्यक बताया गया है।

(२)

प्रमेय विचार

लक्षण और प्रकार

न्याय दर्शन में प्रमाण के बाद प्रमेय पदार्थ का निरूपण किया गया है। प्रमेय विचार न्याय का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रमा (ज्ञान) का जो विषय है उसे ही **'प्रमेय'** कहा जाता है। **(प्रमाविषयत्वं प्रमेयत्वम्)**। वात्स्यायन के शब्दों में कहा जाय तो कहना चाहिए कि जो वस्तु तत्त्वरूप से जानी जाय वही 'प्रमेय' है **(योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्)** यह अर्थ निकलता है। गौतम के 'न्यायसूत्र' में प्रमेय पदार्थ के १२ प्रकार बताये गये हैं, जिनके नाम हैं : १—आत्मा, २—शरीर,

३—इन्द्रिय, ४—अर्थ, ५—बुद्धि, ६—मन, ७—प्रवृत्ति, ८—दोष, ९—प्रेत्यभाव, १०—फल, ११—दुःख और १२—अपवर्ग ।

१. आत्मा

आत्मा का स्वरूप

न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा निराकार है । वह स्पर्शादिगुण रहित ज्ञान अथवा चैतन्य का अमूर्त आश्रय है । वह देश-काल के बन्धनों से मुक्त और सीमातीत है । इसीलिए 'सर्वदर्शन संग्रह' में उसको विभु और नित्य कहा गया है :

अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः ।
तन्नित्यं विभुचेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता ।।

वह निरवयव (वृद्धि-ह्रास-रहित) है, उत्पत्ति रहित होने के कारण अनादि है और नाशरहित होने के कारण अनन्त है ।

यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि जिस वस्तु को हम छूते हैं, उसको देखते भी हैं । तभी तो हमें प्रत्येक वस्तु की प्रत्यभिज्ञा होती है । इसी दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि देखना तथा स्पर्श करना आदि जो भिन्न-भिन्न ज्ञान हैं उनका ज्ञाता एक ही है । उसी एकमेव ज्ञाता को किसी ने शरीर, किसी ने मन, किसी ने इन्द्रिय और किसी ने बुद्धि कहा है, किन्तु नैयायिकों ने उस पृथक् सत्ता को आत्मा माना है । नैयायिकों के अनुसार जो स्थिति रथ को हाँकने वाले सारथी की होती है वही स्थिति शरीर को संचालित करने वाले आत्मा की है । वही आत्मा सभी इन्द्रियों का उपभोक्ता है । आत्मा और इन्द्रियों के बीच संदेशवाहन करने का कार्य मन करता है । बुद्धि, आत्मा का गुण है । अतएव आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अलग है (**शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यः प्रथगात्मा विभुर्ध्रुवः**) ।

इस ससीम शरीर के साथ आत्मा का संयोग पूर्व कर्मों के फल का उपभोग करने के निमित्त होता है (**पूर्वकृत फलानुबन्धात्**) । इसीलिए न्याय में शरीर को आत्मा का भोगायतन (भोग का आश्रम) कहा गया है (**आत्मनो भोगायतनं शरीरम्**) ।

जीवात्मा और परमात्मा

आत्मा का जो स्वरूप ऊपर बताया गया है वह वेदान्त से प्रायः मिलता है; किन्तु वेदान्त और न्याय का इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत है । वेदान्त एकात्मवादी दर्शन है और न्याय अनेकात्मवादी । वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, जो उपाधि-भेद से प्रत्येक जीव में अलग-अलग दृष्टिगोचर होती है; किन्तु न्याय और सांख्य का अभिमत है कि प्रति शरीर में अलग-अलग आत्मा का निवास है ।

आत्मा के भेद

न्याय में आत्मा के दो भेद माने गये हैं : जीवात्मा और परमात्मा । जीवात्मा

अनेक है और प्रत्येक शरीर में वह भिन्न-भिन्न है। आत्मा शब्द का जहाँ भी प्रयोग हुआ है वह जीवात्मा से ही सम्बन्धित है। जहाँ जीवात्मा अनेक है वहाँ परमात्मा एक है। जीवात्मा के इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान—ये छह गुण (लिंग) हैं। जीवात्मा में ये गुण तभी तक बने रहते हैं, जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष नहीं प्राप्त कर लेता। मोक्ष के बाद वह शान्त, निर्विकार, जड़ और संज्ञाशून्य हो जाता है।

२. शरीर

ऊपर बताया गया है कि शरीर आत्मा के भोग का आश्रय (भोगायतन) है; किन्तु वह नाशवान् है। 'शरीर' नाम ही उसका इसलिए पड़ा कि वह अनुक्षण क्षीयमाण है। न्याय में शरीर के दो प्रकार बताये गये हैं : योनिज और अयोनिज। योनिज शरीर के अन्तर्गत मनुष्य, पशु, पक्षी आदि और अयोनिज शरीर के अन्तर्गत तैजस, वायव्य आदि की गणना की गयी है। उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज नाम से इस पार्थिव शरीर के चार भेद और किये गये हैं।

३. इन्द्रिय

इन्द्रियाँ, विषय के उपभोग करने का साधन हैं। वे शरीर के अवयव हैं। वे स्वतः प्रकाश्य नहीं हैं; बल्कि जिस विषय के साथ सम्बद्ध होती हैं उसका प्रकाशन करती हैं। उदाहरण के लिए नेत्रेन्द्रिय का विषय है देखना। नेत्रों से हम देख सकते हैं; किन्तु नेत्रेन्द्रिय को नहीं देख पाते। इसलिए उनको 'अतीन्द्रिय' कहा गया है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं : ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। नाक, जीभ, आँख, कान और चर्म—इन पाँच इन्द्रियों के सहित मन संयुक्त होकर उन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है। हाथ, पैर, वाक्, मलद्वार और जननेन्द्रिय, ये कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान-प्राप्ति और कर्मेन्द्रिय कर्माचरण का साधन हैं।

४. अर्थ

इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण होता है, उसे 'अर्थ' कहते हैं। नेत्र, रचना, घ्राण, त्वचा और श्रोत्र, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा क्रमशः रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का अर्थ ग्रहण होता है। इन्द्रियों का विषय होने के कारण इन्हें 'अर्थ' कहा जाता है।

५. बुद्धि

बुद्धि, आत्मा का गुण है। वह आत्मा का प्रकाश है। उससे आलोकित होकर समस्त पदार्थों से आत्मा का परिचय होता है। इसलिए, जिसके द्वारा आत्मा को किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त हो वही 'बुद्धि' है **(बुद्ध्यते अनया इति बुद्धिः)**। इसके प्रमुख दो भेद हैं : नित्या (परमात्मा बुद्धि) और अनित्या (जीवात्मा बुद्धि)। अनित्या बुद्धि के भी कई अवान्तर भेद होते हैं।

६. मन

न्याय में 'मन' प्रमेय का बारीकी से विवेचन किया गया है। किन्तु यहाँ उसका सामान्य परिचय प्रस्तुत करना ही अभिप्राय है। मनन करने वाले साधन को 'मन' कहा जाता है। मनन अर्थात् सोचना-विचारना आदि। यह मन, इन्द्रिय और आत्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला एक माध्यम है। इसलिए वह वाह्य और आभ्यन्तर, दोनों प्रकार की इन्द्रियों से सम्बद्ध है। किन्तु उसकी विशेषता इसमें है कि वह अस्पृश्य, अदृष्ट होते हुए भी क्रियाशील है। वह अनुमान-सिद्ध है। वह इतना द्रुतगामी है कि एक बार एक विषय पर अधिष्ठित रहता हुआ भी तरंगस्थ जलबिन्दु की भाँति अपने अस्तित्व को विलय करके हमारे भीतर के अनेकत्व एवं पूर्वापर का भेद मिटा देता है; और इसीलिए हम रोटी खाते समय उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श का एक साथ अनुभव करते हैं।

७. प्रवृत्ति

किसी कार्य को करने की इच्छा से तदनुकूल जो यत्न किया जाता है उसी को न्याय में 'प्रवृत्ति' कहा गया है। किसी कार्य को करने के लिए प्रथम तो उसके फल का हमें ज्ञान होता है, तब उस फल को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तदनन्तर उस इच्छापूर्ति के लिए उपाय सूझते हैं, फिर उन उपायों को क्रियान्वित करने की अभिलाषा का उदय होता है और अन्त में जाकर उस कार्य को संपन्न करने की प्रवृत्ति होती है। ये प्रवृत्तियाँ शारीरिक, मानसिक और वाचिक भेद से तीन प्रकार की होती हैं।

८. दोष

जो कार्य किसी कारणविशेष के प्रलोभन से किया जाता है वह **'दोष' कह**लाता है। वह दोष, राग (आशक्ति), द्वेष (विरक्ति) और मोह (भ्रांति) रूप से तीन प्रकार का होता है।

९. प्रेत्यभाव

मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म होने को ही 'प्रेत्यभाव' (**प्रेत्य = मृत्वा, भावो = जननम्**) कहते हैं (**मरणोत्तरं जन्म प्रेत्यभावः**)। आत्मा जब पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करता है, तब उसी अवस्था को पुनर्जन्म या प्रत्यभाव कहते हैं।

१०. फल

किसी कार्य के अन्तिम परिणाम को ही 'फल' कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है : मुख्य और गौण। धार्मिक कार्यों के सम्पादन से जो सुख होता है वह उस कार्य का मुख्य फल और पुत्रादि की प्राप्ति से जो सुख होता है वह गौण फल कहलाता है।

११. दुःख

प्रतिकूल प्रतीति को ही 'दुःख' कहते हैं। जिससे किसी को पीड़ा या क्लेश हो और जो बुरा लगे वही 'प्रतिकूल' है। यह दुःख की वस्तुतः समस्त दार्शनिक दर्शनों की विचारधाराओं का मूल कारण रहा है। इसलिए सभी दर्शनों में, यहाँ तक कि नास्तिक दर्शन-सम्प्रदायों में भी, दुःख पर गम्भीरता से विचार किया गया है। नैयायिकों के मत से दुःख के ये २१ भेद हैं : शरीर—१, इन्द्रिय—६, विषय—६, प्रत्यक्ष—६, सुख—१, दुःख—१।

१२. अपवर्ग

अपवर्ग का स्वरूप

अपवर्ग कहते हैं मोक्ष के लिए। इसी के अपरनाम हैं 'निःश्रेयस', 'चरम-दुःखध्वंस' या 'आत्यन्तिक दुःखाभाव'। उक्त इक्कीस प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा जाना ही मोक्ष है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति (समूलनाश) का नाम ही मोक्ष है (**आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः मोक्षः**)। यह आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति (मोक्ष) दो प्रकार की है : अपरामुक्ति और परामुक्ति। तत्त्वज्ञान के द्वारा समस्त दोषों का नाश हो जाने के बाद जो मुक्ति प्राप्त होती है वह 'अपरा' है। यह अवस्था 'जीवन्मुक्त' कही जाती है। नाना योनियों में क्रमशः जन्म धारण कर अन्त में जो अवस्था प्राप्त होती है उसी को 'परा' कहते हैं।

मुक्ति के उपाय

न्याय में मुक्ति के अनेक उपाय बताये गये हैं, जिनमें प्रमुख हैं : शास्त्र अध्ययन; योग में वर्णित धारणा, ध्यान, समाधि का आश्रय और निष्काम भाव से कर्मों का अनुष्ठान। इन उपायों से इक्कीस प्रकार के दुःखों का क्षय होकर जीवात्मा को अपवर्ग की सिद्धि होती है।

(३)
संशय

लक्षण

मन की उस अवस्था का नाम संशय है, जिसमें वह नाना कोटिक विरुद्ध ज्ञानों के बीच झूलता रहता है और उनमें किसी एक का निश्चय नहीं कर पाता। उसका लक्षण विभिन्न ग्रन्थों में इस प्रकार दिया गया है :

एकस्मिन् धार्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानं संशयः
विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः
अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः
दोलायमाना प्रतीतिः संशयः

दर्शन शास्त्र में संशय को ज्ञानोपलब्धि का प्रयोजन बताया गया है (**संशयः ज्ञानप्रयोजनः भवति**)। संशय के बिना जिज्ञासा का होना असम्भव है; और जब जिज्ञासा ही न होगी तो ज्ञान-प्राप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

संशय के भेद

यह संशयावस्था पाँच प्रकार की बतायी गयी है : १. समानधर्मोपत्ति मूलक; जैसे : यह मनुष्य है या स्थाणु ? २. अनेकधर्मोपपत्तिमूलक; जैसे : शब्द नित्य है या अनित्य ? ३. विप्रतिपत्तिमूलक; जैसे : आत्मा है या नहीं ? ४. उपलब्ध्य-व्यवस्था-मूलक; जैसे : प्रतीयमान वस्तु सत्य है या असत्य ? और ५. अनुपलब्ध-व्यवस्थामूलक; जैसे : अमुक वस्तु दिखायी नहीं दे रहा है या वह है ही नहीं ?

संशय और विपर्यय

विपर्यय कहते हैं मिथ्या ज्ञान को। सीप को चाँदी और रज्जु को सर्प समझ लेना मिथ्या ज्ञान है। किन्तु संशय तो दो वस्तुओं की सर्वथा अनिश्चयात्मक स्थिति है। वह न तो ज्ञान (प्रमा) है और न मिथ्या ज्ञान (विपर्यय) ही।

संशय और ऊह

संशय में दो कोटियाँ संदिग्ध रहती हैं; किन्तु ऊह में एक कोटि प्रबल होती है। ऊह वस्तुतः संशय और यथार्थ के बीच की अवस्था है। संदिग्धावस्था के अनेक कोटिक ज्ञान को किसी एक निश्चित अवस्था में निर्धारित करने के लिए जो स्फूर्णाएँ (विचार) पैदा होती हैं उन्हीं का नाम 'ऊह' है।

संशय और अनध्यवसाय

अनध्यवसाय कहते हैं विस्मृत या अन्यमनस्कता को। 'शायद मैंने अमुक वस्तु को कहीं देखा था' इस अधूरे विस्मृत ज्ञान को 'अनध्यवसाय' कहते हैं; जिसकी निवृत्ति ध्यान या स्मृति से हो जाती है। किन्तु संशय को निवृत्ति होती ही नहीं है।

(४)
प्रयोजन

स्वरूप : लक्षण

जिस विषय को उद्देश्य मानकर किसी कार्य को करने में प्रवृत्ति होती है उसे 'प्रयोजन' कहते हैं **यदर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्**)। 'प्रयोजन' शब्द का सामान्य अर्थ है इच्छित वस्तु की सम्प्राप्ति। लोक में भी देखा गया है कि बिना प्रयोजन मन में किसी कार्य को करने की अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती है (**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**)। किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए जिन बातों की अपेक्षा होती है उनके नाम हैं : १. कार्यता ज्ञान (कार्यसम्पादनबोध), २. चिकीर्षा (कार्य

(कार्य करने की इच्छा), ३. कृति साध्यता ज्ञान (कार्य संपादन विधिज्ञता), ४. प्रवृत्ति (प्रयोजनसिद्धि के लिए कार्य के पूर्ण संलग्नता) और ५. चेष्टा (देहेन्द्रिय व्यापार)।

प्रयोजन और प्रयोज्य

'प्रयोजन' के लिए 'प्रयोज्य' की आवश्यकता होती है। ये दोनों शब्द सापेक्ष्य हैं। उदाहरण के लिए रोटी खाने का प्रयोजन है भूख का शान्त हो जाना। यहाँ रोटी खाने का व्यापार 'प्रयोज्य' है और भूख-शान्ति प्रयोजन। किन्तु यही क्रिया-व्यापार एक कार्य का प्रयोजन और दूसरे कार्य का प्रयोज्य हो सकता है।

प्रयोजन के भेद

प्रयोजन के दो प्रमुख भेद हैं : मुख्य और गौण। जीव का मुख्य प्रयोजन होता है मोक्ष, जिसे परम पुरुषार्थ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जो प्रयोजन इच्छापूर्ति का साधनमात्र होता है उसे 'गौण' कहा जाता है। यह गौण प्रयोजन भी दो प्रकार का होता है : दृष्ट और अदृष्ट। दृष्ट प्रयोजन कहते हैं पुत्रागार-धनादि की प्राप्ति के लिए और अदृष्ट प्रयोजन कहते हैं स्वर्ग प्राप्ति के लिए। ये दोनों प्रयोजन आत्यन्तिक सुख के कारण न होने पर 'गौण' कहे गये हैं।

(५)

अवयव

पदार्थानुमान के विभिन्न अंगों को 'अवयव' कहते हैं। वह पाँच प्रकार का होता है : प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। अवयव के इन पाँच भेदों का निरूपण अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इन अवयवों की संख्या के सम्बन्ध में मतान्तर है। बौद्ध दार्शनिकों के मतानुसार हेतु तथा दृष्टान्त, दो अवयव हैं। इसी प्रकार जैनियों ने तीन, सांख्यकारों ने तीन, मीमांसकों ने तीन, वैशेषिककारों ने पाँच और वेदान्तियों ने तीन अवयव माने हैं। नैयायिकों ने उपर्युक्त तर्क देकर अपने पक्ष में पाँच अवयवों की अनिवार्यता को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रमाणित किया है।

प्रमाणचतुष्टय में पंचावयवों का पर्यवसान

प्रमाणचतुष्टय के सम्बन्ध में वात्स्यायन ने एक नया सिद्धान्त स्थापित करके यह सिद्ध किया है कि ये पाँच अवयव प्रमाणचतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) में ही पर्यवसित हो जाते हैं। उनको इस प्रकार समन्वित किया गया है :

१. 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि भी है, जैसे 'महानस'
—प्रत्यक्ष प्रमाण और उदाहरण अवयव

२. 'क्योंकि पर्वत धूमवान् है'
—अनुमान प्रमाण और हेतु अवयव

३. 'इसी प्रकार यह पर्वत भी धूमवान् है'

—उपमान प्रमाण और उपनय अवयव

४. 'पर्वत वह्निमान् है'

—शब्द प्रमाण और प्रतिज्ञा अवयव

५. इस प्रमाणचतुष्टय का जो निष्कर्ष (फल) है वही 'निगमन' अवयव (अन्तिम निष्पत्ति) है ।

इन अवयवों की तर्क-जगत् के लिए क्या सार्थकता है, इस पर भी न्याय दर्शन में, युक्तियाँ देकर प्रतिपादन किया गया है ।

(६)

दृष्टान्त

काव्यशास्त्र में 'दृष्टान्त' को एक अलंकार मानकर काव्य-प्रेमियों एवं काव्याचार्यों के लिए कविता का एक सौंदर्य स्वीकार किया गया है; किन्तु दर्शन में उसके सूक्ष्म स्वरूप पर विचार किया गया है। न्याय में उसका लक्षण देते हुए कहा गया है कि 'व्याप्तिसंवेदन' भूमिका का नाम 'दृष्टान्त' है' (**व्याप्तसंवेदनाभूमिर्दृष्टान्तः**) । इसी बात को सरल ढंग से कहा जाय तो 'दृष्टान्त' उसको कहते हैं जिसको देखने से किसी बात का निश्चय हो जाय। इस अभिमत से तार्किक और कविताचार्य दोनों सहमत हैं। जैसे धूम और अग्नि के साहचर्य या सम्बन्ध का उदाहरण है रसोईघर या यज्ञशाला। दृष्टान्त के दो भेद किये गये हैं : साधर्म्य (अन्वय का उदाहरण, जैसे रसोईघर में धूम तथा अग्नि का साहचर्य) और वैधर्म्य (जैसे व्यतिरेक का उदाहरण जल में धूम तथा अग्नि का अभाव है) ।

(७)

सिद्धान्त

स्वरूप

जिसके द्वारा किसी विवादास्पद विषय का अन्त हो जाय उसी का नाम 'सिद्धान्त' है (**सिद्धः अन्त निश्चयः येन स सिद्धान्तः**) । अथवा माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' के अनुसार कहा जा सकता है कि 'जो विषय प्रामाणिक कहकर स्वीकार किया जाय उसी का नाम 'सिद्धान्त' है (**प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः**) । सिद्धान्त के सम्बन्ध में जैन-बौद्धों के साथ नैयायिकों का मतभेद है ।

भेद

सिद्धान्त के चार भेद माने गये हैं : १. सर्वतंत्र, २. प्रतितंत्र, ३. अधिकरण और ४. अभ्युपगम । 'सर्वतंत्र सिद्धान्त' उसको कहते हैं, जिसको सब शास्त्र स्वीकार करते हैं; 'प्रतितंत्र सिद्धान्त' वह है, जिसको कुछ शास्त्र तो मानें, किन्तु कुछ न मानें;

'अधिकरण सिद्धान्त' उसको कहते हैं, जिसके मान लिये जाने पर अन्य कई अधीनस्थ विषयान्तर भी स्वयमेव मान लिये जाते हैं; और 'अभ्युपगम सिद्धान्त' वह है, जिसके अनुसार किसी अपरीक्षित वस्तु को विचारार्थ स्वीकार किये जाने के बाद पुनः अपरीक्षित सिद्धान्तों के विचारार्थ स्वतः भूमिका तैयार हो जाती है।

(८)

तर्क

स्वरूप : लक्षण

व्याप्य का आरोप हो जाने पर व्यापक का जो आरोप है वही 'तर्क' है (**व्याप्यारोपे व्यापकारोपस्तर्कः**)। उदाहरण के लिए 'जहाँ अग्नि का अभाव होता है वहाँ धूम का भी अभाव होता है' इस वाक्य में 'अग्नि का अभाव' इस व्याप्य में 'धूम का अभाव' इस व्यापक का आरोप किया गया है। यहाँ अग्न्यभाव का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने पर ही धूमाभाव का भी मिथ्यात्व सूचित हुआ है। यही 'तर्क' है। तर्क का उद्देश्य यही है कि उसके द्वारा विपक्षी के मण्डनात्मक आधारों का उन्मूलन करके अपने पक्ष को प्रतिपादित किया जाय। इसीलिए उसको 'अनुग्राहक' भी कहा गया है।

गौतम ने 'तर्क' की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'जिस वस्तु का तत्त्वज्ञान (यथार्थज्ञान) प्राप्त नहीं है उस वस्तु का तत्त्वज्ञान प्रात करने के लिए, कारण का आश्रय लेकर जो एक पक्ष की संभावना (ऊह) की जाती है' वही 'तर्क' है (**अविज्ञात-तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः**)

किसी वस्तु का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए उस वस्तु के प्रति पहले मन में जिज्ञासा पैदा होती है, तदनन्तर जिज्ञासु के समक्ष उस वस्तु के दो विभिन्न पक्ष उपस्थित होकर संशय को जन्म देते हैं। इसी संदिग्धावस्था का, कारण की उत्पत्ति करके, तर्क द्वारा समाधान किया जाता है। यही नैयायिकों की तर्क-प्रणाली है। इस तर्क-प्रणाली द्वारा किसी नियम को प्रतिपादित करने के दो तरीके हैं :

१. अपने पक्ष को लेकर युक्तियों द्वारा उसकी पुष्टि करना

२. विपक्ष को लेकर युक्तियों द्वारा उसकी असारता को सिद्ध करना

तर्क के भेद

प्राचीन न्याय में तर्क के छह भेद किये गये हैं, जिनके नाम हैं : १. व्याघात, २. प्रतिबन्धिकल्पना, ३. कल्पनालाघव, ४ कल्पनागौरव, ५. उत्सर्ग और ६. अपवाद। किन्तु नव्य न्याय में उसके पाँच भेद गिनाये गये हैं : १. प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग, २. आत्माश्रय, ३. अन्योन्याश्रय, ४, चक्रकाश्रय और ५. अनवस्था। प्रकृत और नव्य न्याय के इन भेदों को एक साथ मिलाकर 'सर्वदर्शनसंग्रह' में 'तर्क' को ग्यारह प्रकार का कहा गया है।

तर्क और संशय

कुछ विद्वान् 'तर्क' को 'संशय' के अन्तर्गत मानते हैं, किन्तु तर्क और संशय दोनों एक नहीं हैं। तर्क में एककोटिक ज्ञान होता है और संशय में उभयकोटिक। 'स्थाणु है कि पुरुष है?' यह उभयकोटिक ज्ञान है, जो संशय का निर्णय है, किन्तु तर्क में इस संशयात्मक उभयकोटिक ज्ञान को कारण देकर एककोटिक रूप में लाया जाता है। इसलिए तर्क एक कोटि में निश्चित है और संशय उभयकोटि में। यही दोनों का अन्तर है।

(९)

निर्णय

निर्णय का लक्षण देते हुए लिखा गया है कि (**विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय**); अर्थात् अपने पक्ष के स्थापन और परपक्ष के साधनों के खण्डन के द्वारा पदार्थ का निश्चय करना ही 'निर्णय' है। जब जिज्ञासु के मन में एक ही विषय पर दो विरुद्ध मतों को सुनकर संशय पैदा होता है, तब प्रमाणों के द्वारा तथा तर्क की सहायता से वह निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा करता है। इसीलिए 'यथार्थ' ज्ञानानुभव का पर्याय प्रमिति को ही 'निर्णय' कहा गया है' (**यथार्थज्ञानानुभवपर्याया प्रमिति-निर्णयः**); अथवा 'प्रमाणों के द्वारा पदार्थ का निश्चय करने को ही 'निर्णय' कहा गया है' (**निर्णयो विशेषदर्शनमवधारण संशयविरोधिः**)। निर्णय, संशयविरोधी है; अर्थात् निर्णय के द्वारा निश्चितार्थ का ज्ञान प्राप्त होकर संशय दूर हो जाता है।

(१०)

वाद

वाद की आवश्यकता

'संशय' पदार्थ का निरूपण पहले किया जा चुका है। एक वस्तु में नानाविध ज्ञानों की अनिश्चितावस्था को ही 'संशय' कहा गया है। वस्तु की उस अनिश्चितावस्था को निश्चयात्मक स्थिति में लाने का कार्य 'वाद' पदार्थ के द्वारा होता है। 'वाद' का आशय है यथार्थ तत्त्व का निर्णय। इस तत्त्वनिर्णय के लिए ही 'वाद' की आवश्यकता बतायी गयी है।

वाद के अवयव

'वाद' पदार्थ का निरूपण करने से पूर्व उसके अवयवों का स्वरूप जान लेना आवश्यक है। वे अवयव हैं : कथा, पक्ष, प्रतिपक्ष, वादी, प्रतिवादी, कथामुख, पूर्वपक्ष, अनुवाद और उत्तरपक्ष।

जिस विषय को लेकर विवाद किया जाता है उसको 'कथा' या 'कथावस्तु' कहते हैं। यह विवाद सर्वथा विरोधी धर्मों पर आधारित होता है; जैसे एक का कथन

है कि 'शब्द नित्य है' और दूसरे का कथन है कि 'शब्द अनित्य है'। इस एक ही आधार शब्द में दो विरुद्ध धर्मों—नित्यता और अनित्यता—को आरोपित करना ही क्रमशः 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। इस 'पक्ष' को प्रमाणित करने वाला 'वादी' और उसका खण्डन कर 'प्रतिपक्ष' को प्रमाणित करने वाला 'प्रतिवादी' या 'प्रतिपक्षी' कहलाता है। 'वादी' जिस पक्ष को प्रस्तुत करता है उसे 'कथामुख' (उपन्यास) कहते हैं और पुनः प्रमाण द्वारा उसका मण्डन करके उस पर किये गये आक्षेपों का समाधान करने को ही 'पूर्वपक्ष' कहा जाता है। तदनन्तर 'प्रतिवादी' 'पूर्वपक्ष' को दुहराता है। इसी पुनरावृत्ति को 'अनुवाद' कहते हैं। 'अनुवाद' करने के उपरान्त पूर्वपक्ष का खण्डन करके प्रमाण द्वारा प्रतिपक्ष की स्थापना करने को ही 'उत्तरपक्ष' कहा जाता है।

वाद का लक्षण : स्वरूप

यथार्थ तत्त्व का निर्णय सामने रखकर जो शास्त्रार्थ किया जाता है उसे 'वाद' कहते हैं; अथवा यों कहा जा सकता है 'ऐसे कथाविशेष का नाम 'वाद' है, जिसमें तत्त्वनिर्णयरूपी फल का अवधारण किया जा चुका है, (**तत्त्वनिर्णयफलः कथा-विशेषो वादः**)। उसमें वादी और प्रतिवादी, दोनों ज्ञान के इच्छुक होते हैं, विजय के इच्छुक नहीं। इसीलिए उसमें 'तर्क' तथा 'प्रमाण' का आश्रय लिया जाता है, सिद्धान्त के विपरीत कुछ भी नहीं कहा जा सकता और पंचावयव युक्त अनुमान को आधार माना जाता है। यथार्थ तत्त्वनिर्णय (वाद) के लिए ये शर्तें आवश्यक हैं, अन्यथा वह शास्त्रार्थ 'वाद' नहीं कहा जायगा 'जल्प' कहा जायगा।

(११)
जल्प

'वाद' पदार्थ में निर्दिष्ट शर्तों के विपरीत, ऐसे 'शास्त्रार्थ (कथा) को, जिसमें एकमात्र जीतने की इच्छा रहती है, 'जल्प' कहलाता है (**विजिगीषु कथा जल्पः**)। इसमें योग्यता और वाक्चातुर्य की प्रधानता रहती है। जहाँ तक कि मिथ्या बात कह-कर भी अपने पक्ष को सिद्ध किया जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि 'द्विविध (सत्यासत्य) साधनों को लेकर जीतने की इच्छा से जो 'वाद' किया जाता है उसको 'जल्प' कहते हैं'। (**उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः**)।

(१२)
वितण्डा

यदि विजिगीषु (जल्प करने वाला) अपने पक्ष की स्थापना न करके केवल प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करके ही शास्त्रार्थ को स्थगित कर दे तो ऐसे जल्प को 'वितण्डा' कहते हैं (**स्वपक्षस्थापनाहीनः कथाविशेषो वितण्डा**)। वितण्डावादी की

कोई प्रतिज्ञा नहीं होती। इसलिए उसकी प्रपंचपूर्ण युक्तियाँ रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक होती हैं।

(१३)

हेत्वाभास

'हेतु' अनुमान का आधार होने के कारण उसका निरूपण अनुमान प्रमाण के प्रसंग में पहले किया जा चुका है।

(१४)

छल

वक्ता के कथन का वास्तविक आशय ग्रहण न करके उसकी जगह जो दूसरा अर्थ आरोपित किया जाता है उसको 'छल' कहते हैं (**शब्दावृत्तिव्यत्ययेन प्रतिषेधहेतुः छलम्**)। व्यापक अर्थ में प्रयुक्त शब्द को संकुचित अर्थ में ग्रहण करके या मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ अथवा लक्ष्यार्थ को लेकर जो आक्षेप किया जाता है वह भी 'छल' है। वह तीन प्रकार का होता है : १. वाक्छल—कही गयी बात का कुछ और ही अर्थ लगाना; २. सामान्य छल—सम्भावित अर्थ को छोड़कर असम्भावित अर्थ की कल्पना करना; और ३. उपचार छल—वाक्य का शब्दार्थ न लेकर उसका तात्पर्यमात्र ग्रहण करना।

(१५)

जाति

यह भी एक दुष्ट प्रकार का उत्तर है। जब हम साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (असमानता) के द्वारा वादी की दोष-रहित युक्ति का खण्डन करने के लिए उसके दोष निकालने (प्रत्यवस्थापन की चेष्टा करते हैं तो ऐसे अनुमान को 'जाति' कहते हैं (**साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यावस्थापनं जातिः**)। इससे व्याप्ति-सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रहती और साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा वादी की युक्ति को सदोष सिद्ध किया जाता है। उदाहरण के लिए वादी का सिद्धान्त है 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह घट की भाँति एक कार्य है' इस अनुमान का खण्डन करने के लिए प्रतिवादी कहे 'नहीं, शब्द नित्य है, क्योंकि वह काल की भाँति अदृश्य है' यहाँ 'नित्य' और 'अदृश्य' में कोई साधर्म्य (नियत सम्बन्ध) नहीं है। इसके २४ भेद होते हैं।

(१६)

निग्रहस्थान

न्याय दर्शन का यह अन्तिम पदार्थ है। निग्रहस्थान का शाब्दिक अर्थ है

पराजय, हार या तिरस्कार का स्थान । शास्त्रार्थ के जिस स्थान पर पहुँचने पर वादी की हार हो जाय और उसको निन्दा या भर्त्सना का अपमान सहना पड़े वही स्थान 'निग्रहस्थान' कहा जाता है । ऐसी स्थिति में वादी तभी पहुँचता है, जब वह अपने पक्ष का प्रतिपादन अनुचित (विप्रतिपत्ति) ढङ्ग से करता है अथवा प्रतिपादन कर ही नहीं सकता (अप्रतिपत्ति) है । प्राचीन न्याय में 'निग्रहस्थान' के २२ प्रकार बताये गये हैं ।

मोक्षप्राप्ति के लिए पदार्थज्ञान की अनिवार्यता

ऊपर जिन सोलह पदार्थों का निरूपण किया गया है अपवर्ग के लिए उन सभी का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है । 'जल्प' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक के पदार्थ ऊपरी दृष्टि से यद्यपि वाग्विलासमात्र प्रतीत होते हैं; किन्तु अन्य पदार्थों की भाँति न्याय-दर्शन में अपवर्ग (मोक्ष) के लिए उनके यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता बतायी गयी है । उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमांजलि' में इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करने के उपरान्त यह सिद्ध किया है कि 'जल्प' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक जितने भी पदार्थ हैं उनकी अन्य पदार्थों की भाँति विपर्यस्त व्यक्ति को संशयापन्न करके तत्त्वज्ञान का जिज्ञासु बनाने में, उतनी ही अनिवार्यता है ।

ईश्वर विचार

स्वरूप

न्याय दर्शन में ईश्वर की सत्ता पर बड़ी गम्भीरता और बारीकी से विचार किया गया है । ईश्वर निःशरीर है, किन्तु उसमें इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न के गुण वर्तमान हैं । वह सर्वज्ञ है, शक्तिमान् है और अनन्त ज्ञान का आगार है । इस जगत् का बनानेवाला, संस्थापक, नियामक और संहारक सभी कुछ वही है । दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा भौतिक परमाणुओं की सहायता से वह सृष्टि की रचना करता है । ये परमाणु आदि नित्य हैं । ईश्वर में रहने वाली सत्ताएँ हैं । वे सत्ताएँ ही जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं । वेदान्त के सिद्धान्त की भाँति ईश्वर, मकड़ी की भाँति अपने उदर से सृष्टि को उत्पन्न नहीं करता; बल्कि कुम्भकार की भाँति नित्य परमाणुओं के उपादानों को लेकर उसको बनाता है । इसलिए सृष्टि-निर्माण में उसको निमित्तकारण माना जा सकता है, उपादान कारण नहीं । उसको विश्वकर्मा (ब्रह्माण्ड कुलाल) कहा जा सकता है ।

यद्यपि उक्त नित्य द्रव्यों की सहायता से ईश्वर जगत् का निर्माण करता है; किन्तु उनकी अपेक्षा वह व्यापक है, अनन्त हैं, असीमित है । उनसे बँधा हुआ नहीं है । आत्मा का शरीर से जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध ईश्वर का नित्य द्रव्यों से है ।

जीवों को समस्त कर्मफलों का देने वाला वही है । जीवों के पाप-पुण्यों के अनुसार ही वह उन्हें सुख-दुःख देता है । जीव अल्पज्ञ है; किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है । उसका षडैश्वर्यसंपन्न कहा गया है । उसके षड् ऐश्वर्य हैं; आधिपत्य, वीर्य, वाक् श्री, ज्ञान और वैराग्य । उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमाञ्जलि परिशिष्ट' में कहा गया है :

ईश्वरोऽयं निराकारः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ।
अनादिरविकारी चानन्त सर्वगतो विभुः ।।
सच्चिदानन्द रूपोऽपि दयालुर्न्यायतत्परः ।
सर्गे स्थितौ लये हेतुः नित्यतृप्तो निराशयः ।।

ईश्वर के अस्तित्व की युक्तियाँ

सांख्य को छोड़कर ईश्वर के अस्तित्व को सभी आस्तिक दर्शनों में स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं वे लोकव्यवहार की दृष्टि से बड़ी ही उपयोगी हैं।

ईश्वर ही इस जगत् का कर्ता है

न्याय की दृष्टि से संसार के समस्त पदार्थों की दो श्रेणियाँ हैं : नित्य और अनित्य। नित्य पदार्थों में दिक्, काल, आकाश, मन और पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु की गणना की गयी है। ये नित्य पदार्थ निरवयव एवं अणु हैं। ये पदार्थ सृष्टि और प्रलय, दोनों में बने रहते हैं। इनके अतिरिक्त राई से लेकर पर्वत तक और एक क्षुद्र जलबिन्दु से लेकर महासमुद्र तक संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सावयव और अनित्य हैं।

नित्य वस्तुएँ कारण रूप और अनित्य वस्तुएँ कार्यरूप हैं। ये कार्य रूप वस्तुएँ कारणरूप उदादान वस्तुओं से बनी हैं। इन कारणरूप उपादन वस्तुओं के संयोग से कार्यरूप वस्तुओं का निर्माण करने वाला, उनका प्रयोजक और निमित्त कारण कोई तीसरा ही है। वह तीसरी स ा सर्वज्ञ है और उसी को न्याय में ईश्वर कहा गया है।

जिस प्रकार विभिन्न अवयवों के संयोग से निर्मित घट, कुम्हार का कार्य है उसी प्रकार विभिन्न अवयवों के संयोग से निर्मित पर्वत, समुद्र आदि भी ईश्वर के कार्य हैं। संसार को विभिन्न सावयव वस्तुओं को देखकर संसार भी कार्य की कोटि में आता है। न्याय की दृष्टि से :

जो सावयव पदार्थ हैं वे सभी कार्य हैं
जगत् भी सावयव है
इसलिए वह भी कार्य पदार्थ है

ईश्वर जगत् का कर्त्ता है, इसके अनुमान के लिए नैयायिकों का कहना है—कि जितने भी कार्यद्रव्य हैं उनका कोई-न-कोई अवश्य कर्ता है। इसलिए इस कार्यरूपी जगत् को बनाने वाला भी कोई है :

समस्त पदार्थों की उत्पत्ति कर्त्ता के द्वारा होती है
यह जगत् भी कार्य है
अतः इस जगत् की उत्पत्ति भी किसी के द्वारा होती है

इन युक्तियों से जगत्कर्ता और जागतिक वस्तुओं का निमित्त कारण ईश्वर की प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है।

कर्मों का अधिष्ठाता ईश्वर है

संसार में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जो नाना रूप विभिन्न जीव दिखायी देते हैं उसका कारण क्या है ? मनुष्यों में भी एक सुखी और दूसरा दुःखी क्यों दिखायी देता है ? यदि ईश्वर ने ही इस जगत् को बनाया है तो होना यह चाहिए कि सभी मनुष्य धनी हों या तो निर्धन ? इस असमानता का उत्तर न्याय में कर्मसिद्धान्त के आधार पर दिया गया है। अपने दैनिक जीवन में भी हम कर्म का प्रत्यक्ष फल देखते हैं। किन्तु न्याय का कर्मवाद अदृष्ट है। वह अदृष्ट है पूर्व जन्म। अपने इस जन्म से हम जो सुख-दुःख, लाभ-हानि, गरीबी-अमीरी का उपभोग करते हैं वे हमारे पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। हमारा वर्तमान सुख, हमारे पूर्व जन्म के सुकर्मों का फल है और दुःख, दुष्कर्मों का फल। इन सुकर्मों और दुष्कर्मों से उत्पादित पुण्य-पापों का संग्रह ही 'अदृष्ट' है। यह संचय ही हमारे वर्तमान जीवन के सुख-दुःख हैं। इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि हमारे पूर्व जन्म के कर्म ही हमारे वर्तमान जीवन के सुख-दुःखादि कार्यों के कारण हैं।

इन अच्छे और बुरे कार्यों का साक्षी ही ईश्वर है। यदि साक्षी ईश्वर न हो तो भले और बुरे का विचार कैसे किया जाता ? ईश्वर के अस्तित्व की प्रामाणिकता इससे भी सिद्ध होती है कि वह सर्वज्ञ होने के कारण हमारे अदृष्ट पाप-पुण्यों का संचालन करता है। वह एक ऐसे राजा की तरह है जो अपनी प्रजा की भाँति हमें हमारे अच्छे कर्मों पर सुख और बुरे कर्मों पर दुःख देता है।

ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता है, यह इससे भी सिद्ध होता है कि कर्मों की फलप्राप्ति दूरभावी होती है। यदि कर्म के संपादित कर देने मात्र से ही फल की तत्काल प्राप्ति हो जाय तो वर्तमान में किये गये कर्मों का फल वर्तमान में ही मिल जाना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त कर्म के अभाव में फल की प्राप्ति नहीं होती है। इससे स्पष्ट यह सिद्ध होता है कि कर्मफलों को देने वाला ही ईश्वर है और वह, व्यक्ति के या प्राणी के कर्मों के अनुसार ही उसका फल देता है।

अतएव कर्मों का अधिष्ठाता होने से ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध है।

वेदों की प्रामाणिकता

भारत के वृहद् वाङ्मय और जन-जीवन में वेदों की प्रामाणिकता एकस्वर से स्वीकार की गयी है। इसीलिए वेदों को हिन्दू जाति का प्राण कहा गया है। न्याय के अनुसार वेदों को इसलिए प्रामाणिक माना गया है क्योंकि उनको ईश्वर ने बनाया है। क्योंकि ईश्वर अनादि और अलौकिक है। इसलिए वेदों को भी अनादि और अलौकिक माना गया है। जीव और आत्मा में यह बात नहीं है। इसलिए वेदों की

अनादिता और अलौकिकता को मानने के लिए ईश्वर को मानना नितान्त आवश्यक है।

वेदवचन ईश्वर के अस्तित्व के साक्षी

वेदों का कर्ता ईश्वर है, इसलिए उनको प्रामाणिक, अनादि एवं अलौकिक माना गया है। इसके अतिरिक्त वेदवचन ही ईश्वर के अस्तित्व के साक्षी हैं। अनेक श्रुतियाँ ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान तर्क से नहीं, बल्कि परोक्ष या अपरोक्ष अनुभव से हो सकता है। ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न दर्शनों में अनेक प्रकार की युक्तियाँ सुझायी गयी हैं। उनका आश्रय लेने से ईश्वर का साक्षात् अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। इन युक्तियों से यदि सफलता न मिले तो श्रुतिवचनों पर विश्वास करना चाहिए। क्योंकि वे बातें उन ज्ञानमना महर्षियों ने कही हैं, जिन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया। इसी हेतु उनको साक्षात्कृतधर्मा कहा गया और उनके वचनों को अतर्क्य एवं संदेहरहित।

इसलिए वेदवचन ईश्वर के अस्तित्व के साक्षी हैं और इसलिए ईश्वर की सत्ता को मानने में कोई संदेह नहीं रहता।

निष्कर्ष

ईश्वरसिद्धि के सम्बन्ध में न्यायदर्शनकारों ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' में उनका निष्कर्ष इस श्लोक में व्यक्त किया गया है :

कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

कार्यात् : जिस प्रकार घटरूपी कार्य का निर्माण करने के लिए कुम्हार की आवश्यकता होती है उसी प्रकार इस जगद्रूपी कार्य का निर्माण करने के लिए सर्वज्ञ ईश्वर की आवश्यकता होती है।

आयोजनात् : जड़ परमाणुओं के संयोग से विभिन्न वस्तुओं की रचना के लिए चेतन ईश्वर की आवश्यकता है। ईश्वर की ही इच्छा से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है और तब नाना रूपमय वस्तुओं का निर्माण होता है।

धृत्यादे : इस जगत् का धारण करने वाला और नाश करने वाला कोई है। वह विश्वनियन्ता ही ईश्वर है।

पदात् : इस जगत् के जो अनन्त कलाकौशल परम्परा से अज्ञात रूप से चले आ रहे हैं उनका उद्गमस्थान ही ईश्वर है।

प्रत्ययत : विज्ञान की सत्यता को देखकर यह विश्वास होता है कि उसका अवश्य कोई स्रष्टा है। असीम ज्ञान का भण्डार ही ईश्वर है।

श्रुते : श्रुतिग्रन्थ ईश्वर की सर्वज्ञता और सृष्टिकर्ता होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

वाक्यात् : वेद वाक्यों को इसलिए प्रामाणिक माना गया है कि वे ईश्वर-वचन हैं।

संख्याविशेषात् : दो परमाणुओं के मिलने से द्वयणुक और द्वयणुकों की तीन संख्या से 'त्र्यणुक' बनता है। प्रलय काल में जब सारा प्राणिजगत् निद्रा में निमग्न रहता है तब कोई चेतन सत्ता है, जिसकी अपेक्षाबुद्धि से ये संख्याएँ बनती हैं। वही ईश्वर है।

ईश्वर विरोधी शंकाएँ और उनका समाधान

ईश्वर-विरोधी शंकाओं के समाधान में नैयायिकों ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. ईश्वर के विरोध में पहली शंका यह प्रस्तुत की गयी है कि यदि इस संसार को किसी ने बनाया है तो इसका क्या प्रमाण है कि वह ईश्वर ही है ?

न्याय में इसका उत्तर दिया गया है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व प्रतिपादित करने वाली श्रुतियाँ अप्रामाणिक हैं तो यह प्रश्न ही नहीं उठता है कि ईश्वर ने इस जगत् को बनाया है, क्योंकि जब आकाश में फूल खिलता ही नहीं तो उसके लाल-पीले रंग के सम्बन्ध में विवाद ही नहीं उठता। यदि ईश्वर को न मानने वाले लोग श्रुति (वेद) को प्रमाण मानते हैं तो उसी वेद के इन वचनों को वे क्यों स्वीकार नहीं करते, जिनमें बताया गया है कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर है। इसलिए यदि वेद प्रमाण हैं तो वेद के द्वारा प्रमाणित ईश्वर की सत्ता भी प्रमाणित है और वेदविहित ईश्वर का जगत्कर्ता होना भी सिद्ध है।

२. विरोधियों का कथन है कि यदि वेदप्रोक्त होने के कारण ईश्वर की प्रामाणिकता वेद से और ईश्वरीय वचन होने के कारण वेद की प्रामाणिकता ईश्वर से सिद्ध है तो ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष होता है। इसके उत्तर में नैयायिकों का कथन है कि यहाँ अन्योन्याय दोष तब चरितार्थ होता यदि ईश्वर की उत्पत्ति या उसका ज्ञान वेद के द्वारा और वेद की उत्पत्ति या उसका ज्ञान ईश्वर से माना जाता। यहाँ तो स्पष्ट ही ईश्वर का ज्ञान वेद से और वेद की उत्पत्ति ईश्वर से मानी गयी है। ईश्वर, वेद का कारण है और वेद, ईश्वर-विषयक ज्ञान का कारण है; न कि वेद ईश्वर का कारण है और न ही ईश्वर, वेद-विषयक ज्ञान का कारण है। इसलिए यहाँ अन्योन्याश्रय दोष की कोई सम्भावना है ही नहीं।

३. तीसरी शंका यह है कि यदि ईश्वर ने इस जगत् को बनाया है तो वह सशरीर होना चाहिए, क्योंकि निःशरीर के द्वारा कोई कार्य होना सम्भव नहीं है। वेद में यदि ईश्वर को निःशरीर कहा गया है तो उसको जगत् का कर्त्ता कैसे माना जा सकता है ?

नैयायिकों ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि किसी कर्त्ता के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह शरीरयुक्त ही हो; बल्कि कर्त्ता में साध्य तथा साधन का ज्ञान, साधन को

काम में लाने की इच्छा (चिकीर्षा) और साध्य की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न (क्रिया), इन तीन बातों का होना आवश्यक है। ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न, इन तीनों के होने पर अशरीर ईश्वर कार्य करने में सक्षम हो सकता है। इस दृष्टि से विरोधियों की यह युक्ति खण्डित हो जाती है कि कर्त्ता को सशरीर ही होना चाहिए। अतः सिद्ध है कि कर्तृत्व साधन के लिए ईश्वर स्वतन्त्र इच्छा से प्रवृत्त होकर सर्वज्ञ होने से सृष्टि की रचना करता है।

४. चौथी शंका विरोधियों की ओर से यह प्रस्तुत की गयी है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर ही सृष्टिकर्ता है; किन्तु ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि किस प्रयोजन के लिए वह सृष्टिरचना करता है; क्योंकि बिना प्रयोजन के किसी कार्य में कर्त्ता की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती है। इसके अतिरिक्त ईश्वर की यह सृष्टिरचना स्वार्थमूलक है या परार्थमूलक ?

इसका उत्तर नैयायिकों ने यह दिया है कि ईश्वर स्वयं पूर्ण और निरपेक्ष है। अतः उसकी सृष्टिरचना कार्य स्वार्थमूलक नहीं हो सकता है; बल्कि उसका प्रयोजन परार्थमूलक है। यह इसलिए कि ईश्वर स्वभावतः करुणामय है। करुणावश ही उसकी सृष्टिकार्य में प्रवृत्ति होती है **(करुणया प्रवृत्तिरीश्वरस्य)**। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि करुणा से प्रेरित होकर यदि ईश्वर जगत् का निर्माण करता है तो सभी प्राणियों को सुखी होना ही चाहिए। यह सर्वसुख की कल्पना व्यर्थ है। यह सुख और दुःख तो प्राणियों के अपने पूर्वसंचित कर्मों का फल है। इन कर्मों के फलोपभोग के लिए सभी जीव स्वतन्त्र हैं और दयालु ईश्वर सभी प्राणियों को उनके उन्नत लक्ष्य तक पहुँचाने में उनकी मदद करता है।

इसलिए भारतीय दर्शन संप्रदायों में, विशेष रूप से ईश्वर के विरोध में सांख्य दर्शन में जो शंकाएँ प्रस्तुत की गई हैं, न्याय में और वैशेषिक में उसका बड़े विस्तार से समाधान किया गया है; और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके उसी को जगत् का कर्त्ता सिद्ध किया गया है।

●

वैशेषिक दर्शन

* * * *

नामकरण

इस दर्शन के 'वैशेषिक' नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा 'विलक्षण' होने के कारण इसको 'वैशेषिक' कहा गया। विलक्षण से तात्पर्य वस्तुओं की सूक्ष्म, स्वतन्त्र सत्ता से है, जो कि न तो वेदान्त में है और न सांख्य, न्याय आदि दर्शनों में देखने को मिलती है। वस्तुओं की इसी विलक्षण विश्लेषणात्मक पद्धति के कारण इस दर्शन का ऐसा नाम पड़ा।

न्याय दर्शन परमाणुवादी दर्शन है। न्याय के अनुसार प्रत्येक वस्तु की विशिष्ट सत्ता होती है, जो उसको शेष वस्तुओं से पृथक् करती है। वस्तुओं की इस अनेकता तथा भिन्नता को ही 'विशेष' कहा गया है। वस्तुओं की सर्वोपरि सत्ता इसी 'विशेष' पदार्थ को मान लिये जाने के कारण इस दर्शन का 'वैशेषिक' नामकरण हुआ। (**विशेष पदार्थमेदमधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्**)। प्रत्येक वस्तु के मूल में जो 'विशेष' सत्ता निहित है उसी को 'परमाणु' कहा गया है। प्रत्येक परमाणु की वह स्थिति, जिसमें पहुँचकर उसका कोई हिस्सा नहीं हो सकता, अर्थात् सामान्यों को छाँटते-छाँटते अन्त में जो भाग बच जाता है, 'विशेष' कहलाता है।

इसी आधार पर इस दर्शन का 'वैशेषिक' नामकरण हुआ।

वैशेषिक दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

कणाद

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हुए। उनका यह नामकरण '**कणभक्ष**' (कणों को खाने वाला) होने के कारण पड़ा (**स कणाद इति कणभक्ष इति वा नाम्ना प्रसिद्धिमवाप**)। इस सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती है कि ये महर्षि तत्त्वानुसंधान में इस प्रकार भूले रहते थे कि उन्हें अपने खाने-पीने तक की सुध न रहती थी। जब भूख असह्य हो उठती थी तो खेतों में जाकर ये अन्नकणों को बटोरकर उन्हीं से अपनी उदरपूर्ति कर लिया करते थे। अथवा कन्दलीकार श्रीधर के मतानुसार मार्ग में पड़े

हुए अन्नकणों से अपनी जीवन-यात्रा चलाने के कारण उन्हें कणाद कहा गया। या 'कणभुक्' अर्थात् अणुजीवी होने के कारण उनका यह नामकरण हुआ। उन्होंने भारतीय दर्शन में सर्वप्रथम 'परमाणुवाद' का प्रवर्तन किया।

काश्यप और उलूक, इनके दो नाम भी प्रचलित हैं। 'त्रिकाण्डकोश' में इनको काश्यप कहा गया है। काश्यप संभवतः इनका गोत्र था, क्योंकि उदयनाचार्य की 'किरणावली' में इनको कश्यप मुनि का पुत्र बताया गया है। 'अमरकोश', 'सर्वदर्शन-संग्रहटीका' और 'नैषधचरित' प्रभृति ग्रन्थों में कणाद को उलूक, नाम और उनके दर्शन को औलूक्य दर्शन के नाम से कहा गया है। इस सम्बन्ध में 'न्यायकन्दली' के टीकाकार जैन राजशेखर ने एक जनश्रुति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कणाद की तपस्या पर प्रसन्न होकर स्वयं परमेश्वर ने उलूक रूप धारण कर कणाद को पदार्थ-तत्त्व का ज्ञान दिया (**ततस्विने कणादमुनये स्वयमीश्वर उलूकरूपधारी, प्रत्यक्षीभूय पदार्थषट्कमुपदिदेश इति ऐतिह्यं श्रूयते**)। प्रशस्तपाद ने भी इस अनुश्रुति को स्वीकार किया है। 'वायुपुराण' में लिखा है कि महर्षि कणाद प्रभासपत्तन (काठियावाड़) के निवासी सोमशर्मा के शिष्य और शिव के अवतार थे। इन उल्लेखों से विदित होता है कि कणाद काश्यपगोत्रीय और सोमशर्मा के शिष्य संभवतः काठियावाड़ के निवासी थे।

उनका स्थितिकाल लगभग ४०० ई० पूर्व में बताया जाता है। इस दृष्टि से वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन से भी प्राचीन ठहरता है। न्याय की अपेक्षा वैशेषिक दर्शन इसलिए भी प्राचीन सिद्ध होता है कि वैशेषिक का पदार्थशास्त्र, जो वहिर्जगत् का विषय है, न्याय के प्रमाणशास्त्र, जो अन्तर्जगत् का विषय है, उससे प्राचीन है। यह प्रकृतिसिद्ध है कि वहिर्जगत् के बाद ही मनुष्य अन्तर्जगत् की ओर प्रवृत्त होता है।

रावणभाष्य

कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' पर सबसे पहले 'रावणभाष्य' लिखा गया था, जो संप्रति प्राप्त नहीं है; किन्तु विभिन्न ग्रन्थों में जिसके अस्तित्व का उल्लेख पाया जाता है। उदयनाचार्य की 'किरणावली' में 'प्रशस्तपाद-भाष्य' के मंगलश्लोक में 'प्रवक्ष्यते' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि 'अपने पूर्ववर्ती सूत्र भाष्य तथा प्रकरण ग्रन्थों के होने पर भी प्रशस्तपाद ने कुछ विशेष (प्रकृष्ट) कहने के लिए अपने ग्रन्थ की रचना की है। उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद के 'पदार्थधर्मसंग्रह' की अपेक्षा 'भाष्य' को वृहत् बताया है। 'किरणावली भाष्कर' में पद्मनाभ मिश्र ने उदयन द्वारा उद्धृत उक्त 'भाष्य' शब्द से 'रावणभाष्य' को लिया है।

इसके अतिरिक्त शंकराचार्य के 'शारीरिक भाष्य' में दो द्वचणुक से एक चतुरणुक उत्पन्न होने का उल्लेख किया गया है; किन्तु कणाद और प्रशस्तपाद के मतानुसार तीन द्वचणुकों से एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है। इस सन्देह की निवृत्ति शंकरभाष्य की 'रत्नप्रभा' टीका में की गयी है। वहाँ कहा गया है कि शंकराचार्य ने 'प्रकटार्थ' नामक टीका में उद्धृत 'रावणभाष्य' के मत से ऐसा कहा है। हाल ही में मद्रास

यूनिवर्सिटी से 'प्रकटार्थ-विवरण' नामक टीका प्रकाशित ई और उसमें अणुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त मन्तव्य देखने को मिलता है। णभाष्य' का यह मन्तव्य प्राचीन और प्रशस्तपाद की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है।

ऐसा जान पड़ता है कि 'रावणभाष्य' में वैशेषिक दर्शन की व्याख्या नास्तिक-वादी दृष्टिकोण से की गयी थी और वह भाष्य लगभग ८वीं शताब्दी तक उपलब्ध रहा। बाद में उसको विनष्ट कर दिया गया। वैशेषिकों को अर्ध बौद्ध (अर्ध वैनाशिक) संभवतः सर्वप्रथम 'रावणभाष्य' में ही कहा गया था।

प्रशस्तपाद

कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' पर एक वृहद् भाष्य-ग्रन्थ लिखा गया, जिसका वैशेषिक के क्षेत्र में वही स्थान है, जो वेदान्त के क्षेत्र में 'शारीरिक भाष्य' का। यह भाष्य प्राचीनतम उपलब्ध भाष्य है। इस भाष्य-ग्रन्थ का नाम 'पदार्थधर्मसंग्रह' है, जिसको कि उसके रचयिता के नाम से 'प्रशस्तपादभाष्य' भी कहा जाता है।

वस्तुतः प्रशस्तपाद के इस ग्रन्थ का महत्त्व एक कोरे भाष्य के रूप में न होकर मौलिक ग्रन्थ के रूप में माना जाता है। स्वयं ग्रन्थकार ने उसको भाष्य ग्रन्थ की कोटि में नहीं माना है और परवर्ती ग्रन्थकारों ने उसके सिद्धान्तों को अभ्रान्त रूप में उद्धृतकर उसकी प्राणाणिकता एवं मौलिकता को और भी स्पष्ट कर दिया है। 'पदार्थधर्म संग्रह' के प्रामाणिक टीकाकार उदयनाचार्य ने उसको वैशेषिक दर्शन की मौलिक कृति स्वीकार किया है।

आचार्य प्रशस्तपाद का व्यक्तित्व वैशेषिक के क्षेत्र में बड़े सम्मान से स्मरण किया गया है; किन्तु उसके स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। डॉ० कीथ ने प्रशस्तपाद को बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का परवर्ती एवं दिङ्नाग की दार्शनिक कृतियों से प्रभावित बताया है; किन्तु रूसी आलोचक शेरावात्स्की ने अपनी नवीन गवेषणाओं से यह सिद्ध किया है कि दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु पर 'प्रशस्तपाद भाष्य' का प्रभाव है। प्रशस्तपाद के सम्बन्ध में अधिक विद्वानों की यही राय है कि या तो वे वसुबन्धु (चौथी शताब्दी) के पूर्ववर्ती थे अन्यथा उनके समकालीन होने में तो कोई द्विविधा ही नहीं है।

प्रशस्तपाद का भाष्यग्रन्थ वैशेषिक के क्षेत्र में इतना विद्वत्प्रिय सिद्ध हुआ कि उस पर व्योमकेश, उदयन, श्रीधर, श्रीवत्स, वल्लभ, पद्मनाभ, शंकर और जगदीश भट्टाचार्य प्रभृति अनेक विद्वानों ने टीकाएँ, उपटीकाएँ तथा वृत्तियाँ लिखीं।

व्योमकेश

संभवतः ये दक्षिणात्य थे। ये उदयनाचार्य से पहले हुए, क्योंकि 'किरणावली' में इन्हें 'प्रशस्तपाद भाष्य' का सर्वप्रथम टीकाकार माना गया है। संभवतः ये हर्ष-वर्धन के राज्यकाल में हुए। इनकी 'व्योमवती' टीका प्रसिद्ध है।

उदयनाचार्य

उदयनाचार्य मिथिलावासी थे और उनका स्थितिकाल १०वीं शताब्दी था।

उन्होंने वैशेषिक के क्षेत्र में 'न्यायकन्दली' और 'किरणावली' दो ग्रन्थ लिखे। उनकी 'किरणावली', 'प्रशस्तपादभाष्य' की प्रामाणिक और प्रसिद्ध टीका है। उस पर वरदराज (११वीं श०) की टीका, वादीन्द्र (१३वीं श०) का 'रससार', वर्धमानोपाध्याय (१३वीं श०) का 'किरणावलीप्रकाश' और पद्मनाभ मिश्र (१६वीं शा०) का 'किरणावलीभाष्कर' नामक चार टीकाएँ लिखी गयीं। उदयनाचार्य की 'लक्षणावली' भी वैशेषिक की मान्य कृति है। उस पर शाङ्गधर ने 'न्यायमुक्तावली' नामक टीका लिखी।

उदयनाचार्य ने न्याय और वैशेषिक पर अलग-अलग और दोनों पर संयुक्त ग्रन्थ भी लिखे। उनका विवरण इस प्रकार है :

न्याय	'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि', वाचस्पति मिश्र की 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' की उपटीका तथा 'न्यायपरिशिष्ट'
वैशेषिक	'किरणावली', 'प्रशस्तपादभाष्य' की टीका, 'लक्षणावली'
न्याय-वैशेषिक	'कुसुमाञ्जलि', 'आत्मतत्त्वविवेक', 'बौद्धाधिकार'

श्रीधराचार्य

श्रीधराचार्य बंगाल के निवासी थे। इनके पिता का नाम बलदेव तथा माता का नाम अम्बोका देवी था। इनका स्थितिकाल १०वीं शताब्दी था, क्योंकि इन्होंने अपनी टीकाकृति 'न्यायकन्दली' की पुष्पिका में उसका समाप्तिकाल ९१३ शक (९९१ ई०) लिखा है। उदयनाचार्य और श्रीधराचार्य ही पहले विद्वान् थे, जिन्होंने 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ का निरूपण करके वैशेषिक को सप्तपदार्थी दर्शन के नाम से विश्रुत किया। इनकी 'न्यायकन्दली' पर पद्मनाथ मिश्र ने 'न्यायकन्दलीसार' और जैन विद्वान् राजशेखर ने 'न्यायकन्दलीपंजिका' नामक दो उप टीकाएँ लिखीं।

'न्यायकन्दली' में श्रीधराचार्य ने स्वरचित कुछ अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं, 'अद्वयसिद्धि', 'तत्त्वप्रदीप, ''तत्त्वसंवादिनी' और 'संग्रहटीका'; किन्तु ये चारों कृतियाँ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं।

श्रीवत्स

श्रीवत्स के सम्बन्ध में, इसके अतिरिक्त कि उन्होंने 'प्रशस्तिपादभाष्य' पर 'न्यायलीलावती' नामक टीका लिखी, कुछ भी ज्ञात नहीं है। संभवतः वे ११वीं, १२वीं शताब्दी में हुए।

बल्लभाचार्य

बल्लभाचार्य के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है। संभवतः वे ११वीं शताब्दी में हुए, क्योंकि वादीन्द्र (१३वीं श०) ने अपने 'रससार' में उनका उल्लेख किया है। उनकी 'न्यायलीलावती' टीका उदयन की 'किरणावली' के समान लोकप्रिय है। 'न्यायलीलावती' पर लिखी गयी लगभग सात उपटीकाओं का पता चलता है, जिनमें

वर्धमान उपाध्याय का 'लीलावती प्रकाश' और पक्षधर मिश्र का 'न्यायलीलावती-विवेक' अधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध हैं।

पद्मनाभ मिश्र

पद्मनाभ मिश्र का अपर नाम प्रद्योतन मिश्र था। वे मिथिलावासी थे और १३वीं शताब्दी में हुए। उन्होंने 'पदार्थधर्मसंग्रह' पर 'सेतु' नामक टीका लिखी, जो कि अपूर्णरूप में उपलब्ध है। 'तर्कभाषा' के रचयिता केशव मिश्र के ये बड़े भाई थे।

शंकर मिश्र

शंकर मिश्र का जन्म दरभंगा के समीप सरिसव नामक गाँव में हुआ था। वहाँ इनके द्वारा स्थापित सिद्धेश्वरी देवी का मन्दिर आज भी वर्तमान है। इनके पूर्वजों में बड़े-बड़े विद्वान् हुए। मिथिला के प्रसिद्ध अयाची मिश्र (भवनाथ मिश्र) इनके पिता और जीवनाथ मिश्र इनके पितामह थे। इनका स्थितिकाल १५वीं शताब्दी था।

इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। प्रशस्तपाद के भाष्य पर इन्होंने 'कणादरहस्य' नामक टीका ग्रन्थ लिखा, जो कि अपना स्वतंत्र महत्त्व भी रखता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने न्याय तथा वैशेषिक पर 'वैशेषिक सूत्रोपस्कार' (वैशेषिक सूत्र का टीका), 'आमोद' (न्यायकुसुमांजलि की व्याख्या), 'कल्पलता' (आत्मतत्त्वविवेक की टीका), 'आनन्दवर्धन' (श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य की टीका), 'कण्ठाभरण' (न्यायलीलावती की टीका), 'मयूख' (चिन्तामणि की टीका), 'वादिविनोद' (मौलिक न्याय-ग्रन्थ), 'भेदरत्नप्रकाश' (न्याय-वैशेषिक का संयुक्त ग्रन्थ)।

जगदीश भट्टाचार्य

नवद्वीप के नैयायिकों में इनका प्रमुख स्थान है। इनका स्थितिकाल १७वीं शताब्दी था। इनकी कृतियों के नाम हैं 'तत्त्वचिन्तामणि-दीधिति-प्रकाशिका' (जागदीशी), 'तत्त्वचिन्तामणिमयूख', 'न्यायसारावली', 'शब्दशक्तिप्रकाशिका', 'तर्कामृत', 'पदार्थतत्त्वनिर्णय' और 'न्यायलीलावती-दीधिति-व्याख्या'।

शिवादित्य मिश्र

श्रीधराचार्य और उदयनाचार्य ने जिस 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ की योजना अपने ग्रन्थों में रखी थी उसका गम्भीर विवेचना किया शिवादित्य मिश्र ने 'सप्तपदार्थी' लिखकर। शिवादित्य का स्थितिकाल १७वीं शताब्दी था। इन्होंने वैशेषिक दर्शन पर 'लक्षणमाल' नामक एक दूसरी कृति का भी निर्माण किया, किन्तु इनकी 'सप्तपदार्थी' का विशेष महत्त्व है। उसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता उस पर लिखी गयी टीकाओं से सिद्ध होती है। उस पर लिखी गयी प्रसिद्ध टीकाओं में मल्लिनाथ की 'निष्कंटक', माधव सरस्वती की 'मितभाषिणी', शार्ङ्गधर की 'पदार्थ-चन्द्रिका' और भैरवेन्द्र की 'शिशुबोधिनी' का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त जिनभद्र सूरि, वलभद्र, शेषानन्त आदि विद्वानों ने भी 'सप्तपदार्थी' पर टीकाएँ लिखीं।

विश्वनाथ पंचानन

ये बंगवासी थे और इनका स्थितिकालीन १७वीं शताब्दी था। इनका उल्लेख नव्यन्याय के प्रकरण में विस्तार से किया गया है। इनके 'भाषापरिच्छेद' ग्रन्थ को न्यायवैशेषिक में बहुत अपनाया गया। यह छात्रों की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें वैशेषिक के सिद्धान्तों का सरल एवं सुगम श्लोकों में वर्णन किया गया है। इसका अपर नाम 'कलिकावली' भी है। इस पर ग्रन्थकार ने स्वयं ही 'सिद्धान्तमुक्तावली' या 'मुक्तावली' नाम से एक टीका भी लिखी है। इस ग्रन्थ पर रुद्राचार्य की 'रौद्री' टीका और दिनकर की 'दिनकरी' उपटीका प्रसिद्ध है। त्रिलोचन तथा बालकृष्ण भट्ट ने भी 'मुक्तावली' पर टीकाएँ लिखीं।

अन्नंभट्ट

ये दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम तिरुमल था, जो अद्वैत विद्याचार्य के नाम से भी प्रसिद्ध थे। अन्नंभट्ट का अध्ययन काशी में हुआ। ये १७वीं शताब्दी में हुए। इनका विशेष उल्लेख न्याय के प्रकरण में किया गया है।

इनका 'तर्कसंग्रह' न्याय-वैशेषिक का संयुक्त ग्रन्थ है। इस पर इन्होंने स्वयं ही 'दीपिका' नामक टीका भी लिखी है, जिसके कारण प्राचीन और आधुनिक दोनों युगों में यह सटीक ग्रन्थ बड़ा ही लोकप्रिय रहा। 'तर्कसंग्रह' पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनका विवरण इस प्रकार है :

नीलकण्ठ	: तर्कदीपिकाप्रकाश
गोवर्धन	: न्यायबोधिनी
कृष्णधूर्जटि	: सिद्धान्तचन्द्रोदय
क्षमाकल्याण	: फक्किका
विन्ध्येश्वरी	: तरंगिणी
हनुमान	: प्रभा
चन्द्रसिंह	: पदकृत्य
मुकुन्दभट्ट	: चन्द्रिका
श्रीनिवास शास्त्री	: सुरकल्पतरु
लक्ष्मीनृसिंह शास्त्री	: भास्करोदय

इनके अन्य ग्रन्थों के नाम हैं 'रणकोज्जीवनी' (न्यायसुधा की टीका), 'ब्रह्म-सूत्र-व्याख्या', 'अष्टाध्यायी-टीका', 'उद्योतन' (कैयटप्रदीप का व्याख्यान) और 'सिद्धाञ्जन' (जयदेव के मण्यालोक की टीका)।

न्याय और वैशेषिक

न्याय और वैशेषिक, दोनों दर्शनों में आंशिक असमानता और प्रायः समानता है। दोनों पदार्थ-विवेचक दर्शन हैं। किन्तु दोनों का पदार्थ-दर्शन कुछ भिन्न भी है। गौतम

के 'न्यायसूत्र' में इन पदार्थों की संख्या सोलह है, जब कि कणाद का 'वैशेषिकसूत्र' में छह पदार्थ ही माने गये हैं। गौतम का पदार्थ-निरूपण ज्ञान (प्रमाण) पर आधारित है और कणाद का पदार्थ-दृष्टिकोण वस्तु-सत्ता की सिद्धि पर केन्द्रित है। इसके अतिरिक्त न्याय में चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द; किन्तु वैशेषिक में प्रत्यक्ष और अनुमान, इन दो को ही प्रमाण माना गया है और उपमान तथा शब्द को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

इस आंशिक भिन्नता के अतिरिक्त दोनों दर्शनों का चरम उद्देश्य है मोक्ष का निरूपण। दोनों दर्शन यह मानते हैं कि जो नाना नामरूप दुःख हैं उनका एकमात्र कारण है अज्ञान। इस अज्ञान का क्षय तत्त्वज्ञान से ही संभव है। वही मोक्ष है।

न्याय, वैशेषिक के क्षेत्र में यह एक बड़े महत्त्व की बात है कि ११वीं शताब्दी ई० के लगभग शिवादित्य मिश्र कृत 'सप्तपदार्थी' में न्याय और वैशेषिक का परस्पर समन्वय हो गया और उसके बाद दोनों दर्शनों के सिद्धान्त प्रायः एक ही तत्त्वज्ञान के समर्थक हो गये। न्याय और वैशेषिक के उत्तरकालीन सिद्धान्त एक साथ मिलकर आगे बढ़ने के कारण न्याय दर्शन की अनेक कृतियाँ वैशेषिक के और वैशेषिक दर्शन की अनेक कृतियाँ न्याय के अन्तर्गत मानी जाने लगीं। अन्नंभट्ट का 'तर्कसंग्रह' इसका अच्छा उदाहरण है।

इस प्रकार यद्यपि उक्त दोनों दर्शन बहुत कुछ दशाओं में एक समान होने पर भी उनकी प्रतिपादन-शैली तथा सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर है; और दोनों दर्शनों की प्रमाण-मीमांसा, कारणता-विचार, पदार्थ-विवेचन तथा ईश्वर-सम्बन्धी विचारों के विश्लेषण में अपने अलग-अलग दृष्टिकोण, अलग-अलग स्थापनाएँ हैं; यथा न्याय प्रमाणप्रधान या तर्कप्रधान और वैशेषिक वस्तुविवेचक दर्शन हैं; तथापि दोनों दर्शन अविरोधी, वरन् एक-दूसरे के प्रपूरक भी हैं। यही कारण था कि नैयायिकों और वैशेषिककारों के सिद्धान्त मिले-जुले रूप में आगे बढ़े तथा उत्तरोत्तर इसी पद्धति पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे।

वैशेषिक सूत्र

कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' में दस अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निकों में विभक्त है।

पहले अध्याय में धर्म का स्वरूप, धर्म का उद्देश्य और तदनन्तर मुक्ति के साधन छह पदार्थों के सम्यक् ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। इन छह पदार्थों के लक्षण और प्रभेदों पर सूक्ष्म विचार भी इसी अध्याय में किया गया है। तदनन्तर कार्य-कारण, सामान्य-विशेष का निरूपण और अन्त में शुद्ध सत्ता भाव का निरूपण किया गया है।

दूसरे अध्याय में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि नौ द्रव्यों तथा उनके गुणों का विवेचन करने के पश्चात् दिशा तथा काल का स्वरूप और अन्त में शब्द के नित्यत्व एवं अनित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है।

तीसरे अध्याय का विषय आत्मा का निरूपण करना है। इसी आत्म-निरूपण के लिए शरीर, इन्द्रिय और उनके गुण; अनुमान, हेत्वाभास और प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए विषय, इन्द्रिय तथा आत्मा का संयोग निरूपित है। मन, शरीर और आत्मा का अस्तित्व तथा उनकी पारस्परिक स्थिति का निरूपण करने के अनन्तर अन्त में आत्मा के अनेकत्व को सिद्ध किया गया है।

चौथे अध्याय का विषय बड़ा ही सूक्ष्म है। इसमें परमाणु का स्वरूप, उनके संयोग से भौतिक द्रव्यों को उत्पत्ति, उनकी नित्यता का विवेचन करने के बाद कार्य-रूप द्रव्य, शरीर, इन्द्रिय और विषय का स्वरूप और अन्त में शरीरों की विभिन्नता को समझाया गया है।

पाँचवें अध्याय में कर्म और उसके भेदों का वर्णन है। कर्मों के अत्यन्ताभाव होने से ही मोक्ष की उपलब्धि बतायी गयी है। इसी प्रसंग में दिक्, काल, आकाश और आत्मा की निष्क्रियता और अन्त में अंधकार को तेज का अभाव मात्र बताया गया है।

छठे अध्याय में श्रुतिसम्मत धर्म और अधर्म की मीमांसा की गयी है। कर्त्तव्य क्या है, इसका भी निरूपण किया गया है। अन्त में दृष्ट प्रयोजन, कर्म और अशुचि कर्मों का स्वरूप दिखाने के बाद मोक्ष का निरूपण किया गया है।

सातवें अध्याय में अणु-महत्, ह्रस्व-दीर्घ, आकाश-आत्मा का स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध को दिखाया गया है। तदनन्तर दिक्, काल, एकता, संयोग, वियोग, शब्द, परत्व और समवाय का विवेचन किया गया है।

आठवें अध्याय में सामान्य ज्ञान तथा विशेष ज्ञान का विवेचन करने के पश्चात् विभिन्न इन्द्रियों और उनकी प्रकृतियों का सूक्ष्म विवेचन है।

नवें अध्याय में असत्कार्यवाद, अभाव, अनुमान, शब्द, उपमान, स्मृति, स्वप्न, अविद्या और विद्या का स्वरूप समझाया गया है।

दसवें अध्याय में सुख-दुःख का विवेचन करने के पश्चात् समवायिकारणों और असमवायिकारणों का पारस्परिक विभेद और अन्त में वेद की प्रामाणिकता तथा मोक्ष का निरूपण किया गया है।

पदार्थ विचार

वैशेषिक दर्शन का मुख्य विषय पदार्थों का विवेचन करना है। पदार्थ वह वस्तु है, जिसका किसी 'पद' (शब्द) से अभिधान होता है। महर्षि कणाद का कथन है कि पदार्थों के सम्यक् ज्ञान होने से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है (**धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्**)। अर्थात् धर्माचरण के द्वारा उत्पन्न जो द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा तत्त्वज्ञान है उससे मोक्ष का प्राप्ति होती है।

कणाद के छह पदार्थ

जैसा कि कणाद ने अपने उक्त सूत्र में निर्देश किया है, वे छह पदार्थ मानते हैं,

जिनके नाम हैं : १. द्रव्य, २ गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष और ६. समवाय । इन्हीं छह पदार्थों के अन्तर्गत कणाद ने संसार की समस्त वस्तुओं का समावेश किया है। 'वैशेषिक सूत्र' के भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी इन्हीं छह पदार्थों को माना है।

सातवाँ अभाव पदार्थ

ऊपर जिन छह पदार्थों का उल्लेख किया गया है वे सभी 'भाव' हैं। जिनकी सत्ता है, जो विद्यमान हैं वे 'भाव' पदार्थ कहे जाते हैं। इन सत्तावान् छह भाव पदार्थों को ही कणाद और प्रशस्तवाद ने माना है। किन्तु श्रीधराचार्य, उदयनाचार्य और शिवादित्य प्रभृति उत्तरवर्ती वैशेषिककारों ने एक सातवाँ पदार्थ भी माना है, जिसका नाम है 'अभाव'। 'भाव' कहते हैं सत्ता, अस्तित्व, होना और 'अभाव' कहते हैं असत्ता, अनस्तित्व तथा न होना। 'अभाव' पदार्थ के समर्थक आचार्यों का कथन है कि जिस प्रकार किसी स्थान पर हमें 'घट' के होने का ज्ञान होता है उसी प्रकार किसी स्थान पर हमें 'घट' के न होने का भी ज्ञान होता है। अतः 'अभाव' भी ज्ञान का विषय होने के कारण एक पदार्थ है, जो शेष भाव पदार्थों से अलग है। इस अभाव पदार्थ के समर्थक आचार्यों का कथन है कि महर्षि कणाद ने जिन छह पदार्थों को स्वीकार किया है वे सत् पदार्थ हैं। उन्होंने असत् पदार्थों को छोड़ दिया है। वे असत् पदार्थ ही 'अभाव' के अन्तर्गत हैं। कणाद ने अभाव का न तो निर्देश किया है और न विरोध ही।

अतः वैशेषिक दर्शन में १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय और ७. अभाव—इन सात पदार्थों को ही आज माना जाता है। आगे इनका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

१
द्रव्य

लक्षण

वैशेषिक दर्शन में 'द्रव्य' पहला पदार्थ है। द्रव्य, गुण और कर्म का आधार है, किन्तु यह गुण और कर्म नहीं है। ये गुण और कर्म दोनों उसमें रहते हैं; द्रव्य के बिना उनकी कोई स्थिति नहीं है। 'द्रव्य' अपने समवाय कार्यों का समवायी कारण भी होता है। इसलिए 'वैशेषिक सूत्र' में कहा गया है कि क्रिया और गुण के समवायी कारण का नाम ही 'द्रव्य' है (**क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्**)।

न्याय और वैशेषिक में दो अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध बताया गया है। जिन दो पदार्थों में से एक ऐसा हो कि जब तक वह विद्यमान रहे, नष्ट न हो, तब तक दूसरे पदार्थ के ही आश्रित होकर रहे, उन दोनों पदार्थों को अयुतसिद्ध कहा जाता है। जैसे घड़ा और उसका रूप। रूप जब तक रहेगा, तब तक वह घड़े के आश्रित होकर ही रहेगा। 'कपड़ा और सूत' इसमें सभी 'सूत' उससे बनने वाले कपड़े के 'अवयव' हैं। इन अवयवों (सूतों) से जो वस्तु (कपड़ा) बना है वह 'अवयवी' है।

यहाँ कपड़ा अवयवी और सूत अवयव है। सूतों से कपड़ा बनता है। अतः दोनों में समवाय-सम्बन्ध है। अवयवी, अवयवों के अधीन होकर ही रहता है।

इसीलिए ऊपर कहा गया है कि द्रव्य अपने समवाय कार्यों का समवायी कारण भी होता है और गुण, कर्म का आधार होकर भी वह उनसे भिन्न होता है।

द्रव्य के प्रकार

गुण और क्रिया से समवेत द्रव्य के नौ प्रकार हैं : १. पृथ्वी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिक्, ८. आत्मा और ९. मन। इनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन ये 'सक्रिय' और आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा—ये 'निष्क्रिय' द्रव्य माने गये हैं।

छाया में द्रव्यत्व

उक्त नौ प्रकार के द्रव्यों के अतिरिक्त मीमांसकों ने छाया या अंधकार को भी द्रव्य माना है, क्योंकि उसमें भी कृष्णवर्णत्व (गुण) और गतिमत्ता (क्रिया) विद्यमान है; किन्तु कणाद का कथन है कि गतिमत्ता छाया या अंधकार में न होकर वस्तु में होती है। इसलिए छाया या अंधकार द्रव्य न होकर द्रव्य की उपाधियाँ हैं। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ पंचानन की 'सिद्धान्त मुक्तावली' में कहा गया है कि छाया या अंधकार में जो कृष्णवर्णत्व की प्रतीति होती है वह वास्तविक नहीं, भ्रांतिमात्र है। अतः वैशेषिक दर्शन में नौ प्रकार के ही द्रव्य माने गये हैं।

कारणरूप नित्य और कार्यरूप अनित्य

पृथ्वी, जल, तेज और वायु, ये चार द्रव्य कारणरूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य हैं। कारण अर्थात् परमाणु। इन कारणरूप परमाणुओं से कार्यरूप बने द्रव्य सावयव तथा संयोगज हैं, अतः वे अनित्य हैं और विनाशशील हैं। किन्तु जिन परमाणुओं के संयोग से ये बने हैं वे नित्य एवं अप्रत्यक्ष हैं। उनको अनुमान से ही जाना जा सकता है। किसी कार्यरूप द्रव्य के अवयवों का विभाग करते-करते क्रमशः जब हम उसके स्थूल रूप से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम रूप में, जिसका कि विभाग करना संभव ही नहीं है, पहुँचते हैं तो वही अविभाज्य क्षुद्रतम कण 'परमाणु' कहलाता है। अतः यह परमाणु नाशरहित और अनादि होने के साथ ही निरवयव भी है। उसी को कारणरूप नित्य कहा गया है।

अतः उक्त चार द्रव्य कारणरूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य हैं।

१. पृथ्वी

स्वरूप

पृथ्वी वह है, जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये चार गुण पाये जाते हैं (**रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी**)। पृथ्वी अनेकरूपा है। उसके कारणरूप अणुओं में लाल, नीला, पीला आदि अनेक भाँति के रंग हैं। अतः उसका एक गुण 'रूप' है। पृथ्वी में

अनेक रस पाये जाते हैं । इन्हीं अनेक रस वाले पार्थिव कणों से अनेक स्वादयुक्त पदार्थ बनते हैं । अतः पृथ्वी का दूसरा गुण 'रस' है । जितने भी रसयुक्त पार्थिव पदार्थ हैं उनमें घ्राणत्व पाया जाता है । इसी हेतु 'गंध' पृथ्वी का तीसरा और असाधारण गुण है । असाधारण से आशय, जो दूसरे पदार्थों में नहीं पाया जाता । इसी प्रकार पृथ्वी का स्पर्श न तो ऊष्ण है और न शीत ही, किन्तु कोमल एवं कठोर होता है । अतः उसको 'स्पर्श' गुणवाली कहा गया है ।

पृथ्वी के भेद प्रभेद

पृथ्वी के प्रमुख दो भेद हैं : परमाणुरूप और कार्यरूप । परमाणुरूप पृथ्वी नित्य और कार्यरूप पृथ्वी अनित्य है । इस कार्यरूप पृथ्वी के भी तीन प्रभेद हैं : शरीर, इन्द्रिय और विषय । कार्यरूप पृथ्वी के इन प्रभेदों की उत्पत्ति और विनाश होता है; किन्तु जिन पार्थिव परमाणुओं से उनका निर्माण हुआ है, वे उत्पत्ति-रहित और अनिश्वर हैं । यह कार्यरूप शरीर भी योनिज तथा अयोनिज भेद से दो प्रकार का होता है । उसमें भी योनिज शरीर जरायुज (मनुष्य आदि) तथा अण्डज (पक्षी आदि), और अयोनिज शरीर स्वेदज (मशक आदि) तथा उद्भिज (वृक्ष आदि) से दो-दो प्रकार के होते हैं ।

सामान्य और विशेष भेद से पृथ्वी के चौदह गुण बताये गये हैं । सामान्य गुण दस हैं : १. संख्या, २. परिणाम, ३. पृथक्त्व, ४. संयोग, ५. विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व, ८. गुरुत्व, ९. वेग तथा १०. द्रवत्व; और चार विशेष गुण हैं : १. गन्ध, २. स्पर्श, ३. रस और ४. रूप, जिनका उल्लेख किया जा चुका है ।

२. जल

स्वरूप

'जल' वह द्रव्य है, जिसमें रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्निग्धत्व, ये गुण वर्तमान रहते हैं । ये पाँच जल के विशेष गुण हैं । उसके नौ सामान्य गुणों के नाम हैं १ संख्या, २. परिणाम, ३. पृथक्त्व, ४. संयोग, ५, विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व, ८. गुरुत्व और ९. वेग ।

जल को देखा जा सकता है । अतः वह 'रूप' गुण से युक्त है । उसका स्वाद है । इसलिए उसका दूसरा विशेष गुण 'रस' है । उसका स्वाभाविक गुण शीतलता है, जो कि स्पर्श्य है । अतः उसमें 'स्पर्श' गुण है । इसी प्रकार जल में सरलता होने के कारण 'द्रवत्य' (प्रवहणीयता) है । उसमें 'स्निग्धत्व' गुण भी है, जो कि मक्खन, चर्बी, हरित वृक्ष आदि जलीय अंशों में देखने को मिलता ह ।

जल के भेद

पृथ्वी की भाँति जल के भी दो भेद हैं : नित्य (परमाणुरूप) और अनित्य (कार्यरूप) । पुनः कार्यरूप जल के शरीर, इन्द्रिय और विषय क्रम से तीन प्रभेद हैं । जलीय शरीर अयोनिज (रजवीर्यसंयोगरहित) है । वह रसनेन्द्रिययुक्त है । नदी, समुद्र आदि उसके विषय हैं ।

३. तेज

स्वरूप

'तेज' (अग्नि) वह द्रव्य है, जिसमें रूप और स्पर्श, दो विशेष गुण विद्यमान रहते हैं। तेज में जो शुक्लत्व है वही उसकी दीप्ति अर्थात् प्रकाश की शक्ति है। यह प्रकाशन-शक्ति न तो पृथ्वी में है, न जल में और न आकाशादि अन्य द्रव्यों में ही। अपनी इस प्रकाशन-शक्ति के कारण वह स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित (रूपायित) करता है। तेज का दूसरा विशेष गुण 'स्पर्श' है। जिस प्रकार जल का असाधारण गुण शीतलता है, पृथ्वी का असाधारण गुण गन्ध है उसी प्रकार तेज का असाधारण गुण 'स्पर्श' (उष्ण) है।

इसी प्रकार तेज के नौ सामान्य गुणों के नाम हैं: १. संख्या, २. परिणाम, ३. पृथकत्व, ४. संयोग, ५. विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व, ८. वेग और ९. द्रवत्य।

तेज के भेद प्रभेद

तेज के भी प्रमुख दो भेद होते हैं: परमाणुरूप नित्य और कार्यरूप अनित्य। कार्यरूप तेज के पुनः तीन प्रभेद हैं: शरीर, इन्द्रिय और विषय। भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज नाम से विषय के चार अवान्तर भेद किये गये हैं। भौम काष्ठाग्नि, दिव्य विद्युत, औदर्य जठराग्नि और आकरज सुवर्णादि।

४. वायु

स्वरूप

'वायु' वह द्रव्य है, जिसमें केवल स्पर्शगुण विद्यमान रहता है। पृथ्वी आदि पूर्वोक्त द्रव्य दृश्य भी हैं और स्पर्श्य भी, अर्थात् वे देखे भी जा सकते हैं और छुये भी जा सकते हैं। किन्तु वायु अदृश्य द्रव्य है! वह लिंग (स्पर्श) के द्वारा ही जाना जा सकता है। इसलिए वायु को 'अदृष्टलिंग' भी कहा जाता है (**न च दृष्टानां स्पर्श इति अदृष्टलिङ्गो वायुः**)। वायु में स्पर्श गुण के अतिरिक्त क्रिया (गति) भी होती है। इसी गतिमत्ता के कारण उसको द्रव्य माना गया है। गति उसका सामान्य गुण है। उसके आठ सामान्य गुण हैं: १. संख्या, २. परिणाम, ४. पृथकत्व, ४. संयोग, ५. विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व और ८. वेग (गति)।

वायु के भेद प्रभेद

वायु के भी दो प्रमुख भेद हैं: परमाणुरू नित्यप और कार्यरूप अनित्य। पुनः कार्यरूप वायु के शरीर, इन्द्रिय, विषय और प्राण, ये चार प्रभेद हैं। वायवीय शरीर अयोनिज है। वायवीय परमाणुओं से निर्मित त्वचा ही उसकी इन्द्रिय है। हवा, आँधी, उसके विषय हैं। मल, मूत्र, श्वास, रस आदि का संचालन करने वाला 'प्राण' वायु है, जो कि शरीर के भीतर रहता है। क्रियाभेद से इस प्राणवायु को पाँच प्रकार

का माना गया है, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, जो क्रमशः हृदय, मलद्वार, नाभि, कण्ठ और सारे शरीर में अवस्थित रहते हैं।

५. आकाश

स्वरूप

'आकाश' वह द्रव्य है, जिसका विशिष्ट गुण शब्द है (**शब्दगुणकमाकाशम्**)। उसके पाँच सामान्य गुण हैं : १. संख्या, २. परिणाम, ३. पृथकत्व, ४. संयोग और ५ विभाग। शब्द का प्रत्यक्ष होता है; किन्तु आकाश का नहीं; क्योंकि आकाश का न तो कोई परिणाम है और न कोई प्रकट रूप ही। शब्द न तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि का गुण है और न आकाश में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि कई गुण होते हैं। (**ते आकाशे न विद्यन्ते**)। वह दिक्, काल, आत्मा और मन का भी गुण नहीं हो सकता है। क्योंकि शब्द के अभाव में भी ये बने रहते हैं। इसलिए शब्द का एकमात्र आधार आकाश है।

आकाश गुणवान् (शब्दवान्) होने के कारण द्रव्य है और निरवयव, निरपेक्ष होने के कारण नित्य है। सर्वव्यापक तथा अनन्त होने के कारण उसको 'विभु' कहा गया है। आकाश, शब्द का उपादान या समवायी कारण है। शब्द, आकाश से उत्पन्न होकर उसी में समा जाता है।

६. काल

स्वरूप

'काल' उसको कहते हैं, जिसमें पौर्वापर्य आदि गुण विद्यमान् हों। पौर्वापर्य का आशय है आगे-पीछे होना, एक साथ न होना, देर से होना तथा जल्दी से होना। 'वैशेषिक सूत्र' में उसके यही लिंग (परिचायक चिह्न) गिनाये गये हैं (**अपरस्मिन्नपरम्, युगपत्, चिर, क्षिप्रम्, इति काललिङ्गानि**)। 'काल' उसको इसलिए कहा जाता है कि वह नित्य पदार्थों के अभाव का और अनित्य पदार्थों के भाव का कारण होता है (**नित्येष्वभावादनित्येषु भावत् कारणे कालाख्येति**)।

काल के भेद

निरवयव होने के कारण वह स्वतः नित्य और मूलतः एक है; किन्तु अनित्य पदार्थों का आधार होने के कारण उसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान, ये तीन प्रकार माने गये हैं। अनित्य पदार्थ वे हैं, जिनमें उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की क्रिया होती रहती है। अतएव भूत, भविष्यत् और वर्तमान—ये कार्य के विशेषण हैं, काल के नहीं। लोकव्यवहार में समय की सूचना के लिए उनकी कल्पना की गयी है। अतः 'काल' के ये औपाधिक (कल्पित) विभाग हैं। काल, अनित्य पदार्थों का कारण है, क्योंकि जितने भी अनित्य पदार्थ हैं वे कालप्रसूत हैं।

७. दिशा

स्वरूप

'दिशा' उस द्रव्य को कहते हैं, जिसमें वस्तुओं का पौर्वापर्य (आगे-पीछे, बाँयें, दाँयें) गुण सहवर्तित्व के रूप में विद्यमान रहता है; अर्थात् एक वस्तु से दूसरी वस्तु किस ओर कितनी दूरी पर अवस्थित है, यह ज्ञान जिस द्रव्य के द्वारा संभव हो उसे 'दिशा' कहते हैं (**इतः इदम्, इति यतः तादृश्यं लिंगम्**)। यही वस्तुओं के पूर्वापर सम्बन्ध का सहवर्तित्व ज्ञान है।

दिशा के भेद

निरवयव होने के कारण वह स्वतः नित्य और मूलतः एक है; किन्तु लोक-व्यवहार की दृष्टि से तथा कार्यविशेष के कारण उसके दस औपाधिक (कल्पित) भेद किये गये हैं, जिनके नाम हैं : पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्निकोण, नैऋृत्यकोण, वायव्यकोण, ईशानकोण, उर्ध्व (ब्राह्मी) और अधः (नागी)।

८. आत्मा

'आत्मा' वह द्रव्य है, जिसका असाधारण गुण चैतन्य है। चैतन्य उसको कहते हैं, जो इन्द्रियों का प्रवर्तक, विषयों का उपभोक्ता और शरीर से भिन्न है। वही 'आत्मा' कहलाता है। जैसे रूप आदि गुण पृथ्वी आदि द्रव्यों के आश्रित है उसी प्रकार इस चैतन्य का आश्रयभूत द्रव्य 'आत्मा' है। 'मैं' आत्मा का वाचक (पर्याय-वाची) है। 'मैं' वह चेतन द्रव्य (आत्मा) है, जो ज्ञानेच्छुओं और सुख-दुःखादि गुणों का आधार है। इसीलिए चैतन्य शरीर के जो श्वासप्रश्वास, पलकों का उठाना-गिराना, मन का दौड़ना, इन्द्रियविकार, सुख-दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि अनेक व्यापार बताये गये हैं वे ही आत्मा के परिचायक (लिङ्ग) हैं (**प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुख दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि**)।

प्राण तथा अपान, इन प्रयत्नों को करने वाला; निमेष तथा उन्मेष, इन कार्यों का प्रवर्तक, जीवन, अर्थात् इस शरीर रूपी घर का अधिष्ठाता; मन को प्रेरित करने वाला; सभी इन्द्रियों का स्वामी; और सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न—इन मनोभावों का सूचक केवल 'आत्मा' है।

इसीलिए वैशेषिक को अनेकान्तवादी दर्शन कहा गया है।

आत्मा के भेद

आत्मा के दो भेद किये गये हैं : जीवात्मा और परमात्मा : जीवात्माएँ अनित्य तथा शरीरभेद से अनन्त हैं और परमात्मा नित्य तथा एक है। जीवात्मा के पाँच सामान्य और नौ विशेष, कुल मिलाकर चौदह गुण हैं। उसके पाँच सामान्य गुण थे : १. संख्या, २. परिणाम, ३. पृथक्त्व, ४. संयोग, ५. विभाग। इसी प्रकार नौ विशेष

गुणों के नाम हैं : १. बुद्धि, २. सुख, ३. दुःख, ४. इच्छा, ५. द्वेष, ६. प्रयत्न, ७. भावना, ८. धर्म और ९. अधर्म। जीवात्मा के मुक्त हो जाने पर उसके विशेष गुण विलुप्त हो जाते हैं और सामान्य गुण ही बने रहते हैं।

६. मन

स्वरूप

विश्वनाथ पंचानन के 'भाषापरिच्छेद' में लिखा है कि 'मन' उसको कहते हैं, जो सुखादियों के ज्ञान का साधक (करण) होता है (**साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यये**)। यही सुखादियों की उपलब्धि ही उसका विशेष गुण है। ये सुख-दुःखादि, क्योंकि आभ्यन्तरिक हैं इसलिए इनका अनुभव करने के लिए आभ्यन्तरिक साधन की आवश्यकता होती है। ज्ञान, इच्छा और सुख-दुःखादि जो आभ्यन्तरिक पदार्थ हैं उनके साक्षात्कार के लिए मन की आवश्यकता है। आत्मा, इन्द्रिय और विषय, इन तीनों के रहते हुए भी जीव को ज्ञानोपलब्धि नहीं हो सकती है। वह मन का कार्य है। इन्द्रिय से गृहीत विषयों का ज्ञान मन के द्वारा आत्मा तक पहुँचता है। इसलिए जब मन अन्यत्र रहता है तब जीवात्मा को ज्ञानोपलब्धि नहीं हो सकती है।

मन एक है और वह इतना द्रुतगामी है कि हमको सभी इन्द्रियों के विषयों की अनुभूति समकालीन (युगपत्) प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए आप रोटी खा रहे हैं। आपकी दृष्टि रोटी पर है, कान उसके तोड़ने अथवा खाने का शब्द सुन रहे हैं, हाथ उसको छू रहे हैं; रसना उसका स्वाद ले रही है और नासिका उसकी गन्ध ग्रहण कर रही है। इस उदाहरण से हमें यह विश्वास हो गया कि हमारी पाँचों बाह्येन्द्रियाँ अपने विषयों का युगपत् ज्ञान प्राप्त कर रही हैं, जब कि होना यह चाहिए कि एक इन्द्रिय एक समय में अपने विषय को ग्रहण करे और उसी का ज्ञान हमें उपलब्ध हो। फिर ऐसा क्यों होता है ? ऐसा मन के ही कारण होता है। वही भिन्न-भिन्न संवेदनाओं के युगपत् ज्ञान का आधार है।

मन के आठ सामान्य गुण हैं : १. संख्या (अनन्त), २. परिमाण, ३. पृथक्त्व, ४. संयोग, ५. विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व और ८. वेग। वैशेषिक के अनुसार एक-एक शरीर में एक-एक मन अणुरूप में विद्यमान रहता है। अतः मन निरवयव है, अणुरूप है, और प्रत्यक्ष का आभ्यन्तरिक साधन है। वह एक अन्तरिन्द्रिय है, जिसके द्वारा आत्मा विषयों का ग्रहण करता है।

२

गुण

स्वरूप : लक्षण

'गुण' वह द्रव्याश्रित पदार्थ है, जो निर्गुण और निष्क्रिय है; अर्थात् वह द्रव्य में रहता है, किन्तु उसमें कोई गुण तथा कर्म नहीं रहता। 'गुण' के अस्तित्व एवं

वैशिष्ट्य को सूचित करने वाले द्रव्याश्रयत्व, निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व, इन तीन विशेषणों को 'वैशेषिक सूत्र' में इस प्रकार कहा गया है : **'द्रव्याश्रय्य गुणवान् संयोग-विभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण लक्षणम्'** ।

गुण को द्रव्याश्रयी इसलिए कहा गया है कि वह निराधार नहीं रह सकता है; किन्तु कई द्रव्य ऐसे हैं, जो दूसरे द्रव्यों पर आश्रित हैं । इसलिए उसको 'अगुणवान्' कहा गया । अर्थात् गुण स्वयं गुणवान् नहीं है; किन्तु कर्म का भी तो कोई गुण नहीं होता है । वह भी द्रव्याश्रित है । अतः कर्म से गुण की पृथक्ता बताने के लिए कहना पड़ा कि वह संयोग और विभाग के कारण की अपेक्षा नहीं रखता है (**संयोग विभागेऽवकारणमनपेक्ष**) । इसलिए गुण द्रव्याश्रयी है । किन्तु उसमें गुण और कर्म नहीं रहता ।

गुण के भेद

'गुण' के चौबीस प्रकार माने गये हैं : जिनके नाम हैं : १. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. शब्द, ६. संख्या, ७. परिमाण, ८. पृथक्त्व, ९. संयोग, १०. विभाग, ११. परत्व, १२. अपरत्व, १३. गुरुत्व, १४. द्रवत्व, १५. स्नेह, १६. संस्कार, १७. बुद्धि, १८. प्रयत्न, १९. सुख, २०. दुःख, २१. इच्छा, २२. द्वेष, २३. धर्म और २४. अधर्म ।

१. **रूप** : 'रूप' वह गुण है, जो केवल दर्शनेन्द्रिय के द्वारा ज्ञात हो । पृथ्वी, जल और अग्नि, ये तीन द्रव्य रूप के आधार हैं । इन तीनों द्रव्यों में जो नाना रूप देखने को मिलते हैं उनको सात प्रकार का बताया गया है : १. उजला, २. लाल, ३. पीला, ४. काला, ५. हरा, ६. भूरा और ७. चितकबरा ।

२. **रस** : जिह्वा के द्वारा जिस गुण का स्वाद लिया जाय वह 'रस' है । मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा, कसैला और तीता — रस के ये छः प्रकार हैं ।

३. **गन्ध** : घ्राण द्वारा जिसको ग्रहण किया जाय उसको 'गन्ध' गुण कहते हैं । वह पृथ्वी का असाधारण गुण है । उसके दो प्रकार होते हैं : सुगन्ध और दुर्गन्ध ।

४. **स्पर्श** : त्वगिन्द्रिय (त्वचा) मात्र से जिस गुण का ज्ञान हो उसे 'स्पर्श' कहा जाता है । वह तीन प्रकार का है : १. ठंडा, २. गर्म और ३. मध्यम (अनुष्णशीत) ।

५. **शब्द** : श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा जिस गुण को ग्रहण किया जाता है उसको 'शब्द' कहते हैं । 'शब्द' आकाश का असाधारण गुण है । उसके दो भेद हैं : वर्णनात्मक (कंठ, तालु से उच्चारित) और ध्वन्यात्मक (अस्पष्ट ध्वनियुक्त) ।

६. **संख्या** : गणना के व्यवहार में जो असाधारण कारण है वही 'संख्या' नामक गुण है । सभी द्रव्यों में यह गुण विद्यमान रहता है । एकत्व संख्या, परमाणु आदि नित्य पदार्थों और घट आदि अनित्य पदार्थों, दोनों में रहती है; किन्तु द्वित्व संख्यायें सर्वत्र अनित्य होती हैं । यह द्वित्व अपेक्षाबुद्धि पर निर्भर होता है । अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने पर यह द्वित्व भी नष्ट हो जाता है ।

७. **परिमाण** : माप के व्यवहार का जो असाधारण कारण है वही 'परिमाण'

कहलाता है। उसके दो भेद होते हैं। अणु (ह्रस्व) और महत् (दीर्घ)। परिमाण गुण की वृत्ति भी सभी द्रव्यों में पायी जाती है। परिमाण का स्वरूप तीन प्रकार से जाना जा सकता है : १. एक-दो आदि संख्या के द्वारा, २. किसी वस्तु के विस्तार के द्वारा और ३. किसी वस्तु के संकुचन तथा विकसन के द्वारा।

८. **पृथक्त्व** : जिस गुण के द्वारा वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान होता है उसे 'पृथक्त्व' कहते हैं। नव्य न्याय में इसको 'अन्योन्याभाव' के अन्तर्गत माना गया है। किन्तु वास्तव में वह ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए 'घड़ा, वस्त्र नहीं है' इस वाक्य में 'अन्योन्याभाव' है; और 'घड़ा, वस्त्र से भिन्न है' यह हुआ 'पृथक्त्व' का उदाहरण। पहला वाक्य अभावात्मक और दूसरा भावात्मक।

९. **संयोग** : संयुक्त व्यवहार के असाधारण कारण को 'संयोग' कहते हैं। दो अखण्ड वस्तुओं का क्रियाविशेष के द्वारा आपस में मिल जाना ही 'संयोग' है। यह तीन प्रकार का माना गया : अन्यतरकर्मज (जैसे पक्षी आकर पेड़ की शाखा पर बैठ गया); २. उभयकर्मज (जैसे दो भेड़ें दोनों ओर से दौड़कर आपस में टकरा गयीं); और ३. संयोगज (जैसे घट के अंगविशेष कपाल का पृथ्वी से संयोग होने के कारण घट और पृथ्वी का संयोग हो जाता है)।

१०. **विभाग** : जिस गुण के द्वारा संयोग का नाश (प्रतियोगी) होता है उसे 'विभाग' कहते हैं। जो पदार्थ आपस में संयुक्त थे उन्हीं का अलग-अलग हो जाना ही 'विभाग' है। वह भी तीन प्रकार का होता है : १. अन्यतरकर्मज, २. उभयकर्मज और ३. विभागज।

११. १२. **परत्व : अपरत्व** : निकट और दूरवर्ती वस्तुओं के बोध के सामान्य कारण को 'परत्व' और 'अपरत्व' कहते हैं। वे दोनों देश और काल के अनुसार दो-दो प्रकार के होते हैं।

१३. **गुरुत्व** : जिस गुण के कारण किसी वस्तु का स्वाभाविक (वेगरहित) पतन होता है उसे 'गुरुत्व' कहते हैं। वह अतीन्द्रिय होने से अनुमानगम्य है। गुरुत्व की वृत्ति पृथ्वी और जल में पायी जाती है।

१४. **द्रवत्व** : जिस गुण के कारण किसी वस्तु में प्रवहणशीलता का बोध होता है उसे 'द्रवत्व' कहते हैं। वह पृथ्वी, जल और अग्नि में पाया जाता है। इस दृष्टि से उसके दो भेद किये गये हैं : सांसिद्धिक (स्वाभाविक) और नैमित्तिक (संयोगज)।

१५. **स्नेह** : जिस गुण के कारण चूर्णयुक्त किसी वस्तु में पिण्डीभाव (गोला बन जाना) पाया जाता है उसको 'स्नेह' कहते हैं। स्नेह, जल का असाधारण गुण है।

१६. **संस्कार** : जिस गुण के कारण पूर्वानुभूत विषयों का चित्त में सूक्ष्मानुभव विद्यमान रहता है उसको 'संस्कार' कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है : १. भावना, २. वेग और ३. स्थिति-स्थापक।

१७. **बुद्धि** : शब्दमात्र के व्यवहार का मूल कारण ज्ञान ही 'बुद्धि' गुण है। 'ज्ञानत्व' बुद्धि का असाधारण धर्म है; यह ज्ञानत्व जिसमें हो वही बुद्धि है। बुद्धि के प्रमुख दो भेद हैं : १. अनुभव (यथार्थ ज्ञान या प्रमा) और २. स्मृति (पूर्वानुभूत संस्कारों से उपलब्ध ज्ञान)। इन दोनों के भी अनेक अवान्तर भेद होते हैं।

१८. **प्रयत्न** : कार्य के प्रारम्भिक गुण को 'प्रयत्न' कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है : जीवनपूर्वक (आत्मा तथा मन का संयुक्त प्रयत्न) और इच्छाद्वेषपूर्वक (इच्छा तथा द्वेष से संयुक्त)।

१९. **सुख** : जिसके अनुग्रह से आत्मा को आनन्द का अनुभव होता है वह 'सुख' कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है : सांसारिक (प्रयत्नसाध्य) और स्वर्गीय (इच्छाधीन)।

२०. **दुःख** : जिसके कारण आत्मा को वेदना की अनुभूति होती है वह 'दुःख' है। वह भी दो प्रकार का होता है : स्मृतिज (अतीत अनिष्ट के स्मरण से) और संकल्पज (अनागत अनिष्ट की आशंका से)।

२१. **इच्छा** : किसी अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति-कामना को ही 'इच्छा' कहते हैं। वह कार्यप्रवृत्ति का कारण और धर्माधर्म का मूल है। अभिलाषा, काम, संकल्प, राग, कारुण्य, उपधा और भाव आदि अनेक उसके विषय हैं। क्रियाभेद से उसके दो मुख्य प्रकार हैं : चिकीर्षा और जिघृक्षा।

२२. **द्वेष** : जिसके कारण आत्मा ज्वलन का अनुभव करे वह 'द्वेष' कहलाता है। वह प्रयत्न, स्मृति और धर्माधर्म का मूल है। द्वेष के प्रमुख पाँच भेद हैं : १. क्रोध, २. द्रोह, ३. मन्यु, ४. अक्षमा और ५. अमर्ष।

२३. **धर्म** : जिसके कारण कर्त्ता को अभीष्ट मोक्ष की प्राप्ति हो उसको 'धर्म' कहते हैं। धर्म, आत्मा का गुण है। वह अप्रत्यक्ष होने से अनुमानगम्य है। उसके दो भेद किये गये हैं : सामान्य (जैसे अहिंसा, परोपकार, सत्य, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा आदि) और विशेष (जैसे वर्णाश्रमों के लिए धर्मशास्त्रविहित कर्म)।

२४. **अधर्म** : जिसके द्वारा कर्ता को दुःख या पीड़ा की उपलब्धि हो वह 'अधर्म' है। वह भी आत्मा का गुण है। धर्म के प्रतिकूल आचरण करना ही अधर्म है। हिंसा, चोरी, झूठ, परद्रोह आदि उसके कारण हैं।

३
कर्म

स्वरूप : लक्षण

द्रव्य के गतिशील धर्मों का नाम 'कर्म' है। गुण को द्रव्य का निष्क्रिय स्वरूप कहा गया है; किन्तु कर्म, द्रव्य का सक्रिय स्वरूप है। गुण अपने आधारभूत पदार्थ में निष्क्रिय रूप से अवस्थित रहता है; किन्तु कर्म अपने आधारभूत पदार्थ को स्थानान्तर में पहुँचा देता है। इसलिए कर्म को द्रव्यों के संयोग-विभाग का कारण कहा गया है। 'वैशेषिक सूत्र' में उसका लक्षण देते हुए कहा गया है 'जो एक ही द्रव्य के आश्रित हो,

आश्रित हो, जो स्वयं गुणरहित हो और जो संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण हो वह 'कर्म' कहलाता है।' **(एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्)** ।

कर्म के भेद

'कर्म' के पाँच भेद किये गये हैं : १. उत्क्षेपण (ऊपरी प्रदेश से संयोग और नीचे के प्रदेश से विभाग, जैसे गेंद को उछालना); २. अवक्षेपण (उत्क्षेपण का उल्टा, जैसे छत से पानी नीचे फेंकना); ३. आकुंचन (संकुचित होना, जैसे हाथ-पैर मोड़ना); ४. प्रसारण (जैसे हाथ-पैर फैलाना); और ५. गमन (एक स्थान से विभाग तथा दूसरे स्थान से संयोग, जैसे चलना, दौड़ना आदि) ।

४

सामान्य

स्वरूप : लक्षण

जो एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं में समान रूप से समवेत रहता है उसको 'सामान्य' कहते हैं। अर्थात् जिसके कारण भिन्न-भिन्न व्यक्ति या वस्तुएँ एक ही जाति के अन्तर्गत समाविष्ट होकर एक ही नाम से पुकारे जाते हैं, वह 'सामान्य' है। इसलिए सामान्य का अर्थ हुआ जाति। वह नित्य है। उदाहरण के लिए मोहन, सोहन, कमला, विमला आदि विभिन्न व्यक्तियों को एक ही 'मनुष्य' शब्द से इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उन सब में 'मनुष्यत्व' जाति समान रूप से समवेत है। इसी प्रकार 'गोत्व' जाति है, जो संसार की सभी गायों में है और उन सभी गायों के लुप्त हो जाने पर भी बना रहेगा। इसलिए सामान्य (जाति) में एक, अनेक, समवेत और नित्य—इनका होना अनिवार्य है।

सामान्य के सम्बन्ध में विभिन्न मत

बौद्धों के मतानुसार मनुष्य, गाय आदि व्यक्तियों के अतिरिक्त 'मनुष्यत्व', 'गोत्व' आदि उनकी जाति का कोई महत्व नहीं है। वे व्यक्ति (मनुष्य, गाय) को ही सत्य मानते हैं, सामान्य (जाति) को वे नाम के ही भीतर मानते हैं। नाम ही व्यक्ति का सामान्य धर्म है, जिसके कारण मनुष्य, मनुष्य कहलाता है, गाय, गाय कहलाती है; बल्कि उसी नाम-भेद के कारण गाय, मनुष्य नहीं कहलाया जाता और मनुष्य, गाय नहीं कहलायी जाती। बौद्ध दर्शन में इसको 'व्यक्तिवाद' कहा गया है।

जैनियों और वेदान्तियों के मतानुसार व्यक्ति से भिन्न सामान्य की कोई सत्ता नहीं है। तादात्म्य सम्बन्ध से सामान्य, व्यक्ति के ही भीतर रहता है। उसको ग्रहण करना बुद्धि का विषय है।

उक्त दोनों मतों के विपरीत न्याय और वैशेषिक में सामान्य को व्यक्ति से भिन्न माना गया है और उसको व्यक्ति के साथ समवेत रूप में स्वीकार किया गया है। अनेक व्यक्तियों में एकता की प्रतीति इसी सामान्य से सम्भव है। वह नित्य पदार्थ

है। आधुनिक वस्तुवादी विद्वान् तो सामान्य को स्वतंत्र, कालातीत और जाति से भिन्न मानते हैं।

सामान्य के भेद

व्यक्ति के अनुसार सामान्य के प्रमुख तीन भेद माने गये हैं : १. पर, २. परापर और ३. अपर। जिस सामान्य की वृत्ति (व्यापकता) अधिक विषयों में होती है उसे 'पर'; जिसकी वृत्ति मध्यवर्ती होती है उसे 'परापर' और जिसकी वृत्ति संकुचित होती है उसे 'अपर' सामान्य कहते हैं।

साधारणतः 'सामान्य' शब्द से 'जाति' का अर्थ लिया जाता है; किन्तु सूक्ष्म रूप से सामान्य दो प्रकार का माना जाता है : जातिरूप और उपाधिरूप। जिस सामान्य को विषय के सम्बन्ध से जाना जाता है उसको 'जातिरूप' और जिस सामान्य को विषय के सम्बन्ध से नहीं, बल्कि परम्परा के सम्बन्ध से जाना जाता है उसको 'उपाधिरूप' कहते हैं। 'जाति' नैसर्गिक एवं अखण्ड और 'उपाधि' कृत्रिम एवं सखण्ड होती है। मनुष्यत्व, गोत्व में शुद्ध सामान्य और राजत्व, शृंगित्व में औपाधिक सामान्य है।

५

विशेष

स्वरूप : लक्षण

'विशेष', 'सामान्य' के ठीक विपरीत होता है। जिस वस्तु के द्वारा एक व्यक्ति, संसार के अन्य व्यक्तियों से सर्वथा विलग (व्यावृत्त) होता है उसको 'विशेष' कहते हैं। दिक, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा परमाणु आदि जो निरवयव होने के कारण नित्य द्रव्य हैं उनमें एक मन का दूसरे मन से, एक परमाणु का दूसरे परमाणु से अथवा एक आत्मा का दूसरे आत्मा से विभेद करने वाला पदार्थ ही 'विशेष' है इसीलिए उसे 'अन्त्य व्यावर्त्तक' कहा गया है। प्रत्येक परमाणु का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होने के कारण प्रत्येक मूलवस्तु अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखती है। यही पृथक् या विशिष्ट सत्ता उस वस्तु का 'विशेष' कहलाती है : 'विशेष' कारणभूत द्रव्यों (नित्य परमाणुओं) में रहता है, कार्यभूत अनित्य द्रव्यों (घट, पट) में नहीं। इसलिए विशेष का कभी नाश नहीं होता। प्रत्येक परमाणु के विशिष्ट स्वरूप का द्योतन करना ही 'विशेष' का कार्य है।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और अभाव से 'विशेष' की पृथक्ता बताने के लिए उसके साथ दो विशेषण जोड़े गये हैं : 'सामान्यरहित' और 'एकव्यक्ति-वृत्ति'। अर्थात् विशेष का सामान्य नहीं होता और वह एक ही व्यक्ति में समवेत रहता है।

निरवयव नित्य द्रव्यों की अनेकता के कारण 'विशेष' भी असंख्य है। वह नित्य और अगोचर है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा हम द्रव्य, गुण तथा कर्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार यौगिक शक्तियों द्वारा विशिष्ट आत्मा से साक्षात्कार (प्रत्यभिज्ञान) किया जाता है।

६
समवाय

स्वरूप : लक्षण

दो वस्तुओं के उस नित्य वर्तमान (अयुतसिद्ध) सम्बन्ध का नाम 'समवाय' है, जो सर्वदा बना रहता है, कभी नहीं टूटता। न्याय-वैशेषिक में 'संयोग' के द्वारा भी दो वस्तुओं का संयुक्त सम्बन्ध स्थापित किया जाता है; किन्तु वह नित्य नहीं होता, काल-सापेक्ष्य होता है। 'घट' और 'घटत्व' में जो सम्बन्ध है वह अयुतसिद्ध (नित्य) है; और इसी नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहा गया है। इसके विपरीत घट-रज्जू का जो सम्बन्ध है वह युतसिद्ध (अनित्य) है और इसी कारण ऐसे सम्बन्ध को 'संयोग' कहा गया है।

इस प्रकार 'संयोग' एक बाह्य सम्बन्ध है, जो दो द्रव्यों को कुछ काल के लिए मिला देता है। नदी-नाव का सम्बन्ध ऐसा ही है। नाव, नदी में भी रह सकती है और सूखे में भी। किन्तु 'समवाय' एक अयुतसिद्ध सम्बन्ध है, जो दो द्रव्यों के नित्य सम्बन्ध को सूचित करता है। तन्तु-वस्त्र ऐसा ही सम्बन्ध है, जो अतीत काल से अटूट है और अनन्त काल तक बना रहेगा।

अवयव (तन्तु), अवयवी (वस्त्र); गुण (अग्नि), गुणी (उष्णत्व); क्रिया (वायु), क्रियावान् (उसकी गति); जाति (गोत्व), व्यक्ति (गो); और विशेष (आकाश) तथा नित्य (आकाशत्व) इन वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध पाया जाता है।

'समवाय' अतीन्द्रिय पदार्थ है, अतः अनुमान के द्वारा ही वह जाना जा सकता है।

७
अभाव

स्वरूप : लक्षण

कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' में 'अभाव' का तो उल्लेख मिलता है; किन्तु उसको पदार्थों की श्रेणी में नहीं रखा गया है और प्रशस्तपाद ने भी अपने भाष्यग्रन्थ में इसीलिए कणाद द्वारा निर्दिष्ट छह पदार्थों का ही निरूपण किया है। किन्तु ऊपर जिन छह पदार्थों का विवेचन किया गया है उनमें कहीं भी अभाव पर विचार नहीं किया गया है। इसी हेतुवाद के कारण वैशेषिककारों ने 'अभाव' को भी स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया और तभी से वैशेषिक दर्शन को सप्तपदार्थ प्रधान दर्शन कहा जाता है।

न्याय और वैशेषिक, दोनों दर्शनों में 'अभाव' को 'भाव' का प्रतियोगी पदार्थ माना गया है। जिस प्रकार छह भाव पदार्थों की उपयोगिता एवं आवश्यकता स्वीकार की गयी है उसी प्रकार 'अभाव' पदार्थ की भी अनिवार्यता है; बल्कि वैशेषिक दर्शन के पदार्थ-विवेचन में 'अभाव' अत्यन्त तर्कसंगत, सूक्ष्म और गम्भीर पदार्थ है। इस पदार्थ के कारण वैशेषिक दर्शन का अधिक महत्त्व बढ़ा है।

'भाव' की भाँति 'अभाव' की भी स्वतन्त्र सत्ता है। एक ही बात को हम इन दोनों पदार्थों के द्वारा कह सकते हैं। उदाहरण के लिए 'घट है', यह वाक्य भावात्मक और 'घट का अभाव नहीं है' यह वाक्य अभावात्मक है। इसी प्रकार 'घट नहीं है' यह वाक्य अभावात्मक और 'घट का अभाव है' यह वाक्य भावात्मक है। इससे सिद्ध है कि अभाव की सत्ता और उसका क्षेत्र भाव की सत्ता और उसके क्षेत्र के बराबर है।

अभाव का ज्ञान, भावज्ञान पर आधारित है, क्योंकि घटज्ञान के बिना घटाभाव का ज्ञान संभव नहीं है। इसलिए कहा गया है कि 'जिस पदार्थ का ज्ञान उसके विरोधी (प्रतियोगी) पदार्थ के ज्ञान के विना सम्भव नहीं है वह 'अभाव' पदार्थ है' (**प्रतियोगिज्ञानाधीनोऽभावः**)। क्योंकि भाव पदार्थों का ही अपर नाम वैशेषिक है, अतः उन पर आधारित अभाव पदार्थ की सत्ता स्वतः सिद्ध है।

अभाव के भेद

अभाव पदार्थ चार प्रकार का माना गया है : १. प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव; ३. अत्यन्ताभाव और ४. अन्योन्याभाव। वाचस्पति मिश्र ने अभाव को पहले दो भागों में वर्गीकृत किया है : तादात्म्याभाव और संसर्गाभाव। तादात्म्याभाव का उन्होंने एक भेद माना है : अन्योन्याभाव; और संसर्गाभाव के तीन भेद किये हैं : प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। इस दृष्टि से भी अभाव के वही चार भेद होते हैं।

१. प्रागभाव

किसी कार्य की उत्पत्ति से पहले उस कार्य का जो अभाव रहता है उसको 'प्रागभाव' कहते हैं (**उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य**)। कार्य द्रव्य घट के निर्माण से पूर्व इस भूतल पर जब तक उसका अस्तित्व नहीं था उसी अभावात्मक अवस्था का नाम ही 'प्रागभाव' है। घट का यह प्रागभाव अनादि है, किन्तु उसका भाव हो जाने अर्थात् घट का निर्माण हो जाने के बाद उसके प्रागभाव का अन्त हो जाता है। अतः प्रागभाव अनादि और सान्त दोनों है।

२. प्रध्वंसाभाव

ध्वंस कहते हैं नाश को। किसी उत्पन्न कार्यद्रव्य के विनाश हो जाने पर उसका जब अभाव हो जाता है तो उसको 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं (**विनाशानन्तरं कार्यस्य**) जिस कार्यरूप घट द्रव्य का निर्माण हुआ था वह कभी टूट भी सकता है। और वह घट जब टूट जाता है तब से उसका अभाव आरम्भ हो जाता है और इस अभाव का कोई अन्त नहीं होता। क्योंकि जो घड़ा विनष्ट हो गया है वही फिर नहीं बन सकता है। इसलिए प्रध्वंसाभाव सादि तो है, किन्तु अनन्त है।

३. अत्यन्ताभाव

जहाँ दो वस्तुओं में त्रैकालिक संसर्गाभाव या सम्बन्धाभाव पाया जाय उस

अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। अत्यन्ताभाव में वस्तुओं का अभाव नहीं उनके संसर्ग (समवाय) का अभाव पाया जाता है। जैसे वायु में रूप का भाव न तो भूत-काल में था, न वर्तमान में है और न भविष्य में ही होगा। इसलिए 'अत्यन्ताभाव' को 'समयाभाव' भी कहा जाता है। प्रागभाव सान्त होता है, प्रध्वंसाभाव सादि होता है; किन्तु अत्यन्ताभाव आदि-अन्त रहित शाश्वत एवं नित्य होता है।

४. अन्योन्याभाव

जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु से भिन्नता पायी जाय, अर्थात् एक वस्तु में दूसरी वस्तु के रूप का अभाव हो उसको 'अन्योन्याभाव' कहते हैं। उदाहरण के लिए घट, पट से भिन्न और पट, घट से भिन्न है। इसका यह भी आशय हुआ कि परस्पर दोनों में एक-दूसरे के रूप का अभाव है। अन्योन्याभाव में दो वस्तुएँ एक नहीं होंती। अत्यन्ताभाव में दो वस्तुओं में सम्बन्ध का अभाव होता है। अन्योन्याभाव में 'तादात्म्य' का निषेध और अत्यन्ताभाव में 'संसर्ग' का निषेध पाया जाता है। यही दोनों में अन्तर है।

असत्कार्यवाद या आरम्भवाद

न्याय और वैशेषिक के अनुसार कार्य और कारण दोनों का अलग-अलग अस्तित्व माना गया है। वहाँ कारण को कार्य का जनक माना गया (**कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्**)। कारण पिता और कार्य पुत्र है। पिता-पुत्र दोनों एक नहीं होते, भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रत्येक कार्य का आदि और अन्त है। उत्पन्न होने से पहले कार्य असत् (अस्तित्वरहित) था। घड़ा जब तक बनाया नहीं गया था, तब तक वह 'असत्' था, उसका प्रागभाव था; किन्तु घड़े के बन जाने से उसका प्रागभाव मिट जाता है। इसलिए उसको प्रागभाव का प्रतियोगी कहा गया (**प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वम्**)। कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' था, इस सिद्धान्त को 'असत्कार्यवाद' कहा गया। क्योंकि कार्य (घट) सर्वथा एक नयी वस्तु के रूप में, जो कारण (मिट्टी) से भिन्न है, उत्पन्न होता है। अर्थात् कार्य की उत्पत्ति उसकी आदि सृष्टि है। इसलिए 'असत्य-कार्यवाद' को 'आरम्भवाद' भी कहते हैं।

परिणामवादी सांख्य का मत

कारण के इस सम्बन्ध को लेकर न्यायवैशेषिक के साथ सांख्य का बड़ा मतभेद है। सांख्य 'सत्कार्यवाद' को मानता है। सांख्य का मत है कि घट और मिट्टी, दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। कारण और कार्य का तादात्म्य सम्बन्ध है। मिट्टी (कारण) ही बदलकर घट (कार्य) की अवस्था में परिणत हो जाती है। अन्यथा सांख्य यह युक्ति प्रस्तुत करता है कि, जो वस्तु असत् है उसका भाव (अस्तित्व, सत्ता) नहीं हो सकता और जो वस्तु सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता (**नाऽसतो विद्यते भावः नाऽभावो विद्यते सतः**)। यदि घट की सत्ता नहीं थी तो वह आया कहाँ से ? अतः वस्तुतः देखा जाय तो मिट्टी से घट उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह मिट्टी में मौजूद

रहता है। उसकी उत्पत्ति नहीं अभिव्यक्त होती है। सांख्य के परिणामवाद के अनुसार घट अपने उपादान कारण मिट्टी में पहले ही अव्यक्त रूप में विद्यमान था, निमित्त-कारण कुम्हार ने उसका रूपमात्र व्यक्त कर दिया। अतः कारण की भाँति कार्य की सत्ता भी मौलिक है। इस मत को 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है।

सांख्य के उक्त अभिमत के विरुद्ध, न्याय-वैशेषिक का कथन है कि यदि मिट्टी और घट दोनों एक ही हैं तो घट में नये धर्म कहाँ से आये? यदि दोनों एक हैं तो उन्हें अलग-अलग नाम से क्यों पुकारा जाता है? इसके अतिरिक्त यदि दोनों एक हैं तो फिर कुम्हार की आवश्यकता क्यों होती है?

सांख्यकारों ने इसका भी उत्तर दिया है, जो वेदान्त से मिलता है। सांख्य का 'सत्कार्यवाद' और वेदान्त का 'विवर्तवाद' इस दृष्टि से एक है। विवर्तवाद के अनुसार कार्य का वास्तविक तत्त्व कारण ही है। कार्य में जो नये धर्म दीखते हैं वे भ्रममात्र हैं। उदाहरण के लिए रस्सी में सर्प का भ्रम होने से रस्सी, सर्प नहीं होती है, बल्कि वास्तव में रस्सी, रस्सी ही रहती है और सर्प, सर्प ही रहता है, इसी प्रकार यह जगत्, जिसको हम भ्रम से अलग समझते हैं, वस्तुतः ब्रह्म का ही विवर्त है, उपादान है। इसलिए कारण और कार्य दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

किन्तु, इस मत के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक का कथन है कि यदि कारण कार्य को एक ही मान लिया जाय तो इस बाह्य जगत् का कोई अस्तित्व ही न रह जायगा, जैसा कि सम्भव नहीं है। इस सिद्धान्त को 'बाह्यार्थवाद' कहते हैं। इस दृष्टि से वस्तुतः मिट्टी कारण और घट कार्य, दोनों एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि उनसे लोक में दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं का बोध होता है। कार्य अवयवी है और कारण अवयव। घट अवयवी में एकत्व है और उसके अवयव मिट्टी में अनेकत्व है। दोनों की उत्पत्ति भी एक समान नहीं है। अतः कारण (मिट्टी) और घट (कार्य) दोनों अलग-अलग हैं। कारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होकर रहता है।

आगे न्याय-वैशेषिक के मत से कारण-कार्य का सम्बन्ध जान लेने पर 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद' का सिद्धान्त अधिक स्पष्ट हो जाता है।

कारण और कार्य

प्रायः सभी दर्शनों का तत्त्व-विवेचन कारण-कार्य के सिद्धान्त पर आधारित है। लोक-व्यवहार में भी यह देखा गया है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता है। इसलिए उसके सम्बन्ध में कहा गया है **'कार्योत्पादकं कारणत्वम्'**। कारण से कार्य की उत्पत्ति में तीन बातें होती हैं : (१) कारण अपने कार्य का पूर्ववर्ती होता है, जैसे पुत्र (कार्य) के जन्म से पहले पिता (कारण) होता है; (२) कार्य का जो पूर्ववर्ती कारण है वह नियतरूप से होना चाहिए; (३) वह पूर्ववर्ती नियत कारण अन्यथासिद्ध न हो, अर्थात् जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'किसी कार्य के होने से ठीक पहले नियत रूप से जिसका सदैव रहना

हो और जो अन्यथासिद्ध न हो उसे 'कारण' कहते हैं (**अन्यथासिद्धरहितनियतपूर्ववर्त्ति कारणम्**)। उदाहरण के लिए घट के निर्माण में मिट्टी उसका नियत पूर्ववर्ती कारण है, क्योंकि उसके बिना घट कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। मिट्टी को लाने वाला गधा अन्यथासिद्ध है, क्योंकि मिट्टी लाने का कार्य कोई आदमी भी कर सकता है। इसी प्रकार मिट्टी का लाल-पीला रंग और घड़े से पूर्व नियत रूप से रहने वाला कुम्हार का पिता आदि घट के कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनके बिना भी घट बन सकता है।

करण

फल-सम्पादन के लिए जो सबसे उन्नत साधन होता है उसे 'करण' कहते हैं। जैसे वृक्षच्छेदन में पेड़ काटने वाला लकड़हारा, उसका हाथ, कुल्हाड़ी आदि अनेक वस्तुएँ हैं, किन्तु इनके रहते हुए भी फल-संपादन (वृक्षच्छेदन) नहीं हो रहा है। फलोत्पत्ति तब होगी जब परशु-वृक्ष-संयोग होगा। अतः 'परशु-वृक्ष संयोग' ही 'करण' है; क्योंकि उसी से फलोत्पत्ति देखी जाती है। इसी 'प्रकृष्ट कारण' को 'करण' कहते हैं। लकड़हारा, उसका हाथ, कुल्हाड़ी, पेड़ आदि 'कारण सामग्री' हैं।

कार्य में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होता है। अर्थात् जहाँ कारण रहेगा वहाँ कार्य भी अवश्य होगा और जहाँ कारण नहीं रहेगा वहाँ कार्य भी न होगा (**कारणाभावात् कार्याभावः, कारणभावात् कार्यभावः**)।

कारण के भेद

कारण के तीन भेद हैं : समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।

समवायिकारण

जिस कारण में कार्य समवेत रहता है उसको 'समवायिकारण' कहते हैं। जिन दो पदार्थों में एक पदार्थ सदैव दूसरे के आश्रित होकर रहे वे दोनों पदार्थ 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं। इन्हीं दो पदार्थों में समवाय सम्बन्ध होता है। यह अयुतसिद्ध समवाय सम्बन्ध अवयव अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति और नित्य-विशेष में होता है।

सभी कार्य वस्तुएँ सावयव होती हैं; जैसे कपड़ा और सूत। सूत, कपड़े के 'अवयव' और कपड़ा, सूत का 'अवयवी' है। यहाँ सूत-कपड़ा में समवाय सम्बन्ध है। अवयव (सूत) कारण और अवयवी (कपड़ा) कार्य है। यहाँ सूत, कपड़े का 'समवायिकारण' है।

'गुण' जिसके आश्रित हो वह 'गुणी' कहलाता है। 'गुण' कार्य है और 'गुणी' उसका कारण। 'गुलाब का गुलाबी रंग' इसमें गुलाब गुणी और गुलाबी रंग गुण है। इन दोनों में भी 'समवाय सम्बन्ध' है। गुलाब, गुलाबी रंग का 'समवायिकारण' है।

कोई भी क्रिया किसी क्रियावान् द्रव्य के आश्रित होकर रहती है। जैसे पेड़ का पत्ता और उसका हिलना। यहाँ 'हिलना' क्रिया, क्रियावान् पत्ते के आश्रित है। यहाँ

पत्ता कारण और हिलना क्रिया के अयुत सम्बन्ध होने के कारण, पत्ता, हिलने का 'समवायिकारण' है।

मनुष्यत्व (जाति) और एक मनुष्य (व्यक्ति), दोनों में समवाय सम्बन्ध है। व्यक्ति के बिना जाति नहीं रह सकती है। यहाँ व्यक्ति, जाति का 'समवायिकारण' है।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु, इन चार भौतिक परमाणुओं में परस्पर भेद करने के लिए 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार किया गया है। यह 'विशेष' नित्य द्रव्य से अलग होकर नहीं रह सकता है। अतः दोनों में समवाय सम्बन्ध है और नित्य द्रव्य विशेष पदार्थों का समवायिकारण है।

असमवायिकारण

'समवायिकारण' में, कारण में कार्य समवेत रहता है; और वह 'समवायिकारण' द्रव्य ही होता है। उसके गुण-कर्म नहीं होते; किन्तु 'असमवायिकारण' वहाँ होता है, जहाँ कारण में कार्य समवेत नहीं रहता और वह समवायिकारण गुण या कर्म में होता है, द्रव्य में नहीं।

उदाहरण के लिए कपड़े का समवायिकारण है 'सूत' और सूतों में परस्पर संयोग सम्बन्ध है। संयोग गुण है और वह समवाय सम्बन्ध से 'सूतों' में है और सूतों के संयोग के बिना कपड़ा तैयार नहीं हो सकता। अतः 'संयोग' कपड़े का 'कारण' है और कपड़े के साथ समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है। सूतों में रहने वाला संयोग (कारण) और पट (कार्य) एक ही अधिकरण (तन्तु) में समवेत है। इसलिए सूतों का 'संयोग' कपड़ारूपी कार्य का 'असमवायिकारण' है। इस उदाहरण में असमवायिकारण और समवायिकारण में 'कार्यैकार्थसमवाय लक्षणा' है।

इसका दूसरा उदाहरण भी है, जिसमें 'कारणैकार्थसमवाय लक्षणा' है। जैसे 'सूत का रूप' यहाँ सूत का 'रूप', कपड़े के रूप का 'कारण' है। अतः सूतरूप, पटरूप का 'असमवायिकारण' है।

इसीलिए 'तर्कसंग्रह' में 'असमवायिकारण' का लक्षण देते हुए कहा गया है कि 'जो कार्य के या कारण के साथ एक ही विषय में समवेत हो उसको 'असमवायिकारण' कहते हैं (**कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन्नर्थे समवेतं सत्कारणम् असमवायिकारणम्**)।

निमित्तकारण

समवायिकारण और असमवायिकारण, दोनों से भिन्न कारण 'निमित्तकारण' कहलाता है। जैसे घट-निर्माण में कुम्हार उसका कर्त्ता होने के कारण घट का 'निमित्तकारण' है और चाक, डंडा आदि सहायक होने के कारण 'सहकारिकारण' हैं।

परमाणुवाद

'परमाणुवाद' वैशेषिक दर्शन का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण, वैज्ञानिक और जटिल सिद्धान्त है। वैशेषिक के अनुसार जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे सावयव हैं और वे भिन्न-भिन्न अवयवों के योग से बने हैं। ये अवयव अनन्त हैं, क्योंकि अवयवों से

निरन्तर अवयव बनते हैं। पहला अवयव दूसरे अवयव का समवायिकारण या उपादानकारण है। उदाहरण के लिए मृत्तिका घट का समवायिकारण है और पट का समवायिकारण है तन्तु। दो पदार्थों के नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। घट का मृत्तिका से और पट का तन्तु से ऐसा ही नित्य सम्बन्ध है। अतएव घट का समवायिकारण या उपादान कारण है मृत्तिका और पट का तन्तु। अवयवों की यह प्रक्रिया एक सरसों से लेकर पर्वत तक सम्पूर्ण वस्तुओं में एक समान पायी जाती है।

किन्तु प्रत्येक सावयव पदार्थ के अवयवों की यह विभाजन-प्रक्रिया अन्त में एक ऐसी स्थिति पर पहुँचती है जहाँ वे अवयव इतने सूक्ष्मतम हो जाते हैं कि उनका विभाजन करना सर्वथा असम्भव हो जाता है। वस्तु के उसी अविभाज्य मूल अंश को 'अणु' या 'परमाणु' कहा जाता है। इसलिए परमाणु उस पदार्थ को कहते हैं, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम हो और जिसके परे अन्य सूक्ष्म न हो। कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' में कहा गया है कि जिसको तोड़ा ही न जा सके वह 'परमाणु' है **(परं वा त्रुटेः)**। ऐसे अविभाज्य, निरवयव, अविनश्वर और नित्य द्रव्यों के नाम हैं : आकाश, काल, दिक्, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु। इनका न तो जन्म होता है और न संहार ही। वे सृष्टि और प्रलय, दोनों अवस्थाओं में सदाशय रूप में बने रहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु, ये चार भौतिक परमाणु हैं। इनको महाभूत भी कहा गया है। इन्हीं से सृष्टि का सूत्रपात होता है। मूलभूत कारण रूप में वे नित्य (परमाणु) हैं और उत्पत्ति भूत कार्यरूप में अनित्य।

परिमाण की दृष्टि से परमाणु के दो स्वरूप हैं : परम अणु और परम महत्। परिमाण (आयतन) की सबसे अल्प पराकाष्ठा को 'परम अणु' और परिमाण की सब से ऊँची पराकाष्ठा को 'परम महत्' कहते हैं। परमाणु के ये दोनों स्वरूप अगोचर, अस्पृश्य होने के कारण अनुमानगम्य हैं। इस 'परम अणु' को 'त्रुटि' या 'त्रसरेणु' कहा गया है। ये 'परम अणु' मिलकर ही 'महत् अणु' का निर्माण करते हैं। दो परमाणुओं के योग से 'द्व्यणुक' और तीन अणुओं के संयोग से 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' बनाता है। सूर्यरश्मि में उड़ता हुआ धूल का कण 'त्रसरेणु' या 'त्र्यणुक' का उदाहरण है। इस 'त्र्यणुक' के बाद जितने भी परमाणु बनते हैं वे 'द्व्यणुक' की संख्या पर निर्भर हैं। किन्तु दो अणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या, बहुत्व की संख्या नहीं होती। अतः 'द्व्यणुक' का परिणाम महत् का परिणाम नहीं होता। त्र्यणुक में महत्परिमाण होता है।

द्व्यणुक

परमाणु चार प्रकार के हैं : पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। उनके कार्यरूप द्रव्य भी चार हैं : पृथ्वी, जल, तेज और वायु। ये चारों कार्यरूप द्रव्य कारण रूप परमाणुओं के द्व्यणुकों, त्र्यणुकों और उनके वृहत्तर संयोगों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए। यह संयोग परमाणुओं की गति या कर्म के कारण हुआ।

सृष्टि और प्रलय

उत्पत्ति की प्रक्रिया

वैशेषिक दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया बड़ी ही उलझी हुई है। वैशेषिक का मत है कि सृष्टि और लय, इन दोनों का आदि-अन्त नहीं है। प्रत्येक सृष्टि से पहले लय की अवस्था थी और प्रत्येक लय से पूर्व सृष्टि की अवस्था थी। इसलिए किसी भी सृष्टि-लय को प्रथम या अन्तिम नहीं कहा जा सकता है।

प्रत्येक सृष्टि की प्रलयावस्था में कुछ मूलभूत परमाणु ऐसे हैं, जो अपने धर्मा-धर्म संस्कार के कारण विनष्ट नहीं होते। निस्तब्ध और निश्चेष्ट रूप में पड़े रहते हैं। इन मूलभूत परमाणु के अतिरिक्त आत्मा, काल, दिक् और आकाश भी प्रलय-काल में नष्ट नहीं होते।

परमाणु उस पदार्थ को कहते हैं, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम हो और जिससे परे अन्य सूक्ष्म न हो। ऐसे परमाणु अनन्त हैं, जिनको गिना नहीं जा सकता। सांख्य, योग और वेदान्त में उन असंख्य परमाणुओं को सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणप्रधान कहा गया है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसा में उन्हें परमाणु कहा गया है। इन परमाणुओं की कोई ऐसी दिव्य शक्ति है, जिसको प्रमाणकुशल लोग भी नहीं पा सकते, जिसका योगी भी लक्षण नहीं कर सकते, मुमुक्षु भी जिसकी उपेक्षा नहीं कर सकते और वैज्ञानिक जिसका लक्षण नहीं कर सकते। वह अप्रज्ञात, अलक्षण, अतर्क्य, अविज्ञेय और अव्यक्त कोई पदार्थ है, जो इन सत्त्वादि गुणों की तथा परमाणुओं की साम्यावस्था है। उसी का नाम सांख्य में प्रकृति है। 'वैशेषिक सूत्र' में कहा गया है कि 'जो पदार्थ सत्स्वरूप है, जिसका अन्य कोई कारण भी नहीं, वह नित्य पदार्थ ही 'मूला प्रकृति' है' (**सदकारणवन्नित्यम्**)। दैवी शक्ति, परा शक्ति, माया, महामाया, प्रकृति, अव्यक्त, अव्याकृत, प्रधान आदि उसी के अनेक नाम हैं।

प्रलयावस्था में सारा जगत् सोया हुआ-सा अंधकार में आवृत्त एवं लीन था। जिस समय न मृत्यु थी, न जीवन था, न रात्रि और न दिन ही का अस्तित्व था उस समय प्रकृति (स्वधा) और एक चेतन (ब्रह्म) था, जो निष्काम्य था और जिससे परे कुछ न था।

इस प्रकार की प्रलय निशा में विश्राम कर चुकने के अनन्तर चेतन परमेश्वर को सृष्टि-रचना की इच्छा हुई और समस्त सोई हुई शक्तियाँ जागकर सृष्टि-प्रक्रिया में जुट गयीं। सर्व प्रथम वायु-परमाणुओं के संयोग से वायु महाभूत, तदनन्तर जल-परमाणुओं के संयोग से जल महाभूत, फिर पृथ्वी-परमाणुओं के संयोग से पृथ्वी महाभूत और अन्त में तेज-परमाणुओं के संयोग से तेज महाभूत की उत्पत्ति हुई। चार महाभूतों की उत्पत्ति के बाद ईश्वर के ध्यानमात्र से तैजस् और पार्थिव परमाणुओं के संयुक्त बीजरूप अणु से 'हिरण्यगर्भ' और उससे चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। यही

ब्रह्मा या विश्वात्मा इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति कारण होने से पितामह कहलाया। उस पितामह को अनन्त ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का आगार कहा गया।

उस महाभाग से महत्तत्त्व (बुद्धि) और तत्पश्चात् अहंकार (काम) उत्पन्न हुआ। उसी को 'मन' कहा गया। जगत् की उत्पत्ति में कर्म हेतु था। महत्तत्त्व और अहंकार, जिनको सांख्य तथा योग में प्रकृति का परिणाम माना गया है, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त में उन्हें क्षुब्ध प्रकृति का भागविशेष कहा गया है। बाद में ईश्वर की इच्छा से अहंकार के सत्त्वगुणविशेष भाग से प्रत्येक जीव को एक-एक मन दिया गया। इस प्रकार क्रमशः मनु, ऋषि, पितर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि विभिन्न कोटि के जीवों की रचना हुई।

सृष्टि के आरम्भ में किसी भी जीव का कोई स्वरूप नहीं था। चेतन परमात्मा के संकल्प से इस जगत् की उत्पत्ति हुई। इसीलिए इस सृष्टि से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि को, परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण, 'सांकल्पिक' कहा गया।

जीव का यह जो मनुष्य, पशु, पक्षी के रूप में भिन्न-भिन्न शरीर दिखायी दे रहा है उसका कारण पूर्वजन्म के किए गए धर्माधर्म का परिणाम है। जीवों के पाप-पुण्य आदि प्राक्तन कर्मों के अनुसार ही ईश्वर ने उनको भिन्न-भिन्न शरीर दिये। इसीलिए कर्म को उत्पत्ति का हेतु कहा गया है।

प्रलय की प्रक्रिया

जिस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर है उसी प्रकार प्रलय-प्रक्रिया भी उसी के अधीन है। उसी परमेश्वर की इच्छा से नाना नामरूपधारी जीव अनेक योनियों में जन्म लेकर और प्रत्येक जीवन के सुख-दुःखों का उपभोग करके अन्त में अपनी उस अवस्था में लौट आते हैं, जहाँ वे निश्चेष्ट अवस्था में लीन थे। सृष्टि के बाद प्रलयावस्था की यह निश्चेष्टता प्राणियों की विश्रामावस्था कही गयी है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं से निर्मित विश्व के समस्त कार्यरूप द्रव्य विनष्ट हो जाते हैं। शरीर से आत्मा अलग हो जाता है। जीवों के सारे अदृष्ट अवरुद्ध हो जाते हैं। शरीर और इन्द्रियों के निर्माता परमाणु विच्छिन्न हो जाते हैं। सभी परमाणु अलग-अलग हो जाते है। इस अवस्था को कल्पान्तर, संहार या प्रलय कहा गया है।

इस प्रलयकाल में सारे जीव थककर सो जाते हैं। ऐसी अवस्था में पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणु, दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा के नित्य द्रव्य और जीवात्माओं ने सृष्टिकाल में जो धर्माधर्म किये थे उनके संस्कार बच जाते हैं। ये चार महाभूत, पाँच नित्य द्रव्य और संस्कार ही अगली सृष्टि की रचना करते हैं, जब जीवों के कुछ काल तक विश्राम करने के बाद परमेश्वर की सृष्टि रचना के लिए पुनः इच्छा होती है।

इस प्रकार सिद्ध है कि वैशेषिक की सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया एक ऐसा चक्र है, जो निरन्तर घूमता रहता है और जिसका न आदि है और न अन्त ही।

सांख्य दर्शन

* * * *

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हुए, जो कि उपनिषत्कालीन ऋषि थे। किन्तु सांख्य के विचार अपने मूल रूप में कपिल से भी प्राचीन हैं। वह न्याय और वैशेषिक, दोनों दर्शनों से प्राचीन हैं। 'कठ', 'छान्दोग्य', 'श्वेताश्वतर' और 'मैत्रेय' आदि उपनिषदों तथा 'महाभारत' एवं 'गीता' आदि अनेक ग्रन्थों में सांख्य के सिद्धान्त प्रचुर रूप में बिखरे हुए हैं। इन्हीं प्राचीनतम विचारों को सुसंगत एवं वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित करके कपिल ने सांख्य दर्शन की प्रतिष्ठा की।

सांख्य का अर्थ

'सांख्य' शब्द का विद्वानों ने अनेक प्रकार का अर्थ किया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस दर्शन का 'सांख्य' नामकरण इसलिए हुआ, क्योंकि इसमें सर्व प्रथम पच्चीस तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गयी है। 'भागवत' में इसी उद्देश्य से प्रस्तुत दर्शन को 'तत्त्व-संख्यान' कहा गया है, जिसको कि टीकाकार श्रीधर स्वामी ने 'तत्त्वगणक' के नाम से कहा। अतः तत्त्वों की प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक गणना का आधारभूत शास्त्र होने के कारण इसको 'सांख्य' कहा गया। 'सांख्य' शब्द के इस आशय के विपरीत दूसरे विद्वानों का कथन है कि ज्ञान का सम्यक् निदर्शन होने के कारण उसका नाम 'सांख्य' पड़ा। 'सम्' पूर्वक 'ख्याञ्' धातु से 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है सम्यक् ख्यान, सम्यक् विचार या सम्यक् ज्ञान। इस सम्यक् ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध है। अविद्या के कारण आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है और इसीलिए तब तक वह दुःख से निवृत्त नहीं हो सकता है। जब तक जीव सत्त्व-रज-तम-रूप अविद्या को त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् करके नहीं देखता तब तक वह दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता है। सांख्य दर्शन में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से जिज्ञासु को विवेकबुद्धि होती है और तभी वह अविद्या से आच्छादित आत्मा को मुक्त करता है; अविद्या के इस बन्धन को तोड़ डालता है। यद्यपि न्याय और वैशेषिक, दोनों दर्शनों में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए, दुःख विनिश्चायक तत्त्वज्ञान की सुन्दर मीमांसा की गयी है; किन्तु आत्मा और अविद्या पर जितना सूक्ष्म विचार सांख्य में किया गया है उतना उक्त दोनों दर्शनों में नहीं है। इस दृष्टि से सांख्य की गणना वेदान्त से की जा सकती है।

अतः 'सांख्य' शब्द का अर्थ तत्त्व-सख्यान या तत्त्व-गणना न होकर सम्यक् ज्ञान या सम्यक् विचार है।

सांख्य का सार

सांख्य द्वैतमूलक दर्शन है। प्रकृति और पुरुष उसके दो मूल तत्त्व हैं। **'सांख्य-कारिका'** में सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था को ही 'प्रकृति' कहा गया है। प्रकृति जड़ और एक है; पुरुष सचेतन और अनेक हैं। प्रकृति-पुरुष का संयोग ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से सर्वप्रथम जिस महत्त्व की उपलब्धि होती है उसे 'बुद्धितत्त्व' कहते हैं। बुद्धितत्त्व से 'सत्त्वप्रधान अहंकार' और 'तमः प्रधान अहंकार' की उत्पत्ति हुई है। सत्त्वप्रधान अहंकार से 'एकादश इन्द्रियाँ' तथा तम-प्रधान अहंकार से 'पंचतन्मात्राओं' का आविर्भाव हुआ और पंचतन्मात्राओं से 'पंचतत्त्वयुक्त जगत्' की उत्पत्ति हुई।

प्रकृतेर्महान् महतोऽहं मकारस्तस्माद् गणश्च षोडषकः।
तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥

सांख्य के प्राचीन सिद्धान्त वेदान्त से बहुत-कुछ साम्य रखते हैं, क्योंकि उसमें ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया था; किन्तु बाद में सांख्य निरीश्वरवादी हो गया। प्रकृति और पुरुष, दो मूल कारणों के अतिरिक्त, ईश्वर नाम की किसी तीसरी सत्ता को स्वीकार करने में सांख्य सर्वथा मौन है। यही कारण है कि गौतम बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों की आधारभित्ति को सांख्य की ठोस भूमि पर निर्मित किया। जैन और बौद्ध, दोनों धर्म-सम्प्रदायों ने अहिंसावाद का परम लोकोपकारी सिद्धान्त भी सांख्य से ही अपनाया।

सांख्य दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

कपिल

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक के रूप में कपिल का नाम प्रसिद्ध है। इनके जीवन-चरित और स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वानों का एकमत नहीं है। इस नाम के लगभग चार व्यक्तियों का इतिहासकारों ने उल्लेख किया है। 'भागवत' के तीसरे स्कन्ध के एक प्रसंग में यह देखने को मिलता है कि कपिल, प्रजापति कर्दम तथा मनुपुत्री देवहूति का पुत्र था; वही विष्णु का अवतार था और उसी ने सांख्य दर्शन का भी प्रवर्तन किया। कपिल के सम्बन्ध में इसी प्रकार के उल्लेख 'रामायण' और 'महाभारत' में भी देखने को मिलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत कपिल से सम्बन्धित उल्लेखों की परीक्षा करके कोलब्रुक, जैकोबी, मैक्समूलर और कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि कपिल कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर अग्नि, विष्णु, शिव तथा हिरण्यगर्भ आदि शब्दों का पर्यायवाची शब्द

के रूप में ग्रहण किया गया है। इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए 'जयमंगला' टीका की भूमिका में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि कपिल एक महान् सिद्धिप्राप्त व्यक्ति थे। उसी सिद्धि के बल पर मुक्ति को प्राप्त करने से पहले उन्होंने अपनी एक सिद्धदेह की स्वयं रचना करके सांख्य का उपदेश देने के लिए वे आसुरि के समक्ष प्रकट हुए थे। इस प्रकार कपिल का कोई भौतिक शरीर नहीं था। अतः कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता है।

इन विद्वानों के मतों का विश्लेषण श्री उदयवीर शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'सांख्य दर्शन का इतिहास' में किया है। शास्त्री जी ने, कपिल से सम्बन्ध में बिखरे हुए प्रमाणों को सिलसिलेवार लगाकर यह सिद्ध किया है कि कपिल की जीवनी इतिहास की शुद्ध घटनाओं पर आधृत है। उनका काल अत्यन्त प्राचीन था, जिसका स्पष्ट निर्देश किया जाना अत्यन्त कठिन है; किन्तु उनका समय सत्ययुग के अन्त अथवा त्रेतायुग के आरम्भ में था। शास्त्री जी का यह भी कथन है कि कपिल का उत्पत्ति स्थान वर्तमान सिरमौर राज्य के अन्तर्गत 'रेणुका' नामक झील के ऊपर कहीं अवस्थित था। वहीं सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर ब्रह्मावर्त्त की पश्चिमी सीमा में कर्दम ऋषि का भी आश्रम था। इसलिए ब्रह्मावर्त्त देश के तत्कालीन राजा स्वायंभुव मनु का, अपनी कन्या देवहूति का कर्दम के साथ विवाह करने के लिए वहाँ उपस्थित होना सर्वथा युक्तियुक्त जान पड़ता है।

कपिल को सत्ययुग अथवा त्रेता में रखने का उक्त अभिमत्त भले ही विवादास्पद हो; किन्तु यह निश्चित है कि कपिल एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और उन्होंने ही सांख्य दर्शन का प्रवर्तन किया। कपिल के सम्बन्ध में इधर जो नई गवेषणाएँ हुई हैं उनके आधार पर यह अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि कपिल का स्थितिकाल सातवीं शताब्दी ई० पूर्व के आस-पास था। डा० राधाकृष्णन् का भी यही मत है।

कपिल के नाम से सम्प्रति जो 'सांख्यसूत्र' उपलब्ध है वह 'सांख्यषडाध्यायी' और 'तत्त्वसमास', इन दोनों ग्रन्थों को मिला देने से बना है। कपिल के इन दोनों ग्रन्थों पर जो टीकाएँ लिखी गयीं उनका उल्लेख आगे किया जायगा।

आसुरि

कपिल के शिष्य आसुरि हुए। आसुरि के शिष्य पंचशिख ने एक सूत्र में कहा है कि 'सृष्टि के आदि में विष्णु रूप भगवान् ने योगबल से एक चित्त का निर्माण कर तथा स्वयं एक अंश से उसमे प्रवेश कर, कपिल का रूप धारण कर, महर्षि कपिल के रूप में, करुणा से युक्त होकर, परमतत्त्व की जिज्ञासा करने वाले अपने प्रिय शिष्य आसुरि को सांख्य दर्शन के तत्त्वों का उपदेश दिया' (**आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तंत्र प्रोवाच**)।

कीथ, गार्वे, प्रभृति विद्वान् आसुरि को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते हैं, किन्तु 'शतपथ ब्राह्मण' और 'महाभारत' के अनेक स्थलों पर आसुरि से सम्बन्धित उल्लेखों को देखकर उनकी ऐतिहासिकता भली-भाँति प्रमाणित हो जाती है। इन

ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि आसुरि ने कपिल से अध्यात्म विद्या का उपदेश लिया था। उस दीक्षा और प्रव्रज्या से पूर्व आसुरि महायांत्रिक तथा गृहस्थ था। वह वर्ष-सहस्र-जीवी था। इनकी कोई भी स्वतंत्र रचना अभी तक उपलब्ध नहीं है।

पंचशिख

आसुरि के शिष्य पंचशिख हुए। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में पंचशिख का उल्लेख हुआ है। उसको पराशरगोत्रीय और उसकी माता का नाम कपिला कहा गया है। उसके सम्बन्ध में लिखा गया है कि उसने कपिल द्वारा प्रणीत 'षष्ठितंत्र' को अपने गुरु आसुरि से पढ़कर उसे अनेक शिष्यों को पढ़ाया और उस पर विस्तृत व्याख्यान भी लिखा। इस 'षष्ठितंत्र' ग्रन्थ का निर्माता कुछ विद्वान् पंचशिख को ही मानते हैं; किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह उपलब्ध नहीं है। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' (१२।१८-३०) में यह ग्रन्थ साठ परिच्छेदों का बताया गया है।

पंचशिख के नाम से सम्प्रति कोई कृति उपलब्ध नहीं है। विभिन्न दर्शनग्रन्थों में उनके नाम से कुछ सूत्र उपलब्ध हैं। इससे ज्ञात होता है कि पंचशिख ने निश्चित ही सांख्य दर्शन पर किसी सूत्रग्रन्थ का निर्माण किया था।

पंचशिख के शिष्यों में जनक धर्मध्वज भी एक था। 'विष्णुपुराण' में उनका वंशक्रम धर्मध्वज-मितध्वज-कृतध्वज और खाण्डिक्य जनक केशिध्वज, इस प्रकार दिया गया है। 'युक्तिदीपिका' (७०वीं कारिका) से ऐसा विदित होता है कि पंचशिख के दो शिष्य और थे : वशिष्ठ और कराल जनक। वशिष्ठ इक्ष्वाकु राजवंश का पुरोहित था और विदेह के जनकवंश के व्यक्ति निमि का दूसरा पुत्र कराल जनक हुआ।

सांख्य के अन्य प्राचीन आचार्य

ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' (७१वीं कारिका) में लिखा हुआ है कि सांख्य दर्शन का यह ज्ञान पंचशिख के बाद परम्परा से ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ। इस परम्परा के प्राचीन सांख्याचार्यों का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है; किन्तु 'महाभारत', 'बुद्धचरित्त', 'माठरवृत्ति' और 'युक्तिदीपिका' आदि ग्रन्थों से विदित होता है कि याज्ञवल्क्य, देवराति जनक, बोढु सनक, सनन्दन, सनातन, सहदेव, प्लुति, पुलह, भृगु, अंगिरस, मरीच, क्रतु, दक्ष, अत्रि, पुलस्त्य, कश्यप, शुक्र, सनत्कुमार, नारद, अर्ष्टिषेण, शुक, जैगीषव्य, वाल्मीकि, देवल, हारीत, भार्गव, पराशर उलूक प्रभृति अनेक आचार्य सांख्य सिद्धान्तों का निरूपण कर चुके थे। ये सभी आचार्य एक समय के नहीं हैं। उनमें कुछ तो महाभारतकाल से पहले, कुछ उसके आसपास और कुछ उसके बाद हुए; किन्तु मोटे तौर पर उनकी स्थिति विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी से भी पहले की है।

विंध्यवासी

आचार्य विंध्यवासी का वास्तविक नाम अज्ञात है। विंध्याटवी का निवासी होने के कारण ही सम्भवतः इनको विंध्यवासी कहा गया। कमलशील की 'तत्त्वसंग्रह-

पंजिका' से विदित होता है कि विंध्यवासी का वास्तविक नाम रुद्रिल था। परमार्थ ने इनके गुरु का नाम वार्षगण्य बताया है। इस बौद्ध विद्वान् भिक्षु परमार्थ ने वसुबंधु की जीवनी लिखी है। इसमें इन्होंने लिखा है कि अयोध्या में बुद्धमित्र के साथ विंध्यवासी का घोर शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें बुद्धमित्र बुरी तरह पराजित हुए। इस विजय के कारण तत्कालीन अयोध्यानरेश ने विंध्यवासी को तीन लाख स्वर्ण मुद्राएँ प्रदान कर सम्मानित किया था। बाद में अपने गुरु का बदला लेने की स्पर्धा से वसुबंधु जब विंध्याटवी पहुँचे तो तब तक विंध्यवासी का शरीरान्त हो चुका था।

विंध्यवासी के नाम से कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; किन्तु 'श्लोकवार्तिक', 'भोजवृत्ति' और मेधातिथिभाष्य' में इनके सांख्य-यिषयक सिद्धान्तों का हवाला देखने को मिलता है।

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने विंध्यवासी को वसुवन्धु के गुरु बुद्धमित्र का समकालीन (२५०-३२० ई०) माना है। विंध्यवासी उत्तर भारत और सम्भवतः वाराणसी के निवासी थे।

ईश्वरकृष्ण

कुछ दिन पूर्व विंध्यवासी; वसुबन्धु और ईश्वरकृष्ण के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में जो संदिग्ध बातें कही जाती थीं उनका अब पूरी तरह से समाधान हो चुका है; और इन तीनों विद्वानों के सम्बन्ध में विस्तार से प्रामाणिक सूचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं।

सांख्य दर्शन के क्षेत्र में आचार्य ईश्वरकृष्ण का बड़ा सम्मान है; और यद्यपि उनके सम्बन्ध की अनेक बातें अब स्पष्ट-सी हो चुकी हैं; फिर भी उनके स्थितिकाल पर आज भी इतिहासकारों में मतभेद है। प्रायः यह निश्चित-सा है कि बौद्धाचार्य वसुबन्धु द्वारा सांख्यशास्त्र का खण्डन हो जाने के पश्चात् सांख्य की क्षीण सत्ता को पुनः प्रकाशित एवं प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्य-कारिका' की रचना की थी। इस दृष्टि से उनको वसुबन्धु के बाद में रखा जाना चाहिए; किन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार ईश्वरकृष्ण, वसुबन्धु से भी पहले हुए। चीन में रहकर भिक्षु परमार्थ ने ५५७-५६९ ई० के बीच बसुबन्धु का जो जीवन चरित लिखा था और ५७० ई० में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' का 'हिरण्य-सप्तति' या 'सुवर्णसप्तति' अथवा 'कनकसप्तति' के नाम से जो चीनी अनुवाद किया था, वे दोनों ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध हैं। इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर डॉ० तकाकुसू ने अनुमान लगाया है कि ईश्वरकृष्ण का समय ४५० ई० के लगभग था। इस मत के विपरीत डॉ० विन्सेंट स्मिथ, ईश्वरकृष्ण को वसुबन्धु से पहले रखते हैं। उनके मतानुसार वसुबन्धु का समय ३२८-३६० ई० है और ईश्वरकृष्ण का २४० ई० के लगभग।

डॉ० विद्याभूषण ने, तिब्बती ग्रन्थों में सुरक्षित कुछ अनुश्रुतियों का परीक्षण करके, यह सिद्ध किया है कि ईश्वरकृष्ण और वसुबन्धु, दोनों समकालीन थे और उनका स्थितिकाल ४०० ई० था।

ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' सांख्यदर्शन की प्रामाणिक एवं पाण्डित्यपूर्ण कृति है। उसकी लोकप्रियता का अनुमान, उस पर लिखी गयी अनेक टीकाओं को देखकर लगाया जा सकता है, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

माठर : गौड़पाद

ये दोनों सांख्याचार्य 'सांख्यकारिका' के भाष्यकारों के रूप में प्रसिद्ध हैं। माठर की 'माठरवृत्ति', 'सांख्यकारिका' का सम्मानित एवं प्रामाणिक भाष्य है। यह भाष्य भिक्षु परमार्थ के अनुवाद ग्रन्थ 'हिरण्यसप्तति' (५७० ई०) के पूर्व लिखा गया था। इस दृष्टि से माठराचार्य का स्थितिकाल पाँचवीं-छठीं शताब्दी के आसपास ठहरता है। 'माठरवृत्ति' का उल्लेख 'अनुयोगद्वार' नामक जैनों के ग्रन्थ में देखने को मिलता है, जिसकी रचना २०० ई० में बतायी जाती है। इस दृष्टि से माठर को कनिष्ठ का समकालीन माना जाता है, किन्तु यह मत अभी संदिग्ध है। 'गौड़पाद-भाष्य' के रचयिता आचार्य गौड़पाद भी इसी समय हुए, जिसका निराकरण आगे किया गया है।

विज्ञानभिक्षु

आचार्य विज्ञानभिक्षु स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति थे। 'भिक्षु' शब्द से न तो इन्हें बौद्ध समझना चाहिए और न संन्यासी ही। इसका स्थितिकाल १६वीं शताब्दी था। हाल, गार्वे, विंटनित्स, दासगुप्ता (१५५० ई०), कीथ (१६५० ई०), आदि विद्वानों के मतों एवं साक्ष्यों का विवेचन करके श्री पी० के० गोडे ने यह सिद्ध किया है कि विज्ञानभिक्षु १५२५-१५८० ई० के बीच हुए।

इन्होंने 'सांख्यसूत्र' पर 'सांख्यप्रवचन-भाष्य', 'व्यास भाष्य' पर 'योगवार्तिक' और 'ब्रह्मसूत्र' पर 'विज्ञानामृतभाष्य' लिखा। इस प्रकार इन्होंने सांख्य, योग और वेदान्त, तीनों दर्शनों पर कार्य किया। 'सांख्यसार' और 'योगसार' को लिखकर इन्होंने दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं सरल ढंग से प्रतिपादन किया। सांख्य और वेदान्त के बीच भी इन्होंने सामंजस्य स्थापित किया। संप्रति उपलब्ध 'सांख्यसूत्र' को इन्हीं की कृति बताया जाता है; किन्तु यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' का लेखक भाव गणेश इन्हीं का शिष्य था।

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार

पहले संकेत किया जा चुका है कि 'सांख्यषडाध्यायी' और 'तत्त्वसमास' दोनो को मिलाकर 'सांख्यसूत्र' के नाम से कहा जाता है। इन दोनों ग्रन्थों पर अलग-अलग व्याख्याएँ लिखी गयीं। कुछ सांख्यकारों ने प्रथम ग्रन्थ पर और कुछ ने दूसरे ग्रन्थ पर ही विचार किया। उन विचारकों को हम उसी क्रम से यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

सांख्यषडाध्यायी के व्याख्याकार

स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'सत्यार्थप्रकाश' के एक स्थल से ऐसा जान पड़ता है कि कपिल के सांख्यशास्त्रों पर भागुरि मुनि ने एक भाष्य लिखा था। 'संस्कारविधि'

में भी भागुरि कृत भाष्य का उल्लेख हुआ है। किन्तु भागुरि का यह भाष्य उपलब्ध नहीं है। इस परम्परा की उपलब्धि बहुत बाद में दिखायी देती है। अनिरुद्ध, महादेव वेदान्ती और विज्ञानभिक्षु का नाम इस परम्परा में प्रमुख है।

'सांख्यषडाध्यायी' पर 'अनुरुद्धवृत्ति' के दो संस्करण संप्रति उपलब्ध हैं: पहला डॉ० श्री रिचर्ड गार्वे का और दूसरा महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषण का। इनमें दूसरा संस्करण, प्रथम संस्करण का ही अनुकरणमात्र है; बल्कि डॉ० गार्वे का प्राक्कथन बहुत ही खोजपूर्ण है। डॉ० गार्वे ने प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अनिरुद्ध १५०० ई० के लगभग हुआ।

सांख्यसूत्रों के दूसरे व्याख्याकार हुए महादेव वेदान्ती। उनकी कृति 'अनिरुद्ध-वृत्ति' पर आधारित है। इसीलिए उनकी व्याख्या का नाम 'वृत्तिसार' है। कुछ विद्वान् इन्हें विज्ञानभिक्षु का उत्तरवर्ती सिद्ध करते हैं; किन्तु आधुनिक गवेषणाओं से यह सिद्ध हो चुका है कि महादेव वेदान्ती, विज्ञानभिक्षु के पूर्व, किन्तु अनिरुद्ध के बाद हुए।

तीसरे भाष्यकार विज्ञानभिक्षु और उनकी कृति 'सांख्यप्रवचनभाष्य' का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

तत्त्वसमास के व्याख्याकार

'तत्त्वसमाससूत्र' पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखीं। इन व्याख्याओं का एक सुन्दर संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज से 'सांख्यसंग्रह' के नाम से प्रकाशित हो चुका है, जिसमें नौ व्याख्याओं को संकलित किया गया है। उनका विवरण इस प्रकार है:

मिषानन्द	: सांख्यतत्त्वविवेचन (१७०० ई०)
भावागणेश	: तत्त्वयाथार्थ्यदीपन (१६०० ई०)
महादेव	: सर्वोपकारिणीटीका (१५०० ई०)
कृष्ण	: सांख्यसूत्रविवरण
×	: क्रमदीपिका-तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति
केशव	: सांख्यतत्त्वप्रदीपिका (१७०० ई०)
यति, कविराज	: सांख्यतत्त्वप्रदीप (वाचस्पति मिश्र के बाद)
×	: सांख्यपरिभाषा
कृष्णमित्र	: तत्त्वमीमांसा

सांख्यकारिका के व्याख्याकार

ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उस पर २०वीं शताब्दी तक लगभग आठ टीकाएँ लिखी गयीं, जिनका विवरण इस प्रकार है:

१. **माठरवृत्ति :** यह सबसे प्राचीन टीका है। माठर को कुछ विद्वान् कनिष्क का समकालीन मानते हैं; किन्तु कुछ विद्वान् उन्हें पाँचवीं-छठीं शताब्दी में रखते हैं। चौखम्बा संस्कृत सीरीज से 'माठरवृत्ति' के नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित है। इस वृत्ति का 'युक्तिदीपिका', 'गौड़पादभाष्य', 'जयमंगला' और 'तत्त्वकौमुदी' पर प्रभाव है।

२. **युक्तिदीपिका :** इसकी पुष्पिका में लिखा हुआ है 'कृतिरियं श्री वाचस्पति मिश्राणाम्'। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने उसको वाचस्पति मिश्र की कृति बताया है; किन्तु टीका के सम्पादक ने इस अंश को प्रक्षिप्त माना है। श्री उदयवीर शास्त्री का कथन है कि यह टीका 'जयमंगला' से प्राचीन है; उसका सम्भावित रचनाकाल विक्रमी के पाँचवें शतक के आसपास है; उसका रचयिता 'राजा' नामक कोई व्यक्ति था, जो कि राजा भोज से पृथक् था; और इस कृति का दूसरा नाम 'राजवार्तिक' भी था।

३. **गौड़पादभाष्य :** इस भाष्य के रचयिता आचार्य गौड़पाद, शंकराचार्य के प्रगुरु या दादागुरु गौड़पाद से भिन्न थे। 'गौड़पादभाष्य' पर 'युक्तिदीपिका' का प्रभाव लक्षित होता है। इसलिए आचार्य गौड़पाद का समय ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी के आस-पास रखा जाना उपयुक्त जान पड़ता है।

४. **जयमंगला :** पं० हरदत्त शर्मा ने इस टीका का सम्पादन किया है। उन्होंने इसको शंकराचार्य की कृति बताया है। किन्तु महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने इस ग्रन्थ की भूमिका में दो बातों का उल्लेख किया है। पहली बात तो उन्होंने यह कही है कि इस टीका का रचयिता शंकराचार्य न होकर शंकरार्य है और दूसरी बात यह कि वह बौद्ध था और कामन्दक के 'नीतिसार' की 'जयमंगला' टीका के रचयिता शंकराचार्य से भिन्न था। इसके विपरीत श्री उदयवीर शास्त्री का कथन है कि उक्त टीका का रचयिता न शंकर था, न शंकराचार्य और न शंकरार्य ही। वह बौद्ध नहीं था; तथा उसका रचनाकाल ७०० वि० के बाद का नहीं है।

५. **हिरण्यसप्तति :** भिक्षु परमार्थ ने चीन में रहकर ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' का 'हिरण्यसप्तति' (सुवर्णसप्तति या कनकसप्तति) के नाम से चीनी अनुवाद किया था। यह अनुवाद ५७० ई० में किया गया था। पं० ऐय्यरस्वामी शास्त्री ने इसको चीनी से संस्कृत में अनुवाद कर प्रकाशित करवाया है। इस संस्कृतानुवाद को देखकर यह ज्ञात होता है कि वह 'सांख्यकारिका' का अनुवाद न होकर उस पर लिखी गयी किसी टीका का अनुवाद था। इस अनूदित कृति का मूल ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं है। इसलिए 'सुवर्णसप्तति' को देखकर अधिक उपयुक्त यही जान पड़ता है कि वह भी 'सांख्यकारिका' की ही एक टीका है। इस टीका में सत्तर कारिकाएँ हैं।

६. **तत्त्वकौमुदी :** इस टीका का रचयिता प्रसिद्ध विद्वान् वाचस्पति मिश्र था। भारतीय दर्शनशास्त्र में वाचस्पति मिश्र को एक व्याख्याकार के रूप में अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। उनके स्थितिकाल और उनकी जीवनी के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का एक संस्करण डॉ० गंगानाथ झा ने संपादित किया है, जो कि १९३४ ई० में ओरिएण्टल बुक एजेंसी, पूना से प्रकाशित हो चुका है। इसकी भूमिका में डॉ० झा ने यह सिद्ध किया है कि वाचस्पति मिश्र ८४१ ई० में हुए; किन्तु अपने एक निबन्ध में श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने, डॉ० झा के तर्कों पर आपत्ति प्रकट करते हुए यह सिद्ध किया है कि वाचस्पति मिश्र का स्थितिकाल १०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में था। इन दोनों विद्वानों के मतों का विश्लेषण श्री

उदयवीर शास्त्री ने किया है। उनके मतानुसार वाचस्पति मिश्र का समय ८४१ ई० (८६८ वि०) तो है; किन्तु इस सम्बन्ध में डॉ० झा ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं वे विवादास्पद हैं।

७. **चन्द्रिका** : महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र ने अपने ग्रन्थ में नारायण तीर्थ (१७वीं सदी) कृत 'चन्द्रिका' टीका का उल्लेख किया है, जिस पर कि 'तत्त्वकौमुदी' की छाया बतायी गयी है।

८. **सरलसांख्ययोग** : इस टीका के लेखक हरिहरारण्यक, २०वीं शताब्दी में हुए। यह टीका बंगला में है और इसका उल्लेख भी डॉ० उमेश मिश्र ने किया है।

सांख्यसूत्र

'सांख्यसूत्र' छह अध्यायों में विभक्त है।

१. पहले अध्याय में त्रिविध दुःखों के कारण और उनकी निवृत्ति के उपाय बन्धन-मोक्ष; जीव, शरीर, आत्मा; पदार्थों का नित्यत्व; और प्रकृति-पुरुष का विवेचन है।

२. दूसरे अध्याय में सृष्टि का विकास, बुद्धि, मन, अहंकार, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण का वर्णन है।

३. तीसरे अध्याय में प्रकृति के स्थूलकार्य; पृथ्वी आदि महाभूत; दो प्रकार के शरीर; कर्म, ज्ञान; ज्ञान के पाँच साधन; मिथ्याज्ञान; आठ प्रकार की सिद्धियाँ; विवेक और अन्त में मुक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

४. चौथे अध्याय से ज्ञान के साधनों का विवेचन है।

५. पाँचवें अध्याय के आदि में वादी-प्रतिवादी के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन; अपौरुषेय वेदों की प्रामाणिकता; प्रकृति-पुरुष का प्रत्यक्ष; छह प्रकार की सृष्टि; समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष का वर्णन है।

६. छठे अध्याय में पूर्वोक्त पाँच अध्यायों का साररूप में वर्णन किया गया है।

तत्त्व विचार

सांख्य तत्त्वप्रधान दर्शन है। उसमें बहुत ही सूक्ष्म एवं गंभीर दृष्टि से तत्त्वों पर विस्तार से विचार किया गया है। सांख्य के ये तत्त्व पच्चीस हैं, स्वरूप की दृष्टि से जिन्हें व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ, इन तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। व्यक्त तत्त्व तेईस हैं, और अव्यक्त तथा ज्ञ एक-एक। जिसको चेतन या पुरुष कहा जाता है वह ज्ञ तत्त्व, जिसको मूला प्रकृति या प्रधान कहा जाता है वह अव्यक्त तत्त्व और इनके अतिरिक्त शेष व्यक्त तत्त्व हैं। मूला प्रकृति जड़ है और उनके परिणामस्वरूप तेईस अव्यक्त तत्त्व भी जड़ हैं। पुरुष तत्त्व निर्गुण, विवेकी तथा निष्क्रिय है और प्रकृति तथा उसके परिणाम शेष तेईस तत्त्व त्रिगुण, अविवेकी आदि धर्मों से युक्त हैं। इन पच्चीस तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और सूक्ष्म जगत् के कार्य-निर्वाह के लिए वे किस प्रकार उपयोगी हैं, इसका विवेचन ही सांख्य का विषय है।

कार्य कारणभाव से तत्त्वों का वर्गीकरण

नैयायिकों क 'कारण' में 'कार्य' का अभाव मानकर 'कार्य' को 'कारण' से भिन्न माना है। वहाँ इन दोनों के रहस्यपूर्ण सम्बन्ध को 'स्वभाव' की संज्ञा दी गयी है; किन्तु सांख्यकार ऐसा नहीं मानते हैं। उनका अभिमत है कि 'कारण' में 'कार्य' अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है। कार्यरूप समस्त जगत् और उसके मूल कारण, इन दोनों सत्त्व और असत्त्व के भेद से सांख्य दर्शन में पच्चीस तत्त्वों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है : (१) प्रकृति, (२) विकृति, (३) प्रकृति-विकृति और (४) न प्रकृति न विकृति। प्रकृति तत्त्व ऐसा है, जो सबका कारण तो होता है, किन्तु स्वयं किसी का कार्य नहीं होता (**सतः असज्जायते**)। कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो स्वयं उत्पन्न होते हैं, किन्तु किसी दूसरे को उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं (**असतः सज्जायते**)। कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं, जो स्वयं उत्पन्न होते हैं और दूसरे तत्त्वों को भी उत्पन्न करते हैं (**सतः सज्जायते**)। पुरुष तत्त्व ऐसा है, जो न किसी तत्त्व का कार्य है न कारण (**असतः असज्जायते**)। इन चार वर्गों में पच्चीस तत्त्वों को इस प्रकार समझा जा सकता है :

स्वरूप	संख्या	नाम
१. प्रकृति	१	प्रकृति
२. विकृति	१६	चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक्, श्रोत्र (ज्ञानेन्द्रिय); वाक, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, (कर्मेन्द्रिय); मन, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (महाभूत);
३. प्रकृति-विकृति	७	महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (तन्मात्र)
४. न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

सांख्य के मत से न किसी की उत्पत्ति होती है और न विनाश ही। उत्पत्ति और विनाश, वस्तु के धर्म हैं, वस्तु नहीं हैं। एक धर्म दूसरे को ग्रहण करता है। इसलिए केवल वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन होता है, वस्तु में नहीं। इसी परिवर्तन को 'परिणाम' तथा 'विवर्त' कहा गया है और इसी बात को सिद्ध करने के लिए सांख्य दर्शन में 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसलिए सांख्य के उक्त पच्चीस तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करने से पूर्व 'सत्कार्यवाद' से परिचित हो जाना आवश्यक है।

सत्कार्यवाद

'सत्कार्यवाद' सांख्य दर्शन का अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त है। 'सत्कार्यवाद' के अनुसार कार्य की सत्ता, उसकी उत्पत्ति से पूर्व, कारण में विद्यमान रहती है। किन्तु दर्शन के कुछ अन्य संप्रदाय इस मत को नहीं मानते हैं। उनमें प्रमुखता बौद्धों की है। बौद्धों का अभिमत है कि 'असत्' से 'सत्' उत्पन्न होता है।

उनके मत से समस्त भाव पदार्थ क्षणिक हैं और इसलिए उन क्षणिक भाव पदार्थों में कार्य-कारण-भाव हो ही नहीं सकता है। न्याय और वैशेषिक भी यही मानते हैं। उनका कहना है कि यदि कार्य की सत्ता, उसकी उत्पत्ति से पूर्व, कारण में विद्यमान रहती है तो फिर कार्य के उत्पन्न होने का आशय ही क्या रह जाता है ? उदाहरण के लिए यदि मिट्टी में घड़ा पहले ही विद्यमान था तो फिर कुम्हार तथा चाक घुमाने की आवश्यकता क्यों होती है, और कार्य तथा कारण के भेद को बताने के लिए हमारे पास क्या आधार रह गया है; क्यों नहीं मिट्टी को ही घड़ा कह लिया जाता है और घड़े से जो कार्य लिया जाता है, मिट्टी से ही वह क्यों नहीं सम्पन्न किया जाता ? यदि घट और मृतिका में स्वरूप तथा आकार की भिन्नता है तो भी यही बात सिद्ध होती है। घट (कार्य) में कुछ ऐसी विशेषता का सन्निवेश हो गया है, जो मिट्टी (कारण) में नहीं थी। इसलिए यह मानना सर्वथा युक्तिसंगत और व्यावहारिक है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में विद्यमान नहीं था। यही 'असत्कार्यवाद' का सिद्धान्त है।

किन्तु सांख्यकार ऐसा नहीं मानते हैं। सांख्यकारों का कहना है कि यद्यपि 'कारण' से 'कार्य' भिन्न दिखायी देता है और नाम भी दोनों का एक ही नहीं है; फिर भी वस्तुतः 'कारण' से 'कार्य' भिन्न नहीं है; भिन्नता तो धर्म की है। इसी कारण-कार्य-अभिन्नता और धर्म-भिन्नता की दृष्टि से सांख्यकारों को 'भेदसहिष्णु अभेदवादी' कहा जाता है। उनकी दृष्टि से 'सत्' सनातन और अभावरहित है; और इसलिए 'असत्' से 'सत्' उत्पन्न हो ही नहीं सकता है। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में 'असत्कार्यवाद' के खंडन और 'सत्कार्यवाद' की स्थापना के लिए जो युक्तियाँ दी गयी हैं उनका निष्कर्ष इस प्रकार है : (१) जो नहीं है (असत् है) उसमें उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी नहीं है (अकारण है); जैसे खरगोश के सींग। अर्थात् यदि कार्य, कारण में रहे तो इसका यह आशय है कि असत् जो शून्य है उससे किसी सत् वस्तु की उत्पत्ति होनी सम्भव हो जाती, जैसा कि सर्वथा असम्भव है। (२) यदि कारण में कार्य की सत्ता विद्यमान न होती तो कर्त्ता के समस्त प्रयत्नों के बावजूद भी कार्य की उत्पत्ति न होती। उदाहरण के लिए तिल के पेरने से ही तेल निकाला जा सकता है, बालू को पेरने से नहीं। अतः किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए किसी विशेष उपादान कारण को देखना पड़ता है। कार्य से असम्बद्ध कारण तो वस्तुतः कारण है ही नहीं। इसलिए यह मानना सर्वथा उपयुक्त है कि कार्य की सत्ता, उसकी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहती है। (३) यदि कारण से कार्य सम्बद्ध न होता तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती थी, जैसा कि सम्भव नहीं है। सम्भव यही दिखाई देता है कि किसी खास कारण से ही किसी कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे दही, दूध से ही बन सकता है : घड़ा, मिट्टी से ही बन सकता है। इसके विपरीत मिट्टी से दही नहीं बन सकता और न ही दूध से घड़ा बन सकता है। (४) किसी कारण में कोई शक्ति है, जिससे कोई विशेष कार्य उत्पन्न होता है। कारण में इस शक्ति के सम्बद्ध रहने से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं होती। इससे ज्ञात होता

है कि कार्य सूक्ष्मरूप से अपने कारण में पहले ही से विद्यमान रहता है। (५) सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि कार्य और कारण, दोनों में अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध है। एक ही वस्तु की अव्यक्त अवस्था को हम कारण और व्यक्त अवस्था को कार्य कहते हैं। मिट्टी का घड़ा (कार्य) मिट्टी (कारण) से अलग नहीं है और पत्थर की मूर्ति (कार्य) पत्थर (कारण) से अलग नहीं है।

इन्हीं युक्तियों के आधार पर सांख्य के 'सत्कार्यवाद' की स्थापना हुई, जिसके आधार पर यह माना जाता है कि यह समस्त संसाररूप जो 'कार्य' है वह मूल प्रकृतिरूप 'कारण' में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है।

परिणामवाद और विवर्त्तवाद

'परिणाम' और 'विवर्त्त' सत्कार्य के ही दो भेद हैं। पहले भी संकेत किया जा चुका है कि वस्तु के स्वरूप में (वस्तु में नहीं) जो परिवर्तन होता है उसी को 'परिणाम' तथा 'विवर्त्त' कहा जाता है। इसी परिवर्तन को सांख्य में 'परिणामवाद' और वेदान्त में 'विवर्त्तवाद' कहा गया है। प्रत्येक तत्त्व या वस्तु में रहने वाली शक्ति को अथवा उस वस्तु या तत्त्व का जो स्वरूप है उसको 'धर्म' कहा जाता है। यह धर्म परिवर्तनशील है। प्रत्येक व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वों में यह धर्म सतत बदलता रहता है। उदाहरण से लिए दूध का दही बन जाना और मिट्टी का घड़ा तैयार हो जाना ही दूध और मिट्टी के धर्म में परिवर्तन हो जाना है। दूसरे शब्दों में दूध का परिणाम दही और मिट्टी का परिणाम घड़ा कहा जायगा। वस्तु के धर्म की इसी परिवर्तन-क्रिया को सांख्य में 'परिणामवाद' के नाम से कहा गया है और उसी के आधार पर 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

किन्तु वेदान्त में इसी रूपान्तर तथा विकार को 'विवर्त्त' के नाम से कहा गया है। 'विवर्त्त' उसको कहते हैं जो अपने वास्तविक स्वरूप को न छोड़कर भी रूपान्तर जैसा भासित होता है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि जैसे शुक्ति में रजत का और रज्जु में सर्प का आभास होता है उसी प्रकार सत् प्रपंच ब्रह्म असत् प्रपंच है भासित होता है। इस 'विवर्त्त' का हेतु सारूप्य होता है, वैरूप्य नहीं है। जैसे शुक्ति और रजत में सारूप्य होने से 'विवर्त्त' है, रज्जु और सर्प में सारूप्य होने के 'विवर्त्त' है, किन्तु शुक्ति में सर्प का और रज्जु में रजत का विवर्त्त नहीं हो सकता है, क्योंकि उनमें सारूप्य नहीं वैरूप्य है। इसलिए अद्वैत वेदान्त के मत से कार्य, कारण का वास्तविक रूपान्तर नहीं, 'विवर्त्त' मात्र है। अर्थात् नाना रूपात्मक यह प्रपंचमय जड़ जगत् चित्स्वरूप ब्रह्म का वास्तविक रूपान्तर नहीं है, विवर्त्त' मात्र है। वही वेदान्त का 'विवर्त्तवाद' है।

प्रकृति

सात्कार्यवाद और उसके दो रूपों, परिणाम तथा विवर्त्त, का विवेचन करते हुए यह बताया जा चुका है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व भी कारण में उसकी सत्ता का

आवास सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि कार्यरूप पदार्थों से बनी है। इस कार्यरूप पदार्थों के मूल में निश्चित ही कोई कारणरूप मूलतत्त्व ऐसा विद्यमान है, जिसके संयोग से उनकी उत्पत्ति होती है। सांख्य दर्शन में इसी मूल कारण को 'प्रकृति' कहा गया है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में इस 'प्रकृति' को उत्पत्तिरहित (अजा), एका, त्रिगुणात्मिका, सरूपा, समस्त पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली (वह्वी प्रजा) कहा गया है। वह 'प्रधान', 'अव्यक्त' और 'शाश्वत' हैं।

प्रकृति अचेतन है। इसलिए लोक-व्यवहार की दृष्टि से यह शंका होती है कि अचेतन प्रकृति बिना चेतन की सहायता से महदादि कार्यों को उत्पन्न करने में कैसे प्रवृत्त हो सकती है? इसलिए उसका अधिष्ठाता तथा प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। वेदान्त में जिसको परमानन्द कहा गया है, चैतन्य उससे भिन्न है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की परमानन्द अवस्था ही अन्तिम अवस्था है, किन्तु सांख्य के अनुसार आत्मा एक निरपेक्ष द्रष्टा है, जो प्रकृति की सीमाओं से विमुक्त है। हमारे समक्ष जो सुख-दुःख उपस्थित होते हैं वे शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और मन के विषय हैं; आत्मा को न तो उनका अनुभव होता है और न उस पर उनका प्रभाव पड़ता है। यह सुख-दुःख की अनुभूति तो अज्ञात का कारण है। आत्मा तो स्वयं ज्ञानपुंज, नित्य और सर्वव्यापी है। अज्ञान उसमें रहता ही नहीं।

पुरुष की सिद्धि

'ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका' में आत्मा की सिद्धि के लिए कहा गया है :

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादाधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

इस कारिका का आशय है कि संसार के जितने भी सुख-दुःखादि कार्य होते हैं वे दूसरे के लिए होते हैं। वह 'दूसरा' आत्मा है, क्योंकि वह चेतन है। जड़ पदार्थों के लिए सुख-दुःख नहीं होते। सत्त्व, रज, तम, तीनों गुण जड़ हैं। इसलिए भी पुरुष अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ा। उदाहरण के लिए जिस प्रकार बिना सारथी के रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार शरीरादि जड़पदार्थों का आत्मा के अधिष्ठान के बिना, शरीरादि के कार्यों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए पुरुष (आत्मा) को त्रिगुणों का अधिष्ठाता स्वीकार करना पड़ा। आत्मा भोक्ता है और उसके बिना भोज्य पदार्थों के सुख-दुःख का भोग नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त अत्रिगुण आत्मा या पुरुष ही मुक्ति का अधिकारी है। अतः आत्मा (पुरुष) की सिद्धि निर्विवाद है।

पुरुष की अनेकता

पुरुष एक है या अनेक, इस सम्बन्ध में दर्शनों का मतभेद है। वेदान्ती आत्मा को एक मानते हैं; किन्तु सांख्यकारों का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्मा का अधिवास है। यदि अलग-अलग शरीरों में

एक ही आत्मा का होना स्वीकार किया जायगा तो एक शरीर के नष्ट हो जाने पर संसार के सभी शरीरों को नष्ट हो जाना चाहिए; अथवा एक शरीर के जन्म धारण करने पर सभी शरीरों को उत्पन्न हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक शरीरधारी व्यक्ति के लूला-लंगड़ा हो जाने पर सभी शरीरधारी व्यक्तियों पर उसकी प्रतिक्रिया होनी चाहिए। अतः आत्मा प्रति शरीर भिन्न है, एक नहीं। उनका प्रेय श्रेय सम्पादन ही प्रकृति के प्रयत्न का उद्देश्य है। सांख्यकारों का कहना है कि बिना चेतन की सहायता एवं प्रेरणा से संसार में अचेतन की प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिए बछड़े के संवर्धन के लिए माता के स्तनों में अचेतन दूध की और लोकोपकार के लिए अचेतन मेघ की जल-वर्षण प्रवृत्ति, बिना किसी चेतन की सहायता से, लोक में देखने को मिलती है। ठीक वैसे ही अचेतन प्रकृति महदादि कार्यों के उत्पादन के लिए स्वयमेव प्रवृत्त होती है। प्रकृति की यह प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के निमित्त होती है, अकारण नहीं।

प्रकृति का स्वरूप

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। वे तीन गुण हैं : सत्त्व, रज और तम। इन्हीं तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति, प्रधान या अव्यक्त है। इन तीनों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि उनमें क्रिया नहीं होती है। वे अलग-अलग तीन तत्त्व न होकर त्रिगुणात्मक एक ही तत्त्व है। ये तीनों पुरुष के भोग-साधनमात्र हैं। उन्हें धर्म भी नहीं कहा जा सकता है और वे वस्तुतः गुण भी नहीं हैं। गुणीभूत होने के कारण उन्हें गुण कहा गया है। पृथ्वी का गुण गन्ध है, जो कि पृथ्वी से अलग है; किन्तु ये तीनों गुण से भिन्न गुणी का ही स्वरूप हैं। वे तीनों प्रकृतिस्वरूप हैं। प्रकृति से भिन्न उनका कोई स्वरूप है ही नहीं। अतः वे द्रव्यरूप हैं। जिस प्रकार वृक्षों के समुदाय से भिन्न कोई वन नहीं होता, बल्कि वृक्ष-समुदाय को ही वन कहा जाता है उसी प्रकार इन तीनों के अतिरिक्त प्रकृति का कोई अस्तित्व न होने पर भी वे प्रकृति के ही गुण हैं। वे नित्य हैं और उनकी साम्यावस्था प्रकृति भी नित्य है।

गुणों का स्वरूप

गुणों का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि प्रकृति प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है; किन्तु उनसे प्रभावित सांसारिक क्रिया-कलापों को देखकर उनका अनुमान किया जा सकता है। संसार के जितने भी दिखायी देने वाले क्रिया-कलाप हैं वे सभी सुख, दुःख और मोह को उत्पन्न करने वाले हैं। यह सुख, दुःख एवं मोहानुभूति भी व्यक्ति-व्यक्ति की दृष्टि से अलग-अलग है। एक का दुःख दूसरे का सुख और तीसरे का मोह हो सकता है। ये सुख-दुःखादि सांसारिक कार्य जिस प्रकार किसी कारणविशेष से पैदा होते हैं उसी प्रकार कारणभूत मूल प्रकृति में रहने वाले जो सुख-दुःखादि धर्म हैं वे भी अपने कार्यभूत पञ्चमहाभूतों में सुख-दुःखादि कार्यों के उत्पादक होते हैं। इसी अनुमान से हम गुणों का स्वरूप जान सकते हैं।

गुणों का स्वभाव

सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों का अलग-अलग स्वभाव होता है।

'सांख्यकारिका' के एक श्लोक में इन तीनों गुणों का स्वभाव इस प्रकार बताया गया है:

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्ज रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

अर्थात् सत्त्वगुण का स्वभाव लघु, प्रकाशक, इष्ट (आनन्दस्वरूप); रजोगुण का स्वभाव गतिशील (चंचल), उत्तेजक (उपष्टम्भक); और तमोगुण का स्वभाव गुरु (भारी) एवं अवरोधक होता है।

गुणों का संयोग और रूपान्तर

ये तीनों गुण विरुद्धकोटिक हैं; किन्तु जब वे संयुक्त होकर एक-दूसरे के सहयोगी होते हैं तभी विषयों को उत्पन्न करते हैं। उनमें रजोगुण क्रियाशील है किन्तु तमोगुण प्रकृति का अवरोधक होकर उसे कार्य करने में बाधा उपस्थित करता है। जन्मान्तर से संचित कर्म, जो जीवों के साथ अदृष्ट रूप में बने रहते हैं, उनका परिपाक हो जाने पर वे सांसारिक जीव को सुख-दुःखादि का उपभोग कराते हैं। ऐसी स्थिति में तमोगुण का प्रभाव दूर हो जाता है और रजोगुण से प्रकृति में चांचल्य उत्पन्न होकर अव्यक्त कर्म 'महत्', 'अहंकार' आदि व्यक्त तत्त्वों के रूप में प्रकाशित होते हैं। संसार की प्रत्येक छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी वस्तु में तीनों गुण न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहते हैं। उनमें जो गुण अधिक प्रबल होता है वह, शेष दोनों गुणों को दबाकर, वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करता है। इस प्रकार ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी पारस्परिक सहयोग से उसी प्रकार सांसारिक विषयों को प्रकाशित करते हैं; जिस प्रकार तेल, बत्ती और आग, इन विरुद्धकोटिक वस्तुओं के सहयोग से दीपक जल उठता है। किन्तु जिस प्रकार तेल, बत्ती और आग, इन तीनों में से एक का अभाव होने पर दीपक नहीं जलता उसी प्रकार सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों में एक का अभाव होने पर विषय उत्पन्न नहीं होते।

ये तीनों गुण निरन्तर परिवर्तनशील हैं। उनमें क्षण-क्षण विकार या परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं। यह विकार या परिणाम दो प्रकार का होता है: सरूप और विरूप। सरूप परिणाम उसको कहते हैं, जब प्रत्येक गुण, अन्य गुणों से, अपने-अपने अस्तित्व को खींचकर अपने में ही समा लेता है। ऐसी स्थिति मे सत्त्व सत्त्व में, तम तम में और रज रज में समाहित हो जाता है। ऐसी अवस्था में समस्त कार्योत्पत्ति क्षीण पड़ जाती है। इसी को प्रलयावस्था कहते हैं। विरूप परिणाम उसको कहते हैं जब तीनों गुणों में से एक गुण प्रबल होकर शेष दो गुणों को अपने अधीन कर लेता है। इसी अवस्था में सृष्टि का आरम्भ होता है। सृष्टिरचना से पूर्व ये तीनों गुण अव्यक्त रूप में वर्तमान रहते हैं। उनकी यही साम्यावस्था ही सांख्य की 'प्रकृति' है।

पुरुष

पुरुष का स्वरूप

प्रकृति और पुरुष, सांख्य दर्शन के दो मुख्य तत्त्व हैं। प्रकृति के स्वरूप का

विवेचन किया जा चुका है। पुरुष कहते हैं आत्मा के लिए। वह सजीव होता है, प्राणवान् होता है और संवेदनशील होता है। सांख्य में यदि पुरुष की योजना न की गयी होती तो प्रकृति और महदादि पदार्थों की कोई उपयोगिता एवं आवश्यकता न रह जाती। सचेतन और संवेदनशील होने के कारण पुरुष ही अन्य अचेतन पदार्थों का उपभोक्ता होता है। लोक-व्यवहार में हम कहते हैं कि 'यह मेरा पुत्र है', 'यह मैं हूँ'। दर्शन की दृष्टि से समस्त सांसारिक जीव, चाहे वे कृमि-कीट हों, चाहे मनुष्य हों, किसी का कोई अस्तित्व नहीं है, किन्तु उनके भीतर जो सर्वव्यापी चेतन है, जिसको हम अन्तरात्मा, या अन्तश्चेतना कहते हैं, वस्तुतः यही सब कुछ है। यह देह निर्जीव है। इसके भीतर जब तक आत्मा (पुरुष) का आवास है तभी तक हम अपने-पराये का अनुभव करते हैं। उसके निकल जाने से यह शरीर मिट्टी-पाषाण से बढ़कर कुछ नहीं है।

यह तो हुआ पुरुष के अस्तित्व का लौकिक दृष्टिकोण। सांख्य की दृष्टि से आत्मा ज्ञान का ग्रहीता और शुद्ध चैतन्यस्वरूप है; किन्तु वह स्वयं न तो ज्ञान है और न केवल चेतन ही। ज्ञान उसका विषय और चेतन उसका गुण है।

सांख्य के विपरीत अन्य दर्शन कुछ तो शरीर को ही आत्मा मानते हैं और कुछ इन्द्रियों को, कुछ प्राण को और कुछ मन को। भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती आत्मा की सत्ता को कुछ दूसरे ही रूप में लेते हैं। जहाँ प्रभाकर आदि मीमांसक आत्मा को कुछ विशेष स्थितियों में ही चेतन का आधार स्वीकार करते हैं, वहाँ भाट्ट मीमांसकों का अभिमत है कि आत्मा सचेतन पदार्थ है; किन्तु कभी-कभी अज्ञान से आवृत होकर उसके द्वारा हमारी ज्ञानोपलब्धि अधूरी रह जाती है। शांकर वेदान्त भी आत्मा की एकता को मानता है और उसको शुद्ध, बुद्ध, नित्य तथा आनन्दस्वरूप स्वीकार करके यह सिद्धान्त रखता है कि एक होकर भी वह विभिन्न शरीरों में अवस्थित है।

इसलिए भाट्ट मीमांसकों और शांकर वेदान्तियों की आत्मा-सम्बन्धी व्यवस्था से सांख्य का दृष्टिकोण आंशिक रूप से मेल खाता है; किन्तु वस्तुतः उनमें मौलिक भिन्नता है।

आत्मा ज्ञाता है। वह न तो शरीर है, न इन्द्रियाँ, न मस्तिष्क और न बुद्धि। वह चैतन्यस्वरूप है। मीमांसा का भी यही मत है।

इस अवस्था को दृष्टि में रखकर सांख्य में अनेक पुरुषों की सत्ता स्वीकार की गयी। देखा यह जाता है कि संसार में कुछ मनुष्यों की धर्म में प्रवृत्ति होती है; कुछ की अधर्म में। कुछ अज्ञानी होते हैं, कुछ ज्ञानी होते हैं। इसी प्रकार सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों के परिणाम (विपर्यय) भेद से भी आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए देवात्माओं में सुख, मनुष्यात्माओं में दुःख और नारकीयात्माओं में मोह पाया जाता है। संसार के ये अनेकानुभव यह बताते हैं कि विभिन्न शरीरों में विभिन्न आत्माएँ हैं। इसलिए सांख्य अनेकात्मवादी दर्शन है।

आत्मा की मध्यस्थता

चेतन (आत्मा) देखने वाला होता है। वही साक्षी होता है। जिस प्रकार लोक-व्यवहार में वादी और प्रतिवादी, दोनों अपने-अपने विवाद को साक्षी के सामने रखते हैं उसी प्रकार प्रकृति अपने चरित्र (विषय) को पुरुष के सामने प्रस्तुत करती है। इसलिए पुरुष साक्षी होता । वह द्रष्टा है, उदासीन है और सुखदुःखत्रयाभाव रूप कैवल्य का अधिकारी है।

संसार की उत्पत्ति

प्रकृति और आत्मा का संयोग

प्रकृति और पुरुष, अर्थात् आत्मा के अस्तित्व की पृथक्ता, उन दोनों के विवेचन में सिद्ध हो चुकी है। फिर उन दोनों के संयुक्त होने का कोई आधार या कारण नहीं दिखायी देता है; किन्तु कहा जाता है कि 'मैं करता हूँ', 'मैं खाता हूँ'। इसी को प्रकृति और आत्मा (पुरुष) का संयोग (सन्निधान) कहते हैं। सत्त्व, रज, तम त्रिगुणात्मिका प्रकृति में वास्तविक कर्तृत्व अवस्थित रहता है; किन्तु पुरुष के सन्निधान से ही 'मैं करता हूँ', ऐसी प्रतीति उदासीन आत्मा (पुरुष) में होती है। संसार की उत्पत्ति का एक कारण यह भी है।

प्रकृति और आत्मा के संयोग के कारण

प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के संयोग का कारण होता है कैवल्य, मोक्ष। मनुष्य को मोक्ष की उपलब्धि बिना प्रकृति और पुरुष के सहयोग से हो ही नहीं सकती है। प्रकृति भोग्य है और पुरुष भोक्ता। भोक्ता पुरुष, भोग्य प्रकृति के साथ मिलकर उसके परिणामों को अपने परिणाम मानता हुआ कैवल्य के लिए यत्न करता है। पुरुष को प्रकृति की इसलिए आवश्यकता होती है क्योंकि उसके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती है। प्रकृति और पुरुष, दोनों का पंगु-अंध-सम्बन्ध है। 'सांख्यकारिका' में कहा गया है :

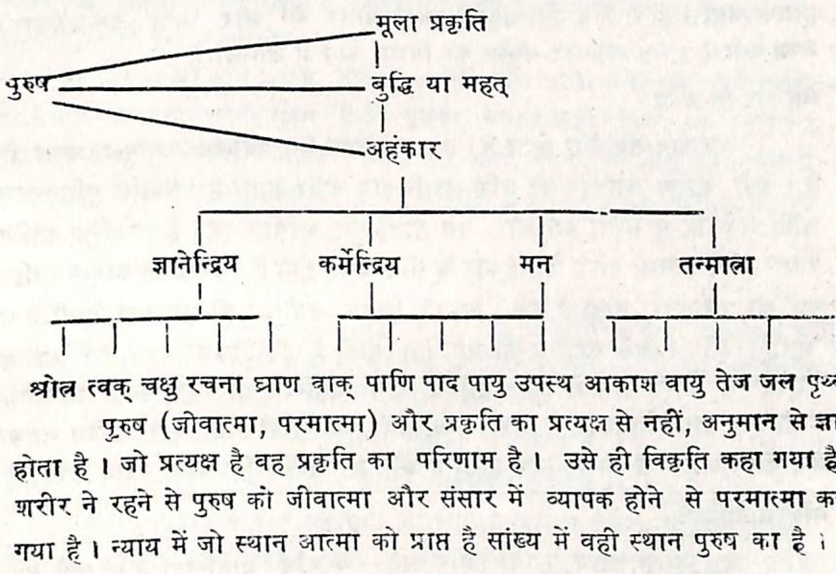
पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

जिस प्रकार पैर वाले अंधे को रास्ता तय करने के लिए आँख वाले लंगड़े की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जड़ प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष दोनों मिलकर अपना कार्य सम्पादित करते हैं। भोग और अपवर्ग, दोनों कार्य प्रकृति-पुरुष के संयोग के बिना सम्भव नहीं हैं।

प्रकृति और पुरुष के संयोग का एक बहुत बड़ा प्रयोजन सृष्टि-रचना का भी है। सांख्य की दृष्टि से सृष्टि-रचना का क्रम सर्वथा भिन्न और सूक्ष्म है। सांख्य के अनुसार सृष्टि से पूर्व सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण साम्यावस्था में वर्त्तमान रहते हैं। जब प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक संयोग होता है तब इन त्रिविध गुणों

की साम्यावस्था में क्षोभ (विकार) उत्पन्न होता है। इसी को 'गुण क्षोभ' कहते हैं। पहले क्रियाशील रजोगुण में स्पन्दन होता है और उसके बाद सत्त्व तथा रज आन्दोलित होते हैं। फलतः प्रकृति में भीषण आन्दोलन उत्पन्न होता है। ये तीनों गुण एक-दूसरे को अपने भीतर समाहित करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में गुणों में न्यूनाधिक्य की स्थिति पैदा होती है और गुणों के उसी न्यूनाधिक्य के अनुपात से नानाविध सांसारिक विषयों की उत्पत्ति होती है।

त्रिगुणात्मक प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व, (महत्तत्त्व) का प्रादुर्भाव होता है, बुद्धितत्त्व से अहंकार और अहंकार से मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच तन्मात्राएँ पैदा होती हैं। अन्त में पाँच तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। यही सृष्टिक्रम कहा जाता है। सृष्टि-रचना के विकासक्रम को इस चार्ट द्वारा अवगत किया जाता है :



पुरुष (जीवात्मा, परमात्मा) और प्रकृति का प्रत्यक्ष से नहीं, अनुमान से ज्ञान होता है। जो प्रत्यक्ष है वह प्रकृति का परिणाम है। उसे ही विकृति कहा गया है। शरीर ने रहने से पुरुष को जीवात्मा और संसार में व्यापक होने से परमात्मा कहा गया है। न्याय में जो स्थान आत्मा को प्राप्त है सांख्य में वही स्थान पुरुष का है।

बुद्धितत्त्व

बुद्धितत्त्व का ही अपर नाम महत्तत्त्व है। इसको 'महत्' इसलिए कहा जाता है कि धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि सभी उत्कृष्ट (महान्) गुणों का उसमें आवास रहता है। किसी विषय के सम्बन्ध का निर्णय हम बुद्धि के द्वारा कर सकते हैं। उसमें सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है, किन्तु तम और रज उसमें तिरोहित रूप में रहते हैं। बुद्धि के साथ मन और अहंकार को मिलाकर अन्तःकरण की निष्पत्ति होती है। अन्तःकरण में उदित निश्चयात्मक वृत्ति का नाम ही बुद्धि है। बुद्धि का धर्म होता है अपने सहित दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करना।

बुद्धि के दो प्रकार हैं : सात्विक और तामसिक। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—सात्त्विक बुद्धि के गुण हैं और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य तामसिक बुद्धि के गुण हैं। बुद्धि, जीवात्मा के भोग का प्रधान साधन है। भोग और मुक्ति जो कि क्रमशः प्रकृति और पुरुष के स्वभाव हैं, बुद्धि के ही द्वारा प्रकाशित एवं प्राप्त होते हैं।

अहंकार

बुद्धितत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है, इसको पहले बताया जा चुका है। बुद्धि में जब 'मैं' और 'मेरी' यह अहंभाव पैदा होता है तब उसको 'अहंकार' कहा जाता है। बुद्धि में यह अहंभाव इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। पहले इन्द्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष होता है और तदनन्तर मन उनके स्वरूप को निर्धारित करता है। विषयों का स्वरूप निर्धारित होने के बाद नाना प्रकार के सांसारिक व्यवहारों में हमारी प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति हमारे भीतर 'मैं' और 'मेरा' इस अहंकार को जन्म देती है। यह अहंकार मनुष्य को मिथ्या भ्रम में डालता है।

अहंकार के प्रभेद

अहंकार तब पैदा होता है, जब बुद्धितत्त्व में अवस्थित रजोगुण प्रबल होता है। इसी कारण अहंकार को बुद्धि का विकार माना जाता है। क्योंकि बुद्धितत्त्व की भांति अहंकार में सत्त्व, रज और तम तीनों गुण वर्तमान रहते हैं, इसलिए सात्विक राजस और तामस, दृष्टि से अहंकार के तीन प्रभेद होते हैं। जिस अहंकार में सात्विक गुण की प्रधानता होती है उसे 'वैकृत', जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है उसे 'भूतादि' और जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है उसे 'तैजस' कहते हैं। सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों (पाँच इन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन) की उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राओं की सृष्टि होती है। राजस अहंकार शेष दोनों अहंकारों का सहायक होता है और वह उन्हें शक्ति प्रक्ति प्रदान करता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। उन्हें बुद्धीन्द्रिय भी कहा जाता है। इनके विषय हैं क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अहंकार का परिणाम हैं और पुरुष के निमित्त उनकी उत्पत्ति होती है।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ

वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा क्रमशः जो कार्य सम्पादित होते हैं उनके नाम हैं : वर्णोच्चारण, आदान, गमन, मलत्याग और सन्तानोत्पत्ति।

ये दसों इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से पैदा हुई हैं। आत्मा अर्थात् पुरुष इनका

अधिष्ठाता है । इद्रियाँ प्रत्यक्ष अवयवों में रहती हुई भी अप्रत्यक्ष रहती हैं । इसीलिए वे अनुमेय होती हैं ।

मन

मन उभया-मक इन्द्रिय है । ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने से वह ज्ञानेन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है और कर्मेन्द्रिय के साथ कार्य करते समय वह कर्मेन्द्रिय के समान हो जाता है । इसलिए मन वस्तुतः लोचदार इन्द्रिय है । संकल्प और विकल्प उसके विषय हैं, धर्म हैं, स्वरूप हैं । 'किसी कार्य को किया जाय या न किया जाय' इसको संकल्प-विकल्प कहते हैं, जो मन की क्रिया है ।

पाँच तन्मात्राएँ

'तन्मात्र' शब्द का अर्थ होता है '**तदेव इति तन्मात्रम्**'; अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये पाँच विषय हैं वे ही पाँच तन्मात्राएं हैं, किन्तु ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा तन्मात्राओं में कुछ विशेषता होती है, अन्यथा उनकी आवश्यकता को ज्ञानेन्द्रियाँ ही पूरा कर लेतीं ।

अहंकार में जो तामस अंश होता है उससे पाँच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है । वे तन्मात्राएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता । अनुमान के द्वारा ही उनको जाना जा सकता है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होते हैं; किन्तु वे स्थूल हैं । उनसे जो पाँच तन्मात्राएँ अभिव्यक्त हैं वे 'अविशेष' और सूक्ष्म हैं ।

पाँच महाभूत

सांख्य के पाँच महाभूत यद्यपि स्थूल हैं; किन्तु न्याय-वैशेषिक के महाभूतों से वे सूक्ष्म हैं; अर्थात् न्याय-वैशेषिक के ये परमाणु हैं । पाँच तन्मात्राओं को 'अविशेष' (सूक्ष्म) और पाँच महाभूतों को 'विशेष' (स्थूल) कहा गया है :

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥

पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों की स्वतन्त्र रूप से सृष्टि होती है । शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है जिसका गुण है कान से सुनना । स्पर्श तन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है शब्द । रूप तन्मात्रा से तेज (अग्नि) की उत्पत्ति होती है जिसका गुण है स्पर्श । रस तन्मात्रा से जल की अभिव्यक्ति होती है, जिसका गुण है रस । गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है गन्ध ।

सृष्टि के विकास की साभिप्रायता

सृष्टि का विकास केवल सैद्धान्तिक निर्वाह के लिए नहीं होता; बल्कि वह साभिप्राय होता है और उसका विशेष उद्देश्य होता है । प्रकृति से लेकर पाँच महाभूतों तक उत्पत्ति के जिस क्रम को ऊपर दिखाया गया है उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं :

प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग और तन्मात्रसर्ग या भौतिक सर्ग । प्रथम अवस्था में बुद्धि, अहंकार और एकादश इन्द्रियों का आविर्भाव होता है और दूसरी अवस्था में पंच तन्मात्राओं, पंच महाभूतों तथा उनके विकारों का आविर्भाव होता है ।

प्रमाण विचार

सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्त्वों का विवेचन किया जा चुका है । सांख्य के यही पदार्थ हैं । इन पच्चीस पदार्थों को प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति और न प्रकृति न विकृति—इन चार भागों में विभक्त किया जा चुका है । चार भागों में विभक्त इन पच्चीस तत्त्वों को स्वरूप की दृष्टि से 'अव्यक्त', 'व्यक्त' और 'ज्ञ', इन तीन वर्गों में रखा जा सकता है । इस कार्यरूप जगत् की उत्पादक 'प्रकृति' ही 'अव्यक्त' कहलाती है । महत्तत्त्व, अहंकार, पंच तन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रिय और पंच महाभूत, प्रकृति के ये तेईस विकार 'व्यक्त' पदार्थ कहलाते हैं । पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष या आत्मा है । उसको 'ज्ञ' कहा गया है ।

प्रकृति से लेकर पुरुष तक परिगणित उक्त पच्चीस पदार्थ या तत्त्व ही प्रमेय कहे जाते हैं । इन प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण के बिना नहीं हो सकती है । इसलिए सांख्य में प्रमाण-विचार की आवश्यकता हुई । सांख्य में तीन प्रकार के प्रमाण माने गये हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन (शब्द) । प्रमाण से जितने अवान्तर भेद अन्य दर्शनों में बताये गये हैं उनका समावेश सांख्यकारों ने इन तीनों के अन्तर्गत किया है ।

प्रमा

प्रमाण वस्तु क्या है, इसको जानने के लिए 'प्रमा' का जानना आवश्यक है । विषय के निश्चित ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं । जो वस्तु जैसी है उसको ठीक वैसी ही समझना प्रमा है । इसके विपरीत जो वस्तु जैसी नहीं है उसको भ्रमवश या अज्ञानवश कुछ दूसरी ही समझना 'अप्रमा' है । उदाहरण के लिए सीप को सीप समझना और सर्प को सर्प समझना 'प्रमा' है; और सीप को मोती समझना तथा सर्प को रज्जू समझना 'अप्रमा' कहते हैं ।

सांख्य दर्शन में बुद्धि आदि विषयों को जड़ माना गया है और पुरुष (आत्मा) को चैतन्य; किन्तु आत्मा को स्वतः विषयों का ज्ञान नहीं होता है । जब बुद्धि पर चैतन्य आत्मा का प्रकाश पड़ता है तब हमें उन विषयों का ज्ञान होता है । वस्तुओं के इसी यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं ।

प्रमाता और प्रमेय

प्रमाता और प्रमेय के बिना प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का विषय अधूरा रह जाता है । प्रमा का अस्तित्व एवं उपयोगिता प्रमाता तथा प्रमेय पर निर्भर है । ज्ञान के लिए चेतन पुरुष की आवश्यकता होती है । ज्ञान का आधार होता है विषय, जिसको

प्रमेय कहा जाता है। ज्ञाता (प्रमाज्ञा) और विषय (प्रमेय) के बिना ज्ञान (प्रमा) की कोई उपयोगिता एवं आवश्यकता ही नहीं है।

प्रमाण

प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा पुरुष को ज्ञान की उपलब्धि होती है। न्याय दर्शन में कहा गया है कि प्रमा का जो कारण है वही प्रमाण कहलाता है। प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, ये तीनों प्रमा के हेतु हैं। सांख्य के अनुसार बुद्धिवृत्ति के द्वारा जिस विषय का ज्ञान पुरुष को होता है उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

जो विषय आँखों के सामने है, इन्द्रियाँ जिसको प्रत्यक्ष देख रही हैं सामान्यतः वही 'प्रत्यक्ष' है। इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग (सन्निकर्ष) से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। उसको निर्विवाद और निरपेक्ष माना गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए हमें आँख, जीभ, नाक, त्वचा और कानों की आवश्यकता होती है।

न्याय, वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य का प्रत्यक्ष प्रमाण भिन्न है। सांख्य के मतानुसार बुद्धि, अहंकार और मन—इन तीनों अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रिय, जिसके विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान दृष्ट है, इन चारों का प्रयोजन होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण को जानने के लिए 'प्रतिबिम्बवाद' का जानना आवश्यक है। उससे प्रत्यक्ष ज्ञान की सारी प्रक्रिया सरलता से समझ में आ सकती है। जैसे दर्पण में दीपक का प्रतिविम्ब पड़कर उससे समीपस्थ अन्य वस्तुएँ आलोकित होती हैं उसी प्रकार सात्त्विक बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़कर उससे विषय प्रकाशित होते हैं; अर्थात् विषयों का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है : सविकल्प और निर्विकल्प। कोई वस्तु जव हमारे समक्ष आकार और प्रकार, दोनों रूपों में उपस्थित होती है, तब उस वस्तु का जो ज्ञान होता है उसको 'विकल्प' कहते हैं। इसमें मन के द्वारा विषय का विश्लेषण, संश्लेषण और रूप-निर्धारण होता है। 'निर्विकल्प' प्रत्यक्ष में केवल विषय की प्रतीति मात्र होती है, विषय के आकार-प्रकार की नहीं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में वस्तु अनाख्यात (अव्यक्त) और सविकल्प प्रत्यक्ष में वस्तु आख्यात (व्यक्त) होती है। यही इन दोनों में मौलिक अन्तर है। संक्षेप में कहा जाय तो घटपटादिविशिष्ट ज्ञान को 'सविकल्प' और संसर्ग से असंबद्ध ज्ञान को 'निर्विकल्प' कहते हैं।

अनुमान प्रमाण

सांख्य के और न्याय के अनुमान-विचार में विशेष अन्तर नहीं है। अनुमान कहते हैं पश्चात् ज्ञान के लिए। एक बात से दूसरी बात को जान लेना या एक बात को जान लेने के बाद दूसरी बात को जानना (अनुमितिकरण) ही 'अनुमान' कहलाता

है। धूम को देखकर अग्नि के होने का ज्ञान ही पश्चाद्ज्ञान है। इसलिए प्रत्यक्ष वस्तु के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु का निर्धारण करना ही 'अनुमान' कहलाता है।

अनुमान की सम्यक् जानकारी के लिए न्याय दर्शन के अनुमान खण्ड में लिंग, लिंगी, साध्य, साधन, पक्ष, व्याप्ति, पक्षधर्मता परामर्श और अनुमिति आदि पारिभाषिक शब्दों के आशय तथा अभिप्राय को जान लेना आवश्यक है।

सांख्य में अनुमान के प्रमुख दो भेद माने गये हैं : वीत और अवीत। जो अनुमान व्यापक विधिवाक्य पर आधारित रहता है वह 'वीत' और जो अनुमान व्यापक निषेधवाक्य पर अवलम्बित रहता है वह 'अवीत' कहलाता है। सांख्य का 'वीत' अनुमान दो प्रकार का माना गया है : पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। सांख्य का यही 'अवीत' अनुमान न्याय का 'शेषवत्' या 'परिशेष' कहलाता है। न्याय दर्शन के प्रसंग में पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्ट और शेषवत्, अनुमान के इन तीन अवान्तर भेदों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसलिए यहाँ उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

शब्द प्रमाण

सांख्य में प्रत्यक्ष और अनुमान नामक जो दो प्रमाण बताये गये हैं उनसे सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए जिन विषयों का ज्ञान उक्त दोनों प्रमाणों से नहीं हो सकता उनके ज्ञान के लिए सांख्यकारों को शब्द प्रमाण की योजना करनी पड़ी।

आप्त व्यक्ति का उपदेश ही शब्द प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष अनुभव से किसी विषय की जो जानकारी प्राप्त होती है उसे 'न्याय' की भाषा में 'आप्तत' कहते हैं। इस दृष्टि से आप्त व्यक्ति वह हुआ, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव से किसी पदार्थ का स्वयं साक्षात्कार किया हो। ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी कहता है वह माननीय और प्रामाणिक है।

सांख्य के मतानुसार शब्द दो प्रकार का होता है : लौकिक और वैदिक। इन्हीं को क्रमशः दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भी कहा जाता है। माननीय या विश्वासपात्र व्यक्तियों द्वारा कहे गये लौकिक शब्दों को सांख्य प्रामाणिक नहीं मानता, क्योंकि वे प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित होते हैं। इसके अतिरिक्त श्रुति या वेद के वाक्य शब्द प्रमाण की कोटि में आते हैं। इन वैदिक वाक्यों से हमें उन अगोचर विषयों का ज्ञान होता है जो प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित नहीं होते। ऐसे वाक्यों में वे त्रुटियाँ और दोष नहीं होते जो लौकिक वाक्यों में होते हैं। वे अभ्रान्त और स्वतः प्रमाण हैं।

मोक्ष या कैवल्य

पुरुष में चेतनत्व और अविषयत्व धर्म होते हैं। अतः ,वही द्रष्टा और साक्षी है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में वादी और प्रतिवादी, दोनों अपने विवाद का विषय साक्षी को दिखाते हैं उसी प्रकार प्रकृति के सभी कार्यों का साक्षी पुरुष होता है। पुरुष में सुख-दुःख और मोह, ये तीनों गुण नहीं होते हैं। इसलिए उसका मध्यस्थ होना भी

सिद्ध होता है। सुख से सुखी, दुःख से दुःखी और मोह से मोहाविष्ट होने वाला मध्यस्थ (उदासी) नहीं हो सकता है।

इस दृष्टि से प्रश्न यह होता है कि पुरुष यदि द्रष्टा, साक्षी और उदासीन है तो फिर कैवल्य का सम्बन्ध किससे है, अर्थात् मोक्ष किसको होता है?

कैवल्य का स्वरूप दर्शाते हुए ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में लिखा गया है कि त्रिगुणरहित होने से पुरुष का ही कैवल्य सूचित होता है (**अत्रैगुण्याच्च कैवल्यम्**)। कैवल्य नाम है दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति (**आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्**)। यहाँ यह शंका होती है कि यदि पुरुष त्रिगुणरहित है तो उसके लिए दुःखत्रयाभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका कारण प्रकृति-पुरुष का संयोग बताया गया है। पुरुष विवेकी होने के कारण कर्ता नहीं है। इसलिए चैतन्य, जो पुरुष का स्वभाव है और कृतित्व, जो प्रकृति का स्वभाव है, इस दृष्टि से वे दोनों अलग-अलग हैं। चैतन्य और कृतित्व का एक ही में आश्रित होना प्रकृति-पुरुष के संयोग के कारण प्रतीत होता है। वह भ्रम है, वास्तविक नहीं। प्रकृति-पुरुष के संयोग से ही यह भ्रमात्मक प्रतीति होती है।

प्रकृति पुरुष के संयोग का कारण

प्रकृति-पुरुष का यह संयोग अविद्या के कारण है, किन्तु अविद्या के अनादि होने से यह संयोग भी अनादि है। यह संयोग तब तक बना रहेगा, जब तक कि पुरुष में भोगवृत्ति बनी रहेगी। इस संयोग के अन्त के लिए ही कैवल्य की आवश्यकता होती है। कैवल्य की प्राप्ति विवेक से होती है। विवेक के द्वारा जब तक पुरुष, प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उससे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं करता तब तक कैवल्य की उपलब्धि संभव नहीं है।

किन्तु कैवल्य के लिए पुरुष को प्रकृति का संयोग आवश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति को पुरुष की आवश्यकता है उसी प्रकार कैवल्य प्राप्ति के लिए पुरुष को प्रकृति का संयोग आवश्यक है। किन्तु यह संयोग भोग-संयोग से सर्वथा भिन्न है (**अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते, इति युक्तम्**)। प्रकृति-पुरुष का एक प्रकार का संयोग तो यह है कि वह भोग के द्वारा प्रकृति की अभिव्यक्ति का माध्यम होकर प्रकृति का उपकार करता है; किन्तु भोग के द्वारा कृतकर्मों का क्षय (उपभोग) हो जाने के बाद पुरुष कैवल्य की ओर प्रवृत्त होता है। इस कैवल्यप्रवृत्ति में प्रकृति पुरुष की सहायता करती है। इसको प्रकृति-पुरुष का 'नव संयोग' कहा गया है (**यद्यपि तस्य हेतुविद्या, इति योगसूत्रेणानादिविपर्ययज्ञानवासनैव संयोगनिदानमभिहितं तथाप्यवान्तरं संयोग-प्रयोजकं परस्परोपकारमाह**।

प्रकृति-पुरुष के इस पारस्परिक उपकार को ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में 'अंध-पंगु-संयोग' कहा गया है। इस रूप में प्रकृति के साथ संयुक्त पुरुष अपने

दुःखादि त्रिविध परिणामों की निवृत्ति के लिए कैवल्य की इच्छा करता है। यह कैवल्य पुरुष को तब प्राप्त होता है जब वह प्रकृति से अलग अपने स्वरूप को पहचानता है।

ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में कहा गया है कि जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साधन है वही बुद्धिमानों का ज्ञातव्य विषय होता है। ऐसा तत्त्वज्ञान ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के साधनभूत विवेक (ज्ञान) का कारण है **(यो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थाय कल्पते, इति प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थ साधनहेतुत्वात्)**। इस विवेक (ज्ञान) के लिए शास्त्रजिज्ञासा का होना आवश्यक है और तभी विवेकबुद्धि पर छाये रहने वाले त्रिविध दुःखों को दूर करने की ओर प्रवृत्ति होती है।

त्रिविध दुःख

दुःख तीन प्रकार का है : आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। जीव से शरीर, मन में उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, द्वेष, मोह, राग, क्षुधा, संताप आदि शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ आध्यात्मिक, वाह्य भौतिक पदार्थों तथा प्राणियों से उत्पन्न होने वाले सर्पदंश, काँटा गड़ना, युद्ध आदि आधिभौतिक, और अग्नि, वायु, जल आदि दैवी शक्तियों के उत्पन्न होने वाले दुःख आधिदैविक कहलाते हैं।

दुःख जीव का स्वाभाविक नहीं नैमित्तिक गुण है ; दुःखनाश के कथन से ही प्रतीत होता है कि वह जीव से अलग है। जीव अल्पज्ञ है। उसका प्रकृति के साथ संयोग होता है और वह अपनी अल्पज्ञता तथा मिथ्याज्ञान के कारण बद्ध हो जाता है।

दुःख का कारण अविवेक है। प्रकृति का संयोग भी अविवेक से ही होता है। जीव की अल्पज्ञता ही उस अविवेक का कारण है। जिस प्रकार अंधकार के भ्रम से सीप को चाँदी या रज्जु को सर्प समझ लिया जाता है और प्रकाश के द्वारा वह भ्रम दूर हो जाता है उसी प्रकार अविवेक से उत्पन्न होने वाले बन्धन का उच्छेद, पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने से होता है। जीव में स्वाभाविक अल्पज्ञता के कारणी प्रकृति का विवेक नहीं रहता, जिसके कारण उसे प्राकृतिक पदार्थों में मिथ्याज्ञान की प्रतीति होती है और मिथ्याज्ञान से रागद्वेष, उनसे प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से बन्धन (त्रिविध दुःख) उत्पन्न होते हैं। जिस समय जीव में प्रकृति का मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है उस समय उसका प्रकृति के पदार्थों का अविवेक भी दूर हो जाता है और वह दुःखमय बन्धन से छूट जाता है।

दुःख का उपभोक्ता जीवात्मा है, क्योंकि वह चैतन्य है। जिस प्रकार किसानों द्वारा उत्पन्न अन्नादि का भोग राजा करता है, जैसे सेना की विजय या पराजय का सुख-दुःख राजा को होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा किये कर्मों का फल जीवात्मा को भोगना पड़ता है। चैतन्य जीवात्मा को अल्पज्ञता के कारण दुःख भोगना पड़ता है। इसी अल्पज्ञता के कारण जीव शरीरादि के विकारों को अपने में मानता हुआ सुख-दुःख का अनुभव करता है।

इस दुःखानुभूति को जीव योग, वैराग्य के द्वारा दूर करके मोक्ष का अधिकारी

बन सकता है। विवेक के साक्षात्कार से मुक्ति और विवेक का साक्षात्कार योग से किया जा सकता है।

ज्ञान के साधन

ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है; किन्तु तत्त्वज्ञान के साधन कौन हैं, उनका जानना आवश्यक है। विवेक-साधन से ही प्रकृति का भेद जाना जा सकता है। विवेक-साधन से विषयों का उसी प्रकार परित्याग हो जाता है, जैसे साँप पुरानी केंचुली को छोड़ देता है।

विवेक-साधन के लिये योग और वैराग्य आवश्यक है। विवेक एकाकी रह कर ही प्राप्त किया जाता है, दो होकर नहीं। उसके लिए आशाओं का परित्याग और मन का एकाग्र होना आवश्यक है। मन की एकाग्रता से समाधि में किसी प्रकार के विघ्न की आशंका नहीं रहती। शौच आदि आचार के नियमों का सम्यक् पालन भी आवश्यक है। तत्त्वज्ञान केवल उपदेश श्रवण से हो नहीं होता, बल्कि उसके लिए चिन्तन-मनन भी आवश्यक है। गुरु से नम्र बने रहना, सदा गुरु की सेवा में तत्पर रहना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और वेदाध्ययन के लिए नित्यप्रति गुरु के समीप जाना, विवेक-सिद्धि के लिए आवश्यक है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय और वेदों का अनुशीलन विवेकप्राप्ति के सर्वोच्च साधन हैं।

जीवनमुक्त

विवेकप्राप्ति के बाद जीव सशरीर रहते हुए भी मुक्त कहा जाता है। प्रश्न है कि शरीरधारी जीव को मुक्त कैसे कहा जा सकता है, इसका उत्तर दिया गया है कि जिस प्रकार कुम्हार दण्ड से एक बार चाक को घुमा देता है और बर्तनों के बन जाने के बाद भी बहुत समय तक वह चलता ही रहता है उसी प्रकार ज्ञान के प्राप्त हो जाने से यद्यपि फिर नये कर्म पैदा नहीं होते तथापि कर्मों के वेग से मुक्त जीव शरीर को धारण किये रहता है।

ईश्वर

ईश्वर के सम्बन्ध में सांख्यकारों के दो मत हैं। कुछ विचारक तो ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते और कुछ ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

जिन सांख्यकारों ने ईश्वर की कोई आवश्यकता न समझी उन्होंने ईश्वर के विरोध में जो तर्क दिये हैं उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :

ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता नहीं है

संसार में देखा जाता है कर्म कोई करता है और उसका फल कोई देता है। इस दृष्टि से इस कर्मप्रधान जगत् में कार्यों का अधिष्ठाता कोई अवश्य है, जो कि मनुष्य के कर्मों के अनुसार उसको फल देता है। इस पर सांख्यकारों का कहना है कि कर्मों का अधिष्ठाता ईश्वर नहीं हो सकता है। ईश्वर को नित्य, निर्विकार तथा अक्षर कहा गया है। अतः ऐसा ईश्वर कर्मों का फल देने वाला नहीं हो सकता है।

इस परिवर्तनशील जगत् का कारण भी कोई नित्य तथा परिणामी (परिवर्तनशील) ही होना चाहिए। वह प्रकृति ही हो सकती है।

प्रकृति की क्रियाशक्ति ईश्वर नहीं है

जो कि यह कहा जाता है कि जड़ प्रकृति में गति या क्रिया उत्पन्न करने के लिए कोई ऐसी अनन्तबुद्धि युक्त चेतन सत्ता होनी चाहिए, जो प्रकृति का संचालन कर सके। ऐसी व्यापक सत्ता ईश्वर की ही हो सकती है। इसके विपक्ष में ईश्वर-विरोधी सांख्यकारों का कथन है कि स्वयं ईश्वरवादियों ने ईश्वर को किसी क्रिया में प्रवृत्त होने वाली सत्ता नहीं माना है। इसके विपरीत प्रकृति के द्वारा सृष्टि का जो संचालन और नियमन होता है वह भी तो एक क्रिया ही है। इसलिए क्यों न प्रकृति को ही संचालक और नियामक माना जाय ?

ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है

यदि ईश्वर को प्रकृति का संचालक तथा नियामक मान भी लिया जाय तो ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि वह ऐसा करता क्यों है ? ईश्वर तो पूर्णकाम है। उसका अपना कोई भी अधूरा मनोरथ नहीं है। यदि यह कहा जाय कि जीवों के हितार्थ ईश्वर प्रकृति का संचालन करता है तो इस दृष्टि से ईश्वर सकाम सिद्ध होता है, क्योंकि 'हितार्थ' भी एक कामना ही है। यदि ईश्वर ऐसा करता भी है तो ईश्वर की बनायी हुई यह सृष्टि पापों तथा कष्टों से मुक्त होनी चाहिए और जिस जीव के हितार्थ सृष्टि की रचना की गयी है वह सुतरां आनन्दित तथा सुखी होना चाहिए, जैसा कि नहीं है।

सृष्टि की सिद्धि में ईश्वर नियतकारण भले ही हो, उपादानकारण नहीं है। यदि उसको उपादानकारण मानते हैं, अर्थात् यदि यह मानते हैं कि ईश्वर से संसार बना है तो जिस प्रकार परमेश्वर सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों को भी ऐश्वर्यों से सम्पन्न होना चाहिए; किन्तु ऐसा दिखायी नहीं देता।

जीवों में अमरत्व की भावना नहीं बनती

यदि ईश्वर को जगत् का कारण मान लिया जायगा तो जीवों में अमरत्व तथा मुक्ति के लिए जो भावना होती है वह नहीं होनी चाहिए थी। क्योंकि यदि जीवों को ईश्वर का अंश मान लिया जायगा तो उनमें भी ईश्वर का अमरत्व स्वीकार करना पड़ेगा।

जगत् का उपादान कारण प्रकृति है

जगत् का उपादान कारण ईश्वर न होकर प्रकृति है। इसीलिए 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में कहा गया है कि जो जन्मरहित और सत्त्व, रज तथा तम, इन तीन गुणों का स्वरूप प्रकृति है वही परिणामिनी (परिवर्तित) होकर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिणत हो जाती है **(अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः)**। इसके विपरीत ईश्वर अपरिणामी तथा असंग है और इसीलिए उसको आद्यशक्ति प्रकृति का योग नहीं हो सकता है।

वेदान्त का खण्डन

यदि कहा जाय कि अविद्या के योग से जगत् की उत्पत्ति होती है तो कहना पड़ेगा कि जगत् की उत्पत्ति के लिए ईश्वर को अविद्या की और अविद्या को ईश्वर को अपेक्षा होगी। इसके अतिरिक्त यदि अविद्या को विद्या का नाश करने वाली कहा जाय तो वह विद्यामय ब्रह्म का भी नाश करने वाली सिद्ध होगी। इस प्रकार ब्रह्म और अविद्या दो स्वतन्त्र तत्त्व मानने पड़ेंगे, जो कि अद्वैतवाद के विपरीत है।

इसलिए सांख्य की दृष्टि से अविद्या नाम की कोई वस्तु नहीं है। वह बुद्धि-तत्त्व की एक वृत्तिमात्र है।

ईश्वरवादी सांख्यकार

बाद के विज्ञानभिक्षु आदि कुछ सांख्यकारों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कुछ युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं। उनका कहना है कि यद्यपि ईश्वर ने प्रकृति के सहयोग से जगत् को उत्पन्न नहीं किया है; फिर भी ईश्वर का अस्तित्व हमें इसलिए स्वीकार करना चाहिये कि उसी की प्रेरणा से जड़ प्रकृति में क्रिया का उन्मेष होता है। प्रकृति और ईश्वर का लौह-चुम्बक जैसा सम्बन्ध है। जैसे चुम्बक के समीप रखे हुए जड़ लोहे में गति या क्रिया पैदा हो जाती है वैसे ही ईश्वर के सान्निध्य से प्रकृति में क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता प्रकृति की सत्ता से भी ऊँची है। वह ईश्वर पूर्णकाम, नित्य और जीवों में अन्तर्यामी होकर उनके कार्यों का साक्षी बना रहता है।

दोनों मतों के सांख्यकारों का ईश्वर के अस्तिव-अनस्तित्व-सम्बन्धी विचारों का यही आशय है। यद्यपि ईश्वर के विरोध में सांख्यकारों ने जो शंकाएँ तथा कारण प्रस्तुत किये हैं वे अधिक तर्कसंगत नहीं हैं; फिर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने वाले सांख्यकारों की युक्तियों की अपेक्षा वे अधिक स्थायी हैं।

योग दर्शन

* * * *

योग का तात्पर्य

वस्तुतः देखा जाय तो योग, योग दर्शन का ही विषय नहीं है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं उन सबका एक ही उद्देश्य है—भगवान् को पा लेना। यही भगवत्स्वरूप हो जाना ही 'योग' है। इसलिए अन्य दर्शनों का अध्येता विद्वान् योग दर्शन से उद्देश्य को सरलता से ग्रहण कर सकता है।

युज् धातु से करण और भाव में 'घञ्' प्रत्यय जोड़ देने से 'योग' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है समाधि। समाधि कहते हैं सम्यक् प्रकार से भगवान् में मिल जाना। यह जीव भगवान् से तब मिल सकता है, जब वह कामना, वासना, आशक्ति और संस्कारों का परित्याग कर दे। इसीलिए कहा गया है कि जीव और ब्रह्म के बीच जो स्वजातीय, विजातीय और स्वगत आदि भेद हैं उनका विमोचन करके एक हो जाना ही 'योग' है। हमारी वाणी, हमारे कार्य और हमारी सारी सत्ता जब उक्त दृष्टि से भगवन्मय हो जाती है उसी अवस्था को जीव-ब्रह्म का मिलन (योग) कहा जाता है।

यह योग (मिलन) भी दो प्रकार का है। एक योग तो वह है, जिसमें साधक अपने अस्तित्व को पूर्णतया खो देता है; जैसा कि शंकराचार्य का शुद्धाद्वैत। दूसरा योग है अपनी आंशिक सत्ता को भी बचाये रखना; जैसा कि रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

योग दर्शन के 'योग' शब्द का शंकर और रामानुज की अपेक्षा कुछ भिन्न अर्थ है। उसका आशय है चित्तवृत्ति का निरोध करके चित्त को वृत्तिशून्य करना और चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए जो भी उपाय किये जा सकते हैं उनको करना। अतः 'योग' शब्द का भाववाच्य में मुख्य अर्थ हुआ साधित भगवत् मिलन, और करणवाच्य में गौण अर्थ हुआ साधित भगवान् से मिलने के लिए समस्त साधन-प्रणाली को अपनाना।

'अमरकोश' में 'योग' शब्द के अनेक पर्यायवाची हैं। जैसे 'सन्नहन', 'उपाय', 'ध्यान', 'संगति' और 'युक्ति'। कवच पहनकर तथा हथियारों से सन्नद्ध होकर युद्ध

के लिए उद्यत हो जाना ही 'सन्नहन' योग है। आयुर्वेदशास्त्र में रोग को दूर करने के योग को 'उपाय' कहते हैं। मन को एकाग्र करके समाधि में बैठ जाना ही 'ध्यान' योग है। 'संगति' कहते हैं संगम, अर्थात् दो वस्तुओं के मिलन को। 'युक्ति' का अर्थ होता है उपाय तथा तर्क।

सामान्यतः कहा जा सकता है शरीर और चित्त की वह क्रिया या अभ्यास 'योग' है जिसके करने से कोई विशेष सिद्धि प्राप्त होती है।

योग मार्ग

वेदों के अध्येता विद्वान् जानते हैं कि सम्पूर्ण वेदमंत्र तीन काण्डों (भागों) में विभक्त हैं : कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म भाग में 'सुकौशल' योग, उपासना भाग में 'चित्तवृत्तिनिरोध' योग और ज्ञानभाग में 'जीवात्मा-परमात्मा-ऐक्य' का योग विवेचित है।

कर्म करते हुए कर्मबन्धन से छुटकारा पाना ही कर्मकाण्ड का उद्देश्य है। इसी प्रकार उपासना या साधना द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का निरोध करके परमात्मा के स्वरूप को समझना ही उपासना का लक्ष्य है। ज्ञानकाण्ड का लक्ष्य है अविद्याजनित अज्ञान को दूर कर आत्मज्ञान प्राप्त करके परमात्मा में समा जाना। यही वेदान्त है।

कर्म, उपासना और ज्ञान, मोक्षप्राप्ति के इन तीन भागों के सम्बन्ध में अनेक दर्शन अनेक तरह की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं, किन्तु योग की दृष्टि से उनका विवेचन सर्वथा पृथक् है।

सान्निध्य कहते है समीपता के लिए। ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना ही योग का चरम लक्ष्य है। इस सान्निध्य-प्राप्ति के जो साधन हैं उसको 'उपासना' कहते हैं। योग की सार्थकता ही इसमें है कि उपासक भगवानोन्मुख हो। यही 'उन्मुख' होना 'भक्ति' है। उपासना के जितने भी साधन हैं उनमें भक्ति और योग का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बना रहता है।

योग की चार साधनाएँ और भगवान् तक पहुँचने के लिए आठ सीढ़ियाँ हैं। योग के चार साधनों के नाम हैं : मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इसी प्रकार आठ सीढ़ियों के नाम हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

योग दर्शन का सार

योग दर्शन के व्यापक सिद्धान्तों को समझने से पूर्व उनका संक्षिप्त परिचय और उनका पारस्परिक समन्वय समझ लेना आवश्यक है।

आगे कहा जायगा कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। ये वृत्तियाँ पाँच हैं : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण भी तीन हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रमाण के इन अवान्तर भेदों का अन्य दर्शनों में विस्तार से विवेचन

किया जा चुका है। अन्य चार वृत्तियों में मिथ्याज्ञान का नाम 'विपर्यय'; ज्ञेय पदार्थ के सत्तारहित ज्ञान को 'विकल्प'; अभाव-प्रत्यय-अवलम्बित वृत्ति को 'निद्रा' और अनुभूत विषय का ध्यान ही 'स्मृति' है।

इन चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से होता है। चित्त को स्थिर, अविचल करने वाले प्रयत्न ही 'अभ्यास' और ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से विमुक्त हो जाना ही 'वैराग्य' है।

समाधि लाभ के लिए ईश्वर-प्रणिधान अवोश्यक है। पंचविध क्लेशों, कर्म, कर्मफल और आशय (वासनाओं) से दूर रहने वाला पुरुषविशेष ही योग का ईश्वर है। ईश्वर का प्रणिधान, उसके वाचक 'ओ३म्' का जप करने से होता है। जिन पाँच क्लेशों का ऊपर जिक्र किया गया है उनके नाम हैं: अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

योगाभ्यास के आठ अंगों का नाम है: यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच 'यम' हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये पाँच 'नियम' कहलाते हैं।

उद्देश्य

योग दर्शन का उद्देश्य है कि योग के द्वारा मनुष्य पंचविध क्लेशों और नानाविध कर्मफलों से विमुक्त होकर मोक्ष (कैवल्य) प्राप्त करे। योग दर्शन में चित्त की पाँच प्रवृत्तियाँ बतायी गयी हैं: क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र, जिनका नाम वहाँ 'चित्तभूमि' है। अन्त की दो चित्तभूमियों को वहाँ योग की सच्ची अधिकारिणी माना गया है। उनके लिए 'संप्रज्ञान', और 'असंप्रज्ञान' इन दो योगों का विधान बयाया गया है। 'असंप्रज्ञान' योग से पंचविध क्लेशों का विनाश हो जाता है और 'संप्रज्ञान' योग को सिद्ध करके साधक मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

योग दर्शन के अनुसार यह संसार दु:खमय है। जीवात्मा के मोक्ष का एकमात्र उपाय योग है। ईश्वर नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है।

योग दर्शन के इसी सारांश का आगे विस्तार से विवेचन किया गया है। योग दर्शन के तात्त्विक विश्लेषण से पहले उसके आचार्यों और उनकी कृतियों का परिचय जान लेना आवश्यक है।

योग दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

योग दर्शन के प्रवर्तक आचार्य पतंजलि हुए, जिन्होंने विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के योग-विषयक विचारों का संग्रह करके तथा उनको अपनी प्रतिभा से व्यवस्थित करके 'योगसूत्र' का निर्माण किया। 'योगसूत्र' के अध्ययन से स्वत: ही उसके निर्माता के असाधारण पाण्डित्य का परिचय मिल जाता है। ऐसा विशुद्ध, तर्कसम्मत,

गम्भीर और सर्वाङ्गीण ग्रन्थ संभवतः ही दूसरा हो। उसमें प्रतिपादित न्यायानुसारिणी लक्षण, युक्तिश्रृङ्खला तथा प्रांजल दृष्टिकोण बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से विवेचित हैं। प्राचीन भारत की दार्शनिक महिमा का दर्शन करने के लिए उसमें यथेष्ट सामग्री समन्वित है।

कुछ दिन पूर्व 'पातंजल योग दर्शन' के सम्बन्ध में जो असंगत अफवाहें प्रचारित की गयी थीं, जो प्रवाद चलाया गया था कि उसकी रचना ४५० ई० में हुई है, उनका खण्डन कर आधुनिक गवेषकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसकी रचना बौद्धयुग से पहले हो चुकी थी।

योग दर्शन पतंजलि की देन होने के कारण उनके 'योगसूत्र' को 'पातंजल दर्शन' भी कहा जाता है। पतंजलि का यह मूल-ग्रन्थ चार पादों (अध्यायों) में विभक्त है, जिनके नाम हैं : समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य। प्रथम समाधि पाद में योग का उद्देश्य, उसका लक्षण तथा उसके साधन वर्णित हैं; द्वितीय साधन पाद में क्लेश, कर्म एवं कर्मफलों का विवेचन है; तृतीय विभूति पाद मे योग के अंग, उनका परिणाम तथा अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के प्रकार वर्णित हैं; और चतुर्थ कैवल्य पाद में मोक्ष का विवेचन है।

पतंजलि के उक्त 'योगसूत्र' के अतिरिक्त योग-विषयक दूसरे विद्वानों के अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों का इतिहासकारों ने उल्लेख किया है, जो अप्रकाशित हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में जनक की 'योगप्रभा', अंगिरा का 'योगप्रदीप', कश्यप का 'योग-रत्नाकर', कौत्स का 'योगविलास', मरीच के 'योगसिद्धान्त', 'भोगविलास', संजय का 'प्रदर्शन योग', कौशिक का 'योगनिदर्शन' और सूर्य का 'योगमार्तण्ड' उल्लेखनीय हैं।

जिन ग्रन्थकारों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे सभी बहुत प्राचीनकाल में हुए। इससे हमें यह विदित होता है कि अन्य दर्शनों के समान ही योगदर्शन पर भी बहुत प्राचीन काल से विचार किया जाने लगा था और उसको एक स्वतंत्र शास्त्र की प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी।

फिर भी पतंजलि का 'योगसूत्र' ही हमारे समक्ष आज ऐसी कृति है, जिसको योग दर्शन का स्तम्भ कहा जाता है। 'योगसूत्र' पर सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य व्यास का माना जाता है। 'व्यास-भाष्य' के सम्बन्ध में डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शील का कथन है कि उसमें जिस दशमलव गणना का ज्ञान अंकित है, भारत में उसका आविष्कार-समय चौथी शताब्दी ई० है। इसके अतिरिक्त ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में 'व्यास-भाष्य' का कहीं भी उल्लेख नहीं है; जब कि इस प्रामाणिक एवं लोकप्रिय भाष्यग्रन्थ के उल्लेख का संवरण उसका परवर्ती कोई भी दार्शनिक न कर सका। ईश्वरकृष्ण का स्थितिकाल ४०० ई० निश्चित है। अतः 'व्यासभाष्य' के निर्माण का समय इससे भी पहले का होना चाहिए।

इसी 'व्यास-भाष्य' के आधार पर महाराज भोज ने 'योगसूत्र' पर 'भोज-वृत्ति' लिखी।

तदनन्तर 'व्यास-भाष्य' पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' और विज्ञान-भिक्षु का 'योगवार्तिक' इस परम्परा के प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक ग्रंथ हैं।

हठयोग, योगदर्शन की ही एक शाखा है, जिस पर लिखे गये प्राचीन ग्रन्थों में 'शिवसंहिता' का नाम उल्लेखनीय है। हठयोग के विख्यात आचार्य मच्छंदर नाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) हुए और उनके शिष्य गोरखनाथ, जिन्होंने नाथ संप्रदाय की प्रतिष्ठा कर हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया।

योगसूत्र

पतंजलि का 'योगसूत्र' जैसा कि संकेत किया जा चुका है, चार पादों में विभक्त है : समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद।

पहले समाधिपाद में प्रस्तावना के अनन्तर योग की परिभाषा, चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय और समाधि के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

दूसरे साधनपाद में चित्त की स्थिरता के लिए अंतरंग और बहिरंग साधनों का निरूपण किया गया है। योग के अंतरंग साधनों के नाम हैं : धारणा, ध्यान तथा समाधि और बहिरंग साधनों के नाम हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार।

तीसरे विभूतिपाद में अन्तरंग साधनों के अवान्तर फल और अनेक प्रकार की सिद्धियों का विवेचन है। वहाँ बताया गया है कि धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनों का सम्मिलित नाम 'संयम' है। जन्मान्तर का ज्ञान, भूत-भविष्य का ज्ञान और अन्तर्धान आदि अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन करके इस पाद को समाप्त कर दिया गया है।

चौथे कैवल्यपाद में जन्म, औषधि आदि पाँच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन और उपासना के द्वारा समाधिरूप फल की प्राप्ति के बाद प्रकृति तथा पुरुष का भेद बताया गया है। प्रकृति तथा पुरुष के भेद का ज्ञान प्राप्त करने की अवस्था को ही मोक्ष कहा गया है, जब कि दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है।

सांख्य और योग का सम्बन्ध

सांख्य शब्द का अर्थ होता है गिनानेवाला। कपिल के 'सांख्यसूत्र' में पच्चीस तत्त्वों को गिनाया गया है। इसीलिए इस तत्त्वविशिष्ट दर्शन को 'सांख्य' कहा गया : **संख्या कृतमिति सांख्यम्**। 'सांख्यसूत्र' में हमें जो सिद्धान्त देखने को मिलते हैं वे वेदों, उपनिषदों और 'गीता' में भी बिखरे हुए हैं। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन की प्राचीनता निर्विवाद है। जिस युग के सांख्य को स्वतंत्र दर्शन की कोटि में मान्यता प्राप्त हुई उस युग में उक्त पूर्ववर्ती प्राचीन सिद्धान्तों या विचारों को एक सूत्र में पिरोकर यह कहा गया कि समस्त कर्मों से संन्यास लेकर ब्रह्मज्ञान में निमग्न हो जाना ही जीव का लक्ष्य

है। इसी को 'सांख्य योग', 'ज्ञानयोग' या 'संन्यासयोग' कहा गया है। यह वही अवस्था है, जिसको उपनिषद् में कहा गया है :

भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसंशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

सांख्य और योग, दोनों समान विद्याएँ हैं। 'गीता' में कहा भी गया है कि सांख्य और योग का अलग-अलग जानना अविवेक है, पाण्डित्य नहीं :

'सांख्ययोगो पृथग्बाला, प्रवदन्ति न पण्डिताः'

योग दर्शन को वस्तुतः कपिल के सांख्य दर्शन का परिशिष्ट कहा जाना चाहिए। उसको 'उत्तर सांख्य' कहा जाय तो अनुचित न होगा। कपिल ने जिन पच्चीस तत्त्वों का विवेचन किया है, योग दर्शन भी उन्हीं को मानता है। निरीश्वर-वादी सांख्य से योग की एक ही बात में भिन्नता है। उसमें 'ईश्वर' नामक छब्बीसवाँ तत्त्व माना गया है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से सांख्य और योग दोनों परिणामवादी दर्शन हैं, जिनके अनुसार न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। योग दर्शन के अनुसार पुरुष (ईश्वर) में ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म आदि कोई भी गुण नहीं रहते हैं, वे प्रकृति में रहते हैं। अनादिकाल से प्रकृति के साथ पुरुष का तादात्म्य भ्रम चला आ रहा है। यही भ्रम जीव के बन्धन का कारण है। विवेक द्वारा जीव को जब इस भेद का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी वह मुक्तिलाभ करता है। मुक्तावस्था की वृत्ति अनन्तकाल तक निरुद्ध रहती है। जितने भी प्रारब्ध कर्म हैं वे मुक्त हो जाते हैं और जितने भी संचित कर्म हैं वे ज्ञान से दग्ध हो जाते हैं। आगे वे होते ही नहीं हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पुरुष सदैव ही अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित रहता है। इसी को योग में मोक्ष कहा गया है।

सांख्य दर्शन के मतानुसार विवेक या ज्ञान को मुक्ति का साधन बताया गया है। योग की मोक्षावस्था भी ज्ञानमूलक है; किन्तु उसका यह ज्ञान या विवेकसिद्धान्त, सांख्य के विवेकसिद्धान्त की अपेक्षा कुछ स्थूल है।

फिर भी, दोनों दर्शनों की कुछ सैद्धान्तिक भिन्नता के फलस्वरूप यह मानने में तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि सांख्यदर्शन के जो सूक्ष्म सिद्धान्त हैं उनको व्यावहारिक जीवन में परिणत करने का कार्य योग दर्शन ने ही किया है।

दोनों दर्शन-सम्प्रदायों की समानता का यह सिद्धान्त अतर्क्य है। उनकी इस वास्तविकता को खण्डित नहीं किया जा सकता है। इन दोनों दर्शनों के परवर्ती ग्रन्थ-कारों ने अपनी कृतियों के लिए एक-दूसरे के भावों को ग्रहण करके तथा एक साथ ही दोनों दर्शनों के विचार ग्रथित करके दोनों दर्शनों के सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट कर दिया है।

चित्तवृत्तियों के निरोध का उद्देश्य

विश्व के प्रायः समस्त देशों के साहित्य में अध्यात्मविद्या का विशेष महत्त्व माना गया है। अध्यात्मविद्या का एक अंग, जिसे यहाँ हम योग कह रहे हैं, उस पर

अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। क्योंकि व्यावहारिक तथा भौतिक दृष्टि से भी योग की उपयोगिता है। इसलिए पश्चिम के आधुनिक विद्वान् आज भी उस पर गवेषणा कर रहे हैं।

भारतीय योग दर्शन के आचार्य पतंजलि का कथन है कि 'चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है' (**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**)। इसलिए पतंजलि के योग-विषयक दृष्टिकोण को जानने के लिए चित्तवृत्तियाँ और उनके निरोध के तरीकों का जानना आवश्यक है। किन्तु पतंजलि योग के इस दृष्टिकोण को समझने से पूर्व यह जिज्ञासा होती है कि चित्तवृत्तियों और उनका निरोध जानने की आवश्यकता क्यों हुई ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें योग की तात्त्विक भूमि में प्रवेश करना होगा।

जैसा कि आगे विस्तार से बताया जायगा, योग के तीन तत्त्व हैं : ईश्वर, जीव और प्रकृति। इन तीन तत्त्वों में 'जीव' वह तत्त्व है, जिसके कार्यों में सहायता करने तथा जिसके उपायों को बताने के लिए योग दर्शन के निर्माण की आवश्यकता हुई।

प्रकृति में सत्; जीव में सत्, चित् और ईश्वर में आनन्द के सहित ये तीनों एक साथ विद्यमान रहते हैं। इसीलिए तो उसे 'सच्चिदानन्द' कहा गया है। इन तीन तत्त्वों का परिचय प्राप्त करने के अनन्तर यह प्रश्न उठता है कि सत्-चित्-स्वरूप जीव को अपने कर्तृत्व का उद्देश्य प्रकृति को बनाना चाहिए या ईश्वर को ? प्रकृति का गुण सत् है, जीव का सत्-चित् और ईश्वर में इस त्रिगुणत्व में जिस आनन्द का निवास है वह न तो प्रकृति को प्राप्त है और न जीव को ही। इसलिए जीव का अन्तिम लक्ष्य सत्स्वरूप प्रकृति से न होकर आनन्दस्वरूप ब्रह्म से है। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि जीव का उद्देश्य ईश्वर से है।

जीव के स्वाभाविक गुण हैं ज्ञान और कर्म (प्रयत्न)। ये गुण बाहरी भी हैं और भीतरी भी। जब जीव बाहरी गुणों या स्वभावों में लिप्त रहता है तब उसे 'बहिर्मुखी वृत्ति' और जब भीतरी स्वभावों में निमग्न रहता है तब उसको 'अन्तर्मुखी वृत्ति' कहा जाता है।

पतंजलि का योग हमें यह बताता है कि संसार को तथा उसकी प्रत्येक वस्तु को इस ढंग से उपयोग में लाना चाहिए, जिससे अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो और उसी के द्वारा जीव को, अन्तिम लक्ष्य, ईश्वर प्राप्ति भी, सिद्ध हो।

इस संसार से उक्त दोनों लक्ष्यों की सिद्धि के लिए ही पतंजलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध का विधान किया है। जब तक चित्त एकाग्र रहता है तब तक समस्त चित्तवृत्तियाँ अपने-अपने कार्यों में तल्लीन रहती हैं। इस एकाग्रता से हमारी आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति मजबूत होती है, उनमें कार्यक्षमता तथा सामर्थ्य आती है। किन्तु आत्मा के अन्त स्वरूप को पहचानने तथा पाने के लिए उस समय हमारा यह कर्तव्य होता है कि हम इन बाहरी चित्तवृत्तियों पर लगाम लगाकर उन्हें भीतर की ओर प्रवृत्त करें। जब ये बाहरी वृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं तब अपने-आप

भीतरी वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। क्योंकि इस चित्त का एक किनारा तो बुद्धि से और दूसरा आत्मा से जुड़ा हुआ है। इन बाहरी और भीतरी वृत्तियों में भी विरोध नहीं है। ऐसा नहीं है कि बाहरी वृत्तियों का निरोध करने से भीतरी वृत्तियाँ साधक के विपरीत हो जायें।

चित्त की जितनी भी भली-बुरी वृत्तियाँ हैं उनका समावेश प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (आप्तोपदेश), मिथ्याज्ञान, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अन्तर्गत हो जाता है।

पातंजल योगदर्शन का एकमात्र यही उद्देश्य है कि निरोध के द्वारा आत्मा की बाहरी वृत्तियों को बन्द करके आत्मा की भीतरी वृत्ति को जगा दिया जाय। जब आत्मा की यह भीतरी वृत्ति जग जाती है तब साधक को कुछ करने के लिए शेष नहीं रह जाता है। उसी को योगावस्था, सान्निध्यावस्था, कैवल्यावस्था और परमानन्द की अवस्था कहा जाता है।

समाधि का स्वरूप और उसके भेद

समाधि का स्वरूप

सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों, आशाओं, अभिलाषाओं और तितिक्षाओं से मन को शून्य (विमुख) कर देना ही 'समाधि' है। ऐसी समाधिस्थ अवस्था में मन अचंचल हो जाता है और जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद मिट जाता है। यह परमात्मा 'प्रत्यक् चैतन्य' या 'परम अहम्' कहा जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा को 'बाह्य प्रपंच' या 'क्षुद्र अहम्' कहा गया है। जीवात्मा में यह परम अहम्, क्षुद्र अहम् से ढका रहता है। ऐसा तब होता है जब मनुष्य में देहाभिमान और बौद्धिक बल का प्राबल्य होता है। यह देहभिमान और बौद्धिक प्रक्रिया जब विध्वस्त हो जाती है तब जीवात्मा में 'क्षुद्र अहम्' का आवरण छिन्न होकर 'परम अहम्' का उदय होता है। इसी परमोच्च स्थिति को पाने के लिए समाधि की आवश्यकता होती है।

वेद, उपनिषद् और दर्शन आदि विद्याओं का शास्त्रों में 'समाधि' की अनेक तरह से व्याख्या की गयी है; किन्तु उन सबकी व्याख्याओं का एक ही अन्तिम लक्ष्य है : जीवात्मा की परमात्मा के साथ एकता। इसीलिए 'समाधि' को ज्ञान का उदय, मन के संकल्पों की क्रिया का विनाशक और चित्तवृत्तियों को विस्मरण कर देने वाली कहा गया है।

समाधि के भेद

पातंजल के योग दर्शन में समाधि के दो भेद बताये गये हैं : संप्रज्ञात और असप्रज्ञात। उनमें भी संप्रज्ञात समाधि के चार अवान्तर भेद किये गये हैं, जिनके नाम हैं : वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

वितर्कानुगम : आकाशादि पंचभूतों और शब्दादि पचतत्त्वों से सम्बन्धित समाधि का नाम ही 'वितर्कानुयोग' है। उसके भी दो भेद हैं : 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क'। (१) सवितर्क वितर्कानुयोग समाधि का अपरनाम 'सविकल्प' भी है। ग्रहण

करने योग्य जो आकाशादि स्थूल पदार्थ हैं उनमें शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से चित्तवृत्ति को निर्मल करके साधक जब अपने स्वरूप-ज्ञान को भुलाकर ध्येयज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है तब उसको 'निर्वितर्क' समाधि कहते हैं। इस समाधि में विकल्पों का अभाव होने के कारण इसको निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं।

विचारानुगम : पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहकार, प्रकृति और दस इन्द्रियों में होने वाली समाधि का नाम 'विचारानुगम' है। उसके इन सूक्ष्म विषयों की सीमा इन्द्रिय से लेकर अलिंग (प्रकृति) पर्यन्त है। (**सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्**) इस समाधि के भी दो अवान्तर भेद हैं : 'सविचार' और 'निर्विचार'।

आनन्दानुगम : अन्तःकरण की निर्मलता से उत्पन्न होने वाले जो हर्ष, आमोद, आह्लाद आदि प्रवृत्तियाँ हैं उनमें धारण की जाने वाली समाधि को 'आनन्दानुयोग' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है, 'वितर्क' और 'विचार' दोनों जड़ (दृश्य) पदार्थों में और 'आनन्द' समाधि का क्षेत्र जड़ तथा चेतन (आत्मा) दोनों में है।

अस्मितानुगम : पुरुष (चेतन) और बुद्धि की एक रूपात्मकता प्रतीत होना ही 'अस्मिता' है। (**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता**)। अतः बुद्धिवृत्ति और पुरुष की चेतनशक्ति के रूप में जिस एकात्मप्रतीतभाव से समाधि की जाती है उसी का नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है। इस समाधि के आश्रय से पुरुष और प्रकृति के स्वरूपों का अलग-अलग ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। जब पुरुष-प्रकृति का भेद मिट जाता है तभी से पदार्थों के ज्ञातृत्व का बोध होता है। उसके बाद साधक स्पष्ट ही कैवल्यावस्था को प्राप्त करता है।

असंप्रज्ञात : संप्रज्ञात समाधि के जो अनेक तरीके (भेद) ऊपर बताये गये हैं उनसे आन्तरिक तथा बाह्य पदार्थों की वास्तविकता का बोध हो जाता है। जब उनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब सभी विषयों से चित्त का सम्बन्ध छूट जाता है। यही परम योग की अन्तिम अवस्था 'असंप्रज्ञात' समाधि है। इस अन्तिम अवस्था पर पहुँचकर योगी इस विषयापन्न संसार से अपना नाता तोड़ लेता है और मुक्तावस्था का आनन्द प्राप्त करता है। जीवन की इस चरम पुरुषार्थ की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर पुरुष दुःख-दैन्य से छुटकारा पा लेता है।

कैवल्य की प्राप्ति में समाधि का योग

यह जो दृश्यमान चराचर जगत् है उसका एकमात्र कारण या नियन्ता चेतन ब्रह्म है, जिसके दो रूप हैं : व्यक्त और अव्यक्त। उसका अव्यक्त रूप ही व्यक्त जगत् को अनुप्राणित करता है। वह व्यक्त रूप इन्द्रियगोचर है और उसी का अपर नाम 'वाह्य प्रपंच' है। उसका अव्यक्त रूप अतीन्द्रिय है और उसी को 'प्रत्यक् चैतन्य' कहा गया है। 'वाह्य प्रपंच परिणामी' (परिवर्तनशील) होता है, जबकि 'प्रत्यक् चैतन्य' अपरिणामी (नित्य) होता है।

दूध में मक्खन की भाँति बाह्य प्रपंच और प्रयक् चैतन्य का सम्बन्ध है। दूध के अणु-अणु में मक्खन व्याप्त है; किन्तु जब तक उसको मथा नहीं जाता तब तक हम

उससे व्यक्त रूप में विद्यमान मक्खन को नहीं देख पाते हैं। समाधि एक प्रकार की मथानी है। जब तक समाधि का आश्रय नहीं लिया जाता तब तक वाह्य प्रपंच और सम्यक् चैतन्य का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। यह समाधि क्या है? इन्द्रियों को निगृहीत करना और मन के समस्त संकल्पों को शून्य कर लेना ही समाधि है। निरुद्ध मन से ही परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। उस समाधिस्थ अवस्था में समस्त इन्द्रिय-व्यापार निश्चेष्ट एवं निरपेक्ष्य हो जाते हैं और इसीलिए सारा वाह्य प्रपंच तिरोहित। जब इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और समस्त वाह्य प्रपंच तिरोहित हो जाता है तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है। अतः कैवल्य की प्राप्ति में समाधि का सहयोग सर्वोपरि है।

योग के आठ अंग

पहले भी कहा गया है कि इस चंचल चित्त को एकाग्र करना ही 'योग' है। जिन तरीकों से उसको एकाग्र किया जाता है उन्हें ही 'अष्टांगयोग' कहा गया है। ये आठों अंग ऐसे परस्पर जुड़े हुए हैं कि उन सबकी सर्वाङ्गीण सिद्धि के बिना योगविद्या का महान् उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस महान् उद्देश्य, अर्थात् योगदर्शन में जिनको 'सिद्धियाँ' कहा गया है, को प्राप्त करने के लिए जिन आठों अंगों का विधान बताया गया है उनके नाम हैं: १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम' ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। इनमें से प्रथम पाँच वहिरंग और अन्तिम तीन अंतरंग योग कहलाते हैं। 'योगसूत्र' (३।४) में इन अंतरंग तीन योगों को 'संयम' कहा गया है, क्योंकि उनके प्रयोग से ही यह मन-मानस संयमित होकर सिद्धि का अधिकारी बनता है।

बहिरंग साधन

१. यम: सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सम्मिलित नाम ही **'यम'** है।

किसी भी प्राणी को मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना ही 'अहिंसा' है। हित की कामना से कपटरहित अन्तःकरण के द्वारा किया गया प्रिय शब्दों का प्रयोग ही 'सत्य' है। मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार का किसी दूसरे व्यक्ति के अधिकार का अपहरण न करना ही 'अस्तेय' है। मन, वचन और इन्द्रिय के काम-विकारों का सर्वथा परित्याग करना ही 'ब्रह्मचर्य' है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श आदि किसी भी भोग-सामग्री का संचय न करना ही 'अपरिग्रह' कहलाता है।

इस पंचावयव यम को 'सार्वभौम महाव्रत' कहा जाता है। किसी देश, काल तथा जीव के साथ व किसी भी उद्देश्य से हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि का आचरण न करना तथा परिग्रह (आसक्ति) से विलग रहना ही **'सार्वभौम महाव्रत'** है।

२. **नियम :** पवित्रता, संतोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान में एक-चित्त रहना ही 'नियम' है।

बाह्य व्यवहार तथा आचरण से सात्विक पदार्थों को पवित्रतापूर्वक आचरण करना और ममता, राग, द्वेष आदि भीतरी अवगुणों का परित्याग करना ही 'पवित्रता' है। सुख-दुःख, लाभ-हानि की स्थितियों में भी सर्वदा प्रसन्नचित्त बने रहना ही 'संतोष' है। मन तथा इन्द्रियों के निग्रह के लिए जो धर्माचरण और व्रत किये जाते हैं उन्हीं को 'तप' कहते हैं। कल्याणकारी शास्त्रों में प्रवृत्ति और एकान्त मन से इष्ट-देव का गुणानुवाद ही 'स्वाध्याय' है। मन, वचन और कर्म से ईश्वर की भक्ति करने का नाम ही 'ईश्वरप्रणिधान' है।

इनके विपरीत हिंसा, द्वेष, दुःख और अज्ञानादि की जनक प्रवृत्तियों को बार-म्बार अपनाना, उनसे लगाव रखना ही 'प्रतिपक्षभावना' कहलाती है। हिंसा का आश्रय लेना, भोग पदार्थों का संग्रह करना, असंतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर के प्रति बुरे विचार लाना ही वितर्क है।

उक्त हिंसादियों को स्वयं करने का नाम 'कृत', दूसरों के द्वारा कराने का नाम 'कारित' और दूसरों के द्वारा किये जाने पर उनका समर्थन करना 'अनुमोदन' कहलाता है। क्रोध, लोभ और मोह इनके हेतु होते हैं। इस दृष्टि से इनके लगभग २७ भेद हो जाते हैं, जिनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

३. **आसन :** आसन अनेक प्रकार के होते हैं, किंतु आत्मसंयमी के लिए सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तकासन, ये तीन आसन बताये गये हैं। प्रत्येक आसन का प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि मेरुदण्ड, मस्तक तथा ग्रीवा सीधे रहें और दृष्टि नासिकाग्र भाग पर या भृकुटि पर अवस्थित रहे। जिस आसन से सुखपूर्वक अधिक से अधिक समय तक अवस्थित रहा जा सके वही 'आसन' है (**स्थिरसुखमासनम्**)।

मन की प्रकृत उत्कंठाओं के नाश करने और मन को परमेश्वर में लगा देने से ही आसन की सिद्धि होती है।

४. **प्राणायाम :** 'योगसूत्र' में लिखा है कि आसन की सिद्धि हो जाने के बाद श्वासप्रश्वास की गति का विच्छिन्न हो जाना ही 'प्राणायाम' है। बाहरी वायु का अन्तः प्रवेश ही 'श्वास' और भीतरी वायु का बहिर्गमन ही 'प्रश्वास' है। इन दोनों को जब रोक लिया जाता है तभी प्राणायाम की सिद्धि होती है। बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भ, इनके तीन प्रभेद हैं।

प्राणों (स्वास-प्रश्वासों) के अवरोध से मन संयमित होता है। प्राणायाम की सिद्धि हो जाने पर जीव में पाप तथा अज्ञान का नाश होकर पुण्य तथा विवेक का उदय होता है। तभी मन में स्थिरता और उसमें धारणाओं का ग्रहण करने की योग्यता आती (**धारणासु च योग्यता मनसः**)।

५. **प्रत्याहार :** इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का परित्याग कर चित्त में अवस्थित हो जाने का नाम ही 'प्रत्याहार' है (**स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार**

इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः)। इन्द्रियों द्वारा विषयों का साथ छोड़ने के कारण साधक वाह्यज्ञान से विरत हो जाता है। इन्द्रियों को अपने वश में कर लेने के बाद साधक 'प्रत्याहार' की स्थिति में स्वयं पहुँच जाता है।

योग के उक्त पाँच अंग वाह्य समाधि से सम्वन्धित हैं।

अंतरंग साधन

योग के आठ अंगों की भूमिका में कहा जा चुका है कि उनमें तीन अंतरंग और पाँच वहिरंग साधन होते हैं। आदि के अन्तरंग साधनों का वर्णन किया जा चुका है। अन्त के तीन वहिरंग साधनों में 'धारणा' का पहला स्थान है।

६. **धारणा** : 'योगसूत्र' (३।१) में कहा गया है कि चित्त की किसी एक देश में स्थिर कर देने का नाम ही 'धारणा' है (**देशवन्धाश्चित्तस्य धारणा**)। स्थूल हो, सूक्ष्म हो, भीतर हो, बाहर हो, किसी भी एक ध्येय में चित को एकनिष्ठ कर देना ही 'धारणा' है।

७. **ध्यान** : ध्यान का धारणा से अभिन्न सम्बन्ध है। 'धारणा' के प्रसंग में जिस ध्येय वस्तु का उल्लेख किया गया है उसी में चित्तवृत्ति की एकाग्रता को, तैलधारा या गंगा-प्रवाह की भाँति, अविच्छिन्न रूप से अनवरत रूप में लगाये रखना ही 'ध्यान' है। व्यावहारिक दृष्टि से ध्यान का जो आशय ग्रहण किया जाता है, योग की दृष्टि उससे भिन्न नहीं है।

८. **समाधि** : जिस समय केवल ध्येय वस्तु ही आभासित होती है और अपने स्वरूप का ज्ञान भी नहीं रहता उस समय वही ध्यान 'समाधि' कहलाता है। ध्यान में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय तीनों वस्तुओं का अस्तित्व बना रहता है। किन्तु समाधि में उनका अन्तर मिटकर वे एकाकार हो जाती हैं।

यह समाधि दो प्रकार की है 'निर्वितर्क' और 'निर्विचार'। पहली समाधि स्थूल पदार्थों में और दूसरी सूक्ष्म पदार्थों में होती है। ये पदार्थ भौतिक भी हैं और आध्यात्मिक भी। सांसारिक पदार्थों की समाधि सांसारिक दृष्टि से और आध्यात्मिक पदार्थों की समाधि आध्यात्मिक दृष्टि से फलप्रद है। मुक्ति के इच्छुक साधक को आध्यात्मिक पदार्थों में समाधि लाभ करना चाहिए। तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार योग दर्शन के ये आठ अंग साधक की सदगति के कारण हैं। इनके सम्यक् अनुष्ठान से पाप का विनाश, ज्ञान का उदय और विवेक की प्राप्ति होती है (**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**)। यही इनका प्रयोजन है।

भूतविजय और सिद्धियों का स्वरूप

भूतविजय

योग की आठ सिद्धियों का निरूपण एवं उनके प्रयोजन का स्वरूप प्रतिपादन करने से पूर्व भूतविजयी (योगी) के स्वरूप का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

भूतविजय और उक्त आठ सिद्धियों का ऐसा सम्बन्ध है कि उनकी योजना की सार्थकता के लिए हमें पहले भूतविजय को जानना आवश्यक हो जाता है।

पतंजलि के सूत्र-ग्रन्थ में कहा गया है कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थतत्त्व, इन पाँच अवस्थाओं में संयम प्रयोग करने से ही 'भूतविजय' का रहस्य स्पष्ट हो सकता है (**स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थावत्त्वसंयमाद् भूतविजयः**)।

नामरूपात्मक वस्तु को ही 'स्थूल' कहते हैं; जैसे घट-पट। मृत्तिका उपादान 'स्वरूप' के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। गन्ध आदि तन्मात्राएँ 'सूक्ष्म' हैं। प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति, ये तीनों गुण 'अन्वय' कहे जाते हैं, जो सभी पदार्थों में अवस्थित रहते हैं। आत्मा का भोगापवर्ग लीलाविलास ही 'अर्थवत्त्व' कहलाता है।

प्रत्येक दृश्य वस्तु के ये पाँच रूप हैं। क्रमशः इन पाँचों रूपों में संयम-प्रयोग करना ही 'भूतविजय' कहलाता है। इनके संयम-प्रयोग से इनके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस क्रिया में जब योगी प्रवृत्त होता है, तब वस्तुओं के पाँचों रूप, एक के बाद दूसरा, दृष्टिपथ में आ जाता है। उदाहरण के लिए नाम-रूपात्मक घट में संयम-प्रयोग करने से उसका स्वरूप उपादान (पृथ्वी), गन्ध आदि तन्मात्राएँ सत्त्वादिगुण और उसकी लीलाविलासमात्र जो अज्ञातावस्था है, स्वयमेव साधक के समक्ष खुल जाती है।

इन भूतों के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान से यह होता है कि उनके प्रति साधक के हृदय में जो आसक्ति, विरक्ति और ग्लानि आदि है वह सदा के लिए मिट जाती है। उसी को भूतविजयी या योगी कहते हैं।

इन भूतादियों से सम्बन्ध स्थापित करके जब तक हमें यह ज्ञान नहीं हो जाता कि वे स्वप्न में देखे गये पदार्थों की भाँति असत्य एवं निरर्थक हैं और उनसे अनुराग-विराग करके चित्त को व्यर्थ में नहीं भरमाना चाहिए; तब तक हम भूत-विजयी (योगी) नहीं कहे जा सकते। एक वास्तविक योगी को यह सारा जगत् स्वप्नमय लगता है और इसलिए संसार की समृद्धि और विनाश, दोनों से वह विचलित नहीं होता।

उक्त पंच महाभूतों का जो स्वरूप दिखाया गया है वह वाह्य है। उसके पाँच ही आभ्यान्तर रूप भी हैं। जब बाह्य रूपों पर योगी विजय प्राप्त कर लेता है तब आभ्यन्तर रूप भी उसके वंशवद हो जाते हैं। यही 'भूतविजय' का योगावस्था है।

सिद्धियाँ

भूतविजय के प्रतिपादन के बाद अगला सूत्र, सिद्धियों का स्वरूप प्रस्तुत करता है। वहाँ बताया गया है कि भूतविजय के बाद ही सिद्धियों (विभूतियों) का प्रादुर्भाव होता है (**ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्माभिघातश्च**)। इन आठ सिद्धियों या विभूतियों के नाम हैं: अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और यत्रकामावसायित्व। इन आठ सिद्धियों का प्रयोजन करने में चमत्कार पैदा करना न होकर, योगाभ्यास में निरत रहकर मुक्तिलाभ प्राप्त करना है। यह

मुक्तिलाभ, सिद्धियों पर विजय करना नहीं, बल्कि योगी के लिए मुक्ति तक पहुँचाने का उपाय है। इन सिद्धियों को योगी के लिए इस हेतु आवश्यक बताया गया है कि वह आत्मदर्शन करके अन्तिम ध्येय मोक्ष को प्राप्त कर सके।

१. **अणिमा** : 'अणु' शब्द से 'अणिमा' सिद्धिनिष्पन्न हुई है। किसी भी वस्तु के अत्यन्त सूक्ष्म हिस्से को 'अणु' कहते हैं। उसका उपयुक्त पर्यायवाची शब्द है सूक्ष्म। स्थूल देह की अपेक्षा, इंद्रिय सूक्ष्म हैं, उनसे मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से आत्मा सूक्ष्म है। सूक्ष्म की पराकाष्ठा आत्मा में समाप्त हो जाती है। इसलिए 'मैं' जो आत्मा का वाची है, 'अणिमा' कहलाती है। 'मैं ही वह सूक्ष्म हूँ, मुझमें ही वह परम सूक्ष्म निहित है और अभिन्नसत्तास्वरूप में ही वह सूक्ष्म है'; इस प्रकार की प्रत्यक्ष अनुभूति का नाम ही 'अणिमा' है। वह मुक्ति की सन्निहित अवस्था है। उसको प्राप्त करने के लिए शास्त्र और उपदेश तो उपयोगी हैं ही, उनमें भी साधना सर्वोपरि है।

२. **लघिमा** : 'लघु' शब्द से 'लघिमा' सिद्धि निष्पन्न हुई है। लघु कहते हैं हलके को; जैसे पक्षी के रोयें और रुई के रेशे। लघुत्व का यह बोध जब उस पराकाष्ठा को पहुँच जाता है कि उससे लघु कुछ हो ही नहीं सकता, उसी स्थिति का नाम 'लघिमा' है। यह लघिमा आत्मा में विद्यमान है। 'परम लघु मुझमें ही नित्य निवास करता है' यह प्रत्यक्ष अनुभव ही 'लघिमा' विभूति कहलाती है।

३. **महिमा** : महत्त्व की जो पराकाष्ठा है, अर्थात् जिससे महत् कुछ हो ही नहीं सकता है उसे 'महिमा' कहते हैं। यह महत्तत्त्व देश-काल की अपेक्षा भी महत्तर है। यह तो आत्मा के प्रकाश में प्रकाशित और आत्मा की सत्ता से सत्तावान् है। इसलिए आत्मा ही महतत्त्व कहलाता है। परम महत्त्व एकमात्र आत्मा में ही नित्य विद्यमान रहता है, उसी का नाम 'महिमा' है। महिमा, परमात्मा का ही अपर नाम है। 'मैं ही वह परम महिमा हूँ, मुझमें ही वह परम महत् विराजमान है' इस प्रत्यक्ष अनुभव को ही 'महिमा' विभूति कहा जाता है।

४. **प्राप्ति** : सब तरह के पदार्थों की सुलभता का नाम ही 'प्राप्ति' है। 'मैं सत्स्वरूप हूँ और जहाँ भी जिस वस्तु का अस्तित्व है वहाँ-वहाँ मैं ही व्याप्त हूँ', यह प्रत्यक्षानुभव ही 'प्राप्ति' विभूति है। भूतजयी (योगी) के अतिरिक्त इस 'प्राप्ति' विभूति के अभाव में सारे मनुष्य क्लेश का अनुभव करते हैं।

५. **प्राकाम्य** : इसका अर्थ है इच्छा का अनभिघात् (संकल्पसिद्धि)। जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय का अधीश्वर है, जो आत्मा में 'मैं' रूप से विद्यमान है उसी को इच्छाशक्ति कहते हैं। इस इच्छाशक्ति का अनुवर्तन करने अर्थात् ईश्वर प्रणिधान करने के बाद फिर इच्छा नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती है। जो छोटी-छोटी अगणित इच्छाएँ हैं वे उस महती इच्छा में मिल जाती हैं, जिससे योगी के मन में किसी भी इच्छा या कामना का उदय नहीं होता है। यही 'प्राकाम्य' विभूति का आशय है।

६. **वशित्व** : 'वश' कहते हैं 'अधीन' को। भूत और भौतिक रूप में यह जो कुछ भी प्रकाशित हो रहा है वह सब आत्मा से प्रकाशित है। 'मैं आश्रय तथा आधार

हूँ; यह सब-कुछ आश्रित तथा आधेय है' इसी प्रत्यक्षानुभूति को 'वशित्व' विभूति कहा जाता है।

७. ईशित्व : जितनी भी स्थूल, सूक्ष्म आदि विभिन्न वस्तुएँ हैं उनको स्वयं में सुनियोजित करना ही 'ईशित्व' है। 'मैं ही इस स्थूल, सूक्ष्म आदि जागतिक तथा पारमार्थिक वस्तुओं का नियन्ता हूँ, इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर मेरा शासन है' इस प्रकार की प्रत्यक्षानुभूति को 'ईशित्व' कहते हैं।

८. **यत्र कामावसायित्व** : जितनी भी मनोभिलाषाएँ हैं उनका सर्वथा अन्त हो जाना ही '**यत्र कामावसायित्व**' है। यह वह विभूति है जिसकी प्राप्ति में कहा गया है '**पूर्णकामोऽस्मि संवृतः**' मेरी सभी कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं। इसलिए जिस सिद्धि या विभूति के बाद साधक यह प्रत्यक्षानुभव करता है कि 'मैं पूर्ण काम हो गया हूँ, अब मेरे लिए कुछ भी करना शेष नहीं है, मुझे आत्मा के दर्शन हो गये हैं' यह आत्मज्ञान की अवस्था ही 'यत्र कामावसायित्व' है।

सिद्धियों का लक्ष्य

भूतविजय के प्रसंग में स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व, इन पाँच भूत-स्वभावों का उल्लेख किया गया है। उनके स्थूल स्वभाव में संयम करने से अणिमा, लघिमा, महिमा और प्राप्ति ये चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार 'स्वरूप' में संयम करने से 'प्राकाम्य', सूक्ष्म में संयम करने से 'वशित्व' और 'अन्वय' में संयम करने से 'कामावसायित्व' सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इन सिद्धियों का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य है परमेश्वर की प्राप्ति में साधक को सहायता देना। इन सिद्धियों के प्रयोग से योगी लोग भूत-भौतिक पदार्थों का अपनी इच्छानुसार उपयोग अवश्य कर सकते हैं, किन्तु उनके वे उपयोग यदि ईश्वर-विमुख हुए तो उनका वास्तविक प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह कि सिद्धावस्था को प्राप्त योगी को भी यह अधिकार और योग्यता प्राप्त नहीं है कि यह प्रकृत स्वरूप में अवस्थित ईश्वरेच्छा के अनुरूप संसार के मूल प्रवाह को रोक दे।

इसलिए यह सिद्ध है कि विभूतियों का सदुपयोग ही साधक को कैवल्य तक पहुँचाने में सहायता करता है।

मोक्ष का स्वरूप

योग दर्शन के अनुसार मोक्ष का स्वरूप जानने के लिए चित्त, जगत् और आत्मा के स्वरूपों एवं सम्बन्धों पर विचार करना अपेक्षित है। चित्त और जगत् में क्या भिन्नता है और चित्त तथा आत्मा का क्या सम्बन्ध है, इन तात्त्विक बातों को जाने बिना मोक्ष का स्वरूप नहीं जाना जा सकता है।

चित्त और जगत्

जगत्, जगत् के पदार्थ और चित्त के सम्बन्ध में प्राचीन दर्शन-सम्प्रदायों में

बड़ा विवाद रहा है। बौद्धों का अभिमत है कि जगत् और जागतिक पदार्थों की स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं। वे चित्त से प्रसूत हैं। वेदान्तियों का कहना है कि जगत् की सृष्टि मन से हुई और वह मन में ही लीन हो जाता है।

आचार्य धर्मकीर्ति की युक्ति है कि बुद्धि (ज्ञान) से कोई भी अनुभाव्य पदार्थ भिन्न नहीं है। अर्थात् ग्राहक से ग्राह्य भिन्न नहीं है, केवल बुद्धि (ज्ञान) ही स्वयं प्रकाशित है। जिस ज्ञान (बुद्धि) से जो पदार्थ जाना जाता या ग्रहण किया जाता है उस ग्राहक ज्ञान से वह ग्राह्य पदार्थ भिन्न नहीं है। उदाहरण के लिए आत्मा की जानकारी ज्ञान से होती है। अतः ज्ञान, आत्मा से भिन्न नहीं है। बौद्धों का यह भी कथन है कि यह संसार कल्पित है, चित्त ने इसकी रचना की है।

चित्त और जगत् सम्बन्धी इस प्रकार के विरोधी विचारों का योग दर्शन में बड़ा ही युक्ति-युक्त उत्तर दिया गया है, और वह भी व्यावहारिक दृष्टि से सबको समझने योग्य भाषा में। पतंजलि ने कहा है कि यदि यह जगत् मनः कल्पित है तो एक ही वस्तु में अनेक ज्ञानों तथा अनुभूतियों का क्या कारण हो सकता है? उदाहरण के लिए धर्मात्मा व्यक्ति जिस कार्य को सुखकारक समझता है, पापात्मा व्यक्ति उसी कार्य को दुःखकारक क्यों समझता है? इसी भाँति मूढ़ उसकी उपेक्षा क्यों कर देता है?

इन युक्तियों एवं सदैव दृष्टि में आने वाले तथ्यों से ज्ञात होता है कि ज्ञान और पदार्थों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न है। उन दोनों में बड़ा अन्तर है। यदि हम इस जगत् को कल्पित मानते हैं तो हमारे व्यवहारों में इसकी प्रत्यक्षानुभूति होनी चाहिए कि देवदत्त के मन में जिस कल्पना का उदय हुआ है, वही कल्पना उसी रूप में यज्ञदत्त आदि के मन में भी उदित हो। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः पदार्थ और ज्ञान, दोनों भिन्न हैं, मन से इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई है और जो ये दृश्यमान पदार्थ हैं ये स्वप्नवत् नहीं हैं।

विज्ञानवादी बौद्धों और दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्तियों के समक्ष योग दर्शन के आचार्यों ने जगत् और जागतिक पदार्थों की वस्तुस्थिति जानने के लिए बड़ी ही सुन्दर युक्ति प्रस्तुत की है। व्यास के 'योगभाष्य' में कहा गया है कि जब हमारे समक्ष कोई वस्तु उपस्थित होती है तो हम एक ही काल में उस वस्तु के सारे अंगों को नहीं देख पाते। उदाहरण के लिए हम पहले घट का बाहरी और तब भीतर तथा नीचे का भाग देखते हैं। इसके अतिरिक्त यदि चित्त और अन्य जागतिक पदार्थों को अलग-अलग न माना जायगा तो घटज्ञान से पटज्ञान का हो जाना भी सम्भव होगा।

इसलिए लोक-व्यवहार की दृष्टि से भी यह सिद्ध होता है कि घटज्ञान और पटज्ञान की भाँति ही चित्त और जगत् भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार मन से बाह्य पदार्थों की सृष्टि नहीं हुई है; बल्कि बाह्य जगत् और उसके घट-पटादि पदार्थों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है।

चित्त और आत्मा

बौद्धों के मतानुसार चित्त या बुद्धि ही सत्तावान् है। उसी की प्रेरणा से जगत् का सारा कार्य-व्यापार संचालित होता है। इसके अतिरिक्त आत्मा नामक वस्तु का कोई अस्तित्व है ही नहीं। योग दर्शन में, बौद्धों के उक्त मत के विरुद्ध, चित्त से आत्मा को भिन्न माना गया है और यह स्थिर किया गया है कि केवल चित्त (बुद्धि) से ही कार्य नहीं चल सकता है। चित्त की वृत्तियों का भोक्ता एवं ज्ञाता पुरुष (आत्मा) है, क्योंकि वह अपरिणामी है और इसलिए चित्त के परिणामों का साक्षी तथा विभु भी है (**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्**)। इस मन्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्त (बुद्धि) में परिणाम (परिवर्तन) होते हैं, आत्मा में नहीं। चित्त ज्ञेय हैं,आत्मा ज्ञाता। चित्त, आत्मा के अधीन है,आत्मा उसका अधिष्ठाता या स्वामी है।

क्योंकि चित्त परिणामी पदार्थ है। अतः वह जड़ और अनित्य है। जड़ और अनित्य होने से वह स्वभावतः ज्ञेय है; और इसीलिए उसको स्वभावतः ज्ञाता आत्मा की आवश्यकता होती है। चित्त में जब भी जो परिणाम होते हैं उनको आत्मा जानता रहता है।

किन्तु बौद्ध दार्शनिक चित्त को परिणामी स्वीकार करते हुए भी यह नहीं मानते कि उसके परिणामों का साक्षी आत्मा है। उनका कथन है कि जड़ होते हुए भी चित्त स्वप्रकाश हो सकता है। जैसे जड़ अग्नि घटादि दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित करती है और स्वयं को भी। किन्तु आचार्य पतञ्जलि के मतानुसार घटादि पदार्थों की भाँति चित्त भी पर-प्रकाश्य है। वह दृश्य है। अग्नि जो जड़ है, दूसरे घटादि पदार्थों को तथा स्वयं को प्रकाशित करती हुई भी यह नहीं जानती है कि वह प्रकाश कर रही है। इसलिए प्रकाशक अग्नि में ज्ञान न होने के कारण उसको भी द्रष्टा (आत्मा) की आवश्यकता होती है।

अतः आत्मा की चित्त से पृथक् एवं परमोच्च सत्ता है। आत्मा, चित्त (बुद्धि) का अधिष्ठाता या स्वामी है।

इस प्रकार चित्त और जगत् तथा चित्त और आत्मा की सत्ता एवं वास्तविकता को जानने के बाद ही मोक्ष का स्वरूप जाना जा सकता है।

जितने भी दर्शन-सम्प्रदाय हैं उन सब का एक ही अन्तिम ध्येय है : दुःख और बन्धन से छुटकारा पाना। इसी बात को महर्षि गौतम ने कहा है '**तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः**' अर्थात् दुःख की सर्वथा निवृत्ति ही मोक्ष (अपवर्ग) है। न्याय दर्शन का यह 'अपवर्ग' शब्द बड़ा ही प्रभावोत्पादक एवं युक्तियों के द्वारा परीक्षित है। वेदान्त में मोक्ष की परिभाषा करते हुए दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को तो स्वीकार किया गया है, किन्तु वहाँ परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है। वेदान्तियों की इस परिभाषा के विपक्ष में नैयायिकों का कथन है कि दुःखनिवृत्ति तो यत्नसाध्य (पुरुषार्थ-साध्य) है; किन्तु आनन्द प्राप्ति नहीं। वह तो आत्मा को स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसके लिए अलग से चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं होती है।

बौद्धों के अनुसार 'निर्वाण' ही मोक्ष है। वहाँ 'निर्वाण' को दुःखनिवृत्ति का पर्याय नहीं माना गया है; बल्कि उसका आशय है 'बुझ जाना'। 'बुझ जाना' अर्थात् शून्य हो जाना। शून्यवादी बौद्धों का यही निर्वाण, मोक्ष है। परिणामवादी जैनों का आत्मा, शरीर-परिमाण का होता है।

योग दर्शन के वरिष्ठ आचार्य पतंजलि का मोक्ष-विषयक सिद्धान्त कुछ भिन्न है। पतंजलि ने 'मोक्ष' के लिए 'कैवल्य' शब्द का प्रयोग किया है। कैवल्य अर्थात् 'केवल उसी का होना'। अर्थात् आत्मा अपने-आप में अवस्थित हो, किसी के साथ उसका कोई सम्बन्ध न हो। इसीलिए 'कैवल्य' शब्द न तो 'मोक्ष' शब्द की अविकल अनुकृति है और न 'अपवर्ग' शब्द की ही।

पतंजलि ने आत्मा-सम्बन्धी अनेक दर्शनों की उक्त मान्यताओं का खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि आत्मा परिणामशून्य तथा सचेतन है। उन्होंने लिखा है 'पुरुष को भोग तथा अपवर्ग प्राप्त करने के बाद मन और बुद्धि का जो अपने कारण में लीन हो जाना है, अर्थात् चेतनशक्ति (आत्मा) का अपने प्रकृत स्वरूप में अवस्थित हो जाना है, वहीं मोक्ष है' (**पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति**)।

योग के अनुसार गुणों में कार्य-कारण-भाव उत्पन्न होकर कार्यक्षमता आ जाती है। ये गुण जब अपवर्ग प्राप्त कराने में प्रवृत्त होते हैं तब अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं। व्युत्थान-निरोध संस्कारों का मन में, मन का अस्मिता में, अस्मिता का बुद्धि में और बुद्धि का अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाने की सिद्धि को ही 'कैवल्य' कहा गया है। तदनन्तर सम्पूर्ण योग समाप्त हो जाते हैं और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। आत्मा में इनका सम्बन्ध बने रहना ही तो 'बन्धन' है और इनका सम्बन्ध विच्छेद हो जाना ही 'कैवल्य' है।

महर्षि पतंजलि के 'कैवल्य' में परमानन्दप्राप्ति और ब्रह्मसाक्षात्कार आदि अन्य दर्शन-मान्यताओं पर कोई विचार नहीं किया गया है। पतंजलि ने बिना किसी करण या करण की क्रिया के, आत्मा के स्वरूप की स्थिति को 'कैवल्य' कहा है। इस प्रकार के कैवल्य में दुःखात्यन्तिकनिवृत्ति और परमानन्दप्राप्ति का स्वतः अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए कैवल्य में केवल चेतनारूप स्थिति होती है। पतंजलि का यह कैवल्य जड़ भाव नहीं है, बल्कि प्रकाशरूप है। जैसे दीपक अपने आप को तथा अपने आस-पास के घटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है वैसे ही कैवल्य की स्थिति है।

योग दर्शन के अनुसार यही मोक्ष का स्वरूप है।

ईश्वर

सभी दर्शनों की भाँति योग दर्शन में भी अपने ढंग से ईश्वर के स्वरूप को सिद्ध किया गया। 'योग' की परिभाषा में बताया गया है कि जिस अवस्था में परमेश्वर की सत्ता, चैतन्य और आनन्द, ये तीनों स्वतः ही हमारी वाणी, हमारे भाव

तथा कर्मों के द्वारा प्रकट हो जायँ, अर्थात् परमेश्वर की इच्छा पूरी करने के अतिरिक्त हमारे जीवन का दूसरा लक्ष्य ही न रह जाय, जीव और परमेश्वर की उसी सान्निध्य अवस्था का नाम 'योग' है। इस परिभाषा के अनुसार योग दर्शन में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान ज्ञात होता है।

किन्तु इस दृष्टि से यदि हम पतंजलि के 'योगसूत्र' के उस प्रसंग को देखते हैं; जहाँ ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है, तो हमें ज्ञात होता है कि वहाँ ईश्वर का, सैद्धान्तिक दृष्टि की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टि से मूल्य आँका गया है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि 'व्यासभाष्य' और उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए नयी युक्तियाँ भी दी हैं।

ईश्वर का स्वरूप

पतंजलि के 'योगसूत्र' (समाधिपाद २३) में कहा गया है कि ईश्वरप्रणिधान से ही समाधि आसन्न (सिद्ध) होती है। प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष। हृदय में परमेश्वर का अनुभव करके अपना सब कुछ उसी पर निछावर करने के लिए तैयार रहना ही भक्ति है। इस भक्तिविशेष (प्रणिधान) के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर का लक्षण देते हुए अगले सूत्र में कहा गया है : '**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**' अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है। अविद्यादि ही क्लेश है, पाप-पुण्य ही कर्म है, कर्मों का फल ही विपाक है और उस फल (विपाक) से पैदा हुई वासनाएँ ही आशय हैं। इन सबसे जो अपरामृष्ट (अप्रभावित) है उसी को योग में ईश्वर कहा गया है। ईश्वर अनादि, युक्त और ऐश्वर्यशाली है। ईश्वर के ऐश्वर्य के समान दूसरा ऐश्वर्य है ही नहीं।

ईश्वर में सर्वज्ञबीज निरतिशयता है; अर्थात् उससे अधिक गुणसम्पन्न कोई नहीं है। जो निर्माण की इच्छा लिये ज्ञान-संपन्न होकर प्राणियों पर अनुग्रह करता है वही ईश्वर है। उसका वाचक प्रणव (ओम्) है। 'कठोपनिषद' में कहा गया है कि 'ओम्' अक्षर है; अर्थात् कभी न नाश होने वाला ब्रह्म है, वही परब्रह्म है। उसके ज्ञान से उपासक जिस पदार्थ की इच्छा करता है उसको वह प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार योग का ईश्वर एक शब्दमयी भावना है। उस भावना का स्मरण किये बिना ईश्वर का बोध नहीं हो सकता है। ईश्वर के सम्बन्ध में जो समस्त शब्दमय चिन्तन है उसी को 'ओम्' शब्द के द्वारा कहा गया है। इस शब्द का यथार्थ संकेत याद आने से ईश्वर-विषयक भाव मन में प्रकाशित होते हैं। जब 'ओम्' शब्द के उच्चारण से मन में 'ईश्वर' शब्द का अर्थ भली-भाँति प्रकाशित हो जाय तब प्रणिधान की सफलता समझनी चाहिए।

निर्विचार एवं निर्वितर्क अर्थात् शब्दशून्य भाव से भी ईश्वर का स्मरण किया जा सकता है; किन्तु व्यापक-ब्रह्म की भावना शब्दों के बिना संभव नहीं है। वाह्य-भाव से ईश्वर का चिन्तन करने के लिए ईश्वर को सगुण तथा साकार मानना आवश्यक है।

ईश्वरप्रणिधान

ईश्वरप्रणिधान को समाधि का सर्वोच्च साधन माना गया है, क्योंकि ईश्वर केवल ध्यान मात्र का विषय नहीं, वरन् वह महाप्रभु है, जिसकी कृपा से उपासक के सब पाप दूर हो उसका मार्ग सुगम भी हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान, अर्थात् भक्ति विशेष ईश्वर की परम कृपाओं को प्राप्त किया जा सकता है। प्रिय जन के स्मरण करने से जिस प्रकार हृदय को सुख होता है और हृदय में उसको बार-बार स्मरण करने की इच्छा होती है, उसी प्रकार ईश्वर के स्मरण से भी जब हृदय को सुख और उस सुख को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए ईश्वर का बार-बार चिंतन करने की उत्सुकता होती है तभी ईश्वरप्रणिधान (भक्ति) की सफलता है। प्रियजन के स्थान पर ईश्वर को रखकर उसका चिंतन करने से भी भक्तिभावना को उत्तरोत्तर बढ़ाया जा सकता है। ऐसे भक्त को परमपिता परमेश्वर की सर्वोच्च विभूति हृदय की शुद्धता और बुद्धि का प्रकाश मिलता है।

भक्तिभाव से उस प्रत्यक् (चेतन) का साक्षात्कार होता है और व्याधि, प्रमाद, अकर्मण्यता, संसार, आलस्य, तृष्णा और विपर्यय ज्ञान आदि जितने अन्तराय हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। प्रत्यक् कहते हैं पुरुष या चेतन को। केवल पुरुष कहने से बद्ध, मुक्त पुरुष का बोध होता है। प्रत्यक् चेतन से विशिष्ट का बोध होता है। आत्मा को 'प्रत्यक् चेतन' कहते हैं। दृष्टि को अन्तर्मुखी करके आत्मा में ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। इसको 'स्वरूपाधिगम' कहते हैं, अर्थात् अपने ही रूप में ईश्वर को पा लेना।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए योग दर्शन के आचार्यों ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनका निष्कर्ष इस प्रकार है: १—वेद और उपनिषदों में ईश्वर की अनादि सत्ता को स्वीकार किया गया है और उसको प्राप्त करना जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। इसलिए श्रुतिसम्मत होने से ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है। २—जिस वस्तु का परिमाण मात्रा के द्वारा जाना जाता है उसकी अल्पतम और अधिकतम, दो सीमाएँ होती हैं। संसार में जो अल्पतम परिमाण देखने में आते हैं उन्हें 'अणु' और जो अधिकतम परिमाण देखने में आते हैं उन्हें 'आकाश' कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञान और शक्ति की भी सीमाएँ होती हैं। सर्वाधिक ज्ञान और सर्वाधिक शक्ति जिस पुरुष में हो वही परम पुरुष ईश्वर है। इस दृष्टि से भी ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है। ३—प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है और उनके विच्छेद के प्रलय। प्रकृति-पुरुष, दोनों अलग-अलग तत्त्व हैं। इसलिए बिना किसी मध्यस्थ के न तो दोनों का मिलन संभव है न विछोह ही। यह मध्यस्थ ही प्रकृति-पुरुष के संयोग-वियोग का निमित्तकारण है और क्योंकि वह जीवों के अदृष्ट के

अनुसार ही संसार को रचना तथा संहार करता है अतः वह सर्वज्ञ होना चाहिये । ऐसा सर्वज्ञ, ईश्वर ही हो सकता है । अतः ईश्वर की सत्ता प्रमाणित है ।

इस तरह से योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया गया है । किन्तु उसको जिन प्रमाणों से समर्थित किया गया है उनसे योगदर्शन का ईश्वर हमें किसी महत्त्वपूर्ण पद का अधिष्ठाता नहीं दिखायी देता । सांख्य में जो स्थान विवेक को दिया गया है वही स्थान योग में ईश्वर को दिया गया है ।

—Beloved Sant Kumāril Bhattarak—

मीमांसा दर्शन

* * * *

नामकरण

महर्षि जैमिनि ने विधिरूप अर्थ को धर्म कहा है **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** । जब तक धर्म का ज्ञान नहीं होता तब तक विधि को ठीक-ठीक नहीं पहचाना जा सकता है। धर्म के समुचित ज्ञान के लिए ही जैमिनि ने अपने दर्शन में विधि की मीमांसा की है। इसीलिए जैमिनि के दर्शन का नाम 'मीमांसा दर्शन' पड़ा।

मीमांसा का विषय

मीमांसा दर्शन का विषय है वैदिक विधि-निषेधों का आशय समझाना, उनकी पारस्परिक संगति बैठाना और युक्तियों के द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन करना।

श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक विषयों के धर्म-ग्रन्थों से विदित है कि धर्माचरण से ही इच्छित फल की प्राप्ति होती है। यह इच्छित फल लौकिक भी हो सकता है और परलौकिक भी। इस इच्छित फल की उपलब्धि तभी संभव है, जब हम धर्म का वास्तविक स्वरूप जान लें।

जैमिनि के मीमांसा दर्शन का पहला सूत्र है **'अथातो धर्मजिज्ञासा'**। अर्थात् जन्म-जन्मान्तर के इच्छित कार्यों की उपलब्धि और नानाविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के अनन्तर परमानन्द की प्राप्ति जिस धर्म के द्वारा सुलभ होती है ऐसे धर्म को जानने की अभिलाषा का होना स्वाभाविक ही है। विधि-विधान-पूर्वक जिस कर्म को करने से जन्मांतर में परमानन्द की प्राप्ति हो उस वेद प्रतिपाद्य विधिवत् कर्म का अनुष्ठान ही धर्म है। संक्षेप में मीमांसा दर्शन का विषय यही है।

मीमांसा दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

महर्षि जैमिनि

मीमांसा दर्शन के आदि आचार्य महर्षि जैमिनि हुए। उनके ग्रन्थ का नाम 'मीमांसासूत्र' है। इस सूत्रग्रन्थ का निर्माण विक्रम के लगभग ५०० वर्ष पहले हो चुका था।

महर्षि जैमिनि ने अपने 'मीमांसासूत्र' में भगवान् बादरायण व्यास का अनेक बार उल्लेख किया है। ऐसे स्थलों की व्याख्या करते हुए शबर स्वामी ने लिखा है कि महर्षि जैमिनि ने भगवान् बादरायण को प्रामाणिक आचार्य के रूप में पूजाभाव से स्मरण किया है। उधर बादरायण व्यास के 'ब्रह्मसूत्र' में लगभग तीन बार जैमिनि का उल्लेख किया गया है और एक स्थल पर तो बादरायण ने जैमिनि के मत को प्रमाण रूप में भी उद्धृत किया है। इस पारस्परिक सम्मान और सद्भाव के होते हुए भी इन दोनों महर्षियों ने अनेक स्थलों पर एक-दूसरे के मतों की आलोचना भी की है।

ऐसी स्थिति में यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि इन दोनों में कौन पहले हुआ और इन दोनों का आपसी संबंध क्या था ?

इस प्रश्न को लेकर आधुनिक विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। विद्वानों का बहुमत है कि व्यास द्वारा उद्धृत जैमिनि, वस्तुतः पूर्व-मीमांसा के कर्ता जैमिनि से भिन्न था। वह व्यास का शिष्य और ब्रह्मविद्या का ज्ञाता था। इसी प्रकार जैमिनि ने जिस बादरायण को उद्धृत किया है वह उत्तर-मीमांसाकार से भिन्न, पूर्व-मीमांसा का ही कोई आचार्य था।

इसलिए, सामवेद का प्रवर्तक, मीमांसा गृह्यसूत्रों का रचयिता, योगाचार्य और ज्योतिषी आदि अनेक रूपों में जब हम जैमिनि का नामोल्लेख हुआ पाते हैं तो निश्चित ही इस नाम के एक ही व्यक्ति होने के विषय में संशय होता है।

मीमांसाकार जैमिनि के सम्बन्ध में अधिकतर इतिहासकारों की यही राय है कि वे ४००ई० पूर्व के लगभग पाणिनि के समकालीन थे। 'पंचतंत्र' के एक श्लोक में वैयाकरण पाणिनि और मीमांसाकार जैमिनि का साथ-साथ उल्लेख हुआ है। वहाँ लिखा है कि जैमिनि को हाथी ने कुचल डाला था।

उन्होंने 'मीमांसासूत्र' में लिखा है कि मीमांसा दर्शन की परम्परा उन्हें बादरायण, बादरि, ऐतिशायन, कार्ष्णाजिनि, लघुकायन, कामुकायन, आत्रेय और आलेखन प्रभृति आचार्यों से प्राप्त हुई थी। ये सभी व्यक्ति इतिहासमान्य हैं, जिनकी चर्चाएँ वेदों से लेकर पुराणों तक बिखरी हुई मिलती हैं। उनके नाम से विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं।

इसलिए ज्ञात होता है कि मीमांसा दर्शन की परम्परा जैमिनि से भी पहले की है; किंतु उसके बिखरे हुए सिद्धांतों को वैज्ञानिक ढंग से संग्रथित करने एवं रचने का श्रेय जैमिनि को ही है।

शबर स्वामी

यद्यपि पतंजलि (१४०० ई० पूर्व) के 'महाभाष्य' में आचार्य काशकृत्स्न के मीमांसाग्रन्थ का उल्लेख मिलता है और इसी प्रकार दूसरी शताब्दी ईसवी में वर्तमान आचार्य उपवर्ष और भावदास के मीमांसा-विषयक वृत्तिग्रंथों का भी उल्लेखमात्र मिलता है; किन्तु महर्षि जैमिनि के बाद मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में आचार्य शबर ही ऐसे

मीमांसक हुए, जिनके भाष्यग्रन्थ के द्वारा मीमांसा दर्शन की क्षीण परम्परा पुनरुज्जीवित हुई।

शवर स्वामी से पूर्व यद्यपि मीमांसा दर्शन का सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व प्रतिष्ठित हो चुका था; फिर भी अन्य दर्शनों की ओर से मीमांसा पर जो आरोप एवं आक्षेप लगाये गये थे उनका निराकरण पहले-पहल 'शावरभाष्य' में ही किया गया।

जहाँ तक शवर स्वामी की ऐतिहासिक जानकारी का सम्बन्ध है, कहा जाता है कि उनका वास्तविक नाम आदित्यदेव था; किन्तु जैनों और बौद्धों के निरन्तर आक्रमणों के कारण उन्होंने अपनी जीवनचर्या में आमूल परिवर्तन कर दिया था। वे ज्ञान की खोज में भील का रूप धारण कर जंगल में चले गये और वहीं उन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया। तभी से उन्हें शवर कहा गया।

जनश्रुति है कि शवर स्वामी पहले राजा थे और उन्होंने चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह किया था। उनमें क्षत्रिय पत्नी से सम्राट् विक्रमादित्य पैदा हुए थे। किन्तु इतिहास की दृष्टि से ये बातें कल्पित जान पड़ती हैं।

शवर स्वामी के स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। विद्वानों का एक मत उनके स्थितिकाल की प्रामाणिकता में 'शाबरभाष्य' का (१०।८।४) यह सूत्र उद्धृत करता है :

'इति भगवान् कात्यायनो मन्यते स्म, नेति भगवान् पाणिनिः'

इस सूत्र में उन्होंने पाणिनि और कात्यायन, इन दो शब्दशास्त्रियों को उद्धृत किया है, तीसरे आचार्य पतंजलि (महाभाष्यकार) को उन्होंने छोड़ दिया है। अतः शवर स्वामी का समय कात्यायन (४०० ई० पूर्व) के बाद और पतंजलि (~~२०० ई०~~ 4000 B.C पूर्व) के पहले (३०० ई० पूर्व) के लगभग होना चाहिए।

इसके विपरीत विद्वानों के एक वर्ग का कहना है कि 'शावरभाष्य' के कुछ आंतरिक प्रमाणों से विदित है कि उसकी रचना गुप्तकाल में हुई। उसमें शून्यवाद, विज्ञानवाद जैसे परवर्ती बौद्ध सिद्धान्तों के अतिरिक्त महायान संप्रदाय का भी उल्लेख हुआ है। महायान संप्रदाय की प्रामाणिक जन्मतिथि कनिष्क की चौथी 'बौद्ध संगीति' है। अतः उसका स्थितिकाल ईसवी की पहली शताब्दी के बाद होना चाहिए।

उनकी जन्मभूमि के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विवाद है। किन्तु उनके भाष्यग्रन्थ से जो आन्तरिक निष्कर्ष निकलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे दाक्षिणात्य थे। उन्होंने काश्मीर, पंजाब, उत्तर भारत, बिहार आदि भारत के विभिन्न अंचलों का भ्रमण किया था, जिसका संकेत उनके भाष्य में देखने को मिलता है। उनके भाष्यग्रन्थ का यदि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो तत्कालीन भारत की आंचलिक संस्कृतियों पर नया प्रकाश पड़ता है।

मीमांसा की तीन शाखाएँ

जैमिनि के सूत्रों के बाद 'शाबरभाष्य' का ही दूसरा स्थान है। उसी के द्वारा मीमांसा दर्शन को स्वतन्त्र दर्शन का स्थान प्राप्त हुआ और बाद में जितनी भी कृतियाँ मीमांसा पर लिखी गयीं उन सबका आधार वही ग्रन्थ रहा है। जैमिनि के द्वादशलक्षणी 'मीमांसासूत्र' की अपेक्षा 'शाबरभाष्य' की अधिक लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि रही है।

'शाबरभाष्य' के तीन प्रख्यात टीकाकारों ने तीन नवीन संप्रदायों की प्रतिष्ठा की, जिनके नाम हैं : भाट्टमत, गुरुमत और मुरारिमत। भाट्टमत के प्रवर्तक कुमारिल स्वामी हुए। कुमारिल जैसे प्रखरबुद्धि तार्किक का ही कार्य था कि उसने बौद्ध-न्याय से मीमांसा की रक्षा कर दार्शनिक सिद्धान्तों की युक्तियों एवं प्रमाणों से धर्म का प्रतिपादन किया। दूसरे गुरुमत संप्रदाय के अधिष्ठाता आचार्य प्रभाकर हुए। नयी मान्यताओं ने इस पुराने सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया है कि प्रभाकर, कुमारिल के शिष्य थे और गुरु की उपाधि भी उन्हें कुमारिल से ही मिली थी। तीसरे मुरारिमत संप्रदाय के प्रवर्तक मुरारि मिश्र थे, जिनके मत को गंगेश उपाध्याय जैसे प्रखर एवं प्रसिद्ध विचारक ने अपनी 'तत्त्व चिन्तामणि' में प्रामाणिकता से उद्धृत किया है।

भाट्टमत और गुरुमत की विभिन्नता के आधार

यद्यपि कुमारिल और प्रभाकर, दोनों की ख्याति का मूल आधार एक ही ग्रन्थ, 'शाबरभाष्य' रहा है, तथापि अपनी-अपनी व्याख्याओं द्वारा दोनों ने अपने-अपने विचारों का दो विभिन्न दिशाओं में विकास किया। प्रभाकर ने 'बृहती' नाम से 'शाबरभाष्य' की जो व्याख्या लिखी है उसमें सर्वत्र ही भाष्यकार के मत तथा सिद्धान्त का मण्डन किया गया है; किन्तु कुमारिल ने अनेक स्थानों पर भाष्यकार के मत की अवहेलना एवं आलोचना भी की है। यहाँ तक कि कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जिनकी सिद्धि में प्रभाकर, भाष्यकार का समर्थन करते हुए अपनी स्वीकृति दे चुके हैं; कुमारिल ने उनका भी खण्डन कर दिया है। कुमारिल की व्याख्या में प्रभाकर के मत का भी खण्डन किया गया है।

कुमारिल की व्याख्या का आधार, भाष्य के अतिरिक्त मूल सूत्रग्रंथ भी रहा है। कुमारिल के 'तंत्रवार्तिक' से ज्ञात होता है कि उसको कुछ ऐसे नये सूत्रों का भी पता था, जो न तो 'शाबरभाष्य' में हैं और न प्रभाकर की व्याख्या में ही। संख्या १ से १६ तक के सूत्रों के सम्बन्ध में कुमारिल ने कहा है कि या तो भाष्यकार उनकी व्याख्या करना भूल गया था, या वह भाष्य-अंश ही नष्ट हो गया, अथवा भाष्यकार ने अनावश्यक या अप्रामाणिक जानकर उनको छोड़ दिया। इसके विपरीत प्रभाकर ने अपने किसी भी ग्रन्थ में ऐसा कोई भी संकेत नहीं किया है।

इस दृष्टि से दोनों व्याख्याकारों के मन्तव्य का यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रभाकर ने जहाँ भाष्यकार का अविकल अनुकरण किया है, वहाँ कुमारिल ने आवश्यकतानुसार भाष्यकार और प्रभाकर के सिद्धान्तों की अवहेलना करके अपने स्वतंत्र मत की पुष्टि की है।

कुमारिल भट्ट

कुमारिल भट्ट मीमांसा दर्शन के वरिष्ठ आचार्य हुए। शबर स्वामी ने अपने भाष्य के द्वारा मीमांसा की जिस परम्परा का श्रीगणेश किया उसको वैज्ञानिक ढंग से आगे बढ़ाने का कार्य किया कुमारिल ने। उनका आदर्श यद्यपि 'शाबरभाष्य' ही रहा है, तथापि उनकी व्याख्या में ऐसे नये दृष्टिकोण भी देखने को मिलते हैं, जो 'शाबरभाष्य' में नहीं हैं। वैदिक मत के विरोध में, और विशेष रूप से मीमांसा दर्शन के खण्डन में बौद्धों ने जिन नये तर्कों को प्रस्तुत किया था उनका पांडित्यपूर्ण ढंग से निरसन किया कुमारिल ने। Beloved Kumāril.

उनके देश-काल के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कोई उन्हें, 'शंकर-दिग्विजय' के उल्लेखानुसार, मिथिला का बताते हैं तो कोई दक्षिण या उत्तर भारत का। उनके सम्बन्ध में आज का सामान्य मत यह है कि वे दक्षिण के निवासी थे। कहा जाता है कि अपने गुरु को शास्त्र में पराजित करने के प्रायश्चित्त में कुमारिल ने प्रयाग आकर संगम पर अग्निकुण्ड में शरीरान्त किया था। वे जिस समय अग्नि में समाधिस्थ होकर जल ही रहे थे कि शंकराचार्य ने वहाँ आकर उनके जीवित रहने के लिए बड़ा आग्रह किया। किन्तु कुमारिल ने जीवित रहना स्वीकार नहीं किया।

इस दृष्टि से इतिहासकारों ने उनका स्थितिकाल शंकराचार्य के समय सातवीं शताब्दी (~~६००-६६०~~ ई०) में निर्धारित किया है। [400-500 B.C]

'शाबरभाष्य' पर उन्होंने तीन व्याख्यान ग्रंथ लिखे, जिनके नाम हैं 'श्लोक-वार्तिक' (प्रथम अध्याय के प्रथम तर्कपाद पर), 'तंत्रवार्तिक' (प्रथम अध्याय के दूसरे तथा तीसरे पाद पर) और 'टुप्टीका' (चतुर्थ अध्याय से अन्त तक) इसके अतिरिक्त उन्हें 'बृहट्टीका' तथा 'मध्यम टीका' का रचयिता भी माना जाता है। वे दार्शनिक होने के साथ-साथ एक सफल कवि भी थे। 'श्लोकवार्तिक' में उनकी कवित्व-दृष्टि का भी अच्छा परिचय मिलता है।

उनके 'श्लोकवार्तिक' पर उम्बेक भट्ट ने 'तात्पर्य', पार्थसारथि मिश्र ने 'न्याय-रत्नाकर' और सुचरित मिश्र ने 'काशिका' नाम से टीकाएँ लिखीं। उनमें पार्थसारथि मिश्र की टीका ही सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है। उसी को विद्वत्समाज में मान्यता प्राप्त है। कुमारिल अपने इस ग्रन्थ को पूरा करने से पहले ही दिवंगत हो चुके थे। गागाभट्ट ने अपने आश्रयदाता वीर शिवाजी के आग्रह पर इस ग्रन्थ को पूरा किया था।

उनके 'तंत्रवार्तिक' पर सोमेश्वर की 'न्यायसुधा', रामकृष्ण तथा कमलाकर भट्ट की 'भावार्थटीका', गोपालभट्ट की 'मिताक्षरा', परितोष मिश्र की 'अजिता', अन्नंभट्ट की 'सुबोधिनी' और गंगाधर मिश्र का 'न्यायपारायण' का नाम उल्लेखनीय है।

इसी प्रकार उनकी तीसरी कृति 'टुप्टीका' पर पार्थसारथि मिश्र का 'तंत्ररत्न', वेंकटेश का 'वार्तिकाभरण' और उत्तम श्लोकतीर्थ की 'लघु न्यायसुधा' नामक उप-टीकाएँ लिखी गयीं।

कुमारिल और प्रभाकर

मीमांसा दर्शन के प्राणासर्वस्व इन दोनों आचार्यों के सम्बन्ध में उनके अनुयायियों एवं अध्येताओं ने अनेक प्रकार की कहावतें गढ़ी हैं।

एक जनश्रुति ऐसी प्रचलित है कि प्रभाकर मिश्र, कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। कहा जाता है कि एक वार मृत्यु-सम्वन्धी संस्कार को लेकर दोनों गुरु-शिष्यों में मतभेद हो गया। प्रभाकर ने अपने गुरु कुमारिल के सम्मुख ऐसे तर्क उपस्थित किये, जिनका वे सन्तोषजनक उत्तर न दे सके। इसी बीच कुमारिल ने चारों ओर अपनी मृत्यु का समाचार फैला दिया। उनकी अन्त्येष्टि के लिए जब विचार किया गया तो प्रभाकर ने कुमारिल की संस्कार-विधि को ही उचित एवं लोकसम्मत बताया और अपने विचारों को विवादग्रस्त रूप में स्वीकार किया। प्रभाकर के मुख से ऐसा सुनते ही कुमारिल मृतशय्या से उठ खड़े हुए और उन्होंने प्रभाकर से अपने विचारों को स्वीकार करने के लिए कहा। इसके उत्तर में प्रभाकर ने कहा, 'आपके विचारों को मैंने स्वीकार अवश्य किया, किन्तु आपके जीवनकाल में नहीं।'

दूसरी अनुश्रुति इस प्रकार बतायी जाती है कि किसी कारिका को पढ़ाते समय कुमारिल उसको स्पष्ट न कर सके थे। गुरु की इस समस्या को प्रभाकर ने तत्काल हल कर दिया। अपने कुशाग्रबुद्धि शिष्य की इस प्रवीणता को देखकर कुमारिल ने उनको 'गुरु' की पदवी से सम्मानित किया। इसीलिए प्रभाकर की परम्परा को 'गुरुमत' से कहा गया।

यद्यपि कुमारिल और प्रभाकर का यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध सर्वथा कल्पित है; फिर भी उनके परवर्ती कुछ ग्रन्थकारों ने इन दोनों विद्वानों को इसी रूप में स्वीकार किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि दोनों विद्वानों की कृतियों और स्थितियों का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि दोनों विद्वान् समसामयिक थे। श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री तथा डॉ० गगानाथ झा प्रभृति विद्वानों ने प्रभाकर का समय ६१० से ६९० ई० तथा कुमारिल का समय ६०० से ६६० ई० के वीच निर्धारित किया है।

दोनों विद्वानों के अनुयायियों और उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि 'गुरुमत' की अपेक्षा 'भाट्टमत' को अधिक अपनाया गया। इसका कारण यह था कि भाट्टमत की पदार्थ-विवेचन-प्रणाली प्रौढ़ और वैज्ञानिक है।

मण्डन मिश्र

मण्डन मिश्र, कुमारिल की परम्परा में प्रख्यात विद्वान् हुए। मीमांसा और वेदान्त, दोनों दर्शनों पर उनका समान अधिकार था। अपने युग के वे सर्वश्रेष्ठ मीमांसक हुए और उसके बाद शंकराचार्य के प्रभाव से उन्होंने वेदान्त को अपनाया। मीमांसा के क्षेत्र में उनके असाधारण पांडित्य को शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने कुमारिल के सिद्धान्तों का समुचित प्रवर्तन किया।

शंकराचार्य के साथ हुए मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ में उनकी विदुषी पत्नी भारती की मध्यस्थता का वृत्तान्त प्रायः प्रसिद्ध ही है। मण्डन मिश्र ७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (६२०-७१० ई०) में, कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के समय हुए। डॉ० उमेश मिश्र ने उनको मिथिला के माहिष्मती (भागलपुर) का निवासी बताया है।

शास्त्रार्थ के बाद मण्डन मिश्र ने शंकराचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था। उसके बाद उन्होंने सुरेश्वराचार्य के नाम से अद्वैत वेदान्त पर ग्रन्थ लिखे। पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा पर उनकी लिखी कृतियों के नाम हैं : 'विधि-विवेक', 'विभ्रमविवेक', 'भावनाविवेक', 'मीमांसानुक्रमणिका', 'स्फोटसिद्धि', ब्रह्मसिद्धि 'नैष्कर्म्यसिद्धि', 'वृहदारण्यक-भाष्य' और 'तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्य'।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त के प्रसंग में भी मण्डन मिश्र के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है।

उम्बेक

भाट्टमत के अनुयायियों में उम्बेक का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि उन्होंने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर भी टीका लिखी; किन्तु उनकी ख्याति मण्डन मिश्र के व्याख्याता के रूप में अधिक है।

यद्यपि 'शंकरदिग्विजय' में मण्डन मिश्र और उम्बेक को एक ही व्यक्ति बताया गया है, तथापि उनके ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्यों से और उनके अध्येताओं के मतानुसार सिद्ध होता है कि विख्यात नाटककार भवभूति या नीलकण्ठ भट्ट ही का अपर नाम उम्बेक था। वे ७वीं श० ई० में, कन्नौज के राजा अवन्तिवर्मा के समय हुए।

पार्थसारथि मिश्र

भाट्ट परम्परा के मीमांसकों में पार्थसारथि मिश्र का नाम इसलिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उन्होंने अन्य विरोधी दर्शन संप्रदायों के सिद्धान्तों एवं आक्षेपों का सयुक्तियुक्त निराकरण करके मीमांसा में कुछ नये सिद्धान्तों की पहले-पहल स्थापना की। वे अद्भुत तार्किक थे।

उनके पिता का नाम प्रज्ञात्मा था। पिता ही उनके गुरु भी थे। संभवतः वे मिथिला के निवासी थे। उनका स्थितिकाल लगभग ११वीं शताब्दी के आस-पास था।

मीमांसा पर उनकी लिखी हुई चार कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं : 'न्यायरत्नमाला', 'तंत्ररत्न', 'शास्त्रदीपिका' और 'न्यायरत्नाकर'। उनकी 'शास्त्र-दीपिका' भाट्ट मीमांसा की प्रसिद्ध कृति है। उसकी असाधारण लोकपियता का पता उस पर लिखी गयी इन १४ टीकाओं से चलता है। ये सभी टीकाएँ उपलब्ध हैं। टीकाओं का विवरण इस प्रकार है :

सोमनाथ :	मयूखमालिका	वैद्यनाथ :	प्रभा
अप्पय दीक्षित :	मयूखावली	रामकृष्ण :	सिद्धान्तचन्द्रिका
राजचूड़ामणि :	कर्पूरवर्त्तिका	शंकर भट्ट :	प्रकाश
दिनकर भट्ट :	व्याख्या	कमलाकर भट्ट :	आलोक
यज्ञनारायण :	प्रभामण्डल	नारायण भट्ट :	व्याख्या
अनुभवानंद यति :	प्रभामण्डल	भीमाचार्य :	व्याख्या
चंपकनाथ :	प्रकाश	सुदर्शनाचार्य :	प्रकाश

माधवाचार्य

पार्थसारथि मिश्र के बाद यद्यपि अनेक भट्ट मीमांसक प्रकाश में आये, किन्तु उनमें माधवाचार्य ही ऐसे विद्वान् हुए, जो पाण्डित्य एवं ख्याति की दृष्टि से अधिक लोकसंपूजित हैं। वे अनेक विषयों के अधिकारी विद्वान् थे।

उनकी माता का नाम श्रीमती और पिता का नाम मायण था। सायण और भोगनाथ उनके दो अनुज हुए। वे महाराज बुक्क (१३वीं श०) के कुलगुरु और मंत्री थे। अत: उनका समय १२वीं-१३वीं शताब्दी ई० में होना चाहिए।

सायण और माधव, इन दोनों भाइयों को वैदिक साहित्य के अनुसंधाता के रूप में विशेष ख्याति है। उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। उनके ग्रन्थों के नाम हैं 'पाराशर-स्मृति-व्याख्या', 'काल-निर्णय', 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर', 'यजुर्वेद-भाष्य', 'ऋग्वेदभाष्य', 'सामसंहिताभाष्य', 'पंचविंशतिब्राह्मणभाष्य', 'षड्विंशब्राह्मण-भाष्य' और 'सर्वदर्शनसंग्रह'।

भाट्ट परम्परा के अन्य आचार्य

भाट्ट-परम्परा के अन्य आचार्य में वाचस्पति मिश्र और अप्पय दीक्षित का नाम प्रमुख है, जिनका परिचय यथास्थान अन्यत्र दिया जा चुका है। इनके अतिरिक्त देवस्वामी (११वीं श०), सुचरित मिश्र (१२वीं श०), सोमेश्वर भट्ट (१२वीं श०), वेदान्तदेशिक (१२वीं श०), रघुनाथ भट्टाचार्य (१६वीं श०), जयनारायण भट्ट (१७वीं श०), नीलकण्ठ दीक्षित (१७वीं श०), अनन्त भट्ट (१७वीं श०), गागा भट्ट (१७वीं श०), खण्डदेव (१७वीं श०), राजचूड़ामणि दीक्षित (१७वीं श०), भास्कर राय (१८वीं श०), राघवानन्द सरस्वती (१८वीं श०) और रामेश्वर (१९वीं श०) आदि अनेक विद्वानों ने सैकड़ों कृतियों की रचना कर भाट-परम्परा को आगे बढ़ाया।

इस प्रकार ७वीं शताब्दी ई० से लेकर १९वीं श० और उसके बाद आज तक, अनेक विद्वानों ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया और अपनी पाण्डित्यपूर्ण कृतियों के द्वारा मीमांसा दर्शन के अंग-उपांगों का विस्तार से विवेचन किया।

प्रभाकर मिश्र

कुमारिल भट्ट के प्रसंग में प्रभाकर मिश्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। मीमांसा दर्शन में भाट्टमत की भाँति गुरुमत के अधिष्ठाता होने के कारण

प्रभाकर का नाम विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है। 'शाबरभाष्य' पर कुमारिल की पाण्डित्यपूर्ण एवं विद्वत्संपूजित व्याख्या के रहते हुए भी प्रभाकर की व्याख्या को स्वतंत्र एवं सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ और उसके विचारों को व्यापक समर्थन भी मिला। यह तथ्य ही प्रमाणित करता है कि मौलिकता की दृष्टि से कुमारिल की अपेक्षा प्रभाकर के विचार किसी भी भाँति हलके नहीं थे।

पहले बताया जा चुका है कि प्रभाकर और कुमारिल, दोनों समकालीन थे। प्रभाकर का समय ~~६१०-६९०~~ ई० के बीच निर्धारित है। [500-400 B.C]

प्रभाकर ने 'शाबरभाष्य' पर 'विवरण' (या लध्वी) और 'बृहती' या (निबन्धन) नाम से व्याख्याएँ लिखीं। माधव सरस्वती ने अपनी 'सर्वदर्शनकौमुदी' में लिखा है कि 'विवरण' में छह हजार और 'बृहती' में बारह हजार पद्य थे। यह 'बृहती' छठे अध्याय के मध्य तक ही 'ऋजुविमला' नामक टीका के सहित उपलब्ध एव प्रकाशित हैं। प्रभाकर के शिष्य शालिकानाथ ने इन दोनों पर क्रमशः 'दीपशिखा' एवं 'ऋजुविमला' नाम की टीकाएँ लिखी हैं।

शालिकानाथ मिश्र

शालिकानाथ का नाम प्रभाकर की परम्परा के प्रौढ़ एवं प्रख्यात विद्वानों में है। वे प्रभाकर के शिष्य थे और उन्होंने प्रभाकर के सिद्धान्तों को बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण एवं समुचित ढंग से प्रस्तुत करके मीमांसा दर्शन में अपनी परम्परा के विकास के लिए ठोस भाव-भूमि का निर्माण किया। उन्होंने प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की पुष्टि में उपयुक्त तर्क एवं युक्तियाँ प्रस्तुत कर विपक्षियों के आरोपों का खण्डन किया।

वे गौडदेशीय (बंगाल के निकट) थे और वाचस्पति मिश्र के पहले तथा मण्डन मिश्र के बाद लगभग ८वीं श० ई० में हुए।

शालिकानाथ ने प्रभाकर की 'लघ्वी' तथा 'बृहती' पर क्रमशः 'दीपशिखा' एवं 'ऋजुविमला' नामक टीकाएँ लिखीं। इन दोनों का संयुक्त नाम शालिकानाथ ने 'पंचिका' दिया है। उनकी तीसरी कृति का नाम 'प्रकरणपंचिका' है। उनका यह तीसरा ग्रंथ गुरुमत की परम्परा का प्रख्यात ग्रंथ माना जाता है।

भवनाथ मिश्र

इसी परम्परा में, लगभग ११वीं शताब्दी के आस-पास, भवनाथ या भवदेव मिश्र हुए। वे मिथिलावासी थे। उन्होंने जैमिनीय सूत्रों पर 'न्यायविवेक' नाम से स्वतंत्र व्याख्या लिखी। उनकी यह व्याख्या अपने क्षेत्र में पर्याप्त रूप से सम्मानित है। इस पर लगभग चार टीकाएँ लिखी गयीं, जिनके नाम हैं वरदराज की 'दीपिका', गोविन्द उपाध्याय के शिष्य की 'शंकादीपिका', दामोदर सूरि की 'अलंकार' और रतिदेव की 'विवेकतत्त्व'। इसी से भवनाथ के 'न्यायविवेक' का महत्त्व तथा प्रचार जाना जा सकता है।

भवनाथ के बाद गुरुमत के विद्वानों में गुरुमताचार्य (११वीं श०), नंदीश्वर

(१४वीं श०), भट्ट विष्णु (१४वीं श०) और वरदराज (१६वीं श०) का नाम उल्लेखनीय है।

मुरारि मिश्र

मीमांसा दर्शन में मुरारि मिश्र का ऐतिहासिक महत्त्व है। भाट्टमत और गुरुमत के अतिरिक्त तीसरे पंथ (**मुरारेस्तृतीयः पन्थाः**) के निर्माण के रूप में मुरारि मिश्र का नाम विख्यात है। वे 'अनर्घराघव' नाटक के निर्माता मुरारि मिश्र से भिन्न थे।

मुरारि की परम्परा का मीमांसा साहित्य यद्यपि नष्ट हो गया है, तथापि उसके उपलब्ध अंशों को देखकर उसके प्रवर्तक मुरारि मिश्र की विद्वत्ता का सहज ही में पता चल जाता है।

मुरारि मिश्र का स्थितिकाल ११वीं या १२वीं शताब्दी ई० के आस-पास था।

मुरारि मिश्र के सिद्धान्तों के परिचय प्राप्त करने के लिए दूसरे ग्रन्थों में सुरक्षित उद्धरण ही अब तक एकमात्र संबल माने जाते थे, किन्तु डॉ० उमेश मिश्र ने 'त्रिपादनीतिनय' और 'एकादशाध्यायाधिकरण' नाम से मुरारि मिश्र के दो ग्रन्थों की पहले-पहल सूचना देकर बड़े महत्त्व का कार्य किया है। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। पहले में जैमिनीय सूत्रों के एकादशाध्याय के कुछ अंशों की व्याख्या है।

मुरारि मिश्र की परम्परा का कोई मीमांसक या तत्सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

जैमिनि का मीमांसासूत्र

महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक और उनका 'मीमांसासूत्र' मीमांसा दर्शन का आधार-स्तंभ है। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में विभक्त है। इसीलिए उसको 'द्वादशलक्षणी' भी कहा जाता है। उसके बारह अध्याय कई पादों में विभक्त हैं और प्रत्येक पाद कई अधिकरणों में। सम्पूर्ण पादों की संख्या ६० और सम्पूर्ण अधिकरणों की संख्या ९०७ है। उसमें कुल २,७४५ सूत्र हैं।

'मीमांसासूत्र' के प्रथम अध्याय में विधि, अर्थवाद, मन्त्र और स्मृति आदि प्रामाण्यों पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में उपोद्घात, कर्मभेद, प्रामाण्यापवाद और नित्य तथा काम्य प्रयोगभेदों पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे अध्याय में श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या आदि के पूर्व-पूर्व प्राबल्य का प्रतिपादन किया गया है। चौथे अध्याय में यज्ञ से सम्बन्धित शंकाओं का समाधान वर्णित है। पाँचवें अध्याय में श्रुति का क्रम, वृद्धि-अवृद्धि, प्राबल्य-दौर्बल्य पर विचार किया गया है। छठे अध्याय में कर्म, धर्म तथा यज्ञ के प्रयोजनों और यज्ञ की क्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। सातवें अध्याय में अतिदेशों का वर्णन है। आठवें अध्याय में भी अतिदेशों और उनके अपवादों का परिचय दिया गया है। नवम अध्याय में ऊहों पर विचार किया गया है। दशम अध्याय में बाध तथा समुच्चय आदि का निर्देश है। अंतिम बारहवें अध्याय में प्रसंग, तंत्री, निर्णय, समुच्चय और विकल्प पर विचार किया गया है।

कुमारिल के अनुसार अधिकरणों का स्वरूप

कुमारिल भट्ट ने महर्षि जैमिनि की अधिकरण-स्थापना को बड़े वैज्ञानिक ढंग से समझाया है। उनका अधिकरण-समन्वय बड़ा ही पांडित्यपूर्ण है। उन्होंने प्रत्येक अधिकरण के पाँच अवयव माने हैं : विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धान्त। प्रत्येक सूत्र को समझने के लिए इन पंचावयवों को समझना आवश्यक बताया गया है। किसी वस्तु पर जिस उद्देश्य से विचार किया जाता है वही उसका विषय कहलाता है, जैसे 'वेद पढ़ना चाहिए' (**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**)। यही अधिकरण का उद्देश्य एवं विषय है। विषय के दो कोटिक ज्ञान को 'संशय' कहते हैं, जैसे 'यह स्थाणु है या पुरुष ?' वादी जिस मत को उपस्थित करता है, वह 'पूर्वपक्ष' कहलाता है। 'उत्तरपक्ष' का अपर नाम 'संगति' भी है, जो तीन प्रकार की होती है : अधिकरण संगति, पाद संगति और अध्याय संगति। उदाहरण के लिए अमुक विचार को समुचित ढंग से सुनिश्चित अधिकरण, पाद तथा अध्याय में समाप्त कर देने को ही 'संगति' कहते हैं। भाट्ट मतानुयायी 'संगति' के स्थान पर 'उत्तरपक्ष' को मानते हैं। निर्णय का नाम ही 'सिद्धान्त' है।

प्रभाकर के अनुसार अधिकरणों का स्वरूप

आचार्य प्रभाकर ने अधिकरणस्वरूप पर विशेष विचार नहीं किया है। उनके मत से श्रुति अध्यापन का विधान करती है। विधि ही नियोग है। जिसके प्रति नियोग (विधान) किया जाता है वह 'नियोज्य' कहलाता है। नियोग को नियोज्य की अपेक्षा होती है। नियोज्य कौन है, इस आकांक्षा से जिसको आचार्यत्व की कामना होती है वही 'नियोज्य' समझा जाता है। उपनयन में जो नियोज्य है, वही अध्यापन में भी नियोज्य होगा; क्योंकि इन दोनों क्रियाओं का एक ही प्रयोजन है—आचार्यकरण।

जो ब्राह्मण, शिष्य को उपनीत कर अंग और रहस्य के सहित वेद पढ़ाता है, उसी को 'आचार्य' कहा जाता है। तात्पर्य यह कि उपनयन-पूर्वक अध्यापन करने से ही अध्यापक में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। उसी से यह 'आचार्य' कहा जाता है।

'मीमांसासूत्र' के तात्पर्य-निर्णय के लिए उपक्रम (आरम्भ), उपसंहार (समाप्ति), अभ्यास (बार-बार कथन), अपूर्वता (नवीनता) फल (उद्देश्य), अर्थवाद (सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए दृष्टान्त, उपमा आदि की योजना) और उत्पत्ति (साधक प्रणाली द्वारा सिद्धि), इन सात बातों का ज्ञान आवश्यक बताया गया है।

प्रमाण विचार

किसी दर्शन का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं। मीमांसा दर्शन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए प्रमा, प्रमाण और प्रामाण्य आदि की आवश्यकता बतायी गयी है।

प्रमा का स्वरूप

प्रमा कहते हैं ज्ञान के लिए। वह दो प्रकार का होता है : प्रमा और अप्रमा। जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में अनुभव करना प्रमा है। प्रमा, अर्थात् ज्ञान के द्वारा किसी अज्ञात पदार्थ की सत्यता का निश्चय हो जाना। इसके विपरीत जहाँ पर वस्तु का अभाव रहते हुए भी उसके ज्ञान की प्रतीति है उसको अप्रमा या अयथार्थ ज्ञान कहते हैं। उदाहरण के लिए साँप को साँप और रस्सी को रस्सी समझना प्रमा है और साँप को रस्सी तथा रस्सी को साँप समझना अप्रमा है।

प्रमाण

अतिशय उपकारक प्रकृष्टतम साधन को प्रमाण कहा गया है। उदाहरण के लिए अंधकार के कारण रस्सी में साँप की प्रतीति हो जाने पर प्रकाश (प्रमाण) के द्वारा रस्सी के यथार्थ स्वरूप का निश्चय हो जाना यथार्थ ज्ञान है। इसीलिए प्रमाण को ज्ञान की कसौटी कहा गया है। वह सभी पदार्थों का निश्चयात्मक और सभी प्रकार के ज्ञानों का निर्णायक है।

प्रमाण के भेद

विभिन्न दर्शनों में संख्या भेद से प्रमाण के भिन्न-भिन्न प्रकार बताये गये हैं। चार्वाक ने प्रत्यक्ष को ही केवल प्रमाण माना है। इसी प्रकार वैशेषिक में प्रत्यक्ष तथा अनुमान, दो; सांख्य में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, तीन; न्याय में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उप्रमान, चार; और वेदान्त में यही चार प्रमाण माने गये हैं।

मीमांसा की प्रमाण-परीक्षा में मतभेद है। सूत्रकार जैमिनि ने तीन प्रकार के प्रमाण माने हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। किन्तु जैमिनि के बाद मीमांसा पर जो प्रौढ़ ग्रन्थ लिखे गये उनमें प्रमाणों पर नये ढंग से विचार किया गया है। मीमांसक प्रभाकर ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द उपमान तथा अर्थापत्ति, पाँच प्रकार के प्रमाण माने हैं। दूसरे मीमांसक कुमारिल भट्ट ने प्रभाकर के पाँच प्रमाणों में अनुपलब्धि को भी छठा प्रमाण स्वीकार किया है।

स्मृति प्रमाण नहीं है

प्रभाकर के मतानुसार 'स्मृति' प्रमाण नहीं है। प्रमाण, अनुभूतिजन्य ज्ञान है, जो स्मृतिगम्य ज्ञान से भिन्न है। स्मृति में पूर्वज्ञान की अपेक्षा होती है। अतः उसको प्रमाण नहीं माना जा सकता है। प्रभाकर के कथनानुसार स्मृतिगम्य ज्ञान में भ्रम की संभावना बनी रहती है।

(१) प्रत्यक्ष

मीमांसा के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण सविकल्प और निर्विकल्प भेद से दो प्रकार का होता है। प्रभाकर के अनुसार सविकल्प और निर्विकल्प, दोनों प्रकार का ज्ञान, प्रमाण है; क्योंकि दोनों ही ज्ञाता को व्यवहार में लगा सकते हैं। इन नानारूपात्मक

जगत् का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा संभव है। निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था में यद्यपि विषय स्पष्ट नहीं होते, तथापि बीज रूप में उनका अस्तित्व बना रहता है। सविकल्प ज्ञान की अवस्था में विषय स्पष्ट रहते हैं। प्रभाकर का कहना है कि प्रत्येक ज्ञान में 'मान', 'मेय' और 'माता' ये तीनों रहते हैं। उदाहरण के लिए मैं (प्रमाता) देवदत्त और 'जानना' (प्रमा) और जानने योग्य वस्तु (प्रमा का विषय) इन तीनों का एक साथ ज्ञान होता है। इन्द्रिय और अर्थ के साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस सम्बन्ध को प्रभाकर ने 'सन्निकर्ष' कहा है।

सन्निकर्ष

पदार्थों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध को 'सन्निकर्ष' कहते हैं। प्रभाकर के मत से इन्द्रिय और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध होता है, वह दो प्रकार का है : ज्ञान का विषयों के साथ इन्द्रिय के संयोग से, और विषय में संयुक्त समवाय तथा समवेत समवाय से।

कुमारिल के मत से निर्विकल्प ज्ञान में वस्तु की श्रेणी या जाति तथा विशेष धर्म की प्रतीति नहीं होती है। कुमारिल का कथन है कि 'अहं' प्रत्यय द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है; किन्तु प्रभाकर के मतानुसार ज्ञाता कभी अपया ज्ञेय नहीं हो सकता है। आत्मा ज्ञाता है और प्रत्येक ज्ञान में वह ज्ञाता के रूप में ही प्रकाशित होता है।

'मीमांसासूत्र' के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्षगम्य नहीं है। वह स्वतः प्रकाश है। बुद्धि अर्थ-विषयक होती है, बुद्धि-विषयक नहीं (**अर्थविषयो हि प्रयक्षबुद्धिः, न बुद्धि-विषये**)। आशय यह है कि प्रत्यक्ष, पदार्थों का होता है, न कि पदार्थों के ज्ञान का। 'संवित्' कभी 'संवेद्य' नहीं होती। जब किसी सत् पदार्थ का किसी इन्द्रिय के साथ संपर्क होता है तब उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा को होता है।

(२) अनुमान

मीमांसा का अनुमान-प्रकरण न्याय के अनुमान से मिलता है। न्याय में अनुमान का शब्दार्थ किया गया है पश्चाद्ज्ञान। एक बात से दूसरी बात को देख लेना (अनु+ईशा), या एक बात को जान लेने के बाद दूसरी बात को जान लेना (अनुमितिकरण) पश्चाद्ज्ञान या अनुमान कहलाता है। धूम को देखकर वहाँ अग्नि के होने का अनुमान लगाना पश्चाद्ज्ञान है। इसलिए प्रत्यक्ष वस्तु (धूम) के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु (अग्नि) का ज्ञान प्राप्त करना ही अनुमान की प्रक्रिया का आधार है।

(३) उपमान

उपमान ज्ञान का विषय न्याय दर्शन में विस्तार से समझाया गया है। किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य से किसी न जानी हुई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही न्याय का 'उपमान' है। उदाहरण के लिए घर पर देखी हुई गाय के सादृश्य से जंगल में न देखी हुई नीलगाय का ज्ञान प्राप्त करना ही 'उपमान' है। न्याय में इसको 'उपमिति'

ज्ञान कहा गया है। अर्थात् एक वस्तु की उपमा या समानता के आधार पर दूसरी सदृश वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेना।

किन्तु मीमांसा की दृष्टि से 'उपमान' को इसलिए स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है; क्योंकि व्याप्ति दूषित होने के कारण यह ज्ञान न तो अनुमान के अन्तर्गत आ सकता है और न शब्द के ही। इसलिए न्याय की अपेक्षा, मीमांसा में उसका स्वतंत्र विवेचन किया गया है।

मीमांसा में कहा गया है कि 'अमुक जन्तु गाय के समान है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है और 'गाय के सदृश गवय है' यह ज्ञान शब्द प्रमाण की स्मृति होता है। इसलिए मीमांसा की इस धारणा के अनुसार, नैयायिक जिसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, वह यथार्थतः स्वतन्त्र नहीं है। इसके विरुद्ध शबर स्वामी की अपनी उपमान-व्याख्या तर्कशास्त्र के सादृश्यात्मक ज्ञान पर आधारित है।

इस सम्बन्ध में विशेष रूप से ज्ञातव्य यह है कि मीमांसा में 'सादृश्य' को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है।

(४) शब्द

उपनिषद्, 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र', इस 'प्रस्थानत्रयी' में ब्रह्म को शब्दस्वरूप कहा गया है। सभी दर्शन उसकी सत्ता को मतान्तर से स्वीकार करते हैं। व्याकरण और काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में भी शब्द या शब्दशक्ति पर गम्भीरता से प्रकाश डाला गया है।

मीमांसा दर्शन के प्रामाण्य प्रकरण में शब्द का बड़ा महत्त्व बताया गया है। मीमांसा के मत से प्रत्यक्ष आदि के द्वारा जिन स्वर्गादि अलौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं होता उन विषयों में अपौरुषेय वेद ही प्रमाण माना जाता है। इसी को शब्दनित्यवादी मीमांसकों ने 'शब्द प्रमाण' कहा है।

शब्द नित्य है या अनित्य

न्याय

न्याय दर्शन में शब्द को आप्तवाक्य कहा गया है और उसको आकाश का गुण स्वीकार किया गया है। न्याय के मत से शब्द अनित्य है, क्योंकि वह सादि और कारणवान् है; अर्थात् वह उत्पत्ति-विनाशयुक्त है। जो पदार्थ उत्पत्ति धर्म वाले होते हैं, अर्थात् जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, न्याय में उन्हें अनित्य कहा गया है। इसके विपरीत जो पदार्थ उत्पत्ति-विनाश-रहित एवं तीनों कालों में स्थिर होते हैं उन्हें नित्य कहा जाता है। ध्वंस और प्रागभाव भी क्रमशः उत्पत्ति-विनाशयुक्त होने के कारण अनित्य हैं। जैसे जल की एक लहर, दूसरी लहर को पैदा करके स्वयं नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार एक शब्द, दूसरे शब्द को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। उच्चारण होने से पूर्व और उच्चारित होने के बाद उनकी उपलब्धि नहीं होती। अतएव

उसको विनश्वर कहा गया है। उसकी जितनी भी क्रियाएँ हैं वे नित्य वस्तु के विपरीत हैं। इसलिए न्याय में उसको अनित्य माना गया है।

सांख्य

सांख्य की दृष्टि से जो शब्द (उपदेश वाक्य) योग्य (आप्त) होते हैं उनके सुनने से बोधरूप जिस अन्तःकरण की वृत्ति का उदय होता है उसी को शब्द प्रमाण कहते हैं।

मीमांसा

किन्तु मीमांसा दर्शन में शब्द को नित्य माना गया है। न्याय में शब्द की उत्पत्ति कण्ठ-तालु के संयोग से मानी गयी है, किन्तु मीमांसा में उसको श्रोत्र इन्द्रिय की ग्राह्य वस्तु माना गया है। वह वर्णनात्मक और ध्वन्यात्मक, दो प्रकार का होता है। वर्णनात्मक शब्द नित्य और विभु है। वह स्वतंत्र द्रव्य है, गुण नहीं; क्योंकि गुण पराश्रित होता है। ध्वन्यात्मक शब्द ही वायु का गुण तथा अनित्य है। वर्णनात्मक शब्द नित्य है। प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन के क्रिया-कलापों में शब्द की जो उपयोगिता एवं असाधारणता दिखायी देती है उससे भी उसकी नित्यता सिद्ध होती है।

शब्द और अर्थ

न्याय

नैयायिकों की दृष्टि से शब्द की भाँति शब्दार्थ भी अनित्य है। वहाँ अर्थबोध के लिए आप्त पुरुष के उपदेश की योजना की गयी है। उस अर्थबोध का नाम शाब्दि प्रमा है। हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धि, शाब्दि प्रमा के फल हैं। न्याय में दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से शब्द को दो प्रकार का माना गया है। जिसका फल इस लोक में देखा जाता है उसको दृष्टार्थ और जिसका फल इस लोक में नहीं देखा जाता उसको अदृष्टार्थ फल कहते हैं।

न्याय की दृष्टि से शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध नहीं होता; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा इस सम्बन्ध ही का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता तो 'अन्न' शब्द के उच्चारण से मुँह भर जाना चाहिए था; किन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए यह मानना युक्तिसंगत है कि शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से ऐसा जान पड़ता है कि किसी पुरुष-विशिष्ट ने शब्द तथा अर्थ में सम्बन्ध स्थापित किया और उनका (शब्दों का) व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए वेदों की रचना की। शब्दार्थ में किसी के द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया गया है, यह इस उदाहरण से भी सिद्ध होता है कि जैसे 'पीन देवदत्त दिन को भोजन नहीं करता'। इस वाक्य का लक्ष्यार्थ यह हुआ कि देवदत्त रात को भोजन करता है। इसलिए सम्बन्ध एक कार्य है, जो बिना कर्ता के संपन्न नहीं हो सकता है। शब्द और अर्थ में न तो कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है और न नित्य-नैमित्तिक, न जन्य-जनकत्व;

बल्कि उनमें सामूहिकत्व तथा सांकेतिकत्व सम्बन्ध होता है। इसलिए जिस शब्द के साथ जिस अर्थ का सांकेतिक सम्बन्ध होता है, उस शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है, दूसरे अर्थ का नहीं।

वेदान्त

वेदान्त में असन्निकृष्ट बोधार्थ ज्ञान को ही 'शब्दज्ञान' कहा गया है। यह शब्द-ज्ञान वहाँ एक प्रकार से अभिज्ञा का ही अपर स्वरूप है।

सांख्य

सांख्य की दृष्टि से शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक-लक्षण सम्बन्ध है। शब्द वाचक और अर्थ वाच्य है। आप्तोपदेश द्वारा, लौकिक शब्द से पुरुष को वेदार्थ का ज्ञान होता है। वेद नित्य नहीं है; क्योंकि उनमें ऐसी श्रुतियाँ पायी जाती हैं, जो उनकी उत्पत्ति का इतिहास बताती हैं। वेद, पुरुषनिर्मित भी नहीं है; क्योंकि मुक्त या अमुक्त किसी भी पुरुष में इतनी योग्यता नहीं कि वह वेद की श्रुतियों का निर्माण कर सके। इसलिए सांख्य की दृष्टि से वेद अपौरुषेय है; किन्तु नित्य नहीं।

मीमांसा

किन्तु मीमांसा में शब्द की भाँति शब्द-अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य माना गया है। वहाँ कहा गया है कि शब्द और अर्थ का ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसा जल और तरंग का, जीव और ब्रह्म का तथा शंकर और पार्वती का। जैसे इन युग्मों में एक के बिना दूसरे की कोई स्थिति नहीं है, वैसे ही शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध है। जिस शब्द का कोई अर्थ नहीं उसको शब्द कहा ही नहीं जा सकता है; और इसी प्रकार अर्थ की यह स्थिति है कि यह शब्द के बिना रह ही नहीं सकता है।

शब्द और अर्थ दोनों में संज्ञा-संज्ञी-भाव-सम्बन्ध है। शब्द संज्ञा (अर्थबोधक) है और अर्थ संज्ञी (शब्द से उत्पन्न बोध)। एक प्रत्याय है दूसरा प्रत्यय। शब्द को प्रथम बार सुनने से हमें जो अर्थबोध नहीं होता वह शब्द का दोष नहीं, हमारे अज्ञान का दोष है। उदाहरण के लिए यदि अँधेरे में रखी हुई वस्तु किसी सुन्दर आँख वाले को नहीं दिखायी देती तो लोक में इसका यह अर्थ नहीं लगाया जाता कि वहाँ वस्तु है ही नहीं, अथवा आँखों में देखने की शक्ति नहीं है। हम यदि प्रत्येक शब्द का अर्थ-ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते तो वह शक्तिग्रह का अभाव कहा जायगा, ठीक वैसे ही, जैसे वस्तु के न मिलने का कारण अंधकार (प्रकाशाभाव) है। यदि नैयायिकों के कथनानुसार शब्द-अर्थ में सम्बन्ध स्थापित करने की बात को कुछ देर के लिए मान भी लिया जावे तो ऐसा वह पहला व्यक्ति कौन था जिसने यह नियमन किया?

मीमांसा दर्शन में शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध होने के कारण वेद वाक्य का नित्य माना गया है (**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्**) : अतः वेद स्वतः प्रमाण है, और इससे यह सिद्ध है कि शब्द की भाँति शब्द-अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य एवं अपौरुषेय है।

पद और अर्थ

वैयाकरण (स्फोटवाद)

वैयाकरणों का मत है कि अर्थ के बोधक वर्ण नहीं, स्फोट है। स्फोट, अर्थात् जिस (पद) से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है या अर्थबोध होता है (**स्फुटति अर्थः अस्मात्**)। उदाहरण के लिए 'गाय' इस पद में गकार, आकार और यकार तीन वर्ण हैं; किन्तु उनके मेल से, उनसे भिन्न जो चौथी वस्तु 'गाय' (पद) की निष्पत्ति हुई है उसी से लोक में या वेद में अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। वैयाकरणों के मत से यही चौथी वस्तु 'गाय' (पद) स्फोट है। इसीलिए वैयाकरणों ने अर्थज्ञान के लिए आठ प्रकार के स्फोट स्वीकार किये हैं। किन्तु इसके विपरीत कुछ वैयाकरण ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने वर्णों को ही मूल कारण माना है और स्फोट को बौद्धिक व्यायाम कहकर छोड़ दिया।

मीमांसा

मीमांसा का मत इससे विपरीत है। उसके अनुसार पदार्थ से वाक्यार्थ बनता है, पदों से पदार्थ और वर्णों से पद बनते हैं। इस प्रकार वर्ण ही अर्थ के मूल हेतु सिद्ध होते हैं। यदि वर्ण न हों तो पद, पदार्थ और वाक्यार्थ का संगठन हो ही नहीं सकता है। 'गाय' इस पद की निष्पत्ति तभी हो सकती है, जब गकार, आकार और यकार, इन तीन वर्णों का संयोग होगा। एक सामान्य-सी बात है कि जब वर्णों के संयोग से शब्द निष्पन्न होगा तभी तो उसके उच्चारण से अर्थबोध होगा।

मीमांसा के अनुसार वर्णों से संस्कार उत्पन्न होते हैं और तदनन्तर अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। संस्कारों के माध्यम से ही वर्ण अर्थबोध में समर्थ होते हैं।

वाक्य और अर्थ

वैयाकरण

पदार्थज्ञान के याद वाक्यार्थज्ञान का क्रम आता है। वैयाकरणों के अनुसार 'एक क्रिया वाले पद को वाक्य' कहते हैं। इसी वाक्य से उनका स्फोट सिद्धान्त बनता है। उनकी दृष्टि से वर्ण नश्वर हैं और वाक्य अखण्ड।

बौद्ध

विज्ञानवादी बौद्धों के मत से वाक्य और वाक्यार्थ क्रमशः शब्दात्मक ज्ञान और अर्थात्मक ज्ञान के परिचायक हैं। उन दोनों में कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध है। वाक्य कारण है और वाक्यार्थ कार्य।

नैयायिक वैशेषिक

नैयायिकों और वैशेषिकों के अनुसार प्रत्येक वर्ण, पदार्थ का वाचक नहीं हो सकता है, अपितु पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार अन्तिम वर्ण में जाकर पूर्ण होता है। वही अन्तिम वर्ण, पदार्थ का बोधक है। इसी प्रकार पूर्व पदार्थ के अनुभव

से उत्पन्न संस्कार अन्तिम पद में पूर्ण होता है और तभी वाक्यार्थ का बोध होता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में वर्णों और पदों का क्रम नियत होता है।

मीमांसा

मीमांसा में उक्त तीनों मतों का खण्डन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि वाक्य न तो अखण्ड है, न वाक्य-वाक्यार्थ में कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध है, और न ही अन्तिम पद, वाक्यार्थ का वाचक है। बल्कि ऐसा पदार्थ, जो पदों के समुदाय से बना हो, वाक्यार्थ का वाचक होता है; जैसे 'मोहन हँसता है' यह एक वाक्य है, और इस सम्पूर्ण वाक्य के कथन किये बिना अर्थ की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। यहाँ यह वाक्य, पदों से और पद, वर्णों से बने हैं। अतः वाक्य के अनेक खण्ड होते हैं।

शब्दार्थ जाति है या व्यक्ति

शब्दार्थ जाति है या व्यक्ति, इस सम्बन्ध में भी मीमांसा का अन्य दर्शनों से मतभेद है। 'गाय' एक शब्द है। उसके उच्चारण से हमें पहले गोत्व जाति का बोध होता है और अन्त में व्यक्ति विशेष गाय का। इसलिए जाति ही शब्द का अभिप्रेत अर्थ है, व्यक्ति नहीं। क्योंकि जाति का अभिधान किये बिना व्यक्ति का अभिधान व्यावहारिक दृष्टि से भी उचित नहीं है। जाति सामान्य के बिना व्यक्तिविशेष का ग्रहण हो ही नहीं सकता। अतः शब्दार्थ जाति है, व्यक्ति नहीं।

शब्द में विकार नहीं होता

मीमांसा दर्शन में शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध प्रतिपादन करने के बाद वेदों की प्रामाणिकता एवं अपौरुषेयता पर विचार किया गया है। शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए ऊपर विभिन्न दर्शनों की संक्षेप में जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, मीमांसा में उनका आमूल युक्ति-प्रमाण-पूर्वक खन्डन किया गया है, और यह सिद्ध किया गया है कि शब्द नित्य है, वेदवाक्य प्रामाणिक एव अपौरुषेय हैं।

मीमांसा में जिज्ञासुओं की ओर से यह शंका उपस्थित की गयी है कि वेद स्वतः प्रमाण कैसे हो सकते हैं; क्योंकि वेदों में ही हमें यह देखने को मिलता है कि वसु, इन्द्र आदि के अर्थ उत्पत्ति-युक्त होने के कारण अनित्य हैं। यदि वे अनित्य हैं तो वसु, इन्द्र आदि उसके वाचक शब्द भी अनित्य हैं। इसके अतिरिक्त लोक-व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि शब्द का उच्चारण करने के बाद वह नष्ट हो जाता है। शब्द में आगम-लोप (प्रकृति-विकृति) होना भी उसकी अनित्यता बताते हैं। वह पुरुष प्रयत्नज भी है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसको इच्छानुसार कम या अधिक बोल सकता है।

इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'गो' आदि कोई भी व्यक्ति द्रव्य, गुण कर्म से उत्पन्न होता है; उसको आकृति उत्पन्न नहीं होती है। इसी आकृति के साथ शब्द का सम्बन्ध होता है। व्यक्तियों के अनन्त होने पर भी आकृति के एक और

नित्य होने से देश-काल के अनुसार शब्द में कोई निरोध या विकृति नहीं आने पाती। 'ई' के स्थान पर 'य' कर देने से शब्द की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आने पाता; क्योंकि व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से 'आगम' तथा 'आदेश' विकार नहीं माना जाता। वह तो केवल शब्दान्तरमात्र है। शब्द निरवयव तथा यथार्थ है। अतः वह पुरुष प्रयत्न से घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता।

इसलिए शब्द नित्य है और अर्थज्ञान का कारण होने से शब्दोच्चारण की व्यवस्था तो एकमात्र श्रोता की सुविधा के लिए की गयी है।

वेद

वेद अपौरुषेय, नित्य और उसकी प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है। मीमांसा के इस मन्तव्य के बावजूद भी अन्य दर्शनों में वेदों के अपौरुषेय, नित्य और स्वतः प्रमाण होने पर सन्देह किया गया है। इस सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों का अभिमत संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

नास्तिक दर्शन

नास्तिक दर्शन में वेद को व्यर्थ का वाग्जाल और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा रचा गया एक जाली ग्रन्थ माना गया है। आचार्य चार्वाक ने तो उसको बुद्धिहीन और निष्क्रिय लोगों की जीविका का साधन (**बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका**) बताया है।

न्याय

इसके विपरीत आस्तिक दर्शनों में वेदों की सत्ता को सर्वोपरि माना गया है। जहाँ तक न्याय दर्शन का सम्बन्ध है, वहाँ वेद की सत्ता पर तो विश्वास किया गया है; किन्तु उसको पौरुषेय, अर्थात् पुरुष का रचा हुआ माना गया है। इस सम्बन्ध में अनुमान प्रमाण द्वारा वहाँ कहा गया है कि

वेद पौरुषेय है
वाक्य होने के कारण
जैसे 'महाभारत' आदि

वैशेषिक

वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि ईश्वर का वचन होने के कारण वेद प्रमाण है। (**तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्**)। वैशेषिक दर्शन में वेदों को इसलिए प्रमाण नहीं माना जाता है कि वे अपौरुषेय हैं, जैसा कि सांख्य में माना गया है। बल्कि उनको इसलिए प्रमाण माना जाता है कि वे ईश्वरवचन हैं और उनमें धर्म का प्रतिपादन है। वैशेषिक की दृष्टि से धर्म और अधर्म इनका लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता। इनके अस्तित्व के एकमात्र प्रमाण वेद है। वैशेषिक में वेदों को प्रमाण तो माना गया है; किंतु अपौरुषेय नहीं। वहाँ वेदों को पुरुष रचित माना गया है; क्योंकि उनका प्रतिपाद्य विषय अर्थ है, जो कि पुरुषप्रयत्नज है।

सांख्य

सांख्य निरीश्वरवादी दर्शन होने पर भी वेदों के सनातन स्वरूप को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में वेद अनित्य होने पर भी अपौरुषेय है। इसी एक आधार पर सांख्य की नास्तिक दर्शनों की कोटि में परिगणित होने से रक्षा हो गयी। सांख्य के इस मन्तव्य से यह भी स्पष्ट हो गया कि ईश्वर की अपेक्षा वेद का अधिक महत्त्व है और इसीलिए यह सिद्धांत निर्धारित हो गया कि ईश्वर विरोधी, किन्तु वेद अविरोधी आस्तिक; और वेद विरोधी, किन्तु ईश्वर अविरोधी नास्तिक है।

योग

ईश्वर का लक्षण करते हुए पतंजलि के 'योगसूत्र' में कहा गया है कि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है। वह अनादि, मुक्त और ऐश्वर्यशाली है। निर्माण की इच्छा के लिए ज्ञानसम्पन्न होकर वह प्राणियों पर अनुग्रह करता है। उसका वाचक प्रणव (ओ३म्) है। ईश्वरप्रणिधान, अर्थात् भक्तिविशेष के द्वारा ईश्वर की परम कृपाओं को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार सांख्य में जो स्थान विवेक को दिया गया है वही स्थान योग में ईश्वर का है।

वेदान्त

वेदान्त दर्शन में वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है। उन्हें नित्य और अपौरुषेय माना गया है; किन्तु मीमांसा की अपौरुषेयता से भिन्न। वेदान्तियों की दृष्टि से पौरुषेय उसको कहते हैं, जो किसी पुरुष के द्वारा दूसरे प्रमाणों की सहायता से बताया जाता है। इसलिए वेद ईश्वर प्रणीत नहीं है; बल्कि ईश्वर द्वारा उच्चरित एवं निश्वसित है। वे कल्पान्त में भी स्थायी एवं एकरूप बने रहते हैं। उनके वाक्यार्थ ज्ञान के लिए वेदान्त में 'उपक्रम' आदि छह साधन बताये गये हैं।

मीमांसा

मीमांसा दर्शन में नित्य, अपौरुषेय और स्वतःप्रमाण वेदों पर गम्भीर एवं मौलिक दृष्टि से विचार किया गया है। उसको इसीलिए वैदिक दर्शन कहा गया है। उसमें वेदों के सनातन, अनादि, अनन्त रूप पर संदेह करने वाले अन्य दर्शनों का युक्तिपूर्वक खंडन किया गया है। उसको ईश्वर अथवा परमेश्वर की क्रिया या रचना कहना असंगत है। अन्य दर्शनों, विशेष रूप से न्याय दर्शन, में वेद की पौरुषेयता सिद्ध करने के लिए जिस अनुमान का पहले उल्लेख किया जा चुका है, मीमांसा में उसको उपाधिग्रस्त (दोष-ग्रस्त) कहकर उसका खंडन किया गया है।

जिन विचारकों ने वेदों को सादि, ऋषिप्रणीत कहा है उसके अनुसार अन्य सांसारिक वस्तुओं की भाँति वेदों को भी प्रलयकाल में विनष्ट होने वाला माना गया है। इसके अतिरिक्त वेदों के अनेक सूक्तों तथा ऋचाओं को, उनमें आये ऋषियों के नामों के आधार पर, ऋषियों की रचनाएँ माना गया है। उनमें ऐसे व्यक्तियों के नाम

भी आये हैं, जो ऐतिहासिक हैं। विपक्षियों का कहना है कि इसीलिए वेदों को अनित्य कहा जाना चाहिए और इसी हेतु वे अपौरुषेय भी नहीं हैं।

इन विरोधी मतों के खण्डनार्थ मीमांसा दर्शन में विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ माना गया है कि वेद तो भगवान् के विश्वास हैं (**यस्य निःश्वसितं वेदः**)। प्राणिमात्र में जैसे श्वास-प्रश्वास की क्रिया अनायास एवं स्वाभाविक है, ठीक वैसे ही उस महाभूत के मुख से वेदों का निर्गमन हुआ। वे सदा नित्य और सत्य हैं। जिन ऋषियों का उन-उन मंत्रों में नाम आया है वे ऋषि उन-उन मंत्रों तथा सूक्तों के रचयिता न होकर प्रवक्ता एवं प्रवचनकार थे। उन्हें जो ऋषिप्रणीत कहा गया है वह हमारे दृष्टिकोण का परिणाम है। शुद्ध बुद्धि से चिन्तन करने पर यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि सत्यप्रकृति ऋषियों के शुद्ध अन्तःकरण में पुराकल्प के अनुभूत सत्यों का प्रकट होना कोई नयी बात नहीं थी। उनके वे अनुभव, जो कि वेद-मंत्रों में देखने को मिलते हैं, अनादि हैं। इसलिए यह कहना कि उन्होंने अपनी ज्ञानमेधा से वेदमंत्रों का निर्माण किया या उनमें अपनी ओर से कुछ जोड़ दिया, उचित नहीं है।

अपौरुषेय होने से वेद निष्कलुष एवं निर्दोष हैं। पुरुष सदोष और सकलुष हैं। इसलिए उनके द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य सदोष होगा। शिष्य-परम्परा के द्वारा वेदों का अध्ययन-अध्यापन होता आया। योग दर्शन में इसीलिए वेद को गुरुओं का भी गुरु कहा गया है।

वेद अभ्रांतिमूलक हैं और जहाँ पर कर्मकाण्ड का फल ठीक नहीं दिखायी देता वहाँ वेद का नहीं, बल्कि ऋत्विक् क्रिया आदि का दोष समझना चाहिए। अतः वेद अनादि, अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण हैं।

जैमिनि के 'मीमांसासूत्र' के तीसरे अध्याय में वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए श्रुति आदि प्रमाणों की योजना बतायी गयी है। उनके नाम हैं : श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या। इनमें पर-पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व को प्रबल माना गया है।

'श्रुति' उस वाक्य को कहते हैं जो किसी अन्य वाक्य की अपेक्षा नहीं रखता। शब्दों में अर्थ-प्रकाशन की शक्ति को 'लिंग' कहते हैं। दूसरे योग्यपद की अपेक्षा रखने वाले पदसमूह को 'वाक्य' कहते हैं। उस प्रधान वाक्य को 'प्रकरण' कहते हैं, जो अंगभूत दूसरे गौण वाक्य की अपेक्षा नहीं रखता। क्रम पठित शब्द के साथ क्रम पठित अर्थ के सम्बन्ध को 'स्थान' कहते हैं। इसी प्रकार संचार-सादृश्य को 'समाख्या' कहते हैं।

कर्मकाण्ड के वाक्यार्थ-निर्णय के लिए ही जैमिनि ने धर्म-जिज्ञासुओं के लिए पूर्व मीमांसा दर्शन का निर्माण किया है। धर्म-जिज्ञासा ऐसी वस्तु है जहाँ प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए अनुभव का आश्रय नहीं लिया जाता; बल्कि वहाँ श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन्हीं को प्रमाण माना गाया है। मीमांसा में इन छह प्रमाणों पर विस्तार एवं बारीकी से विचार किया गया है।

(५) अर्थापत्ति

किसी श्रुत या दृष्ट विषय की सिद्धि जिस अर्थ के बिना नहीं होती उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। अर्थात् जब कोई घटना ऐसी देखने को मिलती है, जिसका निश्चय हम किसी दूसरे विषय को देखे बिना नहीं कर पाते, ऐसी संभावना या कल्पना को अर्थापत्ति के अन्तर्गत माना गया है। उदाहरण के लिए 'देवदत्त दिन में कुछ नहीं खाता, फिर भी मोटा है', इस वाक्य में 'कुछ न खाना' और 'मोटा दिखाई देना' इन दोनों वाक्यों में विरोधाभास है। इस विरोधाभास का हम ऐसी कल्पना करके समाधान करते हैं कि 'देवदत्त रात को भोजन करता है, इसलिए मोटा है'। हमारा यही अनुमान या कल्पना 'अर्थापत्ति' का मूलाधार है। इसलिए यह सिद्ध है कि अर्थापत्ति में दृष्ट अर्थ की व्याख्या के लिए किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार की कल्पना के द्वारा उन सभी विरुद्ध कोटिक वस्तुओं का समन्वय तथा समाधान हो जाता है।

प्रभाकर का कहना है कि केवल दृष्ट और श्रुत से ही 'अर्थापत्ति' का सम्बन्ध नहीं है; बल्कि किसी भी उपपत्ति के लिए 'अर्थापत्ति' का आश्रय लिया जा सकता है।

अर्थापत्ति स्वतंत्र प्रमाण है। इसके द्वारा हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको न तो प्रत्यक्ष से, न शब्द से और न अनुमान से उपलब्ध किया जा सकता है। इसीलिए मीमांसकों को 'अर्थापत्ति' नामक स्वतंत्र प्रमाण की आवश्यकता हुई।

अर्थापत्ति के भेद

अर्थापत्ति के दो भेद किये गये हैं : दृष्टार्थ और श्रुतार्थ। दृष्टार्थ का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। श्रुतार्थ वह है, जैसे 'सुनने में आता है कि देवदत्त, जो जीवित है, घर पर नहीं है'। इससे यह अनुमान होता है कि वह दूसरे किसी स्थान पर है, अन्यथा जीवित होने पर भी उसका घर पर न रहना, इन दोनों विरुद्ध कोटिक अर्थों में समन्वय स्थापित नहीं हो सकता है।

(६) अनुपलब्धि या अभाव

अनुपलब्धि या अभाव को भी मीमांसा में स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्ष आदि जितने भी प्रमाण बताये गये हैं उनके द्वारा जब किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता तब हमें 'अनुपलब्धि' का आश्रय लेना पड़ता है। वस्तु के अभाव का ज्ञान 'अनुपलब्धि' प्रमाण से ही होता है।

यद्यपि कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' में 'अभाव' को पदार्थों की श्रेणी में नहीं रखा गया है; किन्तु बाद के वैशेषिकों ने 'अभाव' को 'भाव' का प्रतियोगी मान कर स्वीकार किया है। न्याय दर्शन में भी इसको इसी रूप में स्वीकार किया गया है।

मीमांसकों ने भी यद्यपि 'अनुपलब्धि' या 'अभाव' को स्वतन्त्र प्रमाण माना है; किन्तु उसको उतनी गंभीरता से नहीं समझा सका, जितना कि अन्य प्रमाणों के विषय

में कहा है। आचार्य प्रभाकर तो उसको इसीलिए स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं। उसको उन्होंने 'अधिकरण' के रूप में माना है।

'अनुपलब्धि' को प्रमाण मानने की प्रेरणा मीमांसकों को वैशेषिक दर्शन से मिली। अतः इस प्रमाण और इसके प्रभेदों के लिए वैशेषिक दर्शन का 'अभाव' प्रमाण देखना चाहिए।

प्रामाण्य विचार

ऊपर प्रमाणों पर विचार किया गया है। प्रमाणों के भाव अर्थात् धर्मविशेष को 'प्रामाण्य' कहते हैं। यथार्थ ज्ञान के प्रमात्व को 'प्रामाण्य' कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो भ्रांति तथा संयम से रहित, निश्चयात्मक या यथार्थ अनुभव में विद्यमान धर्मविशेष को 'प्रामाण्य' कहते हैं। जो पदार्थ जिस रूप में अवभासित या अवस्थित है वह अव्यभिचरित होना चाहिए और उसकी वास्तविकता उसके अवभास से अलग नहीं होनी चाहिए।

इस प्रामाण्यवाद को लेकर दर्शनों में अनेक तरह के सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं। 'स्वतः' और 'परतः' प्रामाण्य को लेकर विभिन्न दर्शन संप्रदायों में जो मतभेद रहा है उसका आशय इस श्लोक में समझाया गया है :

प्रमाणात्वाऽप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥

अर्थात् सांख्यकारों की दृष्टि से प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व, दोनों की उत्पत्ति स्वतः से, नैयायिकों की दृष्टि में परतः से, बौद्धों के मत में अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः तथा प्रामाण्य का परतः से, और मीमांसकों के मन में प्रामाण्य का जन्म स्वतः तथा अप्रामाण्य का परतः से है। इसका यह आशय हुआ कि (१) प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है; या (२) वह अपने आश्रय ज्ञान से उत्पन्न होता है; अथवा (३) वह ज्ञान की कारण सामग्री से उत्पन्न होता है; किंवा (४) ज्ञान के जितने साधारण कारण हैं उनसे उत्पन्न विशेष ज्ञान में प्रामाण्य निहित रहता है।

प्रामाण्यवाद को लेकर नैयायिकों और मीमांसकों में बड़ा मतभेद रहा है। नैयायिक 'परतः प्रामाण्य' को और मीमांसक 'स्वतः प्रामाण्य' को मानते हैं। एक जनक कारण विषयक और दूसरा ज्ञापक कारण विषयक है। 'जनक कारण' उसको कहते हैं, जिससे कार्य उत्पन्न होता है, और 'ज्ञापक कारण' वह है, जिससे कार्य का ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रामाण्य का कारण 'स्व' है या 'पर' इस प्रकार का जो संशय या द्विविधा है उसी का समाधान तथा स्पष्टीकरण प्रामाण्यवाद की आधारभूमि है। 'स्व' शब्द से

प्रामाण्य, प्रामाण्य का आश्रयज्ञान तथा ज्ञानकारण की सामग्री का ग्रहण किया जाता है, और 'पर' शब्द से इन तीनों से भिन्न का आशय ग्रहण किया जाता है।

यहाँ हम अन्य दर्शनों के मन्तव्यों को छोड़कर केवल मीमांसकों और नैयायिकों के प्रामाण्यवाद पर ही विचार करेंगे।

परतः प्रमाण्यवाद का खंडन

नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी हैं। उनके मतानुसार प्रत्येक ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए अतिरिक्त कारणों का होना आवश्यक है। नैयायिकों का कहना है कि जब एक ज्ञान व्यक्ति अपने विषय का प्रामाण्य व्यक्त करता हो, जैसे 'यह पुस्तक है'; या दूसरा ज्ञान व्यक्ति अपने विषय का अप्रामाण्य प्रकट कर रहा है, जैसे 'शुक्ति में रजत है'; तो व्यक्ति भेद से यह मूलभेद यद्यपि संभव है, किन्तु उससे अनवस्था उत्पन्न होती है। क्योंकि जब एक ज्ञान व्यक्ति से 'पुस्तक' ज्ञान में प्रामाण्य प्रतिपादित है तो स्वनिष्ट (स्वतः) होने के कारण उसमें अप्रामाण्य क्यों नहीं रह सकेगा ? ऐसी अवस्था में किस ज्ञान में प्रामाण्य और किसमें अप्रामाण्य माना जायगा ? इसलिए यह मानना पड़ेगा कि ये दोनों स्वाभाविक नहीं हैं। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि परतः प्रामाण्य और परतः अप्रामाण्य तर्कसंगत है।

मीमांसकों का कहना है कि यदि प्रामाण्य में परतः माना जायगा तो ज्ञान अपनी सत्ता को प्राप्त न कर पायेगा और उसका मूल तक उच्छिन्न हो जायगा। नैयायिकों के अतिरिक्त कारणों (नेत्र की निर्विकारता) को मीमांसक कारण सामग्री का ही अंग मानते हैं। नैयायिकों का यह भी कहना है कि प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान के द्वारा निश्चित होता है। इसके विरोध में मीमांसकों का कहना है कि ऐसा कहने से अनवस्था दोष आ जायगा और कोई भी प्रामाण्य निश्चित न हो पायेगा। उदाहरण के लिये बाघ या शेर देखकर यदि हम उनका प्रमाण सिद्ध करने के लिए दूसरे उपायों (प्रमाणों) का आश्रय लेंगे तो निश्चित ही जीवन गवाँ बैठेंगे। किन्तु वास्तविकता यह है कि बाघ या सिंह को देखते ही, बिना प्रमाणों की खोज किये ही हम वहाँ से भाग जाते हैं।

इसलिए, मीमांसकों के अनुसार, नित्य अपौरुषेय वेद स्वतः प्रमाण है। उनका प्रमाण स्वतः सिद्ध है, किसी अनुमान पर निर्भर नहीं है। वेदार्थ को समझने के लिए मन के संययों को तर्क के द्वारा परिमार्जित करने का उद्देश्य दूसरा है। इससे ता वेदार्थ की सत्यता ही सिद्ध होती है।

स्वतः प्रामाण्यवाद

मीमांसकों के मतानुसार नित्य एवं अपौरुषेय वेदों का निरूपण स्वतन्त्र रूप से किया जा चुका है। वेद उनकी दृष्टि से स्वतः प्रमाण है। जिसको 'शब्द प्रमाण' या 'आगम' कहा गया है, मीमांसकों की दृष्टि से वही वेद एकमात्र प्रमाण है। व्यावहारिक दृष्टि से, मीमांसकों का अभिमत है कि, जन-सामान्य अपनी आँखों द्वारा दू ही से जल को देखकर 'इस स्थान पर जल है' इस यथार्थ ज्ञान का निश्चय करके वह

जल लाने के लिए जाता है। प्रभाकर और कुमारिल का कहना है कि 'ज्ञान' और 'मिथ्या' ये दोनों बातें एक साथ नहीं रह सकती हैं।

आचार्य प्रभाकर ज्ञान को 'स्वतः प्रमाण' और 'स्व प्रकाश' मानते हैं। उनका कथन है कि स्व प्रकाश होने से ज्ञान का स्वतः प्रमाण भी अपने आप सिद्ध हो जाता है। ज्ञान, क्योंकि यथार्थ होता है, अतः उनके प्रामाण्य के लिए किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा होती ही नहीं। यही 'स्वतः प्रामाण्यवाद' है।

आचार्य कुमारिल का अभिमत है कि बिना ज्ञान के ज्ञातता की कोई स्थिति नहीं है। उदाहरण के लिए जब आँखें घट को नहीं देखती हैं तभी यह कहा जाता है **'अयं घटः'**। दूसरे भाट्ट मीमांसक इससे बढ़कर यह तर्क उपस्थित करते हैं 'मुझसे यह घट देखा गया' (**मया ज्ञातो अयं घटः**)। इस उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि 'घट ज्ञान' के पहले 'घट' को जानना आवश्यक है। यही भाट्ट मीमांसकों का 'स्वतः प्रमाण' है।

तीसरे मीमांसक मुरारि मिश्र के मत से, इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न 'घट ज्ञान' अनुव्यवसाय होता है। इसी अनुव्यवसाय के द्वारा 'घट ज्ञान' का मान तथा प्रामाण्य सिद्ध होता है। यही मुरारि मिश्र का 'स्वतः प्रमाण' है।

मीमांसकों के स्वतः प्रमाण के ज्ञातव्य सूत्र हैं :

१. ज्ञान की प्रामाणिकता (प्रामाण्य), उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में ही विद्यमान रहती है, कहीं बाहर से नहीं आती।

२. ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है।

भ्रान्तिज्ञान

प्रभाकर के मत से

प्रभाकर के मत से 'भ्रांति' और 'ज्ञान' ये दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। वस्तु की अन्यथा भ्रांति और वस्तु की यथार्थ जानकारी ज्ञान है। सीपि में रजत का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, भ्रमज्ञान है। यह ज्ञान दृष्टिदोष के कारण है। यह न तो 'प्रत्यक्ष' और न 'अनुमान' के अन्तर्गत आता है। जो लोग यह कहते हैं कि सीपि, चक्षु का विषय है और चक्षु आत्मा से सम्बन्धित है तथा संस्काररूप में विद्यमान रजत मन का विषय होने के कारण उन दोनों का ज्ञान भिन्न है और इसलिए यथार्थ है, उन लोगों के लिए प्रभाकर का कथन है कि सीपि और रजत दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं। उनको एक रूप में जान लेना ही तो भ्रांति का कारण है।

कुमारिल के मत से

कुमारिल भट्ट इस मिथ्या ज्ञान को 'अन्यथाख्याति' के नाम से कहते हैं। उनका कहना है कि जिस समय कोई व्यक्ति रज्जु में सर्प का ज्ञान करता है उस समय उसका वह ज्ञान सच्चा होता है, क्योंकि सर्प को देखकर जो भय तथा कम्पन होता है

उसको वह व्यक्ति अनुभव करता है। बाद में भले ही वह व्यक्ति अपने इस मिथ्याज्ञान को भ्रम समझ ले; किन्तु पहले तो उसमें भ्रम की कोई आशंका थी ही नहीं।

पक्षधर के मत से

आचार्य पक्षधर मिश्र और उनके उत्तरवर्ती मीमांसकों ने इस सर्प-रज्जु-ज्ञान को भ्रान्तिज्ञान कहा है। उनका कहना है कि सर्पत्व तो सदैव सर्प में रहता है, रज्जु में नहीं। रज्जु में जो सर्प का 'आरोप' किया जाता है वही अयथार्थ ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान है।

तत्त्व विचार

पदार्थ

मीमांसा में न्याय और वैशेषिक की भाँति जगत् और जगत् के कारणभूत पदार्थों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। ये पदार्थ प्रभाकरमत, भाट्टमत, मुरारिमत से भिन्न-भिन्न हैं, जिसका स्वरूप नीचे स्पष्ट किया जाता है।

गुरुमत

'मीमांसासूत्र' के 'शाबरभाष्य' में द्रव्य, गुण, कर्म और अवयव, इन चारों का उल्लेख किया गया है। आचार्य प्रभाकर ने **'प्रकरण पञ्चिका'** में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति और साद्दश्य, इन आठ पदार्थों को माना है। प्रभाकर ने नौ प्रकार के द्रव्य माने हैं, जिनके नाम हैं : क्षिति, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन और दिक्। इन द्रव्यों का स्वरूप प्रायः न्याय-वैशेषिक के अनुसार है। प्रभाकर के मत से गुणों की संख्या इक्कीस है। वे वैशेषिक के संख्या, विभाग, पृथक्त्व तथा द्वेष, इन चारों के स्थान पर 'वेग' नामक एक ही गुण को मानते हैं। शेष बीस गुण वैशेषिक के अनुसार हैं। कर्म प्रत्यक्ष गोचर न होकर अनुमेय है। वस्तु के संयोग और विभाग के द्वारा कर्म का अनुमान लगाया जा सकता है। सामान्य, समवाय और सादृश्य का स्वरूप वैशेषिक की भाँति है। नैयायिकों के अभाव और गुण क्रमशः शक्ति और साद्दश्य हैं। फिर भी 'शक्ति' पदार्थ को प्रभाकर की विशिष्ट सूझ कहा जा सकता है। अग्नि में रहने वाली दाहकता, अग्नि की शक्ति है जिसके अभाव में अग्नि का कोई अस्तित्व नहीं है। प्रभाकर के मत से सभी क्रियाशील पदार्थों के मूल में रहने के कारण 'संख्या' भी एक भिन्न पदार्थ है।

कुमारिलमत

कुमारिल के मत से पदार्थ का प्रमुख दो श्रेणियाँ हैं : भाव और अभाव। भाव पदार्थ के चार अवान्तर भेद हैं : द्रव्य, गुण, कर्म तथा सामान्य। इसी प्रकार अभाव के भी चार प्रकार हैं : प्राग् अभाव, अत्यन्त अभाव, ध्वंस अभाव और अन्योन्य अभाव। पुनः भाव पदार्थ द्रव्य के ग्यारह भेद हैं : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन, अन्धकार तथा शब्द।

मुरारिमत में अंधकार और आकाश को भी स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है क्योंकि उन्होंने 'अंधकार' को चलते हुए तथा नील गुण से युक्त देखा और लोक-व्यवहार में 'नील तमश्चलति' इस उक्ति का प्रचलन सुना है। इसी प्रकार आकाश भी स्वतन्त्र द्रव्य है। इन दोनों का ज्ञान, चक्षुओं से होता है। भाट्टमत में आत्मा और मन, दोनों विभु हैं। वहाँ गुणों की संख्या तेरह मानी गयी है : रूप, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परतत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और स्नेह। कर्म उनकी दृष्टि में प्रत्यक्षगोचर है।

मुरारिमत

मुरारिमत में एकमेव पदार्थ माना गया है 'ब्रह्म'। इस एक पदार्थ को मानने के कारण परवर्ती मीमांसकों ने मीमांसा दर्शन को 'ब्रह्म मीमांसा' के नाम से कहा है। लोक-व्यवहार के संचालन के लिए मुरारिमत में चार प्रकार के पदार्थ माने गये हैं : धर्मि (घट), धर्म (घटत्त्व), आधार (अनियत आश्रय) और प्रदेशविशेष (दैशिक आधार)।

जगत् और जागतिक विषयों की सत्यता

जगत् और जागतिक विषयों के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन का सिद्धान्त सर्वथा निजी है। मीमांसा का मत है कि बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि के साधन हमारी इन्द्रियों द्वारा जिस रूप में जगत् का प्रत्यक्ष होता है उसी रूप में जगत् की सत्यता सिद्ध है। सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में मीमांसा का सांख्य से लगभग एकमत है। मीमांसाकारों ने आत्मा तथा परमाणु को नित्य माना है और सृष्टि-रचना के मूल में कर्मों के संचय को कारणस्वरूप स्वीकार किया है। मीमांसा के मत से इस जगत् में तीन प्रकार की वस्तुओं का हमें ज्ञान होता है : (१) इस भोगायतन शरीर में आत्मा अपने संचित पूर्वकर्मों का फलोपभोग करता है; (२) ये ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय आत्मा के सुख-दुःखों के फलोपभोग के साधन हैं; और (३) जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे आत्मा के भोग के विषय हैं। भोगायतन, भोगसाधन और भोगविषय यह नानारूप संसार अनादि तथा अनन्त है। सांख्य के विपरीत मीमांसक प्रलय को नहीं मानते, बल्कि उनकी दृष्टि में जगत् की सत्ता नित्य है। जीवात्माओं के उपभोग के लिए परमाणु स्वाभाविक रूप से परिवर्तित होते रहते हैं। कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणु संयोग से जीव उत्पन्न होते हैं और फल की समाप्ति होने पर उनका नाश हो जाता है। हमारे नेत्र-गोचर कण की परमाणु हैं। उनसे सूक्ष्म कणों की कल्पना का कोई आधार नहीं है। इसलिए जगत् और परमाणु अनुमानगम्य न होकर प्रत्यक्षगम्य हैं। वे ईश्वर के द्वारा भी संचालित नहीं होते। इस दृष्टि से मीमांसा वस्तुवादी दर्शन है।

शक्ति

कार्य-कारण के सम्बन्ध में मीमांसा का नवीन दृष्टिकोण है। संसार के सभी पदार्थों की उत्पत्ति के रूप में एक अदृष्ट शक्ति है, जो कि अतीन्द्रिय होने के कारण

अनुभवगम्य है । यह अदृष्ट शक्ति कारण रूप है । जितने भी कार्यरूप जागतिक पदार्थ हैं उनके मूल में यह कारणरूप अदृष्ट शक्ति विद्यमान रहती है। इस शक्ति के नष्ट हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति भी बन्द हो जाती है । बीज में एक अदृष्ट शक्ति है, जिससे उसमें अंकुर उगता है; किन्तु उस अदृश्य शक्ति के नष्ट हो जाने पर अंकुर नहीं उग सकता । कारण रूप इस अदृष्ट शक्ति के बिना कार्यरूप पदार्थ की उत्पत्ति संभव है ही नहीं । संसार के सभी बाह्य पदार्थ इस अदृष्ट शक्ति के कारण सत्तावान् हैं । अग्नि में दाहकता शक्ति, शब्द में अर्थबोधक शक्ति और प्रकाश में दीप्ति शक्ति विद्यमान है । तभी अग्नि, शब्द और प्रकाश की सत्ता है ।

कर्म और कर्मफल के व्यवधान को जोड़ने के लिए मीमांसा में जिस 'अपूर्व' की स्थापना की गयी है, वह अदृष्ट शक्ति का ही एक रूप है । यह अदृष्ट शक्ति न केवल पदार्थों की वर्तमानकालिक उत्पत्ति का कारण है, अपितु वह त्रिकालव्यापी है । जीव के भूतकालिक कर्मों का फल वर्तमान काल में, वर्तमानकालिक कर्मों का फल भविष्य में फलित होने का कारण भी यह अदृष्ट है । वर्तमान में किये गये कर्मों और कालांतर में होने वाली फलोत्पत्ति के बीच यह 'अपूर्व' शक्ति एक सूत्र का कार्य करती है । इस अदृष्ट शक्ति से ही मीमांसा में 'अपूर्व' का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, जिससे हमारे द्वारा किये गये इस जीवन के यज्ञादि शुभकर्मों और पापादि दुष्कर्मों का परिणाम हमारे पारलौकिक जीवन में घटित होता है । कर्मों का संचय ही 'अपूर्व' है, जो कि अदृष्ट शक्ति के द्वारा जन्मांतर में फलित होता है । इसी के आधार पर स्वर्ग, नरक की सत्यता सिद्ध होती है ।

आत्मा

मीमांसा वस्तुवादी दर्शन है; अर्थात् उसमें जगत, जागतिक विषय, परमाणु और आत्मा को नित्य माना गया है । आत्मा नित्य है । शरीर, इन्द्रिय आदि से वह भिन्न है । श्रुति में कहा गया है कि '**यजमानः स्वर्गं लोकं याति**' यजमान यज्ञ करने के बाद स्वर्ग को जाता है । वस्तुतः यजमान का शरीर तो यहीं दग्ध हो जाता है । इसलिए शरीर स्वर्ग नहीं जाता । स्वर्ग जो जाता है वही आत्मा या जीवात्मा है । जीव के नष्ट हो जाने पर जीव के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का संचय जीवात्मा या आत्मा में होता है । उन्हीं कर्मों को लेकर आत्मा, जीव के पुनर्जन्म में पुनः जीव के साथ संयुक्त होकर उसे पूर्वार्जित कर्मों के फलोपभोग में प्रवृत्त करता है । नित्य होने से वह जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त है । वह कर्त्ता और भोक्ता भी है । वह विभु है, क्योंकि 'अहं' भाव के रूप में वह सर्वत्र विद्यमान है और 'अहं' प्रत्यक्षगम्य है । अतः वह ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों है ।

जैन दर्शन की भाँति मीमांसा भी जीवात्मवादी दर्शन है । उसके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्माओं का निवास है । चैतन्य, आत्मा का औपाधिक गुण है । यह गुण इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उसमें आता है । जब

जीव मोक्षावस्था या सुषुप्तावस्था में होता है तब आत्मा में ये औपाधिक गुण नहीं होते। इसलिए आत्मा जड़ है और जड़ होने से बोधस्वरूप है।

आत्मा का ज्ञान

ज्ञान के सम्बन्ध में प्रभाकर और भाट्ट मीमांसकों में मतभेद है। मीमांसकों का कथन है कि ज्ञान स्वयं प्रकाश भी है और ज्ञाता तथा ज्ञेय का प्रकाश भी है। उदाहरण के लिए 'मैं' ज्ञाता, 'घट' ज्ञेय और 'घटविषयक जानकारी' ज्ञान, विषय के ये तीनों अंग एक साथ जाने जाते हैं। यह ज्ञान का ज्ञान भी है और साथ-साथ ज्ञाता तथा ज्ञेय का भी ज्ञान है। इसको 'त्रिपुटी ज्ञान' कहा गया है।

प्रभाकर मीमांसकों का कहना है कि प्रत्येक वस्तुज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान कर्त्ता के रूप में प्रकाशित होता है। 'मैं घड़े को जानता हूँ' यहाँ क्रिया के कर्ता के रूप में आत्मा ही आलोकित है। प्रभाकर का कथन है कि जीव (भोक्ता), शरीर (भोगायतन), इन्द्रिय (भोगसाधन)' सुख-दुःखादि (भोग्य) और ज्ञाता (मैं) इन पाँचों के रहने पर ही ज्ञान होता है।

इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों का कथन है कि ज्ञान अपना विषय स्वयं उसी प्रकार नहीं हो सकता जैसा अंगुलि का अग्रभाग स्वयं अपने को स्पर्श नहीं कर सकता है। इसलिए ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्षगम्य नहीं; बल्कि अनुमानगम्य है।

भाट्ट मीमांसकों का कहना है कि हमें आत्मा का ज्ञान 'अहं वित्ति' (मैं हूँ) या 'आत्मसंवित्ति' (मैं जानता हूँ) के आधार पर होता है, प्रत्येक विषयज्ञान के साथ नहीं। 'मैं अपने को जानता हूँ' इस ज्ञान में आत्मा, ज्ञान का कर्त्ता और ज्ञान का कर्म दोनों हैं। 'मैं हूँ' का जो विषय है वही आत्मा है। आत्मज्ञान, विषयज्ञान का नित्य सहचर नहीं; बल्कि दोनों अलग-अलग हैं।

इसके विपरीत प्रभाकर मीमांसकों का कथन है कि 'अहं वित्ति' का आधार उचित नहीं है। एक ही क्रिया में एक ही वस्तु कर्त्ता और कर्म, दोनों नहीं हो सकती है। एक ही आत्मा को ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों नहीं माना जा सकता है; क्योंकि एक ही अन्न भोक्ता तथा भोज्य नहीं हो सकता है।

प्रति शरीर आत्मा की भिन्नता

प्रायः सभी मीमांसक भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्माओं का निवास मानते हैं। उदाहरण के लिए यदि ऐसा न होता है तो देवदत्त की देखी हुई वस्तु का ज्ञान यज्ञदत्त को भी बिना देखे हो जाना चाहिये, क्योंकि दोनों के शरीर में एक ही आत्मा है। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए आत्मा एक है, विभु है, नित्य है और प्रति शरीर वह भिन्न-भिन्न है। इसीलिए उसको नानारूप कहा गया है।

यदि हम प्रति शरीर आत्मा की भिन्नता (अनेकता नहीं) नहीं स्वीकार करते हैं तो देवदत्त की आत्मा द्वारा किये गये कर्मों का फल यज्ञदत्त को भी मिलना चाहिये, क्योंकि दोनों में एक ही आत्मा है। अतः कर्म और कर्मफल की व्याख्या के लिए, जो

कि मीमांसा का मुख्य विषय है, प्रति शरीर आत्मा की भिन्नता स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

शरीर से आत्मा भिन्न है। जिस प्रकार शरीर से शरीर उत्पन्न होता है उस प्रकार आत्मा से आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती। वह उत्पत्ति-विनाश आदि धर्मों से रहित है। क्योंकि नित्य है। वह 'अहम्' प्रत्यय द्वारा जाना जाता है।

धर्म विचार

धर्म का लक्षण : विशेषण : स्वरूप

मीमांसा दर्शन का मुख्य विषय है धर्म का प्रतिपादन करना। विभिन्न दर्शनों में धर्म की जो अनेक परिभाषाएँ स्थिर की गयी हैं, मीमांसा में उनका खण्डन करके धर्म की व्यापक सत्ता को सर्वोपरि रूप में स्वीकार किया गया है। महर्षि जैमिनि ने धर्म का लक्षण करते हुए लिखा है कि वेद के बोधित होने पर साक्षात् या फल के द्वारा, जो अनर्थ के परे एवं इष्ट को सिद्ध करने वाला हो वही धर्म है। संक्षेप में कहा जाय तो मीमांसा में विधिरूप अर्थ को धर्म कहा गया है। उसका प्रयोजन अनर्थ निवृत्ति और इष्ट साधन है। वह अलौकिक होता हुआ भी लोकानुचरण एवं लोकानुभव से लौकिक भी है।

मीमांसा में धर्म के तीन विशेषण बताये गये हैं : प्रयोजन, वेदबोधिता और अर्थता। उसका प्रयोजन ऊपर बताया गया है। वेदबोधित, अर्थात् विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय उसके बोधक हैं। अर्थता, अर्थात् उसका अनर्थों के साथ सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए किसी की हत्या कर देने के बाद धर्म में ऐसा नहीं बताया गया है कि अमुक अनुष्ठान से उसकी शुद्धि हो जाती है। अनर्थ का आशय हिंसा से है। यद्यपि यज्ञ में पशु को मारने का भी विधान है, किन्तु वह हिंसा न होकर यज्ञफल में परिगणित है।

धर्म के प्रमाण

महर्षि जैमिनि ने धर्म का स्वरूप समझाने के बाद उसके सत्यासत्य के लिए प्रमाणों द्वारा उसकी परीक्षा भी की है। ऐसा इसलिए किया कि उसको अन्यथा न समझा जाय।

धर्म, क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिए उसके प्रमाणों का स्वरूप सर्वथा निजी है। उसके आठ प्रमाण माने गये हैं जिनके नाम हैं : विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय, वाक्यशेष और सामर्थ्य। ये आठों वेद के ही भाग हैं। अतः मीमांसा में धर्म की सिद्धि के लिए वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

धर्म का स्वरूप

धर्म क्या है ? जिससे जन्म-जन्मान्तर में इच्छित कार्यों की उपलब्धि और नानाविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के अनन्तर परमानन्द की प्राप्ति होती है वही

धर्म है। धर्मज्ञान के लिए विधि का जानना आवश्यक है। इसलिए वैदिक विधि-वाक्यों का निरूपण ही धर्म है। मीमांसा की दृष्टि से वेद नित्य, शाश्वत तथा अन्तिम प्रमाण है और वैदिक विधियाँ आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक जीवन की सर्वोपरि निधियाँ हैं। उनके अनुसार आचरण करने का नाम 'कर्तव्यता' है और इसी कर्तव्यता के द्वारा हमें अकर्तव्यता का भी स्वतः ज्ञान हो जाता है। कर्तव्यता का अनुसरण और अकर्तव्यता का परित्याग ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है, जिसको वेद या वैदिक विधिवाक्यों से जाना जा सकता है।

कर्तव्यता

वैदिक विधिवाक्यों के अनुसार आचरण करना ही 'कर्तव्यता' है। समस्त मानवता के कर्तव्यों और अनुशासनों का निरूपण वैदिक विधियों में निहित है। किसके लिए क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य है, क्या ज्ञातव्य है, क्या अज्ञातव्य है, और क्या संभोग्य है, क्या परिहार्य है, ये सभी बातें कर्तव्यता के अन्तर्गत आती हैं।

यद्यपि वेदों में विभिन्न देवताओं और अन्य अनेक प्रकार के रहस्यों का वर्णन है; किन्तु मीमांसा दर्शन में उनको गौण तथा वैदिक प्रक्रियाओं अर्थात् कर्मकाण्ड को, प्रमुख माना गया है। मीमांसा में वेद के कर्मभाग का विवेचन है। वैदिक विधियों के अनुसार उन कर्मों का पालन करना ही कर्तव्यता है। इन कर्मों का पालन करना हमारा इसलिए धर्म है कि उन्हीं के कारण हमारा कल्याण होता है। ये कर्म मुख्यतः दो प्रकार के हैं : विहित और प्रतिसिद्ध। विहित कर्म भी तीन प्रकार के हैं : नित्य, नैमित्तिक और काम्य। संध्या-वन्दनादि एवं श्राद्ध-हवनादि अहेतुक कर्मों का नियमित रूप से करते रहना नित्य कर्म; विवाह, जातकर्म आदि सहेतुक कर्म नैमित्तिक और स्वर्गादि प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कर्म काम्य कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त अनर्थकारी कर्मों का परित्याग प्रतिसिद्ध कर्म है।

स्वर्ग : मोक्ष

उक्त तीन प्रकार के कर्मों का फल होता है स्वर्गप्राप्ति और मोक्षप्राप्ति। मीमांसा में कहा गया है कि स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञ करना चाहिए (**स्वर्गकामो यजेत**)। निरतिशय सुख का ही अपर नाम स्वर्ग है। किन्तु स्वर्गप्राप्ति के लिए जो कर्म किये जाते हैं उन्हें सकाम कर्म कहा जाता है, क्योंकि उनका उद्देश्य कामनापरक होता है और कामनायुक्त कर्मों का जो फल होता है वह अपर जन्म में उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से काम्य कर्मों की प्राप्ति के लिए पुनः-पुनः जन्म लेना पड़ता है। इसलिए मीमांसकों की एक श्रेणी स्वर्ग की अपेक्षा निःश्रेयस को श्रेष्ठ समझती है। इन मीमांसकों का मत है कि निष्काम भाव से कर्मों को करते रहना चाहिए। उससे निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से सकाम कर्मों की अपेक्षा निष्काम कर्म श्रेष्ठ है।

मोक्ष क्या है ? इन जागतिक प्रपंचों से आत्मा का सम्बन्ध टूट जाना ही मोक्ष

है (प्रपंचसम्बन्धविलयो मोक्षः)। आत्मा के साथ जगत् का यह प्रपंच-सम्बन्ध तीन प्रकार से है। वे हैं शरीर (भोगायतन), इन्द्रियाँ (भोगसाधन) और विषय (भोज्य)। इन तीनों से जकड़ा हुआ जीवात्मा अनादिकाल से बन्धन में कसा हुआ दुःख-सुख का भोग करता आ रहा है। इन्हीं तीनों का आत्यन्तिक विनाश ही 'मुक्ति' है। निष्काम भाव से कर्म करने से आत्मज्ञान होता है और पूर्व-जन्म के सभी संचित कर्म क्षीण होकर फिर जन्म-मृत्यु के बन्धन से जीव को छुटकारा मिल जाता है। जन्म और मृत्यु. शरीर, इन्द्रिय और मन, इन तीनों के कारण होते हैं। वे हो सुख-दुःखानुभव के आश्रय हैं। जब आत्मा से इन तीनों का नाता टूट जाता है तब स्वभावतः उसको सुख-दुःखानुभूति नहीं होती। आत्मा की यह बन्धनरहित अवस्था ही मुक्तावस्था है।

ईश्वर

ईश्वर के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन का रहस्यमय मौन बड़ा ही विचित्र है। उसका ईश्वर सम्बन्धी मंतव्य स्पष्ट नहीं है। स्पष्ट इसलिए कि मीमांसा में ईश्वर के अस्तित्व का न तो विरोध किया गया है और न समर्थन ही। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि मीमांसा दर्शन को निरीश्वरवादी कहा जाय और उसको नास्तिक दर्शन की कोटि में रखा जाय, जैसा कि कुछ समीक्षकों का मत है।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने यद्यपि दो-एक दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि परवर्ती मीमांसकों ने ईश्वर को कर्मफलों के प्रदाता के रूप में स्वीकार किया है; किन्तु अन्य ईश्वरवादी दर्शन की भाँति मीमांसा में ईश्वर या परमात्मा का स्वतंत्र रूप से विवेचन नहीं किया गया है। वेद मंत्रों की प्रामाणिकता पर विश्वास करने और अनेक देवतावाद का समर्थक होने के कारण मीमांसा न तो निरीश्वरवादी है और न नास्तिक ही।

जहाँ तक जन्मान्तर में कर्मफलों के उपभोग का प्रश्न है, वादरायण ने ईश्वर को एक सचेतन सर्वोपरि सत्ता के रूप में माना है और उसको समस्त कर्म-फलों का अधिष्ठाता स्वीकार किया है; किन्तु जैमिनी का कहना है कि यज्ञानुष्ठान से स्वतः कर्मफलों की प्राप्ति हो जाती है। उसके लिए किसी अधिष्ठाता या माध्यम की आवश्यकता नहीं है।

शबर स्वामी ने भी सृष्टिकर्ता के रूप में या कर्मफलों के प्रदाता के रूप में ईश्वर नाम की किसी भी परमोच्च सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। जहाँ तक मीमांसा के प्रकाण्ड एवं प्रख्यात विद्वान् कुमारिल भट्ट के मन्तव्य का प्रश्न है, वे न तो सृष्टि मानते हैं और न प्रलय ही। उनके मत से ईश्वर नाम की कोई सचेतन सर्वज्ञ सत्ता नहीं है। उन्होंने 'सर्वज्ञ' का जो खण्डन किया है उसका लक्ष्य ईश्वर ही था; क्योंकि वहाँ सर्वज्ञ का जो स्वरूप बताया गया है वह ईश्वर से मिलता-जुलता है।

अपने इस मन्तव्य के मूल में कुमारिल का दूसरा उद्देश्य था। उन्होंने ईश्वर

की सत्ता को स्वीकार नहीं किया और बुद्ध को ईश्वर के ही रूप में मानने वाले बौद्धों का खण्डन किया है। वस्तुतः कुमारिल इस विचार से ही असहमत थे कि उस परमोच्च सत्ता को ईश्वर या बुद्ध माना जाय। कुमारिल की भाँति आचार्य प्रभाकर ने भी ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है।

कुछ मीमांसकों के ईश्वरवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुमारिल का कहना है कि लोक-व्यवहारमात्र के लिए यदि ईश्वर को स्वीकार किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं; किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उसकी कोई उपयोगिता नही है।

यद्यपि कुमारिल और प्रभाकर की परम्परा के कुछ विचारकों, जैसे खण्डदेव, शालिकानाथ तथा नन्दिकेश्वर आदि ने, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है, फिर भी अन्य अनेक मीमांसकों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया।

जहाँ तक अन्य दर्शनों के परवर्ती आचार्यों पर मीमांसा दर्शन के ईश्वर-सम्बन्धी मन्तव्य के प्रभाव का प्रश्न है, ऐसा विश्वास होता है कि उनमें भी कुमारिल और प्रभाकर को ही स्वीकार किया गया है। वस्तुतः मीमांसकों का ईश्वर विषयक विचार सर्वथा अपूर्व था। उसके मूल इस प्रकार हैं :

(१) इस अपूर्वता का पहला कारण तो यह था कि मीमांसा दर्शन की विचार-धारा इतनी वैज्ञानिक थी कि उसके लिए ईश्वर के ऐश्वर्य की आवश्यकता ही न हुई। अन्य दर्शनों में ईश्वर की इसलिए आवश्यकता हुई कि उनमें सृष्टि को सादि और सान्त माना गया है (सांख्य को छोड़कर), और सृष्टिस्वामी के रूप में ईश्वर को माना गया है किन्तु मीमांसा में जब सृटि को ही अनादि और अनन्त माना गया है तब जगत्पिता (ईश्वर) के सम्बन्ध में मीमांसकों की उदासीनता अस्वाभाविक नहीं है।

(२) वेदान्त आदि अन्य दर्शनों में वेदों को ईश्वर का श्वास-प्रश्वास कहा गया है। उनके मत से सनातन पुरुष (ईश्वर) से सनातन रूप वेदों की सृष्टि हुई। किन्तु मीमांसा में सृष्टि की ही भाँति वेदों को भी अनादि कहा गया है। उनको ईश्वरकृत नहीं माना गया है। अतः मीमांसकों को ईश्वर की आवश्यकता नहीं हुई।

(३) तीसरा महत्वपूर्ण आधार कर्मफलों का है। अन्य दर्शनों में जीव को कर्मों का भोक्ता और ईश्वर को कर्मफलों का दाता कहा गया है। किन्तु मीमांसा में कर्म को अपूर्व (अनादि) कहा गया है और कर्मों में वह शक्ति स्वीकार की गयी है कि उनसे सीधे फल मिल जाता है। इस प्रकार मीमांसा में जब कर्म और कर्मफल के बीच किसी तीसरे माध्यम की आवश्यकता नहीं समझी गयी तब ईश्वर के सम्बन्ध में मीमांसकों का मौन रहना अस्वाभाविक नहीं है।

देवताओं में ईश्वरभाव नहीं

मीमांसकों ने यज्ञों के प्रसंग में देवताओं का अस्तित्व स्वीकार किया है और इस दृष्टि से मीमांसा बहुदेवतावादी दर्शन है; किन्तु उन देवताओं को वहाँ इतना भी

महत्व नहीं दिया गया है, जितना कि ऋषियों ने उनको वेदों में दिया है। मीमांसा में उनकी इतनी ही आवश्यकता मानी गयी है कि उनके नाम से हवि डाली जाती है। मीमांसा में यज्ञों का विधान देवताओं की संतुष्टि के लिए न होकर आत्मा की शुद्धि के लिए है। नित्य वेदों में वर्णित होने से देवताओं को भी मीमांसा में नित्य शाश्वत माना गया है। उनमें पवित्रता, आदर्श और ऐश्वर्यादि गुणों की सम्पन्नता तो है, किन्तु ईश्वरभाव नहीं।

अद्वैत वेदान्त

* * * *

वेदान्त दर्शन

परा विद्या होने के कारण वेदान्त उत्तम अधिकारी के चिन्तन का विषय है। उत्तम अधिकारी वह है जिसका अन्तःकरण ऐहिक तथा जन्मान्तर के कर्म, उपासना द्वारा शुद्ध हो चुका है। वही इस परमार्थ ज्ञान में प्रवृत्त हो सकता है। कर्मकाण्ड में विहित यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय आदि कर्मों से जिनका हृदय विशुद्ध है, जो योग-साधन द्वारा जितेन्द्रिय तथा विषयादिरहित हो गये हैं, ऐसे उत्तम मुमुक्षु पुरुषों के लिए अध्यात्म विद्या के उपदेश की इच्छा से प्रस्तुत दर्शन वेदान्त का निर्माण हुआ।

जगत्, जीव और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूपों का विवेचन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की मीमांसा करना प्रस्तुत दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है। सर्व-साधारण की स्थूल दृष्टि के अनुसार न्याय और वैशेषिक में जीव, जगत् तथा परमाणु, इन तीनों तत्त्वों का विवेचन करके ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध किया गया है; वैशेषिक ने मूलरूप नित्य परमाणु के साथ ब्रह्म-संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। सांख्य ने कुछ आगे बढ़कर पुरुष-प्रकृति के द्वारा सृष्टि के विकास का क्रम निर्धारित किया है। सांख्य के इस स्वयं-सृष्टि जगद्-विषयक मत का न्याय ने यह कहकर खण्डन किया कि पुरुष, जगत् का द्रष्टा है, कर्ता नहीं।

वेदान्त ने सांख्य के प्रकृति-पुरुष रूपी द्वैधीभाव को मिटाकर उनका समावेश एक ही परम तत्त्व ब्रह्म में किया। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म, जगत् का निमित्त भी है और उपादान भी। इसी एकीभाव के कारण ही वेदान्त को अद्वैतवादी दर्शन कहा जाता है।

इस नाना-नाम-रूपात्मक भासमान जगत् के मूल में अधिष्ठित होकर रहने वाले इस नित्य और निर्विकार ब्रह्म तत्त्व के स्वरूप का निरूपण भी वेदान्त में है। वेदान्त के अनुसार जगत् में जो नाना दृश्य दिखायी दे रहे हैं, वे सब परिणामी और अनित्य हैं। वे बदलते रहते हैं; किन्तु उनका ज्ञान करने वाला या दृष्टा आत्मा सदा एक-स्वरूप रहता है। ब्रह्म नित्यस्वरूप या आत्मस्वरूप है। नाना ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञाता

के ही सगुण, सोपाधि या मायात्मक रूप हैं ऐसा जानकर ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का वेदान्त समाधान कर देता है।

सृष्टि विषयक ज्ञान के लिए वेदान्त में तीन सिद्धान्त हैं : विवर्तवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद और अवच्छेदवाद। विवर्तवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त या कल्पित रूप है। उदाहरणार्थं रस्सी को यदि हम सर्प समझें तो रस्सी सत्य वस्तु है और सर्प उसका विवर्त या उसकी भ्रांतिजन्य प्रतीति। इसी सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए दृष्टिसृष्टिवाद की आवश्यकता है। इसके अनुसार माया या नाना रूप में मन की प्रवृत्ति है। मन से ही ये सृष्ट हैं। ये नाना नामरूप, वृत्तियों से पृथक् कोई दूसरी वस्तु नहीं हैं। इस जड़ चित्त के बाहर की कोई वस्तु नहीं है। इन वृत्तियों का शमन करना ही मोक्ष-प्राप्ति है।

एक तीसरा वाद अवच्छेदवाद, उक्त दोनों वादों की कमी को पूरा करने के लिए सृष्ट हुआ, जिसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की जो प्रतीति होती है वह एकरस या अनवच्छिन्न सत्ता के भीतर माया द्वारा अवच्छेद या परिमिति के आरोप के कारण होती है।

वेदान्तियों का एक सम्प्रदाय उक्त तीनों वादों के स्थान पर एक ही 'विम्ब-प्रतिबिम्बवाद' का अनुयायी है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म, प्रकृति या माया के बीच अनेक प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है, जिससे नाना रूपों की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त एक पाँचवाँ 'अजातवाद' है, जिसे 'प्रोढ़िवाद' भी कहते हैं। यह 'वाद' उक्त सृष्टिविषयक मतों को नहीं मानता है। उसके अनुसार जो जैसा है वह वैसा है और सब ब्रह्म है। ब्रह्म अनिर्वचनोय है। वह शब्दातीत है। हमारे पास जो भाषा है वह द्वैत की है, उसमें भेद-बुद्धि है।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म यद्यपि स्वगत, सजातीय, विजातीय, इन तीनों भेदों से परे है; तथापि, व्यक्त और सगुणत्व भी उसके बाहर नहीं हैं। इस सम्बन्ध में 'पंचदशी' में कहा गया है कि रजोगुण की प्रवृत्ति से प्रकृति दो रूपों में विभक्त होती है : प्रधान और तमःप्रधान। सत्त्वप्रधान प्रकृति के भी दो रूप हैं : शुद्ध सत्त्व और अशुद्ध सत्त्व। प्रकृति के इन्हीं भेदों में प्रतिबिम्बित होने के कारण ब्रह्म में 'जीव' का स्वरूप दर्शन हुआ है।

यही कारण है कि एक ही वेदान्त विषय को लेकर निर्गुण और सगुण, दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदायों का प्रतिपादन किया। अद्वैत रूप निर्गुण ब्रह्म के प्रधान आचार्य शंकर और सगुण, सोपाधि ब्रह्म के प्रधान आचार्य बल्लभ तथा रामानुज हुए, जिन्होंने भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया।

नामकरण

वेदान्त दर्शन का दूसरा नाम उत्तर-मीमांसा भी है जैसा कि प्रायः सभी ग्रन्थ-कारों ने लिखा है कि वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग उपनिषदों की ज्ञानभावना के

आधार पर विरचित इस दर्शन का नाम वेदान्त पड़ा। 'वेद' और 'अन्त' का अर्थ हुआ उपनिषद्, क्योंकि वेद (ज्ञान) का अन्त (समाप्ति, पूर्णता, पारमिता, पराकाष्ठा) उपनिषदों का ही प्रतिपाद्य है। अतः वेदान्त का 'अन्त' शब्द पारिभाषिक है। उसको सिद्धान्त, मन्तव्य तथा तात्पर्य के रूप में ग्रहण किया गया है वैदिक ज्ञान का अन्त अर्थात् पर्यवसान ब्रह्म ज्ञान में समाहित है, जिसका प्रतिपादन वेदान्त दर्शन में हुआ है।

वेद (मंत्र संहिताओं) का अन्तिम भाग होने के कारण इस दर्शन का 'वेदान्त' नामकरण नहीं हुआ है, बल्कि यहाँ 'वेद' शब्द, 'विद् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न 'ज्ञान' का पर्यायवाची है। अन्त (मोक्ष) क्या है और उसकी उपलब्धि के साधन क्या हैं, इसका विवेचन दर्शन में है।

यह अन्त, जिसको कि मोक्ष कहा गया है, लौकिक प्रतिमानों के आधार पर इस प्रकार समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार अनेकों नदियाँ सहस्रों मील से चलकर अन्त में समुद्र में समा जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इस नाना रूपात्मक जगत् की विभिन्न स्थितियों या मंजिलों को लाँघकर यह व्यष्टिगत आत्मा परम सत्य विश्वात्मा या ब्रह्म में लीन हो जाता है। देहधारी मनुष्य को इतनी दूरी पार करके उस सुन्दर लक्ष्य तक पहुँचाने के साधन ही वेदान्त दर्शन में वर्णित हैं।

ऊपर लौकिक प्रतिमानों के आधार पर जीवात्मा और परमात्मा की एकता का जो संकेत किया गया है उसका आधार 'मुण्डकोपनिषद्' (३।२।८) का यह श्लोक है :

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

अद्वैत वेदान्त के आचार्य और उनकी कृतियाँ

अद्वैत वेदान्त की आचार्य-परम्परा का अध्ययन यदि ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से किया जाय तो उसको तीन भागों में विभक्त किया जाना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। पहले भाग में शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों, दूसरे भाग में अकेले शंकर और तीसरे भाग में शंकर के उत्तरवर्ती आचार्यों को रखा जा सकता है।

शंकर के पूर्ववर्ती आचार्य

भारतीय षड्दर्शनों में वेदान्त को श्रेष्ठ एवं सम्मानित स्थान प्राप्त है। वेदान्त दर्शन के विचारकों की परम्परा बहुत लम्बी है। 'ब्रह्मसूत्र' वेदान्त का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है, जिसका सम्पादन बादरायण ने किया। इसके पूर्व बादरि, कर्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, जैमिनि और काश्यप आदि ऐसे विचारक हुए, जिन्होंने वेदान्त दर्शन के मूल सिद्धान्तों पर गम्भीरता से विचार किया और जिनके विचारों का संकलन बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' के नाम से किया।

बादरि

आचार्य बादरि को पूर्व-मीमांसा और वेदान्त, दोनों दर्शनों में एक प्रामाणिक विचारक के रूप में उद्धृत किया गया है। 'मीमांसासूत्र' के कई स्थानों पर जैमिनि ने अपने सिद्धान्तों के समर्थन में बादरि के विचारों को उद्धृत किया है। इसी भाँति बादरायण ने भी अपने मत की पुष्टि के लिए बादरि के सिद्धान्तों को उद्धृत किया। मीमांसा और वेदान्त दोनों दर्शनों में सुरक्षित आचार्य बादरि के विचारों को देखकर विदित होता है कि उनका दोनों दर्शन-सम्प्रदायों पर समान अधिकार था और उनके मन्तव्य को लोकदृष्टि से अधिक सराहा जाता था।

उनके स्थितिकाल के बारे में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे बादरायण एवं जैमिनि से पूर्व हुए और बादरायण तथा जैमिनि के समय तक उनके विचारों की इतनी लोकविश्रुति हो चुकी थी कि उन्हें विद्वत्समाज में भी प्रामाणिक माना जाने लगा था।

कार्ष्णाजिनि

आचार्य कार्ष्णाजिनि, आचार्य बादरि के बाद हुए, क्योंकि उन्होंने बादरि के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक जैमिनि ने स्व-पक्ष मण्डन और पर-पक्ष खण्डन के लिए कार्ष्णाजिनि को उद्धृत किया है। इसी प्रकार बादरायण ने भी 'ब्रह्मसूत्र' में उनको उद्धृत किया है। इस दृष्टि से ऐसा ज्ञान होता है कि कार्ष्णाजिनि ने मीमांसा और वेदान्त दोनों पर सूत्रग्रन्थ लिखे थे।

आत्रेय

आचार्य आत्रेय मुख्यतया पूर्व-मीमांसा दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् और उसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। आत्रेय का मत है कि यज्ञ के अंगभूत उपासना की फलोपलब्धि यजमान को होती है, ऋत्विक् को नहीं। इसलिए समस्त उपासनाएँ यजमान को स्वयं ही सम्पादित करनी चाहिए। आत्रेय के इस मत का खण्डन बादरायण व्यास ने, आचार्य औडुलोमि के मत को उद्धृत करके, किया है। इसके विपरीत वेदान्ती कार्ष्णाजिनि के मत का खण्डन करने के लिए जैमिनि ने आत्रेय का सिद्धान्त उद्धृत करके अपने पक्ष को पुष्ट किया है। इससे यह विदित होता है कि आत्रेय, जैमिनि और बादरायण से पूर्व हुए।

औडुलोमि

आचार्य औडुलोमि विशुद्ध वेदान्ती थे। वे भेदाभेदवादी दार्शनिक थे, जिनके मतानुसार जीव और ब्रह्म में भेद तो है; किन्तु मुक्ति प्राप्त हो जाने पर यह भेद मिटकर अभेदावस्था में परिवर्तित हो जाता है। जैमिनि के विपरीत औडुलोमि का मत है कि ब्रह्मत्व की प्राप्ति का अधिकार चैतन्य को ही है।

बादरायण ने औडुलोमि के मत को प्रामाणिक माना है और मीमांसक आत्रेय के मत का खण्डन करने के लिए औडुलोमि के मत को उद्धृत किया है।

आश्मरथ्य

आश्मरथ्य, जैमिनि और बादरायण से पहले हुए। उनके मतानुसार आत्माएँ दो हैं : विज्ञानात्मा और परमात्मा, जिनमें भेदाभेद सम्बन्ध है। उनका यह भी कहना है कि उपासक के अनुग्रहार्थ ब्रह्म का आविर्भाव होता है। सम्भवतः इसी कारण शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र ने आश्मरथ्य को विशिष्टाद्वैतवादी कहा है। जैमिनि के मीमांसा दर्शन में भी इनको उद्धृत किया गया है।

काशकृत्स्न

आचार्य काशकृत्स्न के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे विशुद्ध वेदान्ती थे और बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में बड़े सम्मान के साथ उनके मत का समर्थन किया है।

जैमिनि

मीमांसा दर्शन के प्रसंग में आचार्य जैमिनि का विस्तार से उल्लेख किया गया है। 'मीमांसासूत्र' और 'ब्रह्मसूत्र' के सिद्धान्तों का पारस्परिक आदान-प्रदान होने के कारण दोनों का समकालीन होना सिद्ध होता है। जैमिनि के सिद्धान्तों का बादरायण ने और बादरायण के सिद्धान्तों का जैमिनि ने खण्डन किया है। पुराणों में उद्धृत साक्ष्यों से जैमिनि को बादरायण का शिष्य माना जाता है। इसलिए मीमांसा के प्रसंग में इन दोनों आचार्यों की वस्तुस्थिति पर विशेष रूप से विचार किया गया है।

काश्यप

आचार्य शाण्डिल्य ने 'भक्तिसूत्र' में काश्यप और बादरायण के मतों को उद्धृत करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने काश्यप को भेदवादी और बादरायण को अभेदवादी कहा है। इससे विदित होता है कि काश्यप भी वेदान्त दर्शन के प्राचीन आचार्य थे और उन्होंने भी किसी सूत्रग्रन्थ की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

वेदान्त के अन्य प्राचीन आचार्य

वेदान्त के अन्य प्राचीन आचार्यों में असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर और भृगु आदि ऋषियों का नाम लिया जा सकता है; किन्तु उनकी आज कोई भी ऐसी उल्लेखनीय कृति उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया जा सके।

वेदान्त दर्शन की परम्परा को आचार्य शंकर तक पहुँचाने वाले विद्वानों में ब्रह्मनंदि, टंक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दरपाण्य, दाडिमाचार्य और ब्रह्मदत्त का नाम प्रमुख है। 'मध्वविजयभावप्रकाशिका' से ज्ञात होता है कि भारतीविजय, सच्चिदानंद, ब्रह्मघोष, शतानंद, उदवर्त, विजया, रुद्रभट्ट,

वामन, यादवप्रकाश, रामानुज, भर्तृप्रपंच, भास्कर, पिशाच, वृत्तिकार, विजयभट्ट, विष्णुकांत, वादीन्द्र और मध्वदास आदि अनेक आचार्यों ने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखे थे। किन्तु इन आचार्यों के ग्रंथों, सिद्धान्तों और जीवनी वृत्तों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री का अभाव है। उनके सम्बन्ध में इतना निश्चित है कि वे बादरायण के बाद हुए।

इन पुरातन ऋषियों एवं आचार्यों का नामोल्लेख मात्र करने के बाद शंकराचार्य के दादागुरु आचार्य गौड़पाद से इस परम्परा का विशेष महत्व है।

गौड़पाद

अद्वैत वेदान्त के इतिहास में भी गौड़पादाचार्य का नाम इसलिए बड़े सम्मान से स्मरण किया जाता है कि उन्होंने शंकराचार्य जैसे असामान्य प्रतिभा के विद्वान् प्रशिष्य को दिया। यद्यपि महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने 'श्रीविद्यार्णव' नामक एक अप्रकाशित तंत्र-विषयक ग्रंथ के आधार पर 'कल्याण' के 'वेदान्तांक' में शंकराचार्य की गुरु-परम्परा और शिष्य-परम्परा का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि शंकराचार्य, गौड़पाद के प्रशिष्य नहीं थे, फिर भी उक्त तंत्र-विषयक ग्रंथ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तब तक विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है, जब तक उस पर व्यापक विचार प्रकाश में नहीं आ जाते। आज इस सम्बन्ध में सर्वसामान्य की धारणा यही है कि आचार्य शंकर ने जिस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसका सीधा सम्बन्ध गौड़पाद के विचारों से है। गौड़पाद को श्री शुकदेव जी का शिष्य बताया जाता है।

गौड़पाद के सम्बन्ध में शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' से इतना मात्र पता चलता है कि वे गौड़देशीय, अर्थात् वंगवासी या उसके समीपस्थ किसी प्रदेश के निवासी थे।

अद्वैत वेदान्त विषयक गौड़पाद के ग्रंथ का नाम है 'माण्डूक्योपनिषत्कारिका'। इस कारिका ग्रंथ में जो विचार बीजरूप में विद्यमान हैं, शंकर के विचारों में उनकी विशद व्याख्या देखने को मिलती है। गौड़पाद का दार्शनिक सिद्धान्त 'अजातवाद' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके अनुसार जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई है, बल्कि एक चिद्घन सत्ता ही मोहवश प्रपंचवत् भास रही है। जिसका यह द्वैत दिखायी दे रहा है, सब मन की कल्पना है। क्योंकि मन के शून्य हो जाने पर सारी द्वैत भावनाएँ परमार्थ अद्वैत में बदल जाती हैं। माया के कारण रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है। गौड़पादाचार्य की कारिका में प्रतिपादित इन मन्तव्यों को परवर्ती सभी वेदान्तियों ने स्वीकार किया है। उनकी कारिका पर 'मिताक्षरा' नाम से एक सुन्दर टीका लिखी गयी। उनके अन्य ग्रंथों के नाम हैं 'सांख्यकारिका भाष्य' और 'उत्तर-गीताभाष्य'।

गोविन्द भगवतत्पाद

आचार्य गोविन्दपाद, गौड़पाद के शिष्य और शंकराचार्य के परम गुरु थे।

शंकराचार्य की जीवनी से ज्ञात होता है गोविन्दपाद का जन्म कहीं नर्मदा नदी के किनारे हुआ था। शंकराचार्य जैसे शिष्य को देकर वेदान्त में उनका नाम अमर है। यद्यपि उनके द्वारा लिखे गये किसी ग्रन्थ का पता नहीं चलता है; फिर भी यह निश्चित है कि वे उद्भट विद्वान् और सिद्ध पुरुष थे। उनके सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वैयाकरण पतंजलि उनका अपर नाम था; किन्तु यह असंगत जान पड़ता है।

शंकराचार्य

भारतीय षड्दर्शनों में अद्वैत वेदान्त का विशिष्ट स्थान है। अद्वैत वेदान्त को शंकराचार्य के पर्यायार्थ में कहा जाता है। न केवल भारतीय दर्शन में, बल्कि विश्व के सर्वोच्च दार्शनिकों में शंकराचार्य का नाम एक अद्भुत विचारक के रूप में स्वीकार किया गया है। उनके कारण भारतीय दर्शन में युगान्तर उपस्थित हुआ। उनकी प्रतिभा और उनके प्रौढ़ विचारों का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनके भाष्य पर सबसे अधिक भाष्य और टीकाएँ लिखी गयीं। भारतीय साहित्य की अभि-वृद्धि करके उन्होंने जो यश कमाया, उसके अतिरिक्त भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक समन्वय की दिशा में उनके द्वारा किये गये कार्यों का कम महत्त्व नहीं है। उनका स्थितिकाल ६८८-७२० ई० के बीच माना जाता है। ३२ वर्ष की यह अल्पायु कुछ भी नहीं है; किन्तु उन्होंने इसी थोड़े से समय में जो कार्य किये उनको दृष्टि में रखकर हमें यही ज्ञात होता है कि उनमें दैवी प्रतिभा थी। उनके बाल्यकाल के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब वे आठ वर्ष के थे, तभी उन्होंने समस्त वेदों का अध्ययन एवं मनन कर डाला था। ऐसी विलक्षणता सामान्य व्यक्ति में नहीं हो सकती है।

आरम्भ में ही उन्होंने संन्यास धारण कर लिया था और इस प्रकार एकान्त होकर वे ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के तारतम्य पर विचार करते रहे। उनके व्यक्तित्व की एक विशेषता यह भी थी कि संन्यासी होते हुए भी उनका हृदय बड़ा कोमल था। उसमें माता के लिए बड़ी श्रद्धा थी। कहा जाता है कि संन्यासावस्था में भी अपनी मृतक माता का दाह संस्कार उन्होंने हिन्दू कर्मकाण्ड के अनुसार सम्पन्न किया था।

जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, आचार्य शंकर ने भारत की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारत के विभिन्न अंचलों का उन्होंने भ्रमण किया। उस युग के सभी प्रख्यात विद्वानों के पास जाकर उन्होंने उनके विचारों को जाना और अपने विचारों से उन्हें अवगत कराया। उनका उद्देश्य, किसी विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित करके उसको नीचा दिखाना और अपनी कीर्ति को फैलाना नहीं था। 'शंकरदिग्विजय' ग्रन्थ की बहुत-सी बातें बाद में जोड़ी गयीं। शंकर जैसे समदृष्टि सम्पन्न विद्वान् के सम्बन्ध में इस प्रकार की संकीर्णता को सोचा तक नहीं जा सकता है।

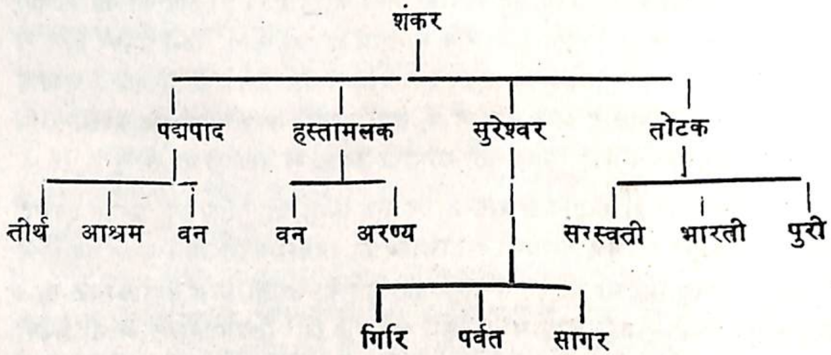
उन्होंने भारत के सभी तीर्थस्थानों का अवगाहन किया; किन्तु जीवन के अन्तिम

दिनों में वे तपोभूमि केदारनाथ में रहने लगे। वहीं उन्होंने शरीर त्याग किया। वहाँ भी उनका एक आश्रम या पीठ है।

आचार्य शंकर ने वस्तुतः कितने ग्रन्थ लिखे, इस सम्बन्ध में आज भी विवाद है। किन्तु इतना निश्चित एवं सर्वमान्य है कि उन्होंने प्रमुख उपनिषदों, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता' पर भाष्य लिखे। 'उपदेशसाहस्री' और 'शतश्लोकी' आदि उनकी दार्शनिक प्रतिभा के ज्वलन्त प्रमाण हैं। वे उच्चकोटि के कवि भी थे। 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्र', 'हरिमीड़ेस्तोत्र', 'आनन्दलहरी' और 'सौन्दर्यलहरी' आदि में उनके कवि-हृदय एवं भक्त-हृदय के सरस उद्गार देखते ही बनते हैं।

इस प्रकार शंकराचार्य में एक ओर तो हमें दार्शनिक नीरसता दिखायी देती है और दूसरी ओर भावुकतापूर्ण भक्त-हृदय भी। इन दोनों विरोधी बातों को यदि हम सामान्य व्यक्ति के जीवन में एक साथ देखते हैं तो हमें आश्चर्य होता है; किन्तु आचार्य शंकर जैसे सर्वज्ञ महात्मा में इन दोनों का होना कुछ असम्भव नहीं है। बाहर से विरोधी समझी जाने वाली उनकी विचारधारा में एक ही लक्ष्य था परमार्थ का।

आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय या पंथ को 'दशनामी' नाम से कहा जाता है। इस दशनामी सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा का विवरण इस प्रकार है :



शंकराचार्य के उक्त प्रमुख चार शिष्य पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वर और तोटक चार मठों के अधिष्ठाता नियुक्त हुए। उनके बाद निम्नलिखित दस उपाधिकारी आचार्य उन मठों के उत्तराधिकारी बने।

१.	शृंगेरी मठ	पुरी, भारती, सरस्वती
२.	शारदा मठ	तीर्थ, आश्रम
३.	गोवर्द्धन मठ	वन, अरण्य
४.	जोशी मठ	गिरि, पर्वत, सागर

शंकर के उत्तरवर्ती आचार्य

शंकराचार्य के बाद वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में आने वाले विद्वानों की संख्या

गणनातीत है। इसलिए यहाँ कुछ प्रमुख आचार्यों और उनकी कृतियों का ही संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

पद्मपाद (सनन्दन)

शंकाराचार्य के ये प्रथम शिष्य थे। इनका जन्म दक्षिण के चोल प्रदेश में हुआ। इनका वास्तविक नाम सनन्दन था। शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद वे पद्मपाद के नये नाम से प्रसिद्ध हुए। वे पुरी के गोवर्धन मठ के अध्यक्ष थे। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनके मामा मीमांसक प्रभाकर ने इनकी वेदान्त-विषयक पुस्तक को जलाने के लिए अपने घर में ही आग लगा दी थी। ग्रन्थ के जल जाने से आचार्य पद्मपाद जब खिन्न होकर गुरु के समीप आये तो उनकी दशा देखकर गुरु ने उनसे कहा 'एक बार तुमने मुझे अपना वह ग्रन्थ सुनाया था। मुझे अब भी वह कंठाग्र है। मैं बोलता हूँ और तुम उसको लिपिबद्ध करते जाओ।' इस प्रकार अपने गुरु शंकराचार्य के मुख से सुनकर पद्मपाद ने पुनः अपना ग्रन्थ लिखा।

आचार्य पद्मपाद के उस ग्रन्थ का नाम है 'पंचपादिका', जो अधूरा ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ पर प्रकाशात्म मुनि की 'विकरण' नामक टीका और उस पर भी अखण्डानन्द मुनि का 'तत्त्वदीपन' तथा विद्यारण्य मुनि का 'विवरणप्रमेयसंग्रह' नामक उपटीकाएँ प्रसिद्ध हैं। अपने गुरु की आज्ञा से पद्मपाद ने 'शारीरक भाष्य' की व्याख्या लिखना भी आरम्भ किया था, जो कि केवल चार सूत्रों तक ही लिखी गयी। इन्होंने 'आत्मानात्मविवेक', 'प्रपंचसार' और सुरेश्वराचार्य कृत 'लघुवार्तिक' पर टीका, आदि ग्रन्थ लिखे।

आश्रम और अरण्य इन्हीं की शिष्य-परम्परा के विद्वान् हुए।

सुरेश्वराचार्य (मण्डन मिश्र)

रेवा नदी के तट पर अवस्थित प्राचीन माहिष्मती नगरी सुरेश्वराचार्य की जन्मभूमि थी। इस नगरी को कुछ विद्वान् राजगृह या उसके आसपास भागलपुर बताते हैं और कुछ विद्वानों का कथन है कि वह नगरी नर्मदा नदी के तट पर कहीं इन्दौर के समीप विद्यमान थी।

मण्डन मिश्र अपने युग के प्रसिद्ध मीमांसक हुए। वे कुमारिल भट्ट के शिष्य थे और प्रयाग में भेंट होने के समय कुमारिल भट्ट ने ही शंकराचार्य को मण्डन मिश्र के पाण्डित्य का परिचय दिया था। उसके बाद ही शंकराचार्य शास्त्रार्थ करने के लिए माहिष्मती गये। माहिष्मती के निकट रेवा नदी के तट पर शंकराचार्य ने जब मण्डन मिश्र की दासी से उनके घर का पता पूछा तो उसने कहा : 'स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण वेदों के सम्बन्ध में, कर्मफल की मीमांसा के सम्बन्ध में और जगत् की नित्यता-अनित्यता के सम्बन्ध में व्याख्यान करती हुई पिंजरस्थ मैनाएँ जिस घर के द्वार पर आपको दिखायी दें, हे महानुभाव, उसी को मण्डन मिश्र का घर जानिये।' इस प्रकार शंकराचार्य विस्मितावस्था में जब मण्डन मिश्र के घर पहुँचे तब वहाँ का वातावरण

उन्हें सचमुच ही वैसा लगा। बाद में शंकराचार्य की मण्डन मिश्र से भेंट हुई। दोनों विद्वानों में गंभीर शास्त्रार्थ हुआ और अन्त में मण्डन मिश्र ने शंकराचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। संन्यास धारण करने के बाद उनका नया नाम विश्वरूप या सुरेश्वराचार्य हुआ। वे श्रृंगेरी मठ के अध्यक्ष नियुक्त किये गये।

आचार्य शंकर के शिष्यों में सुरेश्वराचार्य जैसा अद्वैत वेदान्त का उद्‌भट विद्वान् दूसरा नहीं हुआ। चित्सुख, विद्यारण्य, सदानंद, गोविन्दानंद और अप्पय दीक्षित प्रभृति विख्यात विद्वानों ने सुरेश्वराचार्य के अभिमत को प्रमाणरूप में बार-बार उद्धृत किया है।

सुरेश्वराचार्य क्योंकि मीमांसा के भी आचार्य रहे, अतः इस विषय पर उनकी लिखी हुई कृतियों के नाम हैं : 'आपस्तम्बीय मण्डनकारिका', 'भावनाविवेक' तथा 'काशीमोक्षनिर्णय'। अद्वैत वेदान्त पर उन्होंने 'तैत्तिरीय श्रुतिवार्तिक', 'नैष्कर्म्यसिद्धि', 'इष्टसिद्धि', 'पचीकरण वार्तिक', 'वृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक', 'ब्रह्मसिद्धि', 'ब्रह्मसूत्र-भाष्यवार्तिक', 'विधिविवेक', 'मानसोल्लास', 'लघुवार्तिक', 'वार्तिकसार' और 'वार्तिक-सार-संग्रह' नामक अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। शांकर मत को लोक में प्रचारित करने के लिए सुरेश्वराचार्य का नाम अपनी परम्परा में अग्रणी है।

सर्वज्ञात्म मुनि

इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। ८वीं श० ई० के उत्तरार्ध में श्रृंगेरी मठ की गद्दी पर सर्वज्ञात्म मुनि अध्यक्ष नियुक्त हुए। शांकर मत की मान्यता में इन्होंने 'संक्षेपशारीरक' नाम से एक व्याख्याग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में इन्होंने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है। 'संक्षेपशारीरक' के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती और रामतीर्थ स्वामी ने सुरेश्वराचार्य का ही अपरनाम देवेश्वराचार्य स्वीकार किया है। आज भी यही माना जाता है। श्रृंगेरी मठ के शिलालेखों के आधार पर विद्वानों ने सार्वज्ञात्म मुनि का स्थितिकाल ८१४-९०५ ई० के बीच निर्धारित किया है।

वाचस्पति मिश्र

सर्वदर्शनविद्, प्रसिद्ध विद्वान् वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी थे। सांख्य दर्शन के प्रसंग में बताया जा चुका है कि वे ९वीं श० ई० में हुए; क्योंकि अपने 'न्यायसूची निबंध' की रचना उन्होंने ८९८ वि० (८४१ ई०) में की थी।

शांकर-भाष्य पर उन्होंने एक टीका लिखी, जिसकी प्रसिद्धि 'भामती' के नाम से है। भामती उनकी पत्नी का नाम था। सती, साध्वी उस भारतीय ललना ने अनेक वर्षों तक अपने पति की जो एकान्त सेवा की उसी के परिणामस्वरूप आचार्य मिश्र ने अपनी उक्त टीका का 'भामती' नामकरण करके अपनी सहचरी के त्याग-तप का उचित ही मूल्यांकन किया। 'भामती' एक टीका होते हुए भी स्वतंत्र ग्रन्थ का महत्व रखती है।

छहों दर्शनों पर आचार्य मिश्र का समान अधिकार था। यह मन्तव्य उनकी कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। 'भामती' के अतिरिक्त उन्होंने सुरेश्वर की

'ब्रह्मसिद्धि' पर 'ब्रह्मतत्त्व-समोक्षा', 'सांख्यकारिका' पर 'तत्त्वकौमुदी', पातंजल दर्शन पर 'तत्त्ववैशारदी', न्याय पर 'न्यानवार्तिक तात्पर्य', पूर्व मीमांसा पर 'न्यायसूची निबन्ध', भाट्टमत पर 'तत्त्वविन्दु' और मण्डन मिश्र के 'विधिविवेक' पर 'न्याय-वार्तिक' आदि प्रमुख टीकाएँ लिखीं।

प्रकाशात्म यति

वेदान्त दर्शन के मुख्य विद्वानों में प्रकाशात्म यति का नाम है। १२वीं शताब्दो ई० के लगभग रामानुजाचार्य का आविर्भाव (जन्म) हुआ। उन्होंने शांकरमत का खण्डन करके अपने स्वतंत्र मत की स्थापना की। रामानुज मत के अनुयायियों के विरोध में शांकरमत के समर्थक विद्वानों में प्रकाशात्म यति या प्रकाशात्मा का नाम उल्लेखनीय है। गृहस्थ से वे संन्यासी हुए। उनके गुरु का नाम श्रीमत् अनन्यानुभव था। इसी आधार पर प्रकाशात्मानुभव भी इनका एक नाम पड़ा। पद्मपादाचार्य के ये प्रबल समर्थक थे। १२वीं श० ई० इनका स्थितिकाल था।

इनके टीकाग्रन्थ से इनके पांडित्य का अच्छा परिचय मिलता है। यह टीका ग्रन्थ पद्मपादाचार्य की 'पंचपादिका' पर 'विवरण' नाम से प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस टीका को बड़े सम्मान के साथ प्रामाणिक रूप में उद्धृत किया है।

अद्वैतानन्द

दक्षिण में कावेरी नदी के तट पर अवस्थित पंचनद नामक स्थान में इनका जन्म हुआ। पिता का नाम प्रेमनाथ और माता का नाम पार्वती देवी था। सीतानाथ इनका वास्तविक नाम था। कांची के शारदा मठ के अध्यक्ष आचार्य भूमानन्द सरस्वती (चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती) इनके गुरु थे। १७ वर्ष की अल्पायु में ही ये संन्यासी हो गये थे और तभी से अद्वैतानन्द के नाम से कहे जाने लगे। इनका जन्म १२०६ वि० में हुआ। एक सुयोग्य उत्तराधिकारी जानकर इनके गुरु ने १२२३-२५ वि० के लगभग इनको मठाधीश नियुक्त कर दिया था। अद्वैतानन्द संन्यास ग्रहण करने के पूर्व ही न्याय और मीमांसा का अध्ययन कर चुके थे। मठाधीश होने के बाद उन्होंने आचार्य रामानन्द सरस्वती से 'शारीरकसूत्रभाष्य' का गम्भीर अध्ययन किया। बाद में वे देशाटन को निकले और बड़ी योग्यता के साथ उन्होंने शांकरमत का प्रचार-प्रसार किया। ३३ वर्ष तक अध्यक्ष पद पर आसीन रहने के बाद ५० वर्ष की अवस्था में उन्होंने समाधि ग्रहण की।

आचार्य अद्वैतानन्द के लिखे हुए तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं: 'ब्रह्म विद्याभरण', 'शांतिविवरण' और 'गुरुप्रदीप'। पहले ग्रन्थ में 'ब्रह्मसूत्र' के चारों अध्यायों की व्याख्या है। यह ग्रन्थ 'शांकरभाष्य' की वृत्ति के रूप में विख्यात है।

श्रीहर्ष

संस्कृत-साहित्य में श्रीहर्ष का नाम महाकवि के रूप में विश्रुत है; किन्तु दर्शन-

शास्त्र के क्षेत्र में भी उनको अद्वैत वेदान्त का मौलिक विद्वान् माना जाता है। मौलिक इस दृष्टि से कि सुरेश्वराचार्य के बाद १२वीं शताब्दी तक अद्वैत वेदान्त के जितने भी आचार्य हुए उन्होंने भाष्य, व्याख्या तथा वृत्ति आदि विषयों पर ही ग्रन्थ लिखे। प्रमेय-बहुल प्रकरण ग्रन्थ इस बीच नहीं लिखे गये। इस दृष्टि से श्रीहर्ष ने स्वतंत्र प्रकरणग्रन्थ की रचना कर अपने मौलिक एवं स्वतंत्र पांडित्य का परिचय दिया।

श्रीहर्ष के समय (१२वीं शताब्दी) न्याय दर्शन बड़ी उन्नति पर था। नव्य न्याय के प्रवर्तक विद्वान् गंगेश उपाध्याय का समय भी यही था। उधर दक्षिण और उत्तर भारत में रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य के द्वारा वैष्णव धर्म का बड़ी व्यापकता से प्रचार-प्रसार हो रहा था। श्रीहर्ष ने एक ओर तो न्याय दर्शन के बढ़ते हुए प्रभाव को दबाने के लिए उदयनाचार्य जैसे विख्यात नैयायिक के सिद्धान्तों का खण्डन किया और दूसरी ओर वैष्णव आचार्यों का भी प्रबल विरोध किया।

श्रीहर्ष के ग्रन्थ का नाम 'खण्डनखण्डखाद्य' या 'अनिर्वचनीय सर्वस्व' है। उनके दूसरे ग्रन्थों के नाम हैं 'नैषधीय चरित', 'अर्णववर्णन', 'शिवभक्तिसिद्धि', 'नवसाहसांकचम्पू', 'छिन्दप्रशस्ति', 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति', 'विजयप्रशस्ति' और 'स्थैर्यविचारप्रकरण'।

आनन्दबोध

अपने 'न्यायमकरंद' नामक प्रौढ़ ग्रन्थ में आनन्दबोध ने वाचस्पति मिश्र (९वीं श०) और प्रकाशानन्द (१२वीं श०) का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त १३वीं शताब्दी में वर्तमान चित्सुखाचार्य ने इनके उक्त ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी। इस दृष्टि से आचार्य आनन्दबोध का स्थिति काल १२वीं शताब्दी ई० निश्चित है। वे संन्यासी थे और उन्होंने तीन ग्रन्थों का निर्माण किया, जिनके नाम हैं 'न्यायमकरंद', 'प्रमाणमालामकरंद' और 'न्यायदीपावली'। ये तीनों ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त पर हैं। 'न्यायमकरद' एक संग्रह होते हुए भी प्रामाणिक रचना मानी जाती है।

अमलानंद

आचार्य अमलानंद का निवासस्थान दक्षिण में देवगिरि के निकट बताया जाता है। इनका दूसरा नाम व्यासाश्रम था। इनके गुरु का नाम अनुभवानंद था। देवगिरि के यादववंशीय राजा महादेव (१३१७-१३२८ वि०) के शासनकाल में इन्होंने अपने ग्रन्थ 'वेदान्तकल्पतरु' का निर्माण किया, जिससे इनका स्थिति काल १३वीं श० ई० निश्चित है। 'शास्त्रदर्पण' और 'पंचपादिकादर्पण' को मिलाकर इन्होंने अद्वैत वेदान्त पर तीन ग्रन्थ लिखे। 'वेदान्तकल्पतरु' वाचस्पति मिश्र की 'भामती' की व्याख्या, 'शास्त्रदर्पण', 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या और 'पंचपादिकादर्पण' पद्मपादाचार्य की 'पंचपादिका' की व्याख्या है। भाषा, विचार और प्रचार की दृष्टि से इन तीनों व्याख्या ग्रन्थों को वेदान्त के क्षेत्र में बड़ा सम्मान प्राप्त है।

चित्सुखाचार्य

अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा और उसके प्रचार-प्रसार के लिए जो कार्य श्रीहर्ष ने

किया उसी को अधिक ठोस रूप में आगे बढ़ाया चित्सुखाचार्य ने। आचार्य चित्सुख १३वीं श० ई० में हुए।

'तत्त्वदीपिका' नामक इनकी वेदान्त-विषयक प्रौढ़ कृति 'चित्सुखी' के नाम से प्रसिद्ध है, जो कि आचार्य आनन्दबोध के 'न्यायमकरंद' की टीका है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'शारीरक भाष्य' पर 'भावप्रकाशिका', 'ब्रह्मसिद्धि' पर 'अभिप्रायप्रकाशिका' और 'नैष्कर्म्यसिद्धि' पर 'भावतत्त्वप्रकाशिका' नाम से अनेक टीकाएँ लिखीं।

भारतीतीर्थ

भारतीतीर्थ और विद्यारण्य को कुछ दिन पूर्व एक ही व्यक्ति माना जाता था; किन्तु अब अनेक ग्रन्थों के प्रकाश में आ जाने से प्रामाणिक रूप में यह सिद्ध हो गया है कि विद्यारण्य, भारतीतीर्थ के शिष्य थे और भारतीतीर्थ के गुरु का नाम विद्यातीर्थ था। इस दृष्टि से भारतीतीर्थ का स्थितिकाल १३वीं श० ई० ठहरता है।

आचार्य भारतीतीर्थ कृत 'वैयासिक न्यायमाला' नामक ग्रन्थ शांकर भाष्य का तात्पर्य समझने के लिए बड़ा ही उपयोगी है। इसकी सरल, सुगम-भाषा-शैली और गंभीर विषय को साररूप में प्रतिपादित करने का ढंग बड़ा ही सुन्दर है।

शंकरानंद

आचार्य शकरानंद के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। विद्यारण्य स्वामी ने 'पंचदशी' और 'विवरणप्रमेयसंग्रह' के मंगलाचरण श्लोक में शंकरानंद को अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है, जिससे इनका स्थितिकाल १३वीं श० के अन्त में या १४वीं० श० के आदि में प्रतीत होता है।

ये अद्वैत वेदान्त के आचार्य थे। अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा और शांकरमत की पुष्टि के लिए उन्होंने जिन पाण्डित्यपूर्ण कृतियों का निर्माण किया उनके नाम हैं: 'ब्रह्मसूत्रदीपिका', 'गीताटीका' (शंकरानंदी) और १८ उपनिषद्-ग्रंथों की टीका। 'आत्मपुराण' नाम से अद्वैत वेदान्त—सम्बन्धी ग्रंथ भी इन आचार्यपाद के नाम से उपलब्ध हुआ है।

माधवाचार्य (विद्यारण्य)

माधवाचार्य सर्वतोमुखी प्रतिभा के विद्वान हुए। 'पराशरमाधव' के उल्लेखानुसार इनके पिता का नाम मायण, माता का नाम श्रीमती और दो भाइयों के नाम सायण तथा भोगनाथ था। तुंगभद्रा नामक नदी तट पर अवस्थित हाम्पी नामक नगर के निकट एक गाँव में इनका जन्म हुआ। इनके ग्रंथों से विदित होता है कि सायण इनका कुल नाम था। इनके कनिष्ठ भाई वेदभाष्यकार सायण कुलनाम से ही प्रसिद्ध थे। विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और शंकरानंद, ये तीनों आचार्य, माधव के गुरु थे।

माधवाचार्य विजयनगर राज्य के संस्थापक थे। १३८२ वि० में महाराजा वीर बुक्क को विजयनगर के राजसिंहासन पर विराजमान करके माधवाचार्य स्वयं उसके प्रधान मंत्री बने। इस आधार पर १३२४ वि० के लगभग उनका पैदा होना

सिद्ध होता है। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुयायी आचार्य वेदान्तदेशिक, माधवाचार्य के समकालीन एवं बालसखा थे।

माधवाचार्य की सर्वतोमुखी प्रतिभा के प्रमाण उनकी कृतियाँ हैं। वे कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, तत्त्वज्ञ, त्यागी, प्रबंधक और संग्रहकार थे। संन्यास धारण करने के उपरान्त उनको शृंगेरी मठ का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था और तभी से उनकी ख्याति विद्यारण्य के नाम से हुई। लगभग शतायु प्राप्त करने पर उन्होंने शरीर त्यागा। उन्होंने वेद, व्याकरण, पुराण, उपनिषद् और जीवनी आदि अनेक विषयों पर १६ ग्रंथ लिखे। 'पंचदशी', 'विवरणप्रमेयसंग्रह', 'अनुभूतिप्रकाश', 'अपरोक्षानुभूतिटीका' और 'जीवन्मुक्तिविवेक' आदि उनके अनेक ग्रंथ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

आनन्दगिरि

वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में आचार्य आनन्दगिरि को एक निष्णात टीकाकार के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त है। कुछ विद्वान् उन्हें शंकराचार्य का शिष्य मानते हैं; किन्तु अब ऐसे अनेक प्रमाण प्रकाश में आ चुके हैं, जिनके आधार पर यह निश्चित हो गया है कि आचार्य आनन्दगिरि १५वीं शताब्दी में हुए। 'शारीरक भाष्य' पर लिखा हुआ उनका 'न्यायनिर्णय' ग्रंथ पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। विद्यारण्य के बाद, उन्होंने भी 'शंकर दिग्विजय' नाम से एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। सुरेश्वराचार्य के 'तैत्तिरीय श्रुतिवार्तिक' और 'बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक' पर उन्होंने टीकाएँ लिखीं। उनके सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि आचार्य शंकर के सभी भाष्य-ग्रंथों पर आचार्य आनन्दगिरि ने टीकाएँ लिखीं।

प्रकाशानंद

इनके सम्बन्ध में विस्तार से कुछ विदित नहीं है। इनके गुरु का नाम ज्ञानानंद था। अपने ग्रंथ 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' में उन्होंने विद्यारण्य की 'पंचदशी' को उद्धृत किया है और अप्पय दीक्षित ने अपने 'सिद्धान्तलेश' में इनके उक्त ग्रंथ को उद्धृत किया है। इस दृष्टि से प्रकाशानंद का स्थितिकाल १५वीं शताब्दी के आसपास सिद्ध होता है।

'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' नाम से उनका एक ग्रंथ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की भाषा बड़ी सरल, विचार बड़े सुथरे और शैली बड़ी प्रांजल है। इस पर अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धान्तदीपिका' नामक वृत्ति लिखी।

अखण्डानंद

इनके गुरु का नाम अखण्डानुभूति था। प्रकाशात्म यति के 'पंचपादिकाविवरण' पर इन्होंने 'तत्त्वदीपन' निबन्ध लिखा। इस निबन्ध का उल्लेख नृसिंहाश्रम ने अपनी 'भावप्रकाशिका' टीका में किया है। अतः आचार्य अखण्डानन्द का समय १५वीं-१६वीं

शताब्दी के मध्य में रखना उचित जान पड़ता है। 'तत्त्वदीपन' के अतिरिक्त इनकी कोई दूसरी रचना उपलब्ध नहीं है।

मल्लनाराध्य

इनका जन्म दक्षिण में हुआ। १६वीं श० ई० में इनका स्थितिकाल निर्धारित किया गया है। द्वैतवादी आचार्यों के विरोध में इन्होंने 'अद्वैतरत्न' और 'अभेदरत्न' नामक दो प्रकरण ग्रन्थों का निर्माण किया। 'अद्वैतरत्न' पर इन्होंने स्वयं ही 'तत्त्व-दीपन' टीका लिखी है।

नृसिंहाश्रम

इनके गुरु का नाम जगन्नाथाश्रम था। अद्वैत सम्प्रदाय के उद्भट विद्वानों में इनकी गणना की जाती है। अप्पय दीक्षित इनसे बहुत प्रभावित थे। इनके 'तत्त्व-विवेक' नामक ग्रन्थ की पुष्पिका में उसका समाप्तिकाल १६०४ वि० दिया गया है। अतः ये १६वीं शताब्दी में हुए। इनके लिखे हुए ग्रन्थों के नाम हैं 'भावप्रकाशिका' ('पंचदशीविवरण' की टीका), 'तत्त्वविवेक' (सटीक), 'भेदाधिकार', 'अद्वैतदीपिका', 'वैदिक सिद्धान्तसंग्रह' और 'तत्त्वबोधिनी' (सर्वज्ञात्म मुनिकृत 'संक्षेपशारीरक' की व्याख्या)।

नारायणाश्रम

ये नृसिंहाश्रम के शिष्य तथा उन्हीं के समय हुए। उन्होंने अपने गुरु के ग्रन्थों पर 'भेदाधिकारसत्क्रिया' नामक टीका और 'अद्वैतदीपिकाटीका' का निर्माण किया; इनकी 'सत्क्रिया' नामक टीका पर बाद में 'उज्ज्वला' नामक उपटीका लिखी गयी।

रंगराजाध्वरी

इनके पिता का नाम आचार्य दीक्षित और पुत्र का नाम अप्पय दीक्षित था। कांची इनकी जन्मभूमि थी। इनका उपनाम वक्षस्थलाचार्य था। विजयनगर के राजा कृष्णदेवराज के ये सभाविद्वान् थे। इन्होंने अपने 'अद्वैतविद्यामुकुर' और 'विवरणदर्पण' आदि ग्रंथों में न्याय, वैशेषिक तथा सांख्य आदि दर्शनों के मतों का खंडन और अद्वैतमत का पांडित्यपूर्ण ढंग से मंडन किया है।

अप्पय दीक्षित

अनेक विषयों के प्रकांड विद्वान् होने के कारण अप्पय दीक्षित का नाम संस्कृत साहित्य के इतिहास में बड़े सम्मान से स्मरण किया जाता है। अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में मंडन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष और मधुसूदन सरस्वती जैसे सर्वोच्च विद्वानों की कोटि में अप्पय दीक्षित का नाम लिया जाता है। अपने पिता रंगराजाध्वरी से ही अप्पय दीक्षित ने वेदान्त का अध्ययन किया था। उनके छोटे भाई का नाम अच्चा दीक्षित था। अप्पय दीक्षित, शाहंशाह अकबर तथा जहाँगीर के शासनकाल में हुए। उनका जन्म १६०८ वि० में और देहावसान ७२ वर्ष की आयु भोगने के बाद १६८० ई० में हुआ।

अप्पय दीक्षित ने विभिन्न विषयों पर लगभग १०४ ग्रंथ लिखे; किन्तु सम्प्रति उनके कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ये ग्रंथ काव्यशास्त्र, कोश, व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त, मध्वमत, रामानुजमत, श्रीकण्ठमत और शैवदर्शन आदि विभिन्न विषयों से सम्बद्ध हैं। वेदान्त पर लिखे गये उनके ग्रन्थों 'परिमल', 'न्याय रक्षामणि', 'सिद्धांत-श्लेषसंग्रह', और 'न्यायमंजरी' का प्रमुख स्थान है। 'ब्रह्मसूत्र' के मध्व, रामानुज तथा श्रीकंठ आदि आचार्यों के भाष्यों पर अप्पय दीक्षित ने क्रमशः 'न्यायमुक्तावली', नियमयूथमालिका' और 'शिवार्कमणिदीपिका' आदि ग्रन्थ लिखे।

भट्टोजि दीक्षित

भट्टोजि दीक्षित की ख्याति एक वैयाकरण के रूप में अधिक है। किंतु वेदांत के क्षेत्र में भी उन्होंने 'तत्त्वकौस्तुभ' तथा 'वेदान्ततत्त्वविवेक टीकाविवरण' नामक दो ग्रन्थ लिखे। अप्पय दीक्षित उनके वेदांत गुरु थे। वही इनका स्थितिकाल भी है।

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, भट्टोजि दीक्षित के समकालीन थे। संभवतः वे कांची में कामकोटि मठ के अध्यक्ष भी रहे। उनके रचे हुए ग्रन्थों में 'अद्वैत विद्याविलास', 'बोधार्यात्मनिर्वेद', 'गुरुरत्नमालिका' और 'ब्रह्मकीर्तनतरंगिणी' का उल्लेख किया गया है, सम्भवतः जो अभी तक अप्रकाशित हैं।

सदानन्द योगीन्द्र

इनके ग्रन्थ पर श्रीनृसिंह सरस्वती ने 'सुबोधिनी' नामक टीका को १५१८ शक सम्वत् में लिखकर पूरा किया था, जिससे इनका स्थितिकाल १६वीं शताब्दी का आरम्भ विदित होता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'वेदान्तसार' है। यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में बड़ा ही लोकप्रिय है। इस पर कई टीकाएँ लिखी गयीं और अब तक इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इसके अतिरिक्त 'शंकरदिग्विजय' नामक ग्रंथ का रचयिता भी योगीन्द्र को ही बताया जाता है।

मधुसूदन सरस्वती

आचार्य मधुसूदन सरस्वती की गणना अद्वैत वेदान्त के शीर्षस्थ विद्वानों में की जाती है। उनका जन्म बंगाल में हुआ। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। वाराणसी में उन्होंने विद्याध्ययन किया। उनके विद्या गुरु का नाम माधव सरस्वती और दीक्षा गुरु का नाम विश्वेश्वर सरस्वती था। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध या १७वीं श० के पूर्वार्ध में इनका स्थितिकाल था। ये अद्भुत तार्किक और शास्त्रार्थपटु थे।

इनके वेदान्त विषयक ग्रंथों के नाम हैं : 'सिद्धान्तविन्दु', 'संक्षेपशारीरक-व्याख्या', 'अद्वैतसिद्धि', 'अद्वैतरत्नरक्षण'. 'वेदान्तकल्पलतिका', 'गीताटीका' (मधुसूदनी) और 'प्रस्थानभेद'। इनके ये सभी ग्रन्थ बड़े ही लोकप्रिय हैं।

परवर्ती आचार्य

भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में अद्वैत वेदान्त के आचार्यों की परम्परा १८वीं शताब्दी तक निरन्तर बनी रही। अद्वैत वेदान्त पर जितने ग्रन्थ रचे गये उतने किसी दूसरे दर्शन सम्प्रदाय में देखने को नहीं मिलते हैं। इस प्रकार के परवर्ती आचार्यों में धर्मराज अध्वरी, रामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, सदानंद यति, रंगनाथ, ब्रह्मानंद सरस्वती, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती और आपन्न दीक्षित का नाम उल्लेखनीय है।

प्रस्थानत्रयी

दर्शनशास्त्र का अभिज्ञ व्यक्ति प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत परिगणित होने वाले तीन ग्रन्थों से अपरिचित न होगा। एक ही वैदिक विचारों पर आधारित इन तीनों ग्रन्थों के निर्माण की आवश्यकता का उद्देश्य क्या रहा है, इस पर विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किया है।

वैदिक धर्म तंत्रप्रधान धर्म था। उसके रहस्यमय एवं गूढ़ तत्त्वों का विवेचन भिन्न-भिन्न ऋषियों ने विभिन्न युगों में उपनिषद् ग्रन्थों को रचकर किया। एक ही उद्देश्य के व्याख्याता विभिन्न ऋषियों की असमान विचारधारा में एकता प्रतिपादन करने के उद्देश्य से बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की।

किन्तु वैदिक धर्म के प्रवृत्तिविषयक ज्ञान का वास्तविक प्रतिपादन न तो उपनिषद् ही कर सके और न 'ब्रह्मसूत्र' ही। उसकी गम्भीर चिन्तना पर 'गीता' में प्रकाश डाला गया। किन्तु उपनिषदों और 'ब्रह्मसूत्र' में तत्त्वज्ञान पर जो विचार प्रकाश में आ चुके थे उन पर 'गीता' में कोई भी आक्षेप नहीं किये गये। इसलिए वे परस्पर एक दूसरे के परिपूरक ही कहे जाने लगे, जिससे उन तीनों को मिलाकर 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से कहा जाने लगा। प्रस्थानत्रयी का अर्थ है वैदिक धर्म के आधारभूत तीन ग्रन्थ। उनमें वैदिक धर्म के प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, दोनों पक्षों का विस्तार से प्रतिपादन है।

वेदान्त दर्शन का मोटा-सा सिद्धान्त है कि बहुसंख्यक देव, मनुष्य, पशु-पक्षी और स्थावर-जंगमात्मक यह समग्र विश्व-प्रपंच ब्रह्म से पृथक् नहीं है। जो कुछ भी नाना रूपधारी दृश्यमान जगत् है, वह ब्रह्म-समाविष्ट है। वेदान्त दर्शन के इन तीन प्रमुख ग्रन्थों में 'उपनिषद्' श्रुतिप्रस्थान, 'ब्रह्मसूत्र' न्यायप्रस्थान और 'गीता' स्मृति-प्रस्थान हैं। इन तीनों ग्रन्थों में सारा वैदिक धर्म समाया हुआ है। वैदिक धर्म के अनुयायी समाज के लिए वे सभी ग्रन्थ अमान्य थे, जिनमें प्रस्थानत्रयी को स्वीकार न किया गया हो। यही कारण था कि बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारत में धार्मिक प्रतिस्पर्धा का जो प्रवाह चला उसके फलस्वरूप जो अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेक धार्मिक सम्प्रदायों तथा चिन्तन की विभिन्न विधाओं का जन्म हुआ, उनके प्रवर्तक सभी आचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य लिखे। अपने-अपने धार्मिक तथा

दार्शनिक संप्रदायों के प्रचारार्थ एवं लोकप्रियता के लिए उक्त तीनों धर्मग्रन्थों के सिद्धान्तों को अपनाना उस युग के धर्माचार्यों के लिए आवश्यक हो गया था।

ब्रह्मसूत्र

'ब्रह्मसूत्र' में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय चार-चार पादों में विभक्त है। विभिन्न भाष्यकार आचार्यों ने इन सूत्रों की अर्थ-संगति और उनका विषय-वाचन अनेक ढंग से किया है। उदाहरण के लिए विभिन्न भाष्यों में अधिकरणों की संख्या एक जैसी नहीं है। शंकर के अनुसार 'ब्रह्मसूत्र' की अधिकरणसंख्या १९१, बलदेव भाष्य के अनुसार १९८, श्रीकंठीय भाष्य के अनुसार १८२, रामानुज भाष्य के अनुसार १५६, निम्बार्क भाष्य के अनुसार १५१, वल्लभ के 'अणुभाष्य' के अनुसार १६२ और मध्व भाष्य के अनुसार २२३ है। भास्कराचार्य और विज्ञानभिक्षु ने अधिकरणों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है।

जहाँ तक सूत्रसंख्या का सम्बन्ध है, ऐसा अपवाद है कि 'ब्रह्मसूत्र' में ५५६ सूत्र थे। किन्तु विभिन्न भाष्यकार आचार्यों के भाष्य में सूत्रों की जो संख्या मिलती है उसका परिचय इस विवरण से प्राप्त किया जा सकता है :

शंकर	रामानुज	वल्लभ	भास्कर	मध्व	निम्बार्क	विज्ञानभिक्षु	श्रीकण्ठ	बलदेव
५५५	५४५	५५५	५४७	५६२	५४९	५५६	५४५	५५६

इस सूची को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में सूत्रों की संख्या एक जैसी नहीं है। सूत्रों के इस संख्याभेद का कारण वर्गीकरण की असमानता है। उदाहरण के लिए शंकर और रामानुज ने अपने भाष्यों में **'जन्माद्यस्य यतः'** तथा **'शास्त्रयोनित्वात्'** इनको दो सूत्र माना है, जब कि बल्लभाचार्य ने **'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्'** यह एक ही सूत्र माना है। इसी प्रकार पाठभेद में भी दृष्टिकोणों की असमानता देखने को मिलती है।

जैसा कि आरम्भ में सकेत किया जा चुका है कि 'ब्रह्मसूत्र' में चार अध्याय हैं। उसके प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वय' है, जिसमें ब्रह्म-निरूपण और विभिन्न श्रुतियों का समन्वय वर्णित है। दूसरे अध्याय का नाम 'अविरोध' है, जिसमें विरोधी दर्शनों का खण्डन करके युक्ति और प्रमाण से वेदान्त मत का मंडन किया गया है। तीसरे अध्याय का नाम 'साधन' है, जिसमें जीव और ब्रह्म के लक्षणों का प्रतिपादन करने के उपरान्त मुक्ति के बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की मीमांसा और कर्मफलों का विवेचन है। चौथे अध्याय का नाम 'फल' है, जिसमें जीवन्मुक्ति, सगुण-निर्गुण उपासना के फल पर तुलनात्मक प्रकाश डालने के उपरान्त मुक्त पुरुष का स्वरूप बताया गया है।

ब्रह्मजिज्ञासा (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) से 'ब्रह्मसूत्र' का आरम्भ होता है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म वह है, जिसके द्वारा इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय है

(जन्माद्यस्य यतः)। सूत्रकार के इस कथन को लेकर आचार्यों ने उसकी अनेक तरह से व्याख्या की है। भाष्यकारों ने प्रत्येक सूत्र की व्याख्या तीन प्रमुख आधारों पर की है। शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति और पादसंगति। 'ब्रह्मसूत्र' का प्रत्येक अधिकरण पंचावयव है : विषय, संशय, संगति, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार

'ब्रह्मसूत्र' के प्रमुख भाष्यकार हुए शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य। इनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी यद्यपि उस पर भाष्य लिखे, किन्तु उनकी प्रसिद्धि न हुई। उन सभी भाष्यकार आचार्यों और उनके भाष्यों का विवरण इस प्रकार है :

नाम	समय	भाष्य	मत
१. शंकराचार्य	८०० ई०	शारीरकभाष्य	अद्वैत
२. भास्कराचार्य	१००० ई०	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३. रामानुजाचार्य	१२०० ई०	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४. मध्वाचार्य	१३०० ई०	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५. निम्बार्काचार्य	१३०० ई०	वेदान्तपारिजातभाष्य	द्वैताद्वैत
६. श्रीकंठाचार्य	१३०० ई०	शैवभाष्य	शैव विशिष्टाद्वैत
७. श्रीपति आचार्य	१४०० ई०	श्रीकरभाष्य	वीरशैव विशिष्टाद्वैत
८. बल्लभाचार्य	१५०० ई०	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९. विज्ञान भिक्षु	१६०० ई०	विज्ञानामृतभाष्य	अविभागाद्वैत
१०. बलदेव स्वामी	१८०० ई०	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्य भेदाभेद

इन भाष्यों में आज शंकर का 'शारीरक भाष्य', रामानुज का 'श्रीभाष्य' और बल्लभ का 'अणुभाष्य' ही अधिक प्रचलित है।

शारीरक भाष्य

यद्यपि वेदान्त विषय को लेकर अनेक वादों तथा सम्प्रदायों का जन्म हुआ; फिर भी वेदान्त के नाम से आज शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद ही अधिक लोक-प्रचलित है। शंकर के 'शारीरक भाष्य' को ही 'ब्रह्मसूत्र' का प्रामाणिक भाष्य माना जाता है।

शारीरक (**शरीरेः भवः, शरीरेण ध्यज्यते, इति शारीरकः; शारीरवान् ब्रह्म**)' अर्थात् छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े, अनन्त असख्य जगत् के पदार्थों में व्यक्त अमूर्त होते हुए भी मूर्त, उस ब्रह्म के विषय में जो भाषण किया जाय उसी का नाम 'शारीरक भाष्य' है। कर्म और देह का अभेद, देह और चित्त का अभेद, चित्त और जीव का अभेद, जीव और ब्रह्म का अभेद, ब्रह्म और कर्ममय समष्टि का अभेद, समुद्र और वीचि का अभेद—इस अच्छेद्य, अभेद्य द्वन्द्व और सर्वसंग्रही, सर्वव्यापी 'सूत्र' का कि :

'सर्व सर्वेण सम्बद्धं, नैव भेदोऽस्ति कुत्रचित्'

'मैं चेतन हूँ, सब चेतन जीवों में मैं ही हूँ' प्रतिपादन करना ही अद्वैत का विषय है।

माया, सृष्टि, जीव, ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष और जगत् आदि तत्वों की भिन्नता तथा अभिन्नता का वास्तविक आधार क्या है, इस पर अद्वैत वेदान्त में विशद एवं गम्भीर विचार किया गया है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा अद्वैत का यह तात्त्विक विवेचन अपना मौलिक एवं वैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जगत् का यह सारा प्रपंच माया के कारण सृष्ट है। इस अपरिहार्य माया शक्ति का क्या स्वरूप है, इसके विवेचन से शांकर वेदान्त का तत्त्व विचार आरम्भ होता है।

माया

माया, ब्रह्म की शक्ति है। उससे संयुक्त होकर ब्रह्म विश्व की उत्पत्ति करता है और तब वह ईश्वर कहलाता है। इसीलिए **'कारणोपाधिरीश्वरः'** इस श्रुति में कहा गया है कि आत्मा अपने कारणशरीर माया से मिलकर ईश्वर कहलाता है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में कहा गया है कि माया की प्रकृति जानना चाहिए और माया से युक्त आत्मा को ईश्वर ! माया की उपाधि से उपहित होकर ब्रह्म निर्गुण नहीं रह जाता, सगुण हो जाता है। उसकी संज्ञा ईश्वर हो जाती है। माया के सहयोग से सक्रिय होकर वह जगत् की सृष्टि करता है। इस जगत् के समस्त कार्यव्यापारों की कारण-शक्तियों का सामूहिक रूप माया है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त (अवास्तविक या भ्रामक आभास का कारण) है; किन्तु माया का परिणाम (रूपान्तर) है। रज्जु में सर्प के आभास (विवर्त अर्थात् अतात्त्विक अन्यथा भाव) की भाँति यह जगत् अज्ञात का परिणाम है। दूध का दही में, मिट्टी का घड़े में और सुवर्ण का आभूषण में रूपान्तरित हो जाना ही परिणाम है।

सृष्टि-रचना के लिए ईश्वर, माया पर अवलम्बित है और ईश्वर का ईश्वरत्व सृष्टि पर आधारित है। माया, परमेश्वर की बीजशक्ति है। वही अनेक नामरूपों का कारण है। उसी के कारण एक ही ब्रह्म अनेक नाम-रूपों में भासित होता है (**एक एव परमेश्वरः कूटस्थ नित्यो नामधातुः अविद्याया मायाविवत् अनेकधा विभाव्यते**)।

ब्रह्म को इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण कहा गया है। किन्तु ब्रह्म तो निर्विकार एवं निष्क्रिय है। उससे सृष्टि की उत्पत्ति कैसे सम्भव है। इसलिए माया को ब्रह्म की शक्ति कहा गया और उसके सहयोग से इस जगत् की उत्पत्ति बतायी गयी। किन्तु इस दृष्टि से यह न समझना चाहिए कि माया और ब्रह्म दो विभिन्न सत्ताएँ हैं। वस्तुतः ब्रह्म के अतिरिक्त इस विश्व में माया का या किसी अन्य वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है। आग की दाहिका शक्ति जिस प्रकार आग से अलग नहीं है, उसी प्रकार माया भी ब्रह्म से अलग नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से भी

हम पाते हैं कि व्यक्ति की इच्छाशक्ति के बिना कोई क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती है। व्यक्ति इस इच्छाशक्ति के बिना भी रह सकता है; किन्तु इच्छाशक्ति बिना व्यक्ति के नहीं रह सकती है।

अतः माया ईश्वर की इच्छाशक्ति है, एक मानसिक क्रिया है। जिस प्रकार स्वप्न में हमसे मानसिक सृष्टि पैदा होती है उसी प्रकार यह विश्व ईश्वर की मानसिक शक्ति माया द्वारा प्रसूत है। इस दृष्टि से मायायुक्त ब्रह्म विश्व का कारण होकर ईश्वर कहा जाता है। माया से प्रतिबिम्बित चिदात्मा ब्रह्म, माया को अपने अधीन रखता हुआ सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है। अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म को ईश्वर कहते हैं।

माया का स्वरूप

जगत् के कारणभूत ब्रह्म से जिसकी सत्ता है, जो आकाश आदि कार्यभूत पदार्थों से पहचानी जाती है और जो आकाशादि कार्यों के उत्पादन में समर्थ, सद्वस्तु (ब्रह्म) की शक्तिरूपा है, वह माया है। जिस प्रकार अग्नि की दाहिका शक्ति अग्निरूप नहीं, अग्नि से भिन्न है उसी प्रकार सद्वस्तु की शक्ति माया सद्वस्तु से भिन्न है। अग्नि के बिना दाहिका शक्ति और ब्रह्म के बिना माया का कोई अस्तित्व नहीं है। वह न तो नरशृङ्ग की भाँति निःस्वरूप ही है और न अबाध्य (सत्य) ही है। उसका निर्वचन सत् और असत् दोनों से नहीं हो सकता है। इसलिए सदसत् विलक्षण अनिर्वचनीय है।

वह न तो सत् है, न असत् है और न उभयरूप ही। वह न भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न उभयरूप हा। वह सदसद्विलक्षण तथा भिन्नाभिन्नविलक्षण है। वह न तो सांग है और न अंगरहित ही। अतः वह 'अनिर्वचनीय' है। सत्-असत् से विलक्षण होने पर भी माया अभावरूप नहीं है। वह ज्ञान का अभाव (अज्ञान) भी नहीं है। वह 'भावरूप' है, क्योंकि उससे जगद्रूपी महाप्रपंच की उत्पत्ति होती है। वह जगत् की सृष्टि का कारण होने से सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों से युक्त है। ये तीनों गुण यद्यपि उसके विशेषण हैं, साथ ही उसके स्वरूप भी हैं। अतः माया 'त्रिगुणात्मिका' है। भावरूप होते हुए भी वह ब्रह्मज्ञान के बाद वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे सूर्य के उदय होने के बाद अंधकार। तर्क से उसका ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। अतः वह 'ज्ञानविरोधी' है। माया की सत्ता न व्यावहारिक है, न पारमार्थिक और न प्रातिभासिक। उसका आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म। जीवों से वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप छिपा लेती है।

श्रुति में माया को तुच्छ कहा गया है। युक्ति के द्वारा वह अनिर्वचनीय है और लोकदृष्टि से वास्तविक (सत्य)। शंकराचार्य ने माया को इस जगत् की उत्पत्ति का कारण बताते हुए उसके विशेषणों को इस प्रकार गिनाया है:

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः
अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

माया की शक्तियां

माया की दो शक्तियां मानी गयी हैं : आवरण और विक्षेप। माया की इन्हीं शक्तियों के कारण ब्रह्म का वास्तविक रूप छिप जाता है और उसमें अवस्तुरूप जगत् की प्रतीति होती है। आवरण शक्ति तमोरूपा और विक्षेप शक्ति रजोरूपा है। ये दोनों शक्तियाँ एक-दूसरी की पूरक हैं। आवरण का शब्दार्थ है वास्तविकता पर परदा डाल देना और विक्षेप का अर्थ है उसकी जगह दूसरी वस्तु को रख देना। सदानन्द के 'वेदान्तसार' में कहा गया है कि "माया की आवरण शक्ति जीव के ज्ञान नेत्रों के आगे आकर ब्रह्म के वास्तविक रूप को उसी प्रकार ढक लेती है जैसे एक छोटा-सा मेघ का टुकड़ा द्रष्टा के नेत्रों को ढककर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को छिपा लेता है।" इस प्रकार आवरण शक्ति के द्वारा जब ब्रह्म का वास्तविक रूप ढक जाता है तब "विक्षेप शक्ति नानाविध प्रपच को उत्पन्न करके जीव को उसमें उसी प्रकार भ्रमा देती है, जैसे रज्जु में सर्प की उद्भावना होती है।"

शंकराचार्य ने भी 'विवेकचूड़ामणि' में इन दोनों मायावी शक्तियों का चित्र अंकित करते हुए लिखा है कि 'जैसे दुर्दिन में मेघों से सूर्य छिप जाने पर हिमवर्षा तथा शीतल एवं तीखी हवा जीवों को व्यथित कर डालती है उसी प्रकार ये दोनों शक्तियाँ क्रमश: ब्रह्म को आच्छादित करके संसार को भ्रान्त कर देती हैं।"

इन शक्तियों के अस्त्र-शस्त्र हैं काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि; जो विविध रूप धारण करके जीव की आँखों, बुद्धि और दर्शनशक्ति पर शरीर, अस्मिता, अहंकार का पर्दा (आवरण) डाल देते हैं, जिसके कारण वह समझता है 'मैं अनन्त, अनादि, अजर, अमर परमात्मा नहीं हूँ; मैं हाड़-मांस का एक पुतला मात्र हूँ; नश्वर शरीर हूं।' यह आवरण उसको अंधा बना देता है और उसको सांसारिक शरीरक्षोभों से विक्षिप्त कर देता है; अर्थात् उसे सत्य-प्रिय-हित के मार्ग से बहका कर असत्य-अप्रिय-अहित की ओर ले जाता है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् मायावी ईश्वर का एक खेल है। इस खेल में माया एक ऐसी सुषुप्ति है, जिसमें संसारी जीव अपने स्वरूप को भूलकर सो जाते हैं। यह सारा खेल केवल जीव के लिए है। माया और ईश्वर उससे प्रभावित नहीं होते। यह माया ही जीव के भ्रम का कारण है। उसको सीधी राह से उलटी राह में ले जाती है। इसीलिए माया को अविद्या तथा अज्ञान कहा गया है।

माया के कार्य

जिस प्रकार दीवाल पर पोते हुए नीले, पीले आदि रंग दीवाल पर अनेक प्रकार के चित्र अंकित कर देते हैं वैसे ही सत् तत्त्व में रहने वाली माया उस सत् तत्त्व से विविध कार्यों (विक्रियाओं) को उत्पन्न किया करता है।

माया (शक्ति) का पहला विकार आकाश है। आकाश, ब्रह्म का विवर्तरूप कार्य है। सद्वस्तु एक स्वभाव वाली है और आकाश दो स्वभाव वाला। सद्वस्तु में

आकाश नहीं है, सत्स्वभाव ही है। किन्तु आकाश में सत्स्वभाव भी है और आकाशस्वभाव भी। उदाहरण के लिए जैसे मिट्टी घटाकार हो जाती है उसी प्रकार सत् आकाशभाव को प्राप्त हो जाता है।

सत् तत्व में अन्यथा प्रतीति का कारण मायामूलक भ्रान्ति है। सीपी आदि जो वस्तु जिस रूप में है उसकी यथार्थता तो प्रमाण से जानी जाती है; किन्तु उसके अयथार्थ रूप का कारण भ्रांति है।

रामानुज के मतानुसार माया की वास्तविकता

शंकराचार्य के मत के विपरीत रामानुजाचार्य के मतानुसार ईश्वर की मायावी सृष्टि वास्तविक है। वे माया को ईश्वर की वास्तविक शक्ति और उसके द्वारा सृष्ट इस जगत् की रचना को भी वास्तविक मानते हैं। शंकराचार्य भी माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं, किंतु उनके अनुसार वह ब्रह्म का नित्य स्वरूप नहीं है, बल्कि इच्छा मात्र है, जिसको वह जब चाहे त्याग सकता है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद मनुष्य इस माया जंजाल को छिन्न कर देता है और शुद्ध परब्रह्म में लीन हो जाता है।

रामानुज माया को ईश्वर की सर्जना शक्ति मानते हैं और उसका ईश्वर में नित्य निवास स्वीकार करते हैं। शंकर उसको ईश्वर की इच्छाशक्ति मानते हैं और ईश्वर में उसका अनित्य निवास स्वीकार करते हैं। रामानुज के मतानुसार ब्रह्म में अवस्थित अचित् तत्व में और इसलिए ब्रह्म में भी वास्तविक परिवर्तन होता है, किंतु शंकर के अनुसार ब्रह्म सदा एक रूप है। उसमें कभी भी कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता है।

माया और अविद्या

चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के प्रतिबिंब (आभास) से युक्त और सत्व, रज, तम, इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है। प्रकाशरूप सत्व गुण की शुद्धि और मलिनरूप सत्व गुण की अशुद्धि (रज-तम); इन दोनों कारणों से प्रकृति के क्रमशः माया और अविद्या दो भेद होते हैं। विशुद्ध सत्वगुणप्रधान माया मलिन सत्वगुण-प्रधान अविद्या है।

श्रुति वाक्यों में माया को 'एक' और 'अनेक' कहा गया है। माया के इस एकत्व और अनेकत्व पर विद्यारण्य स्वामी की 'पंचदशी' में विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ बताया गया है कि वह भेद हमारी बुद्धि-कल्पित है। उदाहरण के लिए किसी वन के वृक्षों को जब हम समष्टि रूप में देखते हैं तो हमें वह 'एक वन' दिखायी देता है; किन्तु उसी वन के आम, खदिर, पलाश आदि वृक्षों को जब हम अलग-अलग रूप में देखते हैं तब हमें 'अनेक वृक्ष' होने का बोध होता है। इस प्रकार यह केवल बुद्धि भेद का अन्तर है। माया का विशुद्ध 'सत्व स्वरूप' उसकी सूक्ष्मतम अवस्था है। इस अवस्था में वह सत्व प्रधान और रज तथा तमोगुण अप्रधान है। माया के कारण जब अविच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर) में क्रिया उत्पन्न होती है तब उससे अलग-अलग अनेक

स्वरूप बनते हैं। इन सभी स्वरूपों को जब हम एक दृष्टि का विषय मानकर एक साथ देखते हैं तब हमें वे सभी वस्तुएँ 'समष्टि रूप' में प्रतीत होती हैं। किन्तु जब हम इन्हें भिन्न-भिन्न बुद्धि का विषय बनाते हैं तब हमें वे 'व्यष्टिरूप' में भान होते हैं। यह उपाधिगत या बुद्धिगत भेद है। माया ब्रह्मगत अज्ञान और भाव रूप है, जिसको समष्टि अज्ञान कहा गया है। अविद्या जीवगत और अभावरूप है, जो व्यष्टि अज्ञान है। माया का जब इस प्रकार भेद किया जाता है तो समष्टि की दृष्टि से उसे 'माया' और व्यष्टि की दृष्टि से 'अविद्या' शब्दों से कहा गया है। विशुद्ध सत्त्वप्रधान प्रकृति को 'माया' और मलिन सत्त्वप्रधान प्रकृति को 'अविद्या' कहते हैं। माया से आच्छन्न ब्रह्म को 'ईश्वर' और अविद्या में आच्छन्न ब्रह्म को 'जीव' कहते हैं।

माया और ब्रह्म

माया और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जिस प्रकार लोक में पुरुष और उसकी शक्ति को अलग नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार माया को भी ब्रह्म से अलग नहीं किया जा सकता है।

माया शक्ति, ब्रह्म के एक देश में है, सम्पूर्ण ब्रह्म में नहीं। जैसे घट को उत्पन्न करने की शक्ति पृथिवी के एक देश अर्थात् एक अवयव चिकनी मिट्टी में ही रहती है, उसी प्रकार माया शक्ति एकदेशीय है। इसलिए 'गीता' में कहा गया है :

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'

'मैं इस सम्पूर्ण जगत् को (अपनी योगमाया के) एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ।'

सृष्टि-प्रक्रिया

वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया का विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं जटिल है। इस सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में श्रुति एक सामान्य-सा अभिमत प्रकट करती है। वह कहती है 'जैसे जीवित मनुष्य के शरीर में केश, नाखून आदि उत्पन्न होते रहते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती रहती है'। शंकराचार्य ने भी जगत् की उत्पत्ति का कोई विशेष प्रयोजन नहीं बताया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि "जगत् का कारण होने पर भी ईश्वर लीलामात्र के लिए स्वभावतः बिना प्रयोजन उसी प्रकार सृष्टि करता है, जैसे मनुष्य शरीर में, किसी बाहरी प्रयोजन के बिना श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं।" (**यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव भवन्ति एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति**)।

ब्रह्म नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और चैतन्य है। उसके स्थूल और सूक्ष्म रूप नहीं होते। ये सूक्ष्म-स्थूल रूप माया या अज्ञान के होते हैं। इसीलिए सूक्ष्म से लेकर स्थूलपर्यन्त जो परिणाम या विकार दिखायी देता है वह जड़ माया का मिथ्या विस्तार

है, चैतन्य का नहीं। यह अव्यक्त सृष्टिशक्ति माया पहले सूक्ष्म विषयों के रूप में व्यक्त होती है और तब स्थूल विषयों का रूप धारण करती है। माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। सत्व, रजस् और तमस्, ये तीनों गुण सतत परिणामी हैं। इनमें जब रजोगुण की प्रधानता होती है तब माया की विक्षेप शक्ति से युक्त चैतन्य ब्रह्म के द्वारा आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की क्रमशः उत्पत्ति होती है। इन उत्पन्न भूतों में तीनों गुण, अपने-अपने कारण (माया) से अपने-अपने कार्य में आ जाते हैं। इन्हीं पाँच भूतों को वेदान्त में 'सूक्ष्म भूत' या 'तन्मात्राएँ' या 'अपंचीकृत भूत' कहा गया है। इन्हीं सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतों की उत्पत्ति हुई।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

इन पंच तन्मात्राओं में जब सात्विक अंश की प्रधानता होती है तब आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी से क्रमशः श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, जिह्वा और घ्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इनके द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होता है।

ये ज्ञानेन्द्रियाँ कर्ण आदि गोलोक में रहती हैं और शब्द आदि गुणों को ग्रहण करती हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ अपंचीकृत भूतों से बनी होने के कारण इतनी सूक्ष्म हैं कि उनको देखा नहीं जा सकता है; बल्कि उनके कार्यों से उनके अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए रूप का ज्ञान करणजन्य है; क्योंकि वह क्रिया है। अतः जो-जो क्रिया है वह करणजन्य होती है जैसे छेदन क्रिया। इसी प्रकार अन्यान्य गुणों के सम्बन्ध में है।

ये इन्द्रियाँ बाहिर्मुख होती हैं; किन्तु कभी-कभी वे आन्तर विषयों को भी ग्रहण करती हैं। उदाहरण के लिए कानों को हाथ आदि से ढाँप लेने पर प्राणवायु तथा पेट की अग्नि का शब्द सुनायी देता है।

बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार की उत्पत्ति

उक्त आकाशादि पाँचों तन्मात्राओं के संयुक्त सात्विक अंश से बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार नामक अन्तःकरण की वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। बुद्धि निश्चया-त्मिकता वृत्ति है, मन संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति है, चित्त अनुसंधानात्मिका वृत्ति है और अहंकार अभिमानात्मिका वृत्ति हैं। ये वृत्तियाँ वाह्य संसार को प्रकाशित (ज्ञान) कराने वाली सत्त्व गुणप्रधान हैं। विमर्श में संशय को उत्पन्न कर देने वाली प्रवृत्ति का नाम 'वृत्ति' है। वह मन का ही अपर स्वरूप है। जिस वृत्ति (मन) का स्वरूप निश्चित है उसको 'बुद्धि' कहते हैं।

मन और उसके गुण

यह मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का प्रेरक होने से उनका अधिपति है। उसका स्थान हृदयकमल में है। मन, क्योंकि वाह्य शब्दादियों में इन्द्रियों के बिना

प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उसको आन्तर कहा गया है। इन्द्रियाँ जब अपने-अपने विषयों में लगी होती हैं तब मन अच्छे-बुरे गुण-दोनों का विवेचन करता रहता है।

मन के तीन गुण हैं, सत्त्व, रज और तम। सत्त्व गुण से वैराग्य, क्षमा तथा औदार्य आदि शान्त प्रवृत्तियों का उदय होता है; रजोगुण से काम, क्रोध, लोभ, प्रयत्न आदि घोर वृत्तियों की उत्पत्ति होती है; और तमोगुण से आलस्य, भ्रांति तथा तंद्रा आदि मूढ़ वृत्तियों का जन्म होता है।

पांच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति

पाँच भूतों का साधारण कार्य (सब का कार्य) है अन्तःकरण; और उनके प्रत्येक अंश के असाधारण कार्य (एक-एक का कार्य) का परिणाम है पाँच कर्मेन्द्रिय। आकाशादि पंच तन्मात्राओं के व्यष्टिरूप रजस् अंश से क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, इन पाँच कर्मेन्द्रियों की अलग-अलग उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूतों के सत्त्वगुणविशिष्ट अंश से प्रसूत हुईं उसी प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियाँ रजोगुणविशिष्ट अंशों से उत्पन्न हुईं। एक-एक भूत के एक-एक रजोभाग से एक-एक कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुई।

क्रियाप्रधान होने के कारण उनको 'कर्मेन्द्रिय' कहा गया है। वचन, आदान, गमन, निसर्ग और आनन्द, उनकी ये क्रमशः पाँच क्रियाएँ हैं। मुख, हाथ, पैर, गुदाच्छिद्र और शिश्नछिद्र, उनके ये क्रमशः स्थान हैं।

पाँच कोशों की उत्पत्ति

उपनिषदों में ब्रह्म को गुहा में स्थित (**निहितं गुहायाम्**) बताया गया है। गुहा कहते हैं गोपन या आच्छादन को। पंच-कोश ब्रह्म के आच्छादक होने के कारण 'गुहा' कहे गये हैं। इन पंचकोशों में पहला अन्नमय कोश (देह) है। उसके भीतर प्राणमय कोश, उसके भीतर मनोमय कोश, उसके भीतर विज्ञानमय कोश और उसके भी भीतर आनन्दमय कोश है। अन्नमय कोश से लेकर आनन्दमय कोश तक की जो शृंखला है उसी को 'गुहा' कहा गया है।

अन्नमय कोश

पंचीकृत भूतों से व्युत्पन्न स्थूल देह का नाम 'अन्नमय कोश' है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि अन्नजीवी माता-पिता के वीर्य से उत्पन्न और तदनन्तर क्षीरादि अन्न से जिस देह का विकास होता है वह 'अन्नमय कोश' है। यह 'अन्नमय कोश' (देह) आत्मा नहीं है; क्योंकि जन्म से पहले और मृत्यु के बाद यह देह नहीं रहता। देह 'कार्य' है, अतः घट (कार्य) की भाँति वह भी उत्पत्तियुक्त और विनाशवान् है।

प्राणमय कोश

लिंग शरीर में अवस्थित पाँच वायु और पाँच कर्मेन्द्रिय का नाम 'प्राणमय कोश' है। अर्थात् जो वायु पैर से लेकर सिर तक सम्पूर्ण देह में, व्यान रूप से

शक्ति-संचार करता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों को प्रेरित करता है उस वायु को 'प्राणमय कोश' कहते हैं। वह जड़ है, जैसे घट; और आत्मा से पृथक् है।

मनोमय कोश

मन और कर्ण, त्वक् आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों का नाम 'मनोमय कोश' है। इसका यह आशय हुआ कि 'मैं' और 'मेरा' का ममत्व तथा मान 'मनोमय कोश' का कार्य है। वह काम, क्रोधादि अवस्थाओं से भ्रांत तथा अनियमित स्वभाव वाला है। यह बाल्य आदि अवस्थाओं से युक्त होने के कारण विकारी है।

विज्ञानमय कोश

बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रिय के सहयोग से 'विज्ञानमय कोश' की उत्पत्ति हुई। इसको विस्तार से यों समझा जा सकता है कि चेतन के प्रतिबिम्बरूप में चिदाभास से युक्त जो बुद्धि, सुषुप्तिकाल में लीन होकर शरीर में व्याप्त रहता है तथा जाग्रतावस्था में शरीर के रोम-रोम में प्रकट हो जाती है वह विज्ञानमय कहलाती है। वह बुद्धि, विलयादि अवस्थाओं वाली होने के कारण आत्मा से भिन्न है।

'विज्ञान' का अर्थ है निश्चयरूप वृत्ति और 'मन' का वाच्य है संशयरूप वृत्ति। मन और बुद्धि से अधिष्ठित उक्त दोनों कोशों में यही अन्तर है।

आनन्दमय कोश

मलिन सत्त्वगुण अविद्या के कारण प्रिय वस्तु की प्राप्ति से जो प्रमोद (प्रिय-मोद) अर्थात् सुखानुभव होता है उसको 'आनन्दमय कोश' कहते हैं। जब हम किसी पुण्यकर्म के सुखरूप फल को प्राप्त करते हैं उस समय हमारी बुद्धि-वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और उस समय उस पर आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जब फलोपभोग शांत हो जाता है तब वही बुद्धि-वृत्ति संस्काररूप में (निद्रारूप में) विलीन हो जाती है। यह आनन्द मेघ की भाँति कभी-कभी ही रहता है। अतः अनित्य है और आत्मा से अलग है।

अन्वय व्यतिरेक द्वारा पंचकोशों का भेदज्ञान

अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रत्येक आत्मा से पंचकोशों का भेदज्ञान प्राप्त कर साधक स्वयं को उन कोशों के व्यूह से मुक्त कर लेता है और चिदानन्द स्वरूप (ब्रह्म-स्वरूप) हो जाता है।

स्वप्नावस्था में साक्षी आतमा का जो स्फुरण है उसी को 'अन्वय' कहते हैं और उसी अवस्था में आत्मा के स्फुरण होने पर भी स्थूल देह की जो उदासीनता तथा अप्रतीति है उसी को 'व्यतिरेक' कहते हैं। 'अन्वय' कहते हैं एकता के लिए और 'व्यतिरेक' कहते हैं भिन्नता के लिए।

ये अन्नादिकोश आत्मा से अलग रहते हैं, किन्तु वे एकाकार प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए माला में पिरोये गये फूल जैसे एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी

सूत्रबद्ध होने के कारण अभिन्न प्रतीत होते हैं उसी प्रकार आत्मा भी अन्नमयादिकों से भिन्न है; किन्तु अभिन्न प्रतीत होता है।

साधक जब अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा पंचकोशों से आत्मा को विविक्त रूप में पहचान लेता है तब आत्मा के ब्रह्म हो जाने में कोई संशय नहीं रह जाता है।

जीव की उत्पत्ति

बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के योग से विज्ञानमय कोश और उससे घिरे हुए चैतन्य जीवन की उत्पत्ति होती है। यह चैतन्य 'विभु' है। इसकी सहायता से विज्ञानमय कोश में क्रिया उत्पन्न होती है। यही जीव इहलोक और परलोक का संचरण करता है। यह कर्ता और उपभोक्ता है और उसी की मुक्ति होती है।

पाँच प्राणों की उत्पत्ति

आकाशादि पाँच रजोगुण भूतों के पाँच अंश मिलकर जब कारण बनते हैं तब उनसे प्राण की उत्पत्ति होती है। वह पाँच प्रकार का है : प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। मन की इन पाँच क्रियाओं की भिन्नता के कारण प्राण के ये पाँच प्रकार बनते हैं।

प्राण : जिसका स्वरूप वायु है; जिसका स्वभाव ऊपर जाना (ऊर्ध्वगामी) है; और जो नासिका के अग्रभाग में अवस्थित है।

अपान : जिसका स्वरूप वायु है, जिसका स्वभाव ऊपर जाना (ऊर्ध्वगामी) है; और जो गुदा आदि में स्थित रहता है।

समान : जिसका स्वरूप वायु है, नाड़ियों द्वारा अन्न का रस सारे शरीर में पहुँचाना जिसका स्वभाव है; और जो शरीर के मध्य में रहता है।

उदान : जिसका स्वरूप वायु है; जो ऊर्ध्वगामी है; और जिसका स्थान कण्ठ में है।

व्यान : जिसका स्वभाव वायु की तरह है; जो नाड़ियों में विचरणशील है; और जिसका सारे शरीर में घर है।

पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राणों का संयुक्त रूप 'प्राणमय कोश' कहलाता है, जो कि चैतत्य को आच्छादित किये रहता है।

सूक्ष्म शरीर की रचना

उक्त विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश के योग से सूक्ष्म शरीर की रचना हुई। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, एक बुद्धि और एक मन—कुल मिलाकर ये सत्रह अवयव उस सूक्ष्म शरीर में रहते हैं। उपनिषदों में उसको 'लिंग' कहा गया है। उसमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया, तीनों शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं।

पंचीकृत स्थूल भूतों की उत्पत्ति

पंचीकृत भूतों का स्वरूप स्थूल है। वह जड़ प्रकृति या माया का विकसित स्वरूप

है। इन पंचीकृत स्थूल भूतों में क्रमशः आकाश में शब्द; वायु में शब्द, स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस; और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध अभिव्यक्त होते हैं। इन्हीं अभिव्यक्त पंचीकृत भूतों से क्रमशः स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम कार्यों की उत्पत्ति होकर चौदह भुवनों से युक्त इस 'ब्रह्माण्ड' की रचना और विभिन्न प्राणियों तथा पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

एक-एक स्थूल देह में अहंभाव से वर्तमान तैजस जीव 'विश्व' कहलाया और देव, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि उसके कई वर्ग बन गये। 'तैजस' उनको इसलिए कहा गया कि वह अन्तःकरण से अभेद का अभिमान करने वाला है। यह देहधारी जीव प्रत्यगात्मा को नहीं देख पाता और मनुष्यादि शरीरों को धारण करने योग्य कर्मों को करता हुआ देवादिकों का शरीर प्राप्त करता है तथा अपने कर्मफलों को भोगता है।

स्थूल शरीर की उत्पत्ति

स्थूल भूतों से चार प्रकार के स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं, जिनके नाम हैं: जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज। इसको 'अन्नमय कोश' कहते हैं। इन चारों प्रकार के स्थूल शरीरों की समष्टि से घिरा हुआ 'चैतन्य', 'विश्व' कहा जाता है। 'विश्व' और 'वैश्वानर' में केवल उपाधियों की भिन्नता है; तात्त्विक दृष्टि से दोनों में वही एक चैतन्य है।

सृष्टिज्ञान की अपेक्षा

इस प्रकार यह दृश्यमान महान् प्रपंच उत्पन्न हुआ है। यह दृश्यमान महान् प्रपंच, जिसकी परतों को खोलने के लिए ज्ञान की कुंजी चाहिए, अविद्या और अज्ञान से आवृत है। ईश्वर, सूत्रात्मा, वैश्वानर, ये भेद उपाधियों के हैं। विक्षेप शक्ति के कारण अज्ञान से आवृत उस अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म में विभिन्नता और अनेकरसता दिखायी देती है। माया की आवरण और विक्षेप शक्तियों के परदों को ज्ञान की असि से फाड़ करके जब देखा जाता है तब स्वयं ही एकरसता, एक मात्र चैतन्य ईश्वर का स्वरूप दिखायी देता है। वही एकमात्र सत्ता है; जो सृष्टि के आदि में भी एकरस थी और महाप्रलय के बाद जब सारी सृष्टि विलय हो जाती है तब भी अखण्ड रूप से बनी रहती है।

यह सृष्टि ईश्वर का ही अपर रूप

सभी शास्त्र इस बात में एकमत हैं कि ईश्वर के द्वारा रचित सृष्टि के सभी पदार्थ वास्तव में उसी के रूप हैं। **'बहुस्यां प्रजायेत'** (मैं अनेक बन जाऊँ), अर्थात् मैं अपने को अनेक रूपों में व्यक्त करूँ। इस श्रुति में ईश्वर ने यह नहीं कहा है कि 'मैं उत्पन्न करूँ'। बल्कि यह कहा है कि 'मैं बन जाऊँ'। इस श्रुति से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सारा दृश्य महाप्रपंच शरीर, इन्द्रिय, मन आदि विभिन्न उपाधियों से उपहित उसी परमात्मा की अभिव्यक्ति है। आचार्य शंकर ने भी मनुष्य के श्वास-

प्रश्वास की भाँति ईश्वर के द्वारा इस सृष्टि की उत्पत्ति बतायी। इसी आशय को दूसरी श्रुति में कहा गया है 'पहले केवल सत् (ईश्वर) ही था, दूसरा कुछ भी नहीं था' (**सदेव सोम्येवमग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चनमिषत्**)। उसके बाद सृष्टि का आरम्भ हुआ वह अनेक बन गया। तीसरी श्रुति में कहा गया है कि 'वह (ईश्वर) स्वयं व्यक्त और अव्यक्त जगत् बन गया' (**सच्च त्यच्चाभवत्**)।

यह अद्वैत का सिद्धान्त है और इसके अनुसार सृष्टि का अर्थ किसी नये पदार्थ का उत्पन्न होना नहीं है, अपितु अव्यक्त का व्यक्त होना है। 'सृष्टि' शब्द का अर्थ है 'विसर्ग', अर्थात् भीतर की वस्तु को प्रकट करना। यह भीतर की वस्तु किस प्रकार प्रकट होती है, इस सम्बन्ध में वेदान्त में एक उदाहरण देकर कहा गया है कि 'जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से जाल की रचना करता है और फिर उसको अपने में ही समेट लेता है, उसी प्रकार अक्षर पुरुष भी सृष्टि काल में जगत् को व्यक्त करता है और सर्ग के अन्त में उसे फिर अपने में लीन कर लेता है।'

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में विकास का यही रहस्य है।

जीव

जीव का स्वरूप

सृष्टि-प्रक्रिया के प्रसंग में कहा गया है कि बुद्धि, मन, अहंकार, चित्त, अन्तःकरण की इन वृत्तियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के योग से विज्ञानमय कोश और उससे घिरे हुए चैतन्य जीव की उत्पत्ति हुई है। शरीर व आत्मा का नाम जीव है। उसको ईश्वर का अंश अथवा प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। 'माया के परिणामस्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा ही जीव कहलाता है' (**कार्योपाधिरयं जीवः**)। इस, बात को शंकराचार्य ने 'शारीरक भाष्य' में इस प्रकार कहा है, 'इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और शरीर की उपाधियों से घिरा हुआ (**परिच्छिद्यमान**) और पृथक् किया गया आत्मा ही जीव है' (**पर एवात्मा देहेन्द्रियमनो बुद्धचाद्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीरं इत्युपचर्यते**)। श्रुति में कहा गया है कि 'यह आत्मा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान एक और अनेक दिखायी देता है।'

जीव, ईश्वर का प्रतिबिम्ब

इस प्रतिबिम्ब का रहस्य समझ लेने के बाद जीव के अस्तित्व की वास्तविकता समझी जा सकती है। प्रतिबिम्ब कहते हैं छाया के लिए। यह प्रतिबिम्ब सापेक्ष्य होता है, कल्पित अथवा अवास्तविक नहीं। जहाँ कहीं भी प्रतिबिम्ब दिखायी देगा वहाँ प्रतिबिम्बित मूल वस्तु का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए मुख के प्रतिबिम्ब के लिए मुख, दर्पण और प्रतिबिम्ब, ये तीन वस्तुएँ एक साथ रहती हैं। जीव को जब हम आत्मा का प्रतिबिम्ब स्वीकार करते हैं तो ऐसी अवस्था में हमें मानना पड़ेगा कि मूल बिम्ब ईश्वर है, दर्पण अन्तःकरण है और चेतना या जीव उसका प्रतिबिम्ब है।

इससे यह आशय निकलता है कि जीव, ईश्वर से कोई भिन्न नहीं है, उसी की छाया है। जिस प्रकार बाहर धूप में रखे हुए स्फटिक में व्याप्त होने वाला प्रकाश, सूर्य के प्रकाश का ही प्रतिबिम्ब है ठीक उसी प्रकार परमात्मा का प्रकाश, जो अन्तःकरण पर पड़ता है, जीव कहलाता है और 'मैं' की चेतना के रूप में प्रकट होता है। इसी अर्थ में जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। ये शरीरादि उपाधियाँ अविद्याजनित हैं, वास्तविक नहीं हैं। जब जीवगत अविद्या नष्ट हो जाती है तो वह जीव फिर अपने मूलरूप ईश्वर में आ जाता है (**मायानिर्मितस्य जीवस्य अविद्याप्रत्युपस्थापितस्य अविद्यानाशे स्वभाव-रूपत्वात्**)। आचार्य शंकर का यह आशय है।

जीव में उपाधियाँ हैं

ज्ञान, अज्ञान, बन्ध और मोक्ष जीव में हैं, ब्रह्म से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव ही प्रमाता, भोक्ता, कर्ता और आवागमन की क्रियाओं से युक्त हैं। काम-नाओं से पूर्ण कार्यों को करने और उनका फलोपभोग करने के कारण उसमें मृत्यु का आरोप किया जाता है (**तस्मिन् मर्त्यत्वम् अधिरोपितम्**)। 'पंचदशी' में बन्ध और मोक्ष के कारण प्रतिबिम्बित बुद्धि (चिदाभास) की सात अवस्थाएँ : अज्ञान, आवरण, मोह, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोक से मुक्ति और निर्बन्ध आनन्द—जीव में बतायी गयी हैं। ज्ञान और अज्ञान, बन्ध और मोक्ष बुद्धियुक्त जीव में ही अवस्थित रहते हैं।

किन्तु, क्योंकि जीव और आत्मा का अन्तर पारमार्थिक नहीं, अविद्या की उपाधियों के कारण व्यावहारिक है, अतः तात्त्विक दृष्टि से वे दोनों एक हैं। उपाधियों के विनष्ट हो जाने पर जीव शुद्ध आत्मस्वरूप हो जाता है। जिस प्रकार घट के नष्ट हो जाने पर उसके भीतर का आकाश बाहर के आकाश में मिल जाता है उसी प्रकार उपाधियों के विलीन हो जाने पर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है :

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम् ॥

ईश्वर और जीव

तात्त्विक दृष्टि से जीव और ईश्वर एक हैं। बुद्धि के ऊपर पड़ा हुआ ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव कहलाता है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीवात्मा, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। खुले आँगन में रखे हुए जलपूर्ण पात्र में प्रतिबिम्बित सूर्य की आकृति, सूर्य से भिन्न नहीं है। ईश्वर को जीवों का शासक या नियन्ता और जीवों का शासित कहा गया है, क्योंकि ईश्वर माया के शुद्ध सत्त्व से युक्त है, जब कि जीव, माया की निकृष्ट उपाधियों वाला है। दोनों में ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है। विशुद्ध सत्त्व युक्त यह ब्रह्म ईश्वर कहलाता है और मलिन सत्त्व युक्त वही जीव हो जाता है। अविद्या (विकृत या मलिन सत्त्व) से बद्ध जीव के सीमित ज्ञान, सीमित शक्ति और शोक आदि गुण, तथा मायायुक्त (शुद्ध सत्त्व से संयुक्त अविद्या) ईश्वर के सर्वज्ञता,

सर्वशक्तिमत्ता तथा आनन्दमयता आदि गुणों को निकाल देने पर चेतना का जो शुद्ध रूप शेष रहता है वह दोनों में एक समान है। इसलिए जीव को भी पूर्ण ब्रह्म कहा जा सकता है। शंकराचार्य ने कहा है **'सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकारण-संघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाहुः'**। वेदान्त की दृष्टि से जीव और ईश्वर में ऐक्य की स्थापना का यह सिद्धान्त 'जहदजहल्लक्षणा' या 'भागलक्षणा' के द्वारा बड़े ही युक्तियुक्त ढंग से समझाया गया है।

बुद्धि के ऊपर पड़े हुए ब्रह्म के इस प्रतिबिम्बरूप जीव का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। वेदान्त में ज्ञानप्राप्ति के इस साधन को 'वृत्ति' कहा गया है। अन्तःकरण के ज्ञानरूप परिणाम का नाम 'वृत्ति' है। वृत्ति का प्रयोजन अविद्या की निवृत्ति है। वह दो प्रकार की है : प्रमारूप और अप्रमारूप। यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ (भ्रम) ज्ञान को अप्रमा कहा गया है। इस वृत्ति के द्वारा ही प्रत्येक जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं को प्राप्त होता है। वृत्ति से ही मोक्ष और पुरुषार्थ की प्रप्ति होती है। घटादि के प्रतिविम्ब को या बुद्धि के ऊपर पड़े ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की सामर्थ्य स्वाभाविक नहीं है, वृत्ति के सम्बन्ध से है। उदाहरण के लिए दर्पण के सम्बन्ध के विना दीवाल में सूर्य का प्रति-बिम्ब नहीं दिखायी देता, बल्कि दर्पण के सम्बन्ध से दिखायी देता है। इसी प्रकार जीव और चैतन्य (ईश्वर) का विषय से नित्य सम्बन्ध होने पर भी वृत्ति के सम्बन्ध के बिना विषय प्रकाशित नहीं हो सकता है।

ईश्वर

माया में चेतन की छाया या आभास और माया का अधिष्ठान चेतन, दोनों को ईश्वर कहते हैं। वह ईश्वर मेघाकाश की तरह है। वह अन्तर्यामी है, क्योंकि सबके अन्दर वह प्रेरणा करता है। वह सदामुक्त (नित्यमुक्त) है, क्योंकि उसका स्वरूप आवृत नहीं है और उसको जन्म-मरण के बन्धनों की प्रतीति नहीं होती। वह सर्वज्ञ है, अर्थात् सब पदार्थों का ज्ञाता है।

ईश्वर और जगत्

उत्पत्ति और विलय, दोनों का कर्ता होने के कारण ईश्वर, जगत् का कारण (योनि) कहलाता है। उत्पत्ति और विलय का अर्थ आविर्भाव और तिरोभाव है। यह ईश्वर अपने में विलयित समस्त जगत् को, प्राणियों के कर्मों के अनुसार, आविर्भूत करता है और वही ईश्वर प्राणियों के कर्मों के क्षीण हो जाने पर सारे संसार को अपने भीतर छिपा लेता है। ये सृष्टि और प्रलय ऐसे ही हैं, जैसे रात-दिन या जाग्रतसुषुप्ति।

ईश्वर जगदाकार में परिणत होता है

अद्वैत की दृष्टि से ईश्वर को अद्वितीय और निरवयव माना गया है। अतः आविर्भाव और तिरोभाव का आशय आरम्भ और परिणति नहीं है। ईश्वर, जगत्

की अलग से रचना नहीं करता है, बल्कि इस जगत् की उत्पत्ति वैसे ही होती है, जैसे सीप में चाँदी और स्वर्ण में आभूषण की उत्पत्ति होती है। वह एक ही ईश्वर जड़ तथा चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों का उपादानकरण है।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने जड़ और चेतन का कारण परमात्मा को माना है, ईश्वर को नहीं। वह परमात्मा भावना (संस्कार), ज्ञान (देवताध्यान) और कर्मों (पुण्यापुण्य) के कारण जब तमःप्रधान होता है तब देहों (क्षेत्रों), का कारण होता है, जब चित्प्रधान होता है तब चिदात्माओं का कारण होता है।

ईश्वर और ब्रह्म

जिस प्रकार जीव और कूटस्थ का 'अन्योन्याध्यास' है उसी प्रकार ईश्वर और ब्रह्म का 'अन्योन्याध्यास' सिद्ध है। सत्य-ज्ञान-अनन्त-स्वरूप ब्रह्म से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, औषधि, अन्न, देह—ये सब उत्पन्न हुए हैं, ऐसा श्रुति में इसीलिए कहा गया है कि ईश्वर और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास सिद्ध है। जैसे माँडी लगा वस्त्र, घोटने से गफ (एकाकार) हो जाता है उसी प्रकार अन्योन्याध्यास रूप यह ब्रह्म भी भ्रांति के कारण ईश्वर के साथ एक हो जाता है।

इसलिए जो लोग भ्रांत हैं वे ब्रह्म और ईश्वर के भेद को नहीं पहचान पाते। ब्रह्म असंग है और यह मायावी महेश्वर जगत् का कारण। अतएव मायावी ईश्वर जगत् की रचना करता है और इस जगत् मे जीव, माया के वश में होकर बन्दी बना रहता है। ब्रह्म, जगत् का स्रष्टा नहीं है।

जब इस आनन्दमय ईश्वर ने 'मैं बहुरूप हो जाऊँ (**एकोऽहं बहुस्याम**) यह विचार किया तो वह समष्टि प्रपंच (हिरणयगर्भ) हो गया (हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे, ततो विराट्)। यह ऐसे ही हुआ जैसे गाढ़ी निद्रा ही स्वप्न बन जाती है। ईश्वर, जीव आदि रूप से जड़-चेतन स्वरूप जो यह जगत् है वह अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व में स्वप्न ही है।

बद्ध और मुक्त

जिसके स्वरूप में आवरण है वह बद्ध है और जिसके स्वरूप में आवरण नहीं है वह मुक्त है। ईश्वर में आवरण नहीं है। इसलिए उसको नित्यमुक्त कहा गया है। जीव में आवरण है। अतः वह बद्ध है। जीव इसलिए बद्ध है, क्योंकि यह अविद्या से आवृत है। अतः मायावच्छिन्न ब्रह्म ज्ञान ऐश्वर्य आदि अनन्त कल्याण गुणगण युक्त सर्वज्ञ ईश्वर मलिन सत्त्व अविद्या-ग्रस्त ब्रह्मांश अज्ञान अनैश्वर्य आदि से युक्त होकर जीव की संज्ञा प्राप्त करता है। इसलिए चेतन से उसकी जीव संज्ञा हुई।

यद्यपि अविद्या, अज्ञान और माया एक ही वस्तु को कहते हैं, तथापि माया में शुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता है और अज्ञान तथा अविद्या में मलिन सत्त्वगुण की प्रधानता है। रजोगुण और तमोगुण से दबा हुआ जो सत्त्वगुण है उसको 'मलिन

सत्त्वगुण' कहते हैं। जीव में अविद्या है। अतः वह बद्ध है। ईश्वर में नहीं है। अतः वह मुक्त है।

आनन्दमय और विज्ञानमय ही क्रमशः ईश्वर और जीव हैं, दोनों माया से कल्पित हैं और इन दोनों से ही सारा जगत् कल्पित है।

कर्मफल का प्रदाता

चेतन चार प्रकार का है : कूटस्थ, जीव, ईश्वर और ब्रह्म। इनमें जीव ही पापपुण्य का कर्ता और उनके फलों का उपभोक्ता है। जीव के स्वरूप में चेतन की छाया का आभास ही कर्म है। उसका फल ईश्वराधीन है। जीवरूप अंश ही कर्म करता है और उनका फलोपभोग करता है। ईश्वर उसका फल देता है जीव और ईश्वर में जो चेतन भाग है वह अभिन्न है। दोनों में आभास (जो जीव में है) के कारण भेद है।

वस्तुतः देखा जाय तो न जीव कर्म करता है और न ईश्वर फल देता है; बल्कि जीव में ईश्वर का जो आभास अंश है वह कर्म करता है और ईश्वर में जो आभास अंश है वह फल देता है। जीव-ब्रह्म में जो चेतन है वह घटाकाश, महाकाश की भाँति एक है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यहाँ वाच्यार्थ में भेद है, लक्ष्यार्थ में नहीं।

आत्म विचार

आत्मा का अस्तित्व

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अद्वैत वेदान्त में किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझी गयी है; क्योंकि वह हमारे प्रत्येक व्यवहार में अपने अस्तित्व का स्वयमेव प्रमाण उपस्थित करता है। इसके विपरीत आत्मा ही सभी प्रमाणों का आधार है, और इसलिए :

यतः सिद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति

जो सभी प्रमाणों का आधार है वह प्रमाणों के द्वारा कैसे सिद्ध हो सकता है? जब हम अपने सम्बन्ध में अर्थात् अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सम्बन्ध में बातें करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी शरीरादि की तह में कोई ऐसी सत्ता विद्यमान् है, जिसका इन सभी पर आधिपत्य है, स्वामित्व है। वह ज्ञानस्वरूप सत्ता ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। उसी के बल पर हम 'मैं', 'मेरा' आदि शब्दों से अपने अस्तित्व को सूचित करते हैं। ऐसा कोई नहीं कहता है कि **'नाहमस्मीति'** मैं नहीं हूँ। यह 'मैं हूँ' ही ज्ञातारूप सत्ता आत्मा है। जीव-जगत्, जीव-ईश्वर, जगत्-ईश्वर, ज्ञात-ज्ञेय आदि के जितने भी भेद हैं वे सब माया की सृष्टि हैं; और इसलिए मिथ्या हैं।

आत्मा और ब्रह्म की एकता

माया के प्रपंच को भेदकर जब हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रविष्ट होते हैं तो

हमें आत्मा और ब्रह्म की एकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, अन्तःकरण की इन वृत्तियों से आबद्ध चेतना का नाम ही प्रत्यगात्मा, कूटस्थ या व्यक्तिगत आत्मा है और विशुद्ध, विनिर्मुक्त चेतना का नाम ही ब्रह्म है। माया के वशीभूत हुए अन्तःकरण की वृत्तियों से आबद्ध ब्रह्म ही आत्मस्वरूप है। जैसे घटाकाश और आकाश में कोई अन्तर नहीं है, जैसे कि घट के नष्ट हो जाने पर घट के भीतर का आकाश बाहर के आकाश में मिलकर एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। यदि आत्मा और परमात्मा की सत्ता को अलग-अलग माना जायगा तो ब्रह्म की अनन्तता और अद्वैत का सिद्धान्त बन नहीं सकता है।

'अयमात्मा ब्रह्म', **'आत्मैवेदं सर्वम्'** आदि महावाक्य आत्मा और ब्रह्म की एकता के सूचक हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' (६।८।७) में वर्णित 'यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा है, वही सत्य है; हे श्वेतकेतु, वही आत्मा तुम हो' (**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**; इस श्रुति में स्पष्ट ही आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का प्रतिपादन है। इसी प्रकार 'वृहदारण्यकोपनिषद्' का एक मंत्र आत्मा और परमात्मा की एकता का सुन्दर साक्ष्य प्रस्तुत करता है। मंत्र है **"य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरेय आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"** अर्थात् 'जो परमेश्वर आत्मा में ठहरा हुआ आत्मा से भिन्न है, उसको यह आत्मा नहीं जानता है और जिस परमेश्वर का आत्मा शरीर है, वह आत्मा के अन्दर है तथा आत्मा का नियमन करता है, अन्तर्यामी है, अमृत है।'

जो ब्रह्म इस जगत् का आधार है वही आत्मा है। आत्मा को ब्रह्म का अंश नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म तो अखण्ड है (**न हि आत्मनोऽन्यत्... तत्प्रविभक्तदेशकालं भूते भवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते**)। आत्मा के अतिरिक्त इस संसार में कुछ है ही नहीं। यह सारा जगत् ही आत्मा है। वह देश काल की परिधियों से विमुक्त हैं।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, सत् है, कूटस्थ है, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ज्ञाता आदि सब कुछ भी वही है। ज्ञेयरूप जगत् में आत्मा ज्ञातारूप है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में उसकी अखण्ड सत्ता एक जैसी रहती है। जाग्रत अवस्था में मनुष्य शरीर और इन्द्रियों को ही अपना वास्तविक रूप समझता है। स्वप्नावस्था में भी उसका स्मृति-संस्कारजन्य विषय-ज्ञान बना रहता है; किन्तु सुषुप्तावस्था में उसका ज्ञातृत्व भाव विलुप्त हो जाता है। उसे कुछ भी ज्ञात नहीं रहता। इस सुप्तावस्था में भी चैतन्य बना रहता है और जब नींद से उठकर मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसने अच्छे-अच्छे स्वप्न देखे, वह बड़े सुख से सोया, तो उसका साक्ष्य चैतन्य ही है। इस प्रकार की सुषुप्ति में मनुष्य जब आनन्द ही आनन्द का अनुभव

करता है, विषयों की लिप्सा से मुक्त रहकर सुखों का अनुभव करता है तो वह शुद्ध चैतन्य आत्मा के अनन्त आनन्द की ही एक झलक मात्र है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' (भृगु० ७) में इस आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप अंकित करते हुए लिखा है कि 'ब्रह्म को आनन्दस्वरूप जानना चाहिए। उस आनन्दमय ब्रह्म से ही यह प्राणिमय जगत् उत्पन्न हुआ है, उसी में यह स्थिर है और अनन्त काल तक आनन्द का उपभोग कर बाद में उसी में समा जाता है' (**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।**

इसलिए वह सत् है और उसकी सत्ता तीनों कालों, तीन अवस्थाओं में एक जैसी बनी रहती है। जन्म-मृत्यु से वह रहित है। वह धर्म-अधर्म से भी मुक्त है। वह न तो भोक्ता है न कर्ता ही। यह भोक्तृत्व और कर्तृत्व अविद्या के परिणाम हैं, जो मायापरिच्छिन्न जीव में पाये जाते हैं। जब आत्मा अविद्या की उपाधि से मुक्त होता है तो उसको जीव कहा जाता है। आत्मा ही ब्रह्म है।

जैसे स्वप्न का अधिष्ठान, साक्षी चेतन है और वही स्वप्न का द्रष्टा भी है उसी प्रकार वही स्वप्नपुरुष स्वप्नावस्था के सुखादि का भोक्ता भी है।

आत्मा के गुण

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख और उनके संस्कार ये आठ गुण आत्मा में चेतना की भाँति निवास करते हैं। ये गुण अदृष्ट के प्रताप से उत्पन्न होते हैं और अदृष्ट का क्षय हो जाने पर वे भी नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानगुण वाला होने के कारण तथा इच्छा-द्वेष आदि से युक्त होने के कारण आत्मा चेतन है। वह धर्म-अधर्म का कर्ता और सुख-दुःखादि का भोक्ता है। कर्ता और भोक्ता होने के कारण आत्मा, ईश्वर नहीं है।

अन्य दर्शनों का आत्म-विषयक मन्तव्य

भारतीय दर्शन शाखाओं में आत्मतत्त्व का विवेचन अनेक दृष्टियों से किया गया है। अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने इस सम्बन्ध में जो मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने प्रायः सभी पूर्ववर्ती मतों का खण्डन करके एक भिन्न मत की स्थापना की है। यहाँ हम विभिन्न दर्शनों के आत्म-विषयक मत और अद्वैत की दृष्टि से उनके खण्डन का क्रमशः विवरण प्रस्तुत करते हैं।

चार्वाक (लोकायतिक)

चार्वाक मत के अनुयायियों ने आत्मा से देह की एकता का समर्थन करते हुए ये युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं :

(१) 'अहं' बुद्धि का विषय आत्मा है। 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं स्थूल हूँ' आदि में मनुष्यत्व आदि धर्मविशिष्ट, स्थूल देह की 'अहं' प्रतीति का विषय है। अतः देह ही आत्मा है।

(२) लोक में व्याप्त परम प्रतीति का विषय आत्मा है। इसीलिए मनुष्य को स्त्री, धन आदि विषय प्रिय हैं क्योंकि वे इस देह के उपकारक हैं। अतएव यह देह ही परम प्रीति का विषय होने से आत्मा है।

(३) उस देहरूप आत्मा का स्नान, मंजन, वस्त्राभूषण, भोजन और शृंङ्गार आदि भोग ही परम पुरुषार्थ है।

(४) मरण ही मोक्ष है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

(५) श्रुतियों में भी वाणी आदि इन्द्रियों को संवाद-विवाद करते सुना गया है। इससे वे चेतन सिद्ध होती हैं। चेतन होने के कारण वे ही आत्मा हैं, क्योंकि चेतनता ही आत्मा का लक्षण है।

खण्डन

वेदान्त के अनुसार, लोकायतिकों की ये युक्तियाँ असंगत हैं, क्योंकि :

(१) 'अहं' प्रतीति का विषय आत्मा न होकर इन्द्रियाँ हैं। 'मेरी देह स्थूल या सूक्ष्म है' लोक में ऐसा कहा जाना, देह के प्रति ममत्व का सूचक है। जो ममता का विषय होता है वह 'अहंता' का विषय नहीं हो सकता है। अतः स्थूल देह 'अहं' प्रतीति का विषय नहीं है।

(२) यदि स्त्री, धन के कारण देह से प्रीति होती है तो उनसे अधिक प्रीति इन्द्रियों से होती है। इसलिए देह परम प्रीति का विषय नहीं हो सकती। यदि देह को परम प्रीति का विषय मान भी लिया जाय तो वह जड़ है और चेतन आत्मा से उसकी भिन्नता स्वयं सिद्ध है। इसके अतिरिक्त देह जन्ममरणशील होने के कारण अनात्म है।

(३) स्नान, भोजन, शृङ्गार आदि परम पुरुषार्थ नहीं हैं। पुरुष की इच्छा का विषय ही पुरुषार्थ कहलाता है। सुख की प्राप्ति हो और दुःख की निवृत्ति, लोक में सब की यही इच्छा होती है। इसलिए अधिक सुखप्राप्ति और अत्यन्त दुःखाभाव ही परम पुरुषार्थ है। यह आत्मसुख से ही संभव है।

(४) मृत्यु के पश्चात् देहरूप आत्मा नहीं रहता, यह तो प्रलापमात्र है। उदाहरण के लिए परदेश में माता या पिता का मरण, शब्द प्रमाण से सिद्ध होता है। इसी प्रकार दूसरे प्रमाणों की सिद्धि व्यवहार से होती है। अतएव एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना दुराग्रह है।

(५) इन्द्रियाँ चेतन नहीं हैं। श्रुतियों में इन्द्रियों का जो संवाद-विवाद वर्णित है वह इन्द्रियों के अभिमानी देवताओं का है। किसी एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी शरीर बना रहता है। 'मैं देखता हूँ', 'मैं सुनता हूँ' आदि में 'अहं' प्रतीति का विषय इन्द्रियाँ नहीं हैं। बल्कि इसका अभिप्राय यह है कि 'मैं नेत्र वाला देखता हूँ' 'मैं कान वाला सुनता हूँ'। इसलिए अहं प्रतीति का विषय इन्द्रियाँ नहीं हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

क्षणिकवादी बौद्ध

क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध बुद्धि को आत्मा मानते हैं। उनका मत है कि भीतर और बाहर की सभी वस्तुएँ विज्ञानाकार हैं और वह विज्ञान बादल में बिजली की भाँति क्षण में उत्पन्न और क्षण में नष्ट होता है। अतएव क्षणिक है। अपना और दूसरों का प्रकाशक होने के कारण वह स्वप्रकाश भी है।

विज्ञानवादी बौद्ध विचारकों का कथन है कि एक विज्ञान के नष्ट होने पर दूसरा और दूसरे विज्ञान के नष्ट होने पर तीसरा उत्पन्न होता है। इस प्रकार दीप-शिखा या नदीप्रवाह की भाँति विज्ञान की धारा निरन्तर बनी रहती है। यह धारा 'आलयविज्ञान धारा' और 'प्रवृत्तिविज्ञान धारा' नाम से दो प्रकार की होती है। 'अहं' आकार वाली पहली धारा बुद्धिरूप है। 'इदं' आकार वाली दूसरी धारा मन आदि बाह्य पदार्थ रूप है। पहली धारा, दूसरी धारा का कार्य है।

यह आलयविज्ञान धारारूप बुद्धि ही आत्मा है। इसमें 'प्रवृत्तिविज्ञान धारा' रूप मन आदि के बोध को विचारने से क्षणिक विज्ञान धारा की स्थिति एकरस हो जाती है। वही मोक्ष है।

खण्डन

आत्मा को क्षणिक मानना असंगत है। जैसे चक्षु आदि स्वरूप ज्ञान के साधन हैं वैसे ही बुद्धि भी निश्चयरूप ज्ञान का साधन है। अतः बुद्धि, आत्मा नहीं हो सकती है। बुद्धि का कार्य पदार्थों का निश्चय करना है। उसको जानने वाला आत्मा उससे अलग है। आत्मा प्रकाशस्वरूप है। अतः सदा प्रकाशित रहता है। भास्य बुद्धि, भासक आत्मा से भिन्न है।

जैसे घटादि आकार को प्राप्त हुआ दीपकादि का प्रकाश, मिश्रभाव से भासमान होता हुआ भी वस्तुतः भिन्न स्वभाव का है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा, बुद्धि-वृत्तियों के साथ एकाकार हुआ मिश्रभाव से भासमान, वस्तुतः बुद्धिवृत्तियों से भिन्न है।

इसी प्रकार 'अहं' आकार वाली आन्तर वृत्ति बुद्धि, और 'इदं' आकार वाली बाह्य वृत्ति मन, अन्तःकरण से भिन्न नहीं है। अतः देह, इन्द्रिय और मन की तरह बुद्धि भी भौतिक होने से अनात्म है।

शून्यवादी बौद्ध

माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध विचारकों का कथन है कि **'असदेव सौम्येदमग्र आसीत्'** आदि श्रुतियों में जिस शून्य की ओर संकेत किया गया है वही आत्मा है। ज्ञान ज्ञेय रूप यह सारा जगत् उस शून्य की भ्रांति से कल्पित है।

खण्डन

वेदान्तियों के मत से वंध्यापुत्र की भाँति शून्य का कोई स्वरूप ही नहीं है। अतः वह अधिष्ठान नहीं हो सकता है। यदि आत्मा को शून्य से भिन्न न स्वीकार

किया जायगा तो 'यह शून्य है' इस कथन का आधार बन ही नहीं सकता। इसलिए शून्य के साक्षी रूप में भी आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है।

'यह जगत् आगे असत् था' यह श्रुतिवाक्य शून्य का प्रतिपादक नहीं है, बल्कि यह उन दर्शन-सिद्धांतों का निषेध करता है, जिनके अनुसार प्रागभाव आदि को जगत् का कारण माना गया है।

अणुपरिमाणवादी जैन

अणुपरिमाणवादी जैन दर्शनकारों का मत है कि यह आत्मा, बाल के हजारहवें भाग के बराबर सूक्ष्म है और वही समस्त नाड़ियों में संचरित है। आत्मा के अणु हुए बिना नाड़ियों का संचार संभव नहीं है।

इसी मत के समर्थन में उन श्रुतियों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है, जिनमें कहा गया है कि 'यह आत्मा अणु से अत्यन्त अणु है, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है', अथवा 'वह जीव इतना सूक्ष्म है कि बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये जायँ और उनमें भी एक-एक के सौ भाग करके जितना अंश बने, उसके बराबर है।

खण्डन

जिन श्रुतियों के आधार पर आत्मा को अणुपरिमाणी सिद्ध किया गया है, वस्तुतः उनका तात्पर्य यह है कि स्थूलबुद्धि पुरुष के लिए वह अणु की भाँति दुर्ज्ञेय है। श्रुतियों का उद्देश्य तो आत्मा की व्यापकता का प्रतिपादन करना है।

मध्यम परिमाणवादी जैन

मध्यम परिमाणवादी दिगम्बरीय जैनाचार्यों का मत है कि आत्मा, मध्यम परिमाण वाला है। उदाहरण के लिए जैसे देह के अवयवभूत, दो हाथों का कुर्ते में प्रवेश हो जाने से सारी देह का कुर्ते में प्रविष्ट होना माना जाता है, वैसे ही आत्मा के सूक्ष्म अवयवों का नाड़ियों में संचार होने से यह माना जाता है कि आत्मा नाड़ियों में संचरित हो रहा है।

खण्डन

वेदांतियों के मत से जितनी भी सावयव वस्तुएँ हैं वे घट की तरह नाशवान् हैं। यदि आत्मा को सावयव माना जायगा तो आत्मा की नाशवत्ता सिद्ध होती है, और इस प्रकार 'कृतनाश' तथा 'अकृताभ्यागम' दोषों का उपशमन न हो सकेगा। अर्जित पाप-पुण्यों का उपभोग किये बिना ही नष्ट हो जाना 'कृतनाश' और न किये गये पाप-पुण्यों का उपभोग 'अकृताभ्यागम' कहलाता है।

इसलिए आत्मा न तो अणु है और न मध्यम ही। वह महत्परिणाम वाला (महान्) अथवा विभु है। वह आकाश की भाँति सर्वतगामी और निरवयव है।

ब्रह्म विचार

शांकरमत का दार्शनिक सिद्धांत 'अद्वैतवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह सारा विश्व-प्रपंच एक ही अद्वितीय तत्त्व में अन्तरर्भूत, स्थित और प्रकाशित है। इस अद्वितीय तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त इस संसार में किसी की सत्ता नहीं है। वही सारे दृश्यमान जगत् को प्रकाशित करने वाला, स्वयंप्रकाश, अनन्त, अखंड, अनादि, अविनाशी, चेतनस्वरूप और आनन्दमय है। अनेक उपाधियों में विवर्तित होकर अनेक प्रकार के जड़ (माया, अविद्या) तथा चेतन (जीव) पदार्थों में वही दिखायी देता है। वह अनुमान से सिद्ध नहीं होता, बल्कि शब्दप्रमाण द्वारा ही उसको जाना जा सकता है। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व से ही ब्रह्म का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है (**सर्वस्यात्मत्वात् ब्रह्मास्तित्वसिद्धिः**)। उसके अस्तित्व के प्रमाण श्रुतियाँ हैं ?

यह संसार असत्य, जड़ और दुःखात्मक है, जबकि ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। वह 'सत्' है, अर्थात् अपने निश्चित रूप से कभी भी व्यभिचरित नहीं होता। वह 'चित्' हैं, अर्थात् ज्ञानस्वरूप चैतन्य होने के कारण वह सदा 'प्रवुद्ध' है। पूर्णकाम होने के कारण वह 'आनन्दमय' है। इस सृष्टि के पहले भी वही था, इस सृष्टि की सत्ता में भी वह है और इस सृष्टि की लयावस्था में भी वह रहेगा। जैसे मिट्टी से बने बर्तन मिट्टी के विकारमात्र हैं उसी प्रकार यह संसार भी ब्रह्म का विवर्त है। उसको अवाङ्मनसागोचर कहा गया है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी से रहित वह अनन्त, अखंड चैतन्यस्वरूप है।

ब्रह्म का तटस्थ और स्वरूप लक्षण

भगवत्पाद शंकराचार्य ने दो दृष्टियों से ब्रह्म का विचार किया जाना बताया है : (१) व्यावहारिक दृष्टि से और (२) पारमार्थिक दृष्टि से। एक को शंकराचार्य ने ब्रह्म का तटस्थ लक्षण और दूसरे को स्वरूप लक्षण कहा है। व्यावहारिक दृष्टि से यह जगत् और इसके समस्त व्यापार सत्य मानकर ब्रह्म को इस जगत् का कर्ता, पालक और संहारक कहा जा सकता है। इस व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म को सगुण मानकर ईश्वर भक्ति का विकास हुआ। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भले ही हम जगत् को सत्य और उसका कर्ता ईश्वर को मान लें; किन्तु उसका यह तटस्थ लक्षण उसका औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नहीं है। रंगमंच पर राजा की भूमिका का अभिनय करने वाला एक साधारण व्यक्ति नाटक की समाप्ति तक भले ही राजा समझ लिया जाता है; किन्तु बाद में वह अपनी वास्तविक अवस्था में एक साधारण व्यक्ति ही रहता है। जब वह एक अभिनेता के रूप में राजा, विजेता और शासक का पार्ट अदा करता है तो उसका वह **'तटस्थ लक्षण'** कहलाता है; किन्तु जब वह अपनी

प्रकृतावस्था में होता है तब उसका वह 'स्वरूप लक्षण' कहलाता है। 'तटस्थ लक्षण' वह है, जो वास्तविक स्वरूप से भिन्न होता है।

इसलिए ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' ही वास्तविक है, उसका 'तटस्थ लक्षण' केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। सृष्टि रचना के लिए ब्रह्म 'तटस्थ लक्षण' धारण करके निर्गुण से सगुण हो जाता है। जगत्कर्ता, जगत्पालक और जगत्संहारक आदि विशेषण उसके तटस्थ लक्षण हैं और व्यावहारिक दृष्टि से ही वे सत्य प्रतीत होते हैं। किन्तु जगत् के सम्बन्ध को छोड़कर पारमार्थिक दृष्टि से जब ब्रह्म का विचार किया जाता है तभी उसका वास्तविक स्वरूप जाना जा सकता है। शंकराचार्य के मतानुसार वही परब्रह्म है।

ब्रह्म के उक्त व्यावहारिक और पारमार्थिक स्वरूपों के अनुसार ही हम जान सकते हैं कि ब्रह्म इस जगत् में किस रूप में व्याप्त है और किस रूप में वह इनसे परे भी है। जैसे भ्रमवश रस्सी में साँप का आभास कल्पित होता है, ठीक उसी प्रकार जगत् में ब्रह्म का आभास भी कल्पित है। किन्तु इस भ्रांति अथवा कल्पना या आभास से ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता हैं। जिस प्रकार रस्सी में साँप का भ्रम होने से रस्सी में कोई विकार नहीं आता अथवा राजा का अभिनय करने वाले नट को राज्य की प्राप्ति तथा पराजय का कोई हानि-लाभ नहीं होता उसी प्रकार इस जगत् के सुख-दुःखादि व्यापारों का ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

व्यावहारिक दृष्टि की प्रयोजनीयता

अद्वैत वेदांत में पारमार्थिक दृष्टि को ही वास्तविक माना गया है; किन्तु इस व्यापक लोक-जीवन का संचालन व्यावहारिक दृष्टि से सम्पन्न होता आ रहा है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि को भी वेदांत में सर्वथा उपेक्षणीय नहीं समझा गया है। प्रतीत और वास्तविक रूप में वैभिन्य होते हुए भी उनके बिना ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध नहीं समझा जा सकता है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि की ही भाँति व्यावहारिक दृष्टि की प्रयोजनीयता भी असंदिग्ध है।

निर्गुण ब्रह्म : सगुण ईश्वर

वेदांत के अनुसार यद्यपि ईश्वर को ब्रह्म के औपाधिक रूप में स्वीकार किया गया है; फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म से ईश्वर का दर्जा कुछ कम है। परब्रह्म जब बीजरूप अनादि शक्ति से युक्त होकर जगत् की उत्पत्ति के लिए तटस्थ लक्षण धारण करता है तब वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। ब्रह्म के इन दो रूपों का वर्णन उपनिषदों में भी वर्णित है। उपनिषदों का परब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्म और अपरब्रह्म ही सगुण ईश्वर है। निर्गुण ब्रह्म निरुपाधि, निर्विशेष और सगुण ब्रह्म सोपाधि, सविशेष है।

जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म की कोई परिभाषा तथा सीमा नहीं है उसी प्रकार सगुण ईश्वर भी अवाङ्मनसागोचर है। वही इस जगत् का उपादानकारण भी है और निमित्तकारण भी। 'वेदांतसार' में सदानन्द ने सगुण ईश्वर की विभूतियों के सम्बन्ध

में कहा है कि 'यह ईश्वर स्थावर, जंगम आदि समस्त प्रपंचों का साक्षी होने के कारण और समस्त अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण 'सर्वज्ञ' है; सभी जीवों को उनके कर्मों के अनुसार फल देने के कारण 'सर्वेश्वर' हैं; सभी जीवों को उनके कर्मों में प्रवृत्त करने के कारण 'सर्वनियन्ता' है; प्रमाणों के द्वारा वह नहीं जाना जा सकता है; अतः अप्रमेय है; सभी जीवों के घट में निवास कर उन्हें नियंत्रित करने के कारण 'अंतर्यामी' है, और समस्त चराचर विश्व का विवर्तरूप में अधिष्ठान होने के कारण जगत् का कारण भी है।'

ब्रह्म की भाँति ईश्वर भी भोक्ता नहीं, साक्षी है। किन्तु वह जगत् का कर्ता, पालक और संहारक, तीनों है। वह सक्रिय है, क्योंकि माया से युक्त है। अतः वह उपासना का विषय है और उपासकों की भक्ति से प्रसन्न होकर वह नानारूपों में प्रकट होता है।

इस विचार से ब्रह्म और ईश्वर दोनों शब्दों का यद्यपि एक ही अर्थ प्रतीत होता है, तथापि ब्रह्म शब्द से जहाँ लक्ष्य और वाच्य, दोनों अर्थों का बोध होता है, वहाँ ईश्वर शब्द से केवल वाच्य अर्थ का ही बोध होता है। इसलिए लक्ष्य अर्थ की दृष्टि से ब्रह्म शब्द का भिन्नार्थ में निरूपण किया गया है।

शंकराचार्य के मत में उपासना आध्यात्मिक उन्नति का एक सोपान है। जो अविवेकी मनुष्य है वह इसी संसार को सब कुछ समझता हुआ इसी में लिप्त रहना चाहता है। जगत् को ही सब कुछ समझने वाले विचारकों ने 'निरीश्वरवाद' का प्रतिपादन किया। इन निरीश्वरवादी नास्तिक विचारकों के प्रभाव से बचने के लिए शंकराचार्य ने देवताओं की उपासना को स्वीकार किया है। जब कि श्रद्धालु मनुष्य ईश्वर को जगत्पालक के रूप में पूजता है तब वह अविवेकी मनुष्य की अपेक्षा अपनी आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में आगे बढ़ जाता है। इस उपासना-पद्धति ने ही 'ईश्वरवाद' की प्रतिष्ठा की। रामानुज, बल्लभ आदि उसके अधिष्ठाता आचार्य हुए। भक्ति और उपासना में तल्लीन होकर जीव जब अपने स्वरूप को समझ लेता है तब सगुण भक्ति और उपासना से विरत होकर वह निर्गुण ब्रह्म की ओर अग्रसर होता है। यही शंकराचार्य का 'अद्वैतवाद' और मुमुक्षु की अंतिम मंजिल है।

मायाविशिष्ट चेतन ही ब्रह्म है

इस ब्रह्मांड के बाहर और भीतर, महाकाश की भाँति व्याप्त चेतन ही ब्रह्म है। वह सब आत्मा है और देहादिक उपाधियों से रहित है। यद्यपि व्यापक वस्तु का नाम ब्रह्म होने के ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ सोपाधिक है, तथापि उसका भाव, रूप-निष्ठ नहीं है।

व्यापकता दो प्रकार की बतायी गयी है: आपेक्षिक और निरपेक्षिक। जो पदार्थ किसी पदार्थ की अपेक्षा व्यापक हो और किसी की अपेक्षा से न हो वह 'आपेक्षिक व्यापकता' के अन्तर्गत आता है। जैसे पृथ्वी की अपेक्षा माया व्यापक

है और चेतन की अपेक्षा से न्यून। इसलिए माया में 'आपेक्षिक व्यापकता' है। इसी प्रकार जो वस्तु सब की अपेक्षा व्यापक हो वह 'निरपेक्षिक व्यापकता' के अन्तर्गत आती है। क्योंकि चेतन के समान या उससे अधिक दूसरी वस्तु व्यापक नहीं है। इसलिए चेतन में 'निरपेक्षिक व्यापकता' है। ये दोनों प्रकार की व्यापकता ब्रह्म शब्द की वाच्य है, क्योंकि मायाविशिष्ट चेतन ही ब्रह्म है। 'विशिष्ट' में माया का जो अंश है उस दृष्टि से उसमें 'निरपेक्षिक व्यापकता' है और जो चेतन अंश है उस दृष्टि से 'आपेक्षिक व्यापकता' है। माया विशिष्ट चेतन पारमार्थिव दृष्टि से शुद्धस्वरूप है। इस दृष्टि से माया विशिष्ट वस्तु ब्रह्म शब्द का वाच्य और शुद्ध चेतन वस्तु, ब्रह्म शब्द का लक्ष्य है।

ब्रह्म और जीव

ब्रह्म और जीव में भेद प्रतीति का कारण अज्ञान या आवरण है। 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ' इस व्यवहार का कारण अज्ञान है। 'ब्रह्म नहीं है और उसका आभास नहीं होता' इस व्यवहार का कारण आवरण है। अज्ञान की शक्ति दो प्रकार की है: असत्त्वापादक और अभानापादक। 'वस्तु नहीं है' ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्ति को 'असत्त्वात्पादक' और वस्तु का भान नहीं होता' ऐसी प्रतीति कराने वाली अज्ञान शक्ति का नाम 'अभानापादक' है। इस दृष्टि से 'ब्रह्म नहीं है' इस व्यवहार का कारण, अज्ञान की 'असत्त्वात्पादक' शक्ति है और 'ब्रह्म का भान नहीं होता' इस व्यवहार का कारण, अज्ञान की 'अभानापादक' शक्ति है। इन दोनों का नाम आवरण है।

भेदज्ञान का कारण भ्रांति

भेद का दूसरा कारण भ्रांति है। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त संसार को जो अपने स्वरूप में प्रतीति होती है उसको श्रुति में 'भ्रांति' कहा गया है। उसी का अपर नाम शोक है।

'ब्रह्म नहीं है' इस आवरण के अंश को 'ब्रह्म है' यह परोक्ष ज्ञान दूर करता है। परोक्षज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष ज्ञान है। यह ज्ञान समस्त अविद्या जाल का नाश कर देता है। 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ' यह अज्ञान, 'ब्रह्म नहीं है' तथा 'उसका भान नहीं होता' यह आवरण और 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ किन्तु पुण्य-पाप का कर्ता तथा सुख-दुःख का भोक्ता जीव हूँ' यह भ्रांति—इन सब में जो अविद्या जाल है उसको अपरोक्ष ज्ञान ही नाश कर सकता है। विचारधारा निश्चित परोक्ष ज्ञान और स्वानुभव अपरोक्ष ज्ञान है।

भ्रांतिनाश का स्वरूप

(१) 'मुझमें जन्म-मरण नहीं है, (२) मुझमें सुख-दुःख का लेश नहीं है, (३) मुझमें कोई संसार धर्म नहीं है और (४) जन्म से रहित जो कूटस्थ है वह मैं हूँ' इस तरह सब प्रकार के अनर्थों का निषेध ही भ्रांतिनाश का स्वरूप है। इसी को शोकनाश भी कहते हैं। जीव जब संशयरहित होकर 'मैं ब्रह्म-रूप हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उसको ब्रह्मज्ञानी कहते हैं।

मोक्ष विचार

सभी भारतीय दर्शन, चार्वाक दर्शन को छोड़कर, यह स्वीकार करते हैं कि यह संसार दुःखमय है और इसमें रहने वाले प्राणी अनेक कष्टों तथा पीड़ाओं से सन्तप्त हैं। इन कष्टों और पीड़ाओं से छुटकारा पाकर मनुष्य सदा के लिए इनसे मुक्त हो सकता है, यह विचार सभी दर्शनों में देखने को मिलता है। सभी दर्शनों का अन्तिम उद्देश्य उस अनन्त आनन्द की खोज करना रहा है।

वेदान्त दर्शन के मोक्ष-विचार में इसी का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उसमें बताया गया है कि ब्रह्म अद्वितीय है; अर्थात् वह सजातीय-विजातीय भेद से रहित है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण प्रपंच माया का विलास है। अतः मिथ्या है। इस माया-विलास में लिप्त रहना ही जीव का बन्धन कहा गया है। इस माया के कारण असत्य सांसारिक पदार्थ सत्य की तरह प्रतिभासित हो रहे हैं। जब उस अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब माया का आवरण छिन्न होकर जीव का जीवभाव दूर हो जाता है। इसी को बन्धनाश कहा गया है। जीवभाव दूर होने के बाद ही वह ब्रह्मभाव में लीन हो जाता है। उसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं। ब्रह्मभाव से च्युत होकर मनुष्य जीवभाव में क्यों डूबा रहता है, इससे छुटकारा पाकर उस मुक्तावस्था को प्राप्त करने के साधन क्या हैं, इनका विवेचन भी विस्तार से वेदान्त में किया गया है।

अविद्या के कारण मनुष्य ब्रह्मभाव से च्युत होकर जीवभाव में आता है। यह अविद्या ही उसमें आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, जगत्-ब्रह्म का द्वैतभाव जगाती है। इस अविद्या या अज्ञान का ही कारण है कि हम इस जगत् को और इस जगत् के पदार्थों को वास्तविक समझकर उनकी प्राप्ति में सुखी और अप्राप्ति में दुःखी होते हैं। हमारा इस प्रकार का सुख-दुःख क्षणिक होता है क्योंकि वह अवास्तविक है। ये शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि सभी माया की उपाधियाँ हैं। माया की आवरणशक्ति उस दीप्तिपुंज अखण्ड ब्रह्म को उसी प्रकार ढँक लेती है, जैसे राहु तेजोमय सूर्य को, और माया की विशेष शक्ति उस कूटस्थ, अद्वितीय परमेश्वर से अलग कर इस नाना रूपात्मक जगत् का निर्माण करके जीव को उसमें इस प्रकार रमा देती है कि वह उसी को सत्य समझने लगता है (**एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुः अविद्यया मायया माया विवद् अनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति**)। जीव के बन्धन और भ्रम का कारण माया की ही ये दो शक्तियाँ हैं, जिनके कारण अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न यह जीवात्मा अनन्त जन्मों तक इस संसार-चक्र में घूमता रहता है।

शंकराचार्य ने जीव के इस बन्धन और भ्रम को दूर करने के लिए पहला उपाय बताया है ज्ञान (**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**)। इस ज्ञान को प्राप्त किये बिना मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। शांकरदर्शन की इस मुक्ति का स्वरूप एक ही महावाक्य में समाहित है। वह महावाक्य (**अहं ब्रह्मास्मि, जीवो ब्रह्मैव नापरः**)। इस महावाक्य

के अनुसार जब जीव और ब्रह्म एक है तब यह अनेकता क्यों भासित हो रही है ? यह अनेकता, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अविद्या या अज्ञान के कारण भासित हो रही है। इस अविद्या या अज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान से होता है और तब तत्त्वज्ञानी जीव स्वयं को ब्रह्म से अभिन्न समझकर **'अहं ब्रह्मास्मि'** का अनुभव करता है। यही मुक्ति है और उसके बाद न तो किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता है और न किसी प्रकार के शास्त्र तथा उपदेश का आश्रय लेना अपेक्षित।

इस आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। शंकर ने मोक्ष को मानव जीवन का एक परम पुरुषार्थ स्वीकार किया है। इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने नैतिक गुणों को बलवान् बनाना आवश्यक है। इन नैतिक गुणों की बलवत्ता ही अन्तःकरण की शुद्धि है। अन्तःकरण की शुद्धि वेद में प्रतिपादित कर्मों के करने से होती है। कर्मों से परिशुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान का उदय होता है और तभी परमपद मोक्ष की प्राप्ति होती है। किन्तु न तो अकेले कर्म और न अकेला आत्मज्ञान ही फलदायक होता है; बल्कि दोनों मिलकर ही मोक्ष को देने वाले हैं। जो पुरुष, कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत् दोनों को जानता है वह असंभूति (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करके संभूति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

मोक्ष-प्राप्ति के ये नैतिक साधन दो प्रकार के हैं : बहिरंग और अन्तरंग। विवेक, वैराग्य, शमादि और मुमुक्षत्व, ये चार बहिरंग साधन हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि, ये चार अन्तरंग साधन हैं। वेदान्त दर्शन में उक्त बहिरंग साधनों को 'साधनचतुष्टय' के नाम से कहा गया है।

साधनचतुष्टय

बहिरंग साधन

शंकराचार्य के मतानुसार वेदान्त विद्या का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है, साधनचतुष्टय द्वारा जिसने अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लिया है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन चार वृत्तियों की समष्टि का नाम ही अन्तःकरण है। इन चार वृत्तियों का संस्कार 'साधनचतुष्टय' के द्वारा होता है।

१—**नित्यानित्यवस्तुविवेक :** नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना ही 'विवेक' है। इस विवेक साधन के द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि परमात्मा नित्य है और उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ अनित्य।

२—**वैराग्य :** इस लोक के भोग-विलास और वेदोक्त यज्ञयागादि जन्य स्वर्गादि पारलौकिक भोग—इन दोनों प्रकार की वस्तुओं एवं फलों से सर्वथा विमुख हो जाना ही 'वैराग्य' है।

३—**शमादि :** शमादि षट्सम्पत्ति का नाम है : शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समा-

धान और श्रद्धा। (१) इन्द्रियों के विषयों को संयमित करके आत्मवस्तु में चित्त लगाने का नाम ही 'शम' है। (२) ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनभूत श्रवण-मननादि के अतिरिक्त विषयों से चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को हटाकर उन्हें यथास्थान स्थिर रखना ही 'दम' है। (३) समस्त मानापमान, सुख-दुःख, शीत-ताप आदि को सहन कर उनके लिए किसी प्रकार का विलाप तथा पश्चात्ताप न करना ही 'तितिक्षा' है। (४) फलेच्छाशून्य होकर समस्त कर्मों को भगवान् में केन्द्रित करना ही 'उपरति' है। (५) शुद्ध, बुद्ध परब्रह्म में तत्पर होना तथा गुरु शुश्रूषा करना ही 'समाधान' है। (६) गुरुवाक्य और शास्त्रवाक्य में विश्वास करना ही 'श्रद्धा' है।

४—**मुमुक्षत्व** : आत्मस्वरूप का परोक्षबोध हो जाने के बाद अज्ञान कल्पित बन्ध से मुक्त हो जाने की इच्छा को 'मुमुक्षत्व' कहते हैं।

इस प्रकार जब तक नित्यानित्य-विवेक न होगा तब तक वैराग्य नहीं हो सकता है, वैराग्य के बिना मोक्ष की इच्छा नहीं हो सकती, और बिना मोक्षेच्छा के ब्रह्मजिज्ञासा का होना संभव नहीं है।

अन्तरंग साधन

वेदान्त विद्या का अधिकारी हो जाने के बाद स्वरूप चैतन्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है। इसके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि, इन चार अन्तरंग साधनों में प्रवृत्ति होना बताया गया है। (१) छह प्रकार के लिंगों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का एक ही अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य समझना 'श्रवण' कहलाता है। छह लिंगों के नाम हैं : उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति। (२) छह प्रकार के लिंगों का तात्पर्य समझ कर वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन करना 'मनन' कहलाता है। (३) देह से लेकर बुद्धि पर्यन्त जितने भी विभिन्न जड़ पदार्थ हैं उनकी भिन्नत्व-भावना को हटाकर सब में एकमात्र ब्रह्म-विषयक विश्वास करना 'निदिध्यासन' है। (४) ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदभाव दूर करके एक ही अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में चित्तवृत्ति को एकाकार करना ही 'समाधि' है। योग दर्शन के प्रकरण में इसको विस्तार से समझाया गया है।

यज्ञादि कर्म बहिरंग साधन

ज्ञान तथा श्रवण में जिसका प्रत्यक्ष फल नहीं होता, बल्कि जिसका एकमात्र फल अन्तःकरण की शुद्धि है, वह बहिरंग साधन कहलाता है। इस दृष्टि से यज्ञादिक कर्म भी बहिरंग साधन हैं। यद्यपि ये यज्ञादिक कर्म सांसारिक साधन हैं और उनके द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि संभव नहीं है, तथापि सकाम पुरुष के लिए तो वे सांसारिक हेतु हैं और निष्काम पुरुष के लिए अन्तःकरण शुद्धि के हेतु। इसीलिए उनको ज्ञान का हेतु कहा गया है।

बहिरंग कहते हैं दूरी को और अन्तरंग कहते हैं सामीप्य को। यज्ञादिक कर्म

और उनके साधन स्त्री, धन तथा पुत्रादि का त्याग करने वाला पुरुष ही ज्ञान का अधिकारी है। ज्ञान के अधिकारी के लिए यज्ञादिक कर्मों का कोई उपयोग नहीं है, बल्कि ज्ञान के अधिकारी के लिए विवेकादियों की अपेक्षा है। इसलिए वे समीप हैं। इन विवेकादियों में भी परस्पर अंतर है। श्रवणादि की अपेक्षा विवेकादि बहिरंग हैं।

श्रवणादि ज्ञान के हेतु हैं, साक्षात् हेतु नहीं

यदि विचार करके देखा जाय तो ज्ञान के मुख्य अंतरंग साधन 'महावाक्य' हैं, श्रवणादि नहीं। ये श्रवणादि ज्ञान के साक्षात् हेतु नहीं हैं, किंतु बुद्धि की 'असंभावना' और 'विपरीतभावना' के नाशक हैं। संशय को 'असंभावना' और विपर्यय को 'विपरीतभावना' कहते हैं। श्रवण से प्रमाण का संदेह दूर होता है और मनन से प्रमेय (वस्तु) गत सन्देह की निवृत्ति होती है।

वेदांतवाक्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक हैं या अन्य अर्थ के प्रतिपादक हैं, इस प्रकार यदि प्रमाण में संदेह उत्पन्न होता हो तो उसको 'श्रवण' द्वारा दूर किया जा सकता है। जीव-ब्रह्म का अभेद सत्य है या भेद सत्य है इस प्रकार यदि प्रमेय में संदेह की संभावना हो तो उसको 'मनन' द्वारा निराकृत किया जा सकता है। देहादिक सत्य है या जीव ब्रह्म का भेद सत्य है, इस विपरीत भावना या विपर्यय को 'निदिध्यासन' के द्वारा दूर किया जा सकता है।

इस प्रकार तीनों श्रवणादिक 'असंभावना' तथा 'विपरीतभावना' के नाशक हैं। यह 'असंभावना' तथा 'विपरीतभावना' ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रतिबन्धक है। इन ज्ञानप्रतिबन्धकों का विनाश करने के कारण श्रवणादियों को ज्ञान का हेतु कहा गया है।

ज्ञान के साक्षात् हेतु वेदान्तवाक्य है

ज्ञान के साक्षात् हेतु श्रवणादि न होकर वेदांतवाक्य हैं, जो दो प्रकार के हैं: अवांतर वाक्य और महावाक्य। परमात्मा या जीव का स्वरूप बताने वाले वाक्य 'अवांतर वाक्य' और जीव-परमात्मा की एकता को बताने वाले वाक्य 'महावाक्य' हैं। अवांतर वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है और महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान। 'ब्रह्म है' इस ज्ञान को परोक्ष ज्ञान और 'ब्रह्म मैं हूँ' इस ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

इस दृष्टि से यद्यपि ज्ञान के साक्षात् साधन 'महावाक्य' सिद्ध होते हैं, तथापि ज्ञान के प्रतिबन्धक जो दोष हैं उनका उच्छेदक होने के कारण श्रवणादियों को भी ज्ञान का हेतु कहा गया है। श्रवणादियों के हेतु विवेकादि हैं। अतः विवेकादि ज्ञान के साधन हैं।

मिथ्याज्ञान या भ्रम

नास्तिक और आस्तिक सभी दर्शन शाखाओं का मुख्य तथा गम्भीर विषय है मिथ्याज्ञान या भ्रम का निरूपण करना। यदि इस मिथ्याज्ञान को निकाल दिया जाय तो दर्शन का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता है, किंतु क्योंकि उत्पत्ति और विकास

की आमूल प्रक्रिया के साथ ही भ्रम का अभिन्न-संबंध है, इसलिये दर्शन के प्रयोजन की अनपेक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भ्रम, विभ्रम, भ्रांति, व्याभिचारिज्ञान, विपर्यय, मिथ्यात्व और मिथ्याप्रत्यय आदि पर्यायों से विभिन्न दर्शनकारों ने इस मिथ्याज्ञान को अविद्या का स्वरूप बताया है। जयराशि भट्ट प्रभृति कुछ जैनाचार्य ऐसे भी हुए, जिन्होंने मिथ्याज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया ही नहीं, क्योंकि उनके मत से जब ज्ञान के विषय की व्यवस्था ही नहीं बन सकती तो मिथ्याज्ञान का अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है ?

परम तत्त्व का भ्रम

यदि हम विभिन्न दर्शन-शाखाओं को समन्वयात्मक तथा समीक्षात्मक दृष्टि से देखते हैं तो हमें लगता है कि उनमें परम तत्त्व के विषय में ही मतभेद है। उदाहरण के लिए नैयायिक भेदज्ञान को ही तत्त्वज्ञान कहते हैं, जब कि वेदान्तियों का कहना है कि भेदज्ञान से बढ़कर दूसरा मिथ्याज्ञान हो ही नहीं सकता है। इसलिए मुख्य समस्या यह है कि एक दर्शन जिसको ज्ञान कहता है, दूसरा दर्शन उसको मिथ्या क्यों कहता है ? परम तत्त्व के सम्बन्ध में दार्शनिकों का यह मतभेद ही भ्रम की स्थापना करता है।

व्यावहारिक भ्रम में मतान्तर

सभी दर्शन शाखाओं में व्यावहारिक भ्रम को स्वीकार किया है, किंतु उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इस पर उनमें मतैक्य नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से यह भ्रम-ज्ञान को विभिन्न दर्शनों में अनेक प्रकार से कहा गया है, जैसे मरुमरीचिका से जल-ज्ञान, शुक्ल शंख में पीतज्ञान, चलती गाड़ी से पीछे की ओर दौड़ते हुए वृक्षादियों का विपरीतज्ञान शुक्ति में रजत का ज्ञान, रज्जु में सर्प का ज्ञान।

यद्यपि सभी दर्शन इस बात को एक मत से स्वीकार करते हैं कि शुक्ति में रजत का ज्ञान भ्रममात्र है, तथापि उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है, इस प्रश्न का अनेक प्रकार से समाधान किया गया है। सभी दर्शनकारों ने इस प्रश्न का अधिक वैज्ञानिक ढंग से समाधान करने के लिए तर्क और युक्तियों का आश्रय लिया है।

शून्यवाद : असत्ख्याति

माध्यमिक मतानुयायी बौद्ध विचारकों का कथन है कि अन्य दर्शनकारों की भाँति जिस अर्थ का प्रतिभास (विरुद्ध प्रतीति) है उसको आधारहीन मानना उचित नहीं है। जब हम सोये होते हैं तब हमें अर्थ का प्रतिभास नहीं होता; किंतु भ्रम से अर्थ का प्रतिभास होता है। बौद्धों का कथन है कि उस प्रतिभास का विषय बाह्य सत् नहीं। अतएव वह असत् ही हो सकता है। असत् अर्थात् निःस्वभाव। माध्यमिक बौद्ध विचारक पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता मान करके उनकी परीक्षा करते हैं और अन्त में उनको 'असत्' प्रमाणित करते हैं। उनकी दृष्टि से सभी सविषयक ज्ञान मिथ्या है।

शून्यवादी बौद्ध विचारकों का कहना है कि जिस देश में सर्प अत्यन्त असत् है

उसकी उस देश में प्रतीति होना असत्य ख्याति है। 'असत्य ख्याति' अर्थात् अत्यन्त असत्य सर्प का भान या कथन।

विज्ञान : आत्मख्याति

योगाचार संप्रदाय के विज्ञानवादी बौद्ध विचारकों ने दो प्रकार का भ्रम स्वीकार किया है : मुख्य और प्रातिभासिक। व्यावहारिक दृष्टि से हम सबकी इन्द्रिय शक्तियों में एकता होती है। अतएव हम अपने कुछ ज्ञानों को अभ्रांत और कुछ को भ्रांत मानकर अपना काम चलाते हैं। हम जिस ज्ञान को अभ्रांत समझते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से वह भी भ्रांत है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से अनुमान ज्ञान अभ्रांत और पारमार्थिक दृष्टि से भ्रांत है। योगाचार की दृष्टि से सभी प्रतिभासों में ज्ञान की अपनी ही ख्याति होती है। उनमें भ्रांताभ्रांत का विवेक लोक-व्यवहार की दृष्टि से है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। व्यावहारिक दृष्टि वासनामय है। अतः वासनाजन्य सारा व्यावहारिक ज्ञान भी मिथ्या है।

विज्ञानवादी विचारकों के मत से विश्व के समस्त पदार्थों के आकारों को बुद्धि धारण किये हुए है। रज्जु में तथा अन्य वस्तु में सर्प है ही नहीं। यह बुद्धि क्षणिक विज्ञान रूप है, अर्थात् वह क्षण-क्षण में नष्ट और उत्पन्न होती है। इसी बुद्धि का क्षण-क्षण सर्प रूप की प्रतीति होती है। यही 'आत्मख्याति' है। 'आत्मख्याति' अर्थात् क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि का सर्प रूप में भान या कथन।

न्याय वैशेषिक : अन्यथा ख्याति

न्याय, वैशेषिक और जैनों की दृष्टि से भ्रमज्ञान, अन्यथा ख्याति या विपरीत ख्याति है। अन्यथा ख्याति के अनुसार बाह्य वस्तुएँ सर्वथा ज्ञानरूप या शून्य रूप या सर्वत्र सत्‌रूप नहीं है। इन्द्रिय के गुण-दोषों के कारण किसी वस्तु के विपरीत और अविपरीत प्रत्यय को जाना जाता है। दोष के कारण हम रजत को निजरूप में प्रत्यक्ष नहीं कर पाते; बल्कि रजत् सदृश शुक्ति के दर्शनजन्य, रजतस्मृति के कारण, शुक्ति में ही रजत को देखते हैं।

इस सिद्धांत के मानने वाले विचारकों का कथन है कि नेत्रों द्वारा बम्बी में देखा हुआ सर्प वास्तविक है; अन्य वस्तु (रज्जु) में उसकी प्रतीति का कारण नेत्रदोष है। जैसे पित्तादि दोष के कारण जठराग्नि में पाचन-सामर्थ्य अधिक बढ़ जाती है, उसी प्रकार नेत्रों में भी तिमिरादि दोषों के कारण दूसरे-दूसरे स्थानों पर सर्प को प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य आ जाती है। इसलिए बम्बी के सर्प को रज्जु में देखना, 'अन्यथा-ख्याति' या 'विपरीतख्याति' है।

सांख्य मीमांसा : अख्याति

क्षणिक विज्ञानवादियों का खंडन करते हुए अख्यातिवादियों का कथन है कि 'असत्य ख्याति' वंध्या पुत्र और शश शृङ्ग की भाँति असंगत है। यदि क्षणिक विज्ञान का ही स्वरूप सर्पादिक है तो उसकी क्षण-मात्र से अधिक प्रतीति होनी ही नहीं

चाहिये। इसी प्रकार विज्ञानवादियों की 'आत्मख्याति' भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि ज्ञेय (रज्जु) के द्वारा ज्ञान (सर्प) का होना सर्वथा विरुद्ध है।

इसलिए जहाँ रज्जु में सर्पभ्रम है वहाँ अपनी वृत्ति द्वारा नेत्र का रज्जु से सम्बन्ध स्थापित होकर 'यह रज्जु है' का सामान्य ज्ञान होता है और सर्प की स्मृति बनी रहती है। 'यह सर्प है' इसमें दो कोटि का ज्ञान है। 'यह' अंश तो रज्जु का सामान्य प्रत्यक्षज्ञान है और 'सर्प है' इसमें सर्प का 'स्मृति' रूप ज्ञान है। किंतु विवेक के अभाव में पुरुष यह नहीं जानता कि उसको दो ज्ञान हो रहे हैं। इसी अविवेक को सांख्यकारों और मीमांसक प्रभाकर ने 'भ्रम' कहा है।

सांख्यकारों ने यह भी माना है कि बाह्यार्थ को बताने वाले सभी ज्ञान भ्रांत नहीं हैं। उनका कथन है कि यदि वस्तु सर्वथा असत् है तो ख-पुष्पवत् वह ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकती। इसलिए उनकी दृष्टि में भ्रम 'प्रसिद्ध अर्थ की ख्याति' (प्रसिद्धार्थख्यातिवाद) है।

मीमांसा : अलौकिकार्थ ख्याति

प्रभाकर को छोड़कर कुछ मीमांसकों का कथन है कि शुक्ति में रजत का प्रत्यय ही उचित नहीं है। ज्ञान में इस प्रकार के प्रत्यय को कोई स्थान प्राप्त नहीं है कि विषय कुछ और प्रतिभास किसी दूसरे का ही हो। इस मत से अर्थ दो प्रकार का है, लौकिक (व्यवहारसमर्थ) और अलौकिक (व्यवहारासमर्थ)। जिस रजत को भ्रम रूप में माना जा रहा है उसका विषय लौकिक रजत नहीं, अलौकिक रजत है। व्यावहारिक दृष्टि से उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

वेदान्त : अनिर्वचनीय ख्याति

वेदान्त के अनुसार अन्तःकरण की वृत्ति नेत्रों से निःसृत होकर विषय में प्रविष्ट होती है और तब उसको तदाकार प्रतीति होती है। जहाँ रज्जु में सर्पभ्रम है, वहाँ अन्तःकरण की वृत्ति नेत्रों से निकलकर रज्जु के साथ जुड़ती है, किन्तु अंधकार (प्रतिबंधक) के कारण वह रज्जु के स्वरूप को ग्रहण नहीं कर पाती। इसलिए रज्जु का आवरण नष्ट नहीं होने पाता। उसका परिणाम यह होता है कि रज्जु अवच्छिन्न चेतनस्थ अविद्या में क्षोभ होकर अविद्या ही सर्पाकार परिणाम को प्राप्त हो जाती है। वह अविद्याजनित सर्प यदि सत् होता तो रज्जु के ज्ञान से उसका बाध नहीं होता। अतः वह सत् नहीं है। यदि वह असत् है तो उसकी बंध्या पुत्र की तरह प्रतीति ही नहीं होनी चाहिए, किन्तु उसकी प्रतीति होती है। इसलिए वह असत् भी नहीं है।

अतएव वह सत्-असत् से विलक्षण, अर्थात् अनिर्वचनीय है।

दुःख और दुःखनाश के उपाय

दुःख क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है और उससे सर्वथा छुटकारा पाने का उपाय क्या है, इस पर वेदान्त दर्शन में गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। वहाँ

कहा गया है कि जगत् का कारण जो अज्ञान है वही दुःख का साधन है। इसलिए त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति के लिए मूल अविद्या (अज्ञान) का नाश करना अपेक्षित है।

दुःख के तीन स्वरूपों के नाम हैं : अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव। रोग, क्षुधा आदि से जो दुःख होता है वह अध्यात्म; चोर, व्याघ्र, सर्प आदि से जो दुःख होता है वह अधिभूत; और यज्ञ, राक्षस, प्रेत, ग्रह तथा शीत-वात-आतप आदि से जो दुःख होता है वह अधिदेव कहलाता है।

ये त्रिविध दुःख अविद्या के कारण हैं। इसलिए अज्ञान को दुःख का साधन बताया गया है। अज्ञान का कार्य है प्रपंच रचना, जिससे सारी मानवता त्रस्त है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के भूमाविद्याविषयक सनत्कुमार-नारद के प्रसंग में कहा गया है कि जो वस्तु ब्रह्म से भिन्न है वह सम्पूर्ण दुःखों का आगार है। क्योंकि अज्ञान और उसका कार्य ब्रह्म से भिन्न है। अतः अज्ञान सब दुःखों का घर है। उसकी निवृत्ति हुए बिना दुःख की निवृत्ति संभव नहीं है।

वेदान्त में कहा गया है कि सभी मनुष्यों को सुख का अनुभव होता है। इसलिए सभी सुख की इच्छा करते हैं। क्योंकि ब्रह्म सुखस्वरूप है। अतः उत्तम विवेकी पुरुष, सुखस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है। उसको परम पुरुषार्थ कहा गया है। क्योंकि सभी लोग इस पुरुषार्थ (मोक्ष) की इच्छा करते हैं। अतः सभी मुमुक्षु हैं।

सुख से अभिप्राय 'विषयजन्य सुख' से नहीं; बल्कि 'मात्रसुख' है। 'मात्रसुख' चाहे विषयजन्य हो चाहे विषय के बिना पैदा हुआ हो, इसका कोई नियम नहीं। यह इसलिए कहा गया, यदि विषयजन्य सुख को ही 'मात्रसुख' कहा जाय तो सुषुप्ति के सुख की भी इच्छा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सुषुप्ति का सुख विषयजन्य नहीं है। यदि 'मात्रसुख' की इच्छा की जायगी तो उससे यह होगा कि इच्छुक की प्रवृत्ति विषयजन्य सुख की ओर नहीं, आत्मसुख की ओर होगी। उसका कारण यह है कि प्रायः प्रत्येक मनुष्य को न्यूनाधिक रूप से विषयजन्य सुख की प्राप्ति हुई रहती है। इसलिए उसकी यह इच्छा बनी रहती है कि ऐसा सुख प्राप्त हो, जो अक्षयरूप में बना रहे। इसी सुख को मोक्ष कहा गया है।

जिन दार्शनिकों ने ऐसा कहा है कि सभी मनुष्य विषय-सुख चाहते हैं, नित्य सुख के लिए उनकी कोई कामना नहीं होती, ऐसा भी सिद्ध नहीं होता। उसका कारण यह है कि पुरुष चार प्रकार के हैं : पामर, विषयी, जिज्ञासु और मुक्त।

इस लोक की निषिद्ध और विहित, दोनों प्रकार की भोग-लिप्साओं में डूबा हुआ और शास्त्र-संस्कारों से स्खलित पुरुष 'पामर' है। शास्त्र के अनुसार विषयों का उपभोग करते हुए जो परलोक या इन्द्रलोक की प्राप्ति के लिए उद्योग करे वह 'विषयी' पुरुष है। 'जिज्ञासु' वह है, जिसने अपने उत्तम संस्कारों के कारण शास्त्रों का श्रवण

किया है । इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म कारणों से रहित स्वरूप का जिसको परोक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया है वह 'मुक्त' पुरुष कहलाता है ।

इनमें 'पामर' और 'विषयी' को विषयसुख में प्रवृत्ति होती है, किन्तु 'जिज्ञासु' और 'मुक्त' को दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की इच्छा होती है । क्योंकि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञान के बिना संभव नहीं है । अतः ज्ञानप्राप्ति के लिए यत्न करना आवश्यक है । ज्ञानप्राप्ति के बाद दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का परिणाम है परमानन्द की प्राप्ति । वही पुरुष का परम लक्ष्य है ।

विषयों का परित्याग

आत्मा से जिसकी बुद्धि विमुख है उसको विषयों की इच्छा होती है । विषयों में प्रवृत्ति होने से वुद्धि चंचल हो जाती है और चंचल बुद्धि में आत्मस्वरूप आनन्द का आभास या प्रतिबिम्ब नहीं होने पाता । यह आत्मविमुखता ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों में संभव हो सकती है । ज्ञानी में इसलिए संभव है, क्योंकि उसकी बुद्धि जब व्यवहारों में रम जाती है तब वह भी तत्त्व को भूल जाता है । ऐसी स्थिति में ज्ञानी भी आत्मविमुख हो जाता है । अज्ञानी की बुद्धि तो सदा आत्मविमुख रहती ही है । किन्तु इन दोनों में कैसा भेद है कि विषय के सम्बन्ध में आनन्द ज्ञानी को प्राप्त होता है उसको वह अपने स्वरूप से जुदा नहीं समझता, जब कि अज्ञानी का उसमें भ्रम बना ही रहता है ।

यदि विषयों की प्राप्ति से आनन्द की उपलब्धि हो तो एक विषय से तृप्त पुरुष की दूसरे विषय में इच्छा नहीं होनी चाहिए । किन्तु तृप्त पुरुष भी जब पुनः-पुनः विषयों की ओर प्रवृत्त होता है तो उससे निश्चित ही यह सिद्ध होता है कि प्रथम वस्तु से जो आनन्द प्राप्त हुआ था वह चंचल बुद्धि का परिणाम था । इसी प्रकार चिरकाल के बाद देखे हुए किसी प्रियजन के मिलने पर जो आनन्द होता है, वह कुछ दिन बाद ही क्षीण पड़ जाता है । उसका कारण यह है कि प्रियजन को देखकर कुछ समय तक वृत्ति स्थिर हो जाती है और बाद में वह अन्य पदार्थों में रम जाती है । इसीलिए पदार्थ में आनन्द नहीं है ।

यदि विषयों से ही आनन्द की उपलब्धि सम्भव हो तो समाधिकाल में जो आनन्दानुभूति होती है वह न होनी चाहिए, क्योंकि समाधि से किसी विषय का सम्बन्ध नहीं है ।

इसी प्रकार यदि विषयों में आनन्द हो तो सुषुप्ति में वह न होना चाहिए; क्योंकि सुषुप्ति की किसी भी विषय में गणना नहीं है ।

इसलिए आनन्द आत्मस्वरूप है और उसके सिद्ध हो जाने पर सारे दुःखों का अन्त होकर परमानन्द की उपलब्धि होती है ।

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति

जाग्रत

इन्द्रियजन्य ज्ञान और उनके संस्कारों का जिस अवधि में ज्ञान रहता है उसको

'जाग्रत अवस्था' कहते हैं। इस अवस्था में शब्दादि और उनके आश्रयभूत आकाशादि परस्पर भिन्न नहीं हैं। कोई भी वस्तु, जिस काल में जि देश में रहती है, उतने देशकाल में स्थित वस्तु को दूसरी वस्तु से जो भिन्न बताती और स्वयं अलग रहती है उसको 'उपाधि' कहते हैं। शब्द और आकाश आदि अनात्म वस्तुएँ संवित् (ज्ञान) की 'उपाधि' है। जैसे घट उपाधि से घटाकाश भिन्न प्रतीत होने के कारण कल्पित है इसी प्रकार संवित् भी स्वाभाविक भेद से रहित है। इसी प्रकार शब्द का ज्ञान, ज्ञानरूप होने के कारण स्पर्शज्ञान से भिन्न नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे स्पर्श ज्ञान, ज्ञान होने के कारण शब्दज्ञान से भिन्न नहीं है। उसी प्रकार संवित् भी एक ही है।

स्वप्न

इन्द्रियों से अजन्य ज्ञान और उनके विषय के आधार काल को 'स्वप्न' कहते हैं। जैसे जाग्रतावस्था में शब्द स्पर्श आदि विषयों का तो परस्पर भेद है; किन्तु एक रूप होने से उनके ज्ञान (संवित्) में परस्पर कोई भेद नहीं है। स्वप्न में भी ऐसा ही होता है। वहाँ शब्दादि विषय तो परस्पर भिन्न हैं; किन्तु उनका ज्ञान भिन्न नहीं है।

यद्यपि जाग्रत और स्वप्न, दोनों अवस्थाओं में विषयों का भेद और उनके ज्ञान का अभेद रहता है, तथापि पारिदृश्यमान (वेद्य) वस्तुएँ प्रातिभासिक हैं, जबकि जाग्रतावस्था में वे स्थायी (व्यावहारिक) हैं।

सुषुप्ति

सोकर उठे हुए पुरुष (सुप्तोत्थित) को सुषुप्ति काल के इस अज्ञान का ज्ञान कि 'मैंने सोते समय कुछ नहीं जाना' स्मृतिरूप है, अनुभवरूप नहीं; क्योंकि उसमें इन्द्रियसन्निकर्ष, व्याप्ति और लिंग आदि अनुभव की कारण-सामग्री का अभाव है।

जगत्

जगद्विचार वेदान्त दर्शन का महत्त्वपूर्ण विषय है। व्यावहारिक दृष्टि और पारमार्थिक दृष्टि से इस जगत् का क्या अस्तित्व है, इसका तर्कपूर्ण विवेचन वेदान्त में ही देखने को मिलता है। ब्रह्म, माया, ईश्वर, जीव, आत्मा और मोक्ष, वेदान्त की इस विषयसामग्री का प्रतिपादन जगद्विचार से ही आरम्भ होता है। जगत् का रहस्य समझ लेने के बाद वेदान्त दर्शन के उक्त प्रतिपाद्य विषयों का तात्पर्य समझना बहुत सुलभ हो जाता है।

व्याकरण की दृष्टि से 'गम्-लृ-गतौ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड़ देने से, 'जगत्' पद निष्पन्न होता है। उसका व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ होता है जो निरन्तर उत्पत्ति स्थिति और लय, इन तीन भावविकारों को प्राप्त होता रहता है उसे 'जगत्' कहते हैं (**गच्छति, उत्पत्ति-स्थिति-लयान् प्राप्नोति, इति जगत्**)। जगत् पद की इस व्युत्पत्ति से यह ज्ञात होता है कि वह स्थिर नहीं, परिवर्तनशील है।

जगत् की परिवर्तनशीलता

जगत् परिवर्तनशील है, जगत् के सम्बन्ध में यह बात उसकी व्युत्पत्ति से ही नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से भी सिद्ध है। इसकी परिवर्तनशीलता का रहस्य भले ही अत्यन्त गूढ़ हो; किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका लोक-प्रचलन हमारे दैनिक जीवन में सदा ही सुनने को मिलता है। यह परिवर्तन क्या है ? यह परिवर्तन है वर्जन या त्यागपूर्वक वर्तन अथवा अवस्थान; अर्थात् पूर्वभाव का परित्याग करके परभाव में संक्रमण। अतः जगत् की इस परिवर्तनशीलता का आशय है एक भाव से दूसरे भाव में जाना। एक भाव से दूसरे भाव में जाने की इस प्रक्रिया को वेदान्त में 'आध्यारोप' या 'अध्यास' अथवा 'विवर्त' कहा गया है। किसी वस्तु में, अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए, किसी दूसरी वस्तु का मिथ्या प्रतीति होना 'विवर्त' कहलाता है, जैसे रस्सी में सर्प का भान होना। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी जिस प्रकार देखने वाले को दूर से सर्प प्रतीत होती है; किन्तु पास जाने पर या प्रकाश के होने पर उसे यह निश्चित हो जाता है कि यह सर्प नहीं, रस्सी है, उसी प्रकार इस जगत् की भी दशा है। जगत् क्योंकि विवर्त है अर्थात् एक भ्रम है, अतएव उसकी स्थिति एक जैसी सर्वदा नहीं रहती है। उसमें अदला-बदली होती रहती है। यह जगत् किसका विवर्त है, इसका विवेचन माया और सृष्टि-रचना के प्रसंग में विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

जगत् की सदसदात्मकता

'सत्' का अर्थ है विद्यमान। वह 'असत्' (अभाव) का प्रतियोगी है; अर्थात् अविनाशी है, अपरिणामी है, स्थिर है, सत्य है। शंकराचार्य ने 'सत्य' का लक्षण दिया है : **'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्'** अर्थात् जिस रूप में बुद्धि जिसको निश्चित कर चुकी है, यदि वह उस रूप से कभी भी व्यभिचरित नहीं होता, याने उस रूप को कदापि नहीं त्यागता, तो वही 'सत्य' है।

किन्तु जिस जगत् का स्वभाव ऊपर हमने परिवर्तनशील तथा विवर्तशील बताया है वह सत् (अविनाशी) कैसे हो सकता है ? यह तो एक मोटी-सी बात है कि एक ही वस्तु सत्-असत्, भाव-अभाव, हाँ-ना नहीं हो सकती। फिर जगत् को 'सत्' कैसे माना जा सकता है ? किन्तु यदि हम जगत् को असत् (मिथ्या) कहते हैं तो फिर उसकी उपलब्धि कैसे सम्भव है, और क्योंकि जगत् में जो परिवर्तनशीलता एवं मिथ्यात्व है वह अव्यभिचारी है। बुद्धि उसको जिस रूप में स्थिर कर चुकी है उस रूप को वह कभी भी नहीं त्यागता। इसलिए सत्य के उक्त लक्षण के अनुसार जगत् भी सत् सिद्ध होता है। इसलिए जगत् वस्तुतः सत् और असत् दोनों है। कारणभाव से वह सत् है और कार्यभाव से असत्।

कारणात्मभाव और कार्यात्मभाव

जो भाव अदृश्य, अगोचर, मूलरहित है, जिसको बुद्धि तथा इन्द्रिय ग्रहण करने में असमर्थ है, जिसका कोई आकार-प्रकार नहीं, जो अत्यन्त सूक्ष्म है, अखण्ड

हैं, विभु हैं, नित्य है, किन्तु जो समस्त कार्य-व्यापारों का मूल कारण है वही 'कारणात्मभाव' है। इसके विपरीत जो ससीम है, बुद्धीन्द्रियग्राह्य है, जो अतीत, वर्तमान तथा अनागत; इन तीन अवस्थाओं में विशिष्ट है वह 'कार्यात्मभाव' है।

यह कालत्रयात्मक जगत्, जो कार्यात्मभाव है, उस परब्रह्म की शक्ति है। यह जगत् सत्त्व, रज, तम, इस त्रिगुणी माया का भाव है। कारणरूप परब्रह्म का एक अंश है। यह सांसारिक मनुष्य जिस भाव की उपलब्धि करता है वह कार्यात्मभाव है। ब्रह्म की वह अपरावस्था है। सृष्टि, स्थिति और लय, जगत् की यह स्थिति सनातन है, क्योंकि वह (जगत्) ब्रह्म की ही अपरावस्था है।

इसलिए कारणात्मभाव परमेश्वर, और कार्यात्मभाव यह जगत्, जो कि उसी का एक अंश है, दोनों सत् हैं; किन्तु कारणात्मभाव जहाँ नित्य है, कार्यात्मभाव वहाँ अनित्य है।

जगत् का मिथ्यात्व

मिथ्या वह पदार्थ है, जिसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और जो दूसरे की सत्ता से सत्तावान् है। अँधेरे में रखे हुए घट की सत्ता प्रकाश की सत्ता पर निर्भर है, अन्यथा उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। वेदान्त की दृष्टि से जगत् की कोई सत्ता नहीं है, ब्रह्म की सत्ता से वह सत्तावान् है। इसलिए जगत् को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य कहा गया है (**ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या**)। ब्रह्म की सत्ता से यदि जगत् की सत्ता है तो उसका मिथ्यात्व सहज नहीं है। वह किस रूप में मिथ्या है, इसका स्पष्टीकरण 'अभिन्ननिमित्तोपादान कारण' का सिद्धान्त समझ लेने के बाद होता है; अर्थात् ब्रह्म को इस जगत् का निमित्तकारण और उपादानकारण, दोनों माना गया है।

जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान का कारण ब्रह्म

वेदान्त के अनुसार इस जगत् का कारण ब्रह्म है, जैसा कि कारण-कार्यभाव के प्रसंग में ऊपर भी संकेत किया जा चुका है। यह 'कारण' दो प्रकार का माना गया है : 'निमित्त' और 'उपादान'। किसी पदार्थ को उत्पन्न करने में सहायक कारण उस पदार्थ का 'निमित्त कारण' कहलाता है, और जिन तत्त्वों से जो पदार्थ बनता है वे तत्त्व उस पदार्थ के 'उपादान कारण' कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए घट का बनाने वाला कुम्हार घट का 'निमित्तकारण' और जिस मिट्टी से वह घट तैयार हुआ है वह मिट्टी उस घट का 'उपादान कारण' है।

किन्तु यहाँ पर यह शंका होती है कि घट का 'निमित्तकारण' कुम्हार और घट 'उपादान कारण' मिट्टी दो भिन्न-भिन्न कारण हैं। फिर एक ईश्वर को जगत् का उपादान और निमित्त कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि सांसारिक या व्यावहारिक दृष्टि से जिसको हम 'घट' कहते हैं वह वस्तुतः मिट्टी का रूपान्तर है, उपाधि है। इसलिए 'घट' (उपाधि) का सम्बन्ध रूप से है, मिट्टी से नहीं है। इस 'घट' रूप का उपादान कुम्हार की बुद्धि है, क्योंकि संसार के जितने भी रूप हैं वे सब

काल्पनिक या मानसिक होते हैं। माया, जो ब्रह्म की कल्पना, बुद्धि या इच्छा है, इस स्थूल जगत् का निश्चित उपादान है। इसलिए माया के माध्यम से ब्रह्म ही विश्व का उपादान सिद्ध होता है। शंकराचार्य ने कहा है कि 'जिस प्रकार सोने से बना हुआ आभूषण निःसन्देह सोना ही होता है उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जगत् निश्चित ही ब्रह्म है :

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्व हि निश्चितम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्त्वं च विनिश्चितम्॥

जगत् का उपादान कारण अज्ञान

जगत् का उपादान कारण अज्ञान (तम) है। उस अज्ञान के नाश से जगत् का स्वयमेव नाश हो जाता है। इस अज्ञान का नाश, ज्ञान से ही हो सकता है। कर्म और उपासना से भी अज्ञान का नाश नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्म और उपासना अज्ञान के विरोधी नहीं हैं। अज्ञान का विरोधी ज्ञान है। जैसे घट के अन्दर का अन्धकार प्रकाश से ही दूर हो सकता है, वैसे ही अज्ञानरूपी अन्धकार ज्ञानरूपी प्रकाश से ही दूर हो सकता है।

आत्मज्ञान

जगत् सत्य है या मिथ्या, यह विकल्प तभी मिट सकता है, जब जगत् के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान हो। जो वस्तु जिसके अज्ञान से प्रतीत होती है वह वस्तु उसी के ज्ञान से मिट सकती है। उदाहरण के लिए रज्जु के अज्ञान से उसमें सर्प की प्रतीति होती है। यह अज्ञान, रज्जु का ज्ञान होने पर ही मिट सकता है। इसी प्रकार जब तक आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक इस मरणादि संसार का ज्ञान नहीं हो सकता है।

जैसे मरीचिका के जल से पृथ्वी गीली नहीं हो सकती है वैसे ही मिथ्या जगत् से अधिष्ठान की हानि नहीं हो सकती है। जगत् की यह प्रतीति ही मिथ्या है। 'मैं सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ' इस निश्चय का नाम ही आत्मज्ञान है। वही मोक्ष का साधन है।

परिणामवाद और विवर्तवाद

जगत् के स्वरूप की व्याख्या के लिए विभिन्न दर्शनों में अनेक तरह से विचार किया गया है। बौद्धों का विज्ञान जगत् को और समस्त जागतिक पदार्थों को, यहाँ तक कि 'ज्ञान' के अतिरिक्त सब कुछ को भ्रम और कल्पना बताता है। इसी बात को सांख्य में दूसरी ही तरह से कहा गया है और वेदान्त में तीसरी ही तरह से। सांख्य के 'परिणामवाद' और वेदान्त के 'विवर्तवाद' दोनों का आश्रय है क्रमशः 'तात्त्विक अन्यथा प्रतीति' और 'अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति'। दही तत्त्व से दूध बन जाना 'अन्यथा प्रतीति' है। उसी को 'विकार' या 'परिणाम' कहा गया है। इसी प्रकार रज्जु, अतात्त्विक अन्यथा भाव में सर्प का भ्रम 'अन्यथा प्रतीति' है। उसी को 'विवर्त' कहते हैं।

सांख्य दर्शन के प्रकरण में 'सत्कार्यवाद' की विस्तार से मीमांसा की जा चुकी है। सांख्य का सिद्धान्त है कि कार्य (पट), कारण (तन्तु) से अलग नहीं है, अपितु

अव्यक्त रूप से कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। 'तन्तु' कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान 'पट' कार्यरूप में व्यक्त हो जाता है। इसी सिद्धान्त को 'विकार' या 'परिणाम' कहा गया है। न्याय वैशेषिक में इसके विपरीत कहा गया है कि पट कार्य, तन्तु कारण से सर्वथा अलग है।

इसी सिद्धान्त को वेदान्त की दृष्टि से देखा जाय तो कहा जायगा कि वास्तविक तत्व में कोई परिवर्तन नहीं हुआ; बल्कि तन्तु, पट के रूप में बदल भर गया। 'विकार' में कारण (दूध) कार्य (दही) में बदल जाता है; किन्तु 'विवर्त' में 'कारण' (रस्सी) अपने मूल रूप में बना रहता है, केवल उसके बदल जाने मात्र का भ्रम होता है। विवर्तवाद के अनुसार कारण ब्रह्म वस्तुरूप जगत् में बदल नहीं जाता, बल्कि भ्रम से ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है।

कर्मों का भोग

कर्म तीन प्रकार के कहे गये हैं : संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

संचित

किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह इस जन्म में किया गया हो, या किसी पूर्व जन्म में, जब 'संचित' (एकत्रित) कर्म के अन्तर्गत आते हैं। इसी का असल नाम 'अदृष्ट' भी है और इसी को मीमांसकों ने 'अपूर्व' कहा है। अब तक के सभी कर्मों के परिणामों या सब संचित कर्मों को एक साथ भोगना संभव नहीं है, क्योंकि ये परिणाम भले (स्वर्गप्रद) और बुरे (नरकप्रद), दोनों प्रकार के फल देने वाले होते हैं। इन्हें एक-एक करके भोगना होता है।

इन संचित कर्मों से छुटकारा पाने के लिए 'गीता' में कहा गया है कि तत्त्वज्ञान की अग्नि से सभी संचित 'कर्म' भस्म हो जाते हैं : '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**' इन कर्मों के क्षय हो जाने पर योगी के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। यदि उसको मोक्षप्राप्ति में कुछ विलम्ब रह जाता है तो यही कि उसका वर्तमान शरीर नष्ट नहीं हुआ (**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्यते**)। शरीर त्याग देने के तत्काल बाद ही उसको मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

वेदान्त में 'संचित' कर्मों से मुक्त होने का एक दूसरा मार्ग भी सुझाया गया है। वहाँ कहा गया है कि तत्त्वज्ञानी योगी, योग-सामर्थ्य से उन सब शरीरों का निर्माण कर डालता है, जिनसे उसके 'संचित' कर्मों का भोग होना है। ऐसा करके वह संपूर्ण संचित कर्मों को एक साथ भोग डालता है और उसके लिए कुछ भी भोग बाकी नहीं रह जाता। तब न तो नया कर्म उत्पन्न होता है और न 'प्रारब्ध', कर्म ही शेष रहता है।

प्रारब्ध

समस्त भूतपूर्व संचित कर्मों के संग्रह का आंशिक रूप ही 'प्रारब्ध' है। संचित के जितने भाग के फलों (कार्यों) का भोगना आरम्भ हो गया हो उतना ही 'प्रारब्ध'

है और इसी कारण से 'प्रारब्ध' को 'आरब्ध' कर्म भी कहा गया है। जब तक फलभोग आरम्भ न हो तभी तक कोई पूर्व कर्म 'संचित' कहा जाता है और उसके भोगते समय तथा भोगने के बाद उसको 'प्रारब्ध' कहा जाता है।

'प्रारब्ध' कर्मों के उपभोग के लिए यह शरीर प्राप्त हुआ है। इन 'प्रारब्ध' कर्मों का भोग तब तक चलता है जब तक इस वर्तमान की स्थिति बनी रहती है। जैसे कुम्हार एक बार अपने चाक को घुमा देता है और उसके बाद उसमें जो वेग-संस्कार उत्पन्न होते हैं उनके कारण वह कुछ देर तक घूमता रहता है उसी प्रकार 'प्रारब्ध' कर्मों के अधीन यह शरीर अपने भोग के समाप्त होने तक बना रहता है। **(तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः)** ।

क्रियमाण

'क्रियमाण' कर्म वह है, जो वर्तमान के इस क्षण में किया जा रहा है। जो कर्म इस क्षण में हो रहा है या जो कर्म सकामभाव से अभी किया जा रहा है वही 'क्रियमाण' कर्म कहलाता है। इस क्रियमाण कर्म के संस्कार संचित होते रहते हैं, जिनका उपयोग आगे होता है। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता तब तक किये गये कर्मों के संस्कार बनते रहते हैं। तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार के बाद मोक्ष-प्राप्ति के लिए 'प्रारब्ध' और 'संचित' कर्मों की समाप्ति का कार्य शेष रह जाता है। तभी मोक्ष होता है।

जीवन्मुक्त

इस प्रकार के साधनों द्वारा मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है। जीवन्मुक्त का लक्षण बताते हुए सदानन्द ने अपने 'वेदान्तसार' में कहा है कि गुरु के उपदेश, श्रुति-वाक्य तथा अपने अनुभव से जब आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है तब उस ज्ञान के द्वारा आत्मगत समस्त अज्ञान नष्ट होकर अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ऐसी दशा में मूल अज्ञान तथा उसके कार्य रूप संचित संशय, विपर्यय आदि कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। तब सम्पूर्ण बन्धनों से विमुक्त हो जाने के बाद एक मात्र ब्रह्मज्ञान में ही आत्मा तत्पर हो जाता है। इस प्रकार के ब्रह्मनिष्ठ को ही 'जीवन्मुक्त' कहते हैं, जीवन्मुक्त अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःखादि क्लेशकारी तथा बन्धन स्वरूप चित्त के जो धर्म हैं वे सब, पुरुष के जीते-जी विनष्ट हो जाते हैं। उस आत्मतत्त्व से साक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धिस्थित वासनामय कामनाएँ (हृदयग्रन्थि) समाप्त हो जाती हैं और सम्पूर्ण निवृत्त सन्देह विच्छिन्न हो जाते हैं। जिसके संशय नष्ट हो गये हैं और जिसकी अविद्या क्षीण हो चुकी है, ऐसे मुक्त पुरुष के जन्मान्तर में तथा ज्ञानोत्पत्ति के समय इस जन्म में किये गये सारे कार्य भी नष्ट हो जाते हैं। 'यह साक्षात् मैं ही हूँ' (**अयं साक्षादहमेव**) इस प्रकार जीवित रहते हुए भी वह मुक्त हो जाता है।

●

रामानुज दर्शन

* * * *

विशिष्टाद्वैतवाद

वैष्णव संप्रदाय

भागवत संप्रदाय का ही दूसरा नाम वैष्णव संप्रदाय है। वैष्णव संप्रदाय की ऐतिहासिक परम्परा बहुत प्राचीन है। इसको कुछ विद्वानों ने प्रागैतिहासिक धर्म माना है। दक्षिण भारत में इसका जन्म हुआ और वहाँ की अलवार जाति ने वैष्णव मत को प्रचलित किया। इस मत के आदिम तीन आचार्यों का नाम पोंइहे, पूदत्त और ये बताया जाता है।

महाभारतकालीन पंचरात्न मत मूलतः वैष्णव संप्रदाय ही था। जैनों, बौद्धों ने पंचरात्न मत के विरोध में बड़ा प्रचार किया, जिससे उसका प्रभाव अवश्य कुछ कम हो गया; किन्तु बाद में शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों द्वारा भागवत या वैष्णव संप्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा हो जाने के कारण पंचरात्न धर्म की भी उन्नति हुई।

यह वैष्णव संप्रदाय आठवीं शताब्दी के बाद अनेक शाखाओं में पल्लवित हुआ। विशिष्टाद्वैतवाद उसी की एक शाखा है। वैष्णव संप्रदाय की इस विशिष्टाद्वैतवादी शाखा की यद्यपि धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से बड़ी प्रतिष्ठा है; किन्तु उसका प्रायः अधिकतर साहित्य अभी अप्रकाशित रूप में ही नष्ट हो रहा है। देश के वैष्णवाचार्यों एवं वैष्णव धर्मानुयायी समाज का इस दिशा में ध्यान आकर्षित होना चाहिए।

प्रमुख आचार्य और उनकी कृतियाँ

जैसा कि बताया जा चुका है दक्षिण भारत में प्रागैतिहासिक काल में ही वैष्णव धर्म का उदय हो चुका था, जिसके प्रवर्तक आचार्य तीन थे। उन तीन आचार्यों के बाद जिन प्राचीन विद्वानों के द्वारा यह परम्परा आगे बढ़ती गयी उनमें से कुछ के नाम हैं तिरुमिडिश, शाठारि (शठरिपु), मधुर कवि, कुलशेखर, पेरिया अलवार और गोंदा आदि। ग्रन्थकार होने की अपेक्षा ये भक्त अधिक थे।

वैष्णव धर्म की विशिष्टाद्वैतवादी शाखा के प्रवचनकार भगवान् नारायण को बताया जाता है। भगवान् नारायण ने उसका उपदेश भगवती महालक्ष्मी को किया। उसके बाद उपदेश परम्परा के वैकुण्ठपार्षद, विष्वक्सेन, शठकोप स्वामी, नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष स्वामी आदि आचार्यों से होकर वह ज्ञान यामुनाचार्य और तदनन्तर रामानुजाचार्य को प्राप्त हुआ।

यामुनाचार्य से पूर्व कुछ भाष्यकार और वृत्तिकार आचार्य हुए, जिनके नाम हैं बोधायनाचार्य (उपवर्ष), ब्रह्मानन्दी, द्रामिलाचार्य, ग्रहदेव, टंक और श्रीवत्सांक।

वैष्णव संप्रदाय का मीमांसा दर्शन बीस अध्यायों में विभक्त है, विषय की दृष्टि से जो धर्ममीमांसा, देवमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा, इन तीन काण्डों में विभक्त है। धर्ममीमांसा नामक काण्ड में बारह अध्याय हैं, जिसके प्रणेता महर्षि जैमिनी हुए। दूसरे, देवमीमांसा काण्ड में चार अध्याय हैं, जिसको काशकृत्स्नाचार्य ने रचा है। तीसरे, ब्रह्ममीमांसा नामक काण्ड में चार अध्याय हैं, जिसके निर्माता बादरायण व्यास हुए। क्रमशः इन तीनों काण्डों में कर्म, उपासना और ज्ञान का प्रतिपादन है।

विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य परम्परा में आचार्य आश्मरथ्य का नाम उल्लेखीय है। तदनन्तर आचार्य श्रीकण्ठ ने 'ब्रह्मसूत्र' की शिवपरक व्याख्या करके विशिष्टाद्वैतवाद को आगे बढ़ाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनका समय पाँचवीं शताब्दी था।

'ब्रह्मसूत्र' की विष्णुपरक व्याख्या करने वाले पहले प्रामाणिक आचार्य यामुनाचार्य हुए और तदनन्तर उसको सशक्त, व्यापक और अधिक गम्भीर बनाया श्री रामानुजाचार्य ने। रामानुजाचार्य में अपूर्व प्रतिभा थी। उन्होंने ही सर्वप्रथम दार्शनिक विचारों के द्वारा वैष्णव धर्म को मण्डित करके उसकी लोकप्रियता को बढ़ाया। शंकराचार्य ने जिस ईश्वर को कुछ इने-गिने विचारकों तक ही सीमित कर दिया था, रामानुजाचार्य ने उसको व्यापक लोकधर्म के द्वारा प्रमाणित किया और व्यक्ति-व्यक्ति की समझ में आने योग्य उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया। उन्होंने श्रुतियों की परस्पर विरोधी भावनाओं को लेकर उनके द्वारा शंकर के अद्वैत की सभी प्रक्रियाओं को अपने विशिष्टाद्वैत में इस प्रकार समन्वित किया कि वे साधारण और असाधारण के लिए सुगम हो गयीं। श्री रामानुजाचार्य का जन्म १०७४ वि० में हुआ था।

रामानुजाचार्य के बाद भी इस परम्परा में अनेक आचार्य हुए, जिनके नाम हैं : देवराजाचार्य, वरदाचार्य, सुदर्शन व्यास, भट्टाचार्य, वरदाचार्य (द्वितीय), वीर राघवाचार्य, रामानुजाचार्य या वादिहंसांबुवाचार्य, वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य, श्रीमल्लोकाचार्य, आचार्य वरदगुरु, वरदनायक सूरि, अनन्ताचार्य, रामानुजदास, सुदर्शन गुरु, श्रीनिवासाचार्य प्रथम, श्रीनिवासाचार्य द्वितीय, श्रीनिवासाचार्य तृतीय और बुच्चिवेंकटाचार्य। इन आचार्यों का समय १४वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी के बीच है।

ब्रह्म विचार

शंकर और रामानुज, वेदान्त दर्शन के दो असामान्य आचार्य हैं। शंकराचार्य ने अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है तो रामानुज ने अद्वैतविशिष्ट ब्रह्म का। इन दोनों आचार्यों की पद्धतियों में जो अन्तर है उसका मूल श्रुति है। शंकर ने अभेद प्रतिपादक श्रुतियों को लिया है और रामानुज ने भेद-अभेद, दोनों प्रकार की श्रुतियों में समन्वय स्थापित करके वेदान्त दर्शन में नयी मान्यताएँ स्थापित कीं।

शंकराचार्य का ब्रह्म अद्वैत है। उससे भिन्न कुछ है ही नहीं। किन्तु रामानुज के मत से ब्रह्म वह है; जिसमें अन्य पदार्थ भी हैं और जो उसी के द्वारा वृहत् होते हैं। रामानुज के मतानुसार ब्रह्म, चिन्मय आत्मा और जड़ प्रकृति, दोनों में विद्यमान हैं; किन्तु वह उन दोनों से 'विशिष्ट' है। इसलिए उसकी अद्वैतावस्था 'विशिष्ट' है, न कि शंकराचार्य के ब्रह्म की भाँति अद्वैत, अद्वितीय है। आत्मा (जीव) और प्रकृति, इन दोनों पदार्थों से अद्वैत, किन्तु दोनों से विशिष्ट होने के कारण रामानुज ब्रह्म को 'विशिष्टाद्वैत' स्वीकार करते हैं। उनका ब्रह्म जगत् में व्याप्त है और उससे परे भी है। उसका विशिष्ट व्यक्तित्व है। वह अपनी इच्छाशक्ति से सोद्देश्य जगत् को उत्पन्न करता है। वह उपासना का विषय है और धार्मिक साधना का लक्ष्य भी। यही उसका वैलक्षण्य (वैशिष्ट्य) है।

शंकराचार्य की दृष्टि से, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, अतः समस्त जगत् और जागतिक प्रपंच सब मिथ्या हैं। विवेक के द्वारा इस अविद्यामय मिथ्या के दूर हो जाने पर निर्विशेष, अद्वितीय एवं अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान होता है।

इसके विपरीत रामानुज, जगत् को मिथ्या बताये बिना अद्वैत ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उसके मत से ब्रह्म एक है उसमें ईश्वर, आत्मा (चैतन्य) तथा प्रकृति (जड़), ये तीन पदार्थ हैं। ब्रह्म में यह सारा जगत् लीन है; किन्तु ईश्वर इस संसार में अन्तर्हित है। इसलिए जगत् को मिथ्या बताये बिना भी ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित किया जा सकता है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार जड़ प्रकृति, जिसके प्रधान, प्रकृति, माया या अविद्या आदि नाम हैं, चेतन आत्मा, जो सूक्ष्म है, और ईश्वर, जो सर्वनियन्ता तथा साथ ही ज्ञान, आनन्द स्वरूप है, ये तीन प्रकार के पदार्थ हैं। ये तीनों पदार्थ या तत्त्व ब्रह्म में रहते हैं। जो सम्बन्ध आत्मा का शरीर से है वही सम्बन्ध ईश्वर का आत्मा तथा प्रकृति से है। जिसे हम ब्रह्म कहते हैं वह ईश्वर से भिन्न नहीं है। इसलिए रामानुज के मत से आत्मा, प्रकृति और ईश्वर इन तीनों की समष्टि का नाम ही ब्रह्म है।

इन तीनों का अभिन्न सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता है। इस शरीर को धारण करने वाला आत्मा है और शरीर तथा आत्मा को धारण करने

वाला ईश्वर । प्रत्येक मनुष्य अपनी क्रिया शक्ति तथा अपने विवेक के द्वारा अपने को या तो शरीर समझता हैं या आत्मा अथवा ईश्वर । इस दृष्टि से संसार की प्रत्येक वस्तु में त्रैत भावना विद्यमान है ।

संसार का कारणरूप जो ब्रह्म है वह अव्यक्त चेतन, अव्यक्त जड़ और ईश्वर, इन तीनों पदार्थों की समष्टि है । वही कारणरूप ब्रह्म कार्यरूप संसार में परिणत होता है, और इस प्रकार कार्य-कारण एक होने से ब्रह्म की अद्वैतता बनती है ।

कार्य कारण सम्बन्ध

ब्रह्म और जगत् का कारण-कार्य सम्बन्ध है । जैसे मकड़ी सतत अपने जाले के साथ रहती है वैसे ईश्वर भी जगत् के साथ रहता है । जैसे सुवर्ण अपने अनेक गुणों से विमुक्त नहीं होता उसी प्रकार ईश्वर अपने गुणों से विमुक्त नहीं होता ।

ब्रह्म का अभाव और जगत् का भाव संभव ही नहीं है । बीज-वृक्ष की तरह कार्य-कारण स्वरूप उभयरूप ब्रह्म ही है । जैसे बीज, मृत्तिका, सुवर्ण तथा कपास में क्रमशः घट, भूषण तथा वृक्ष प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार परमेश्वर में जगत् है । यदि बीजादि में वृक्षादि कार्य नहीं रहते तो समझना चाहिए कि बीजादि का अस्तित्व है ही नहीं । वैसे ही कारणरूप परमेश्वर में यदि कार्यरूप जगत् न रहे तो समझना चाहिए कि ईश्वर है ही नहीं; क्योंकि कार्य से ही कारण का अनुमान होता है, वैसे ही जैसे धूम से अग्नि का । ऐसी स्थिति में कार्य (जगत्) और कारण (परमेश्वर) का भाव कहना सिद्ध नहीं होता ।

जब कारणरूप ब्रह्म कार्य अर्थात् जगद्रूप में परिणत होता है तब उसके ईश्वर भाव में कोई विकार नहीं आता । किन्तु जड़ और चेतन, जिनसे वह विशिष्ट है, उन्हीं में परिणाम उत्पन्न होते है । कारण ब्रह्म जब कार्य जगत् के रूप में परिणत होता है तब उसमें कोई विकारभाव नहीं आने पाता । अविकारी अद्वैत ईश्वर के चैतन्य आत्मा और जड़ प्रकृति शरीर हैं । इस दृष्टि से जगत्, समस्त जागतिक पदार्थ और अद्वैत ब्रह्म, तीनों सत्य हैं । जायते, वर्धते, नश्यति, ये विकार शरीर के हैं, जो आत्मा और ईश्वर में नहीं होते ।

ब्रह्म के एकत्व का समन्वय

ब्रह्म एक है (**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**), इसका यह अर्थ नहीं होता है कि जगत् नहीं है; क्योंकि वेदों की द्वैतपरक श्रुतियाँ इसका प्रमाण हैं कि आत्मा और जगत् भी सत्य हैं । शंकराचार्य वेद की इन द्वैतपरक श्रुतियों को व्यावहारिक रूप में ग्रहण करते हैं; किन्तु रामानुजाचार्य की दृष्टि से दोनों प्रकार की श्रुतियों का यहाँ तात्पर्य चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म ही है । जिस प्रकार हम मनुष्य को एक कहते हुए भी उसके आत्मा और

शरीर में भेद पाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म को अद्वितीयता में जीव का तादात्म्य सूचित होता है और जीव तथा ईश्वर का भेद भी बनता है।

सगुण-निर्गुण का समन्वय

ब्रह्म के द्वैत-अद्वैत स्वरूप की भाँति श्रुतियों में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप का प्रतिपादन भी मिलता है। जिन श्रुतियों में ब्रह्म के निर्गुण, निराकार स्वरूप का वर्णन है उनसे परमात्मा को अनन्त दिव्य शक्तियों का आगार मानना चाहिए। ऐसी श्रुतियाँ परमात्मा के दिव्य गुणों का विधान करती हैं और अविद्याजनित सत्त्व, रज, तम का निषेध करती हैं। जीव के अज्ञानजन्य विकार को दूर करने के लिए इस प्रकार की श्रुतियाँ परमात्मा में अविद्याजन्य गुणों का निषेध करने के लिए उसको निर्गुण (अविद्याजनित गुणों से रहित) पुकारती हैं। किन्तु कल्याणमय अनन्त गुणों का निषेध नहीं करती हैं।

माया जड़ है। इसलिए उसके गुण भी जड़ हैं। जीव चेतन है; किन्तु वह अल्प अशक्त है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिवान्, विभु, आनन्दमय और सत्यकाम है। इसलिए माया का जड़त्व और जीव का अल्पत्व ब्रह्म में नहीं, और इसी प्रकार ब्रह्म की सर्वज्ञता जीव तथा माया में नहीं। अतः इस कारण भी ब्रह्म को निर्गुण कहा गया, क्योंकि उसमें माया तथा जीव के गुण नहीं हैं, अथवा सर्वज्ञ होने के कारण उसको सगुण कहा गया। आशय यह है कि जब हम निर्गुण ब्रह्म कहते हैं तो हमें अवगत होता है कि ब्रह्म में कोई प्राकृत गुण नहीं है; किन्तु जब हम उसको सगुण कहते हैं तो ज्ञात होता है कि ब्रह्म में ऐसे अलौकिक गुण विद्यमान हैं, जो माया और जीव में नहीं हैं। इसलिए ब्रह्म के निर्गुण और सगुण, दोनों रूप सिद्ध हैं।

ब्रह्म सगुण साकार है

ब्रह्म सगुण और साकार है। **'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'** आदि श्रुतियों में 'अरूपवत्' पद से ब्रह्म को अरूप तुल्य कायकर्मविपाकादि से रहित मानना चाहिए न कि अरूप। ब्रह्म उपाधियुक्त नहीं है, क्योंकि उपाधि एक देश में होती है और ब्रह्म अखण्ड है।

ब्रह्म में ज्ञानगुण की अधिकता

परमेश्वर, क्योंकि गुण विशिष्ट है, इस दृष्टि से उसमें अन्य गुणों की अपेक्षा ज्ञानगुण की अधिकता है। लोक और वेद, दोनों में यह देखा गया है कि जो गुण जिसमें अधिक होता है उसी गुण से उसको सम्बोधित किया जाता है (**तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशाः**)। इसीलिए श्रुतियों में ब्रह्म को 'ज्ञान' नाम से कहा गया है। सूर्य प्रकाश रूप है और 'प्रकाश' ही को सूर्य कहा गया है। 'प्रकाश' सूर्य का सर्वाधिक गुण है। अपने उसी गुण से वह आच्छादित है। इस दृष्टि से जिस प्रकार सूर्य, प्रकाशी और प्रकाश, दोनों है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और 'ज्ञानगुणसम्पन्न' भी। ज्ञान, ब्रह्म का सर्वाधिक गुण है। वही उसमें व्याप्त है।

जब श्रुतियाँ ब्रह्म को अग्राह्य तथा अदृश्य कहती हैं तब उस समय ब्रह्म को

ज्ञानानन्दादि गुणों से युक्त समझना चाहिए। क्योंकि किसी पदार्थ को उसके गुणों के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। अतः ब्रह्म में दिव्य गुणों का निवास होने से उसको सगुण कहा गया है। जब ब्रह्म में आनन्दादि धर्मसमूह विद्यमान हैं तभी तो जीव को आनन्द का लाभ होता है (**आनन्दरसो वै स रसः लब्ध्वा आनन्दी भवति**)।

ब्रह्म निष्कर्म

ब्रह्म सदा का निष्कर्म (कर्म रहित) और जीव सदा सकर्मक है। उत्पत्ति के समय जीवों को कर्मानुसार शरीर मिलता है और निष्कर्म ब्रह्म जीवों का अन्तर्यामी होकर उनमें बना रहता है। ब्रह्म रसरूप है। आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करके जीव भी आनन्दित हो जाता है।

ज्ञान का स्वरूप

ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहा गया है; किन्तु ज्ञान को जाने बिना ज्ञानमय ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता है।

ज्ञान के सम्बन्ध में शंकर और रामानुज में मतभेद है। शंकर अभेदात्मक या वाक्यार्थ ज्ञान को मानते हैं, किन्तु रामानुज उपासनात्मक ज्ञान को स्वीकार करते हैं। इन दोनों प्रकार के ज्ञानों पर विशिष्टाद्वैतवादी आचार्यों ने गम्भीरता से विचार किया है। इस सम्बन्ध में शांकरमतानुयायी विचारकों से रामानुजमतानुयायी विचारकों का कथन है कि यदि वाक्यार्थ ज्ञान मुक्तिदायक है तो उसके प्राप्त होते ही मुक्ति हो जानी चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए वाक्यार्थ या अभेदात्मक ज्ञान मुक्तिदायक नहीं है। इसलिए यह कहना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' मिथ्या अभिमान है।

अद्वैतवादियों के इस तर्क को कि 'जिस प्रकार रज्जु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर द्रष्टा का सर्पभ्रम छूट जाता है उसी प्रकार अभेदात्मक ज्ञान की प्राप्ति से निर्भ्रम होकर जीव भी ब्रह्म हो जाता है', विशिष्टाद्वैतवादियों ने यह कह कर खण्डित किया है कि जब अद्वैत वेदान्ती निर्विशेष ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ मानते ही नहीं तो रज्जु-सर्प, उनमें भ्रमात्मक प्रतीत और द्रष्टा, तीनों मनगढ़न्त सिद्ध होते हैं। यह झूठा ज्ञान और झूठा भ्रम है।

मुक्तिमार्ग

ज्ञान का उद्देश्य मुक्ति

ज्ञान का उद्देश्य मुक्ति है। मुक्ति के लिए सच्चे मार्ग की आवश्यकता है; सच्चा मार्ग, अर्थात् वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति। ऐसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति वेद, शास्त्र, गुरु और ईश्वर में सत्य बुद्धि से होती है। ईश्वर के प्रति उपासक का प्रेमभाव जब तैलधारारूप अटूट हो जाय तब शरीरान्त होने पर जीव को बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है और वह मुक्त हो जाता है। इस विधि से उपासना के द्वारा ज्ञान प्राप्त

करके मुक्ति का अधिकारी बना जा सकता है, न कि 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहने से जीव का कल्याण होता है।

तत्त्वमसि

"मैं आपसे अलग नहीं हूँ, किन्तु मायिक बन्धन से मैं आपको अलग समझ कर स्वकर्मानुसार नाना दुःख-सुखों के भोग भोगता आ रहा हूँ। आपकी कृपा से अब मैं आपको और स्वयं को समझ गया हूँ, मैं आपका प्रियपात्र और आप मेरे प्रियतम हैं।" इस भावना से उपासना करने पर मुक्ति प्राप्त होती है और आचार्य रामानुज की दृष्टि से यही 'तत्त्वमसि' इस श्रुति का आशय है।

सृष्टि विचार

अचित्

उपनिषदों में अचित् प्रकृति तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है। रामानुज उसको सत्य मानते हैं। उनके मतानुसार प्रकृति अचित् तत्त्व है। वह विकारहीन और जड़ है। उसके तीन भेद हैं : शुद्धसत्व, मिश्रसत्व और सत्वशून्य।

(१) **शुद्धसत्व** : वह सतोगुण प्रधान हैं। उसमें तमोगुण और रजोगुण का अभाव है। वह नित्य है तथा उससे ज्ञान एवं आनन्द की उत्पत्ति हुई। शब्द स्पर्श आदि उसके धर्म हैं।

(२) **मिश्रसत्त्व** : इसमें सत्व, रज और तम, तीनों गुण हैं। इसी को प्रकृति, अविद्या तथा माया कहा गया है। पाँच विषय, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच प्राण, प्रकृति, महत्, अहंकार और मन, ये सभी इसी से उत्पन्न हुए।

(३) **सत्वशून्य** : यह अचित् है। इसमें कोई गुण-धर्म नहीं होते। वह काल-स्वरूप है और प्रकृति तथा प्राकृतिक वस्तुओं के परिणामस्वरूप जो प्रलयावस्था है वह इसी के अधीन है।

रामानुज के मतानुसार परमात्मा में आश्रित जड़रूप मूल प्रकृति, ईश्वर की इच्छा से तेज, जल और पृथ्वी, इन तीन तत्त्वों में विभक्त हुई। इन तीन तत्त्वों से क्रमशः सत्व, रज और तम ये तीन गुण पैदा हुए और इन तीनों गुणों की समष्टि से समस्त भौतिक जगत् की उत्पत्ति हुई। इस गुण समष्टि को रामानुज ने 'त्रिवृत् करण' कहा है।

रामानुज की सृष्टिप्रक्रिया में मन, बुद्धि, चित् और अहंकार से अन्तःकरण की उत्पत्ति बतायी गयी है। उस अन्तःकरण में आत्मा के रूप में परमात्मा का प्रवेश हुआ। तब यह भौतिक शरीर सचेतन होकर विभिन्न नाम-रूपों से व्यवहृत हुआ। इस शरीर को पाकर जीव अपने अर्जित कर्मों को भोगता है और आगे के लिए कर्मों का अर्जन करता है। जब उसके पुण्य कर्मों का फल भोगने का समय आता है तब

उसकी सत्कर्म, सदुपदेश और सत्कथा की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसा करने से उस पर भगवान् की कृपा होती है और वह ईश्वर की शक्ति में लीन हो जाता है। ईश्वर की भक्ति करते-करते जब उसका शरीर क्षीण हो जाता है तब उसको इस असार संसार से छुटकारा मिल जाता है। फिर उसको कर्मबन्धन में नहीं बँधना पड़ता।

जीव अनन्त हैं। उनमें से कुछ ही मुक्त हो पाते हैं। बाकी अपने पुण्यों तथा पापों के अनुसार ऊँच-नीच योनियों में पैदा होकर इस भवचक्र में घूमते रहते हैं इस कर्मजनित चिरस्थायी नियम से बँधकर जीव समयानुसार पुनः परमात्मा में लय हो जाता है और पुनः समय के ही अनुसार दूसरे जन्म में पैदा होकर अपने अर्जित कर्मों के भोग में लग जाता है।

परमेश्वर जीवों के साथ साक्षी होकर निरन्तर रहता है ; किन्तु परमेश्वर का जीव के कर्मफलों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह जीव के कार्यों को उदासीन होकर देखता रहता है।

सृष्टि से पहले लयावस्था में जीव-समूह वासनामय (लीलामय) होकर कारण-भूत क्षीरशायी विष्णु भगवान् के उदर में रहता है। सृष्टि के समय वह जीव-समूह अपनी-अपनी वासना तथा अपने-अपने कर्मों के अनुसार कारण कलेवर धारण कर प्रकट होता है और अपने-अपने कर्मार्जित लोक को चला जाता है। वे जीव पुनः सृष्ट और पुनः लय होते रहते हैं। यही भवचक्र का आधार है।

इस प्रकार सांख्य और विशिष्टाद्वैत, दोनों दर्शनों में सृष्टि का विकास प्रकृति के द्वारा दिखाया गया है; किन्तु सांख्य दर्शन में जहाँ प्रकृति को स्वतंत्र मानकर सृष्टि-प्रक्रिया में ईश्वर का कोई स्थान नहीं माना गया है, वहाँ विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रकृति को ईश्वर का अंग मानकर परमेश्वर की इच्छा से ही सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है।

लयावस्था

लय का अर्थ है छिपना। जैसे रात होते ही पक्षीगण वृक्षों में छिप (लय) जाते हैं और प्रातः होते ही दशों दिशाओं में उड़ जाते हैं; जिस प्रकार उनका निरन्तर यह क्रम बना रहता है, वैसे ही जीव-समूह परमात्मारूप वृक्ष में लय होते हैं और सृष्टि के समय अपने-अपने कर्मों के अनुसार शरीर का चोंगा धारण कर लोकान्तर में चले जाते हैं। उनका यह क्रम निरन्तर बना रहता है। परमात्मा और वृक्ष निरक्षेप तथा जीव और पक्षी सापेक्ष हैं। इसलिए जीव-समूह अपने-अपने कर्मार्जित लोकों में जाकर सुख-दुःख का अनुभव करता है। परमात्मा अन्तर्यामीरूप से उनके बाहर-भीतर सदा विद्यमान रहता है। इसीलिए परमेश्वर को कारण और कार्य, दोनों रूपों में कहा गया है।

जगत् सत्य है

रामानुज के मत से जगत् तथा समस्त जागतिक प्रपंच मिथ्या नहीं है, सत्य

हैं; क्योंकि वह जगत् और उसके सम्पूर्ण पदार्थ नित्य वस्तुओं या तत्त्वों के योग से बने हैं। वे नित्य वस्तुएँ या तत्त्व हैं : जीव, माया और परमात्मा। जीवों को कर्मभोग के लिए मायामय शरीर प्राप्त होता है। उस शरीर में जीवों का प्रवेश होता है। उस जीव के घट में परमात्मा अन्तर्यामी के रूप में व्याप्त रहता है। इसी को जगत् कहते हैं। सूक्ष्म चित्संयुक्त परमात्मा इस जगत् का कारण है और वही स्थूल चित्संयुक्त कार्यरूप जगत् भी है। इसलिए जगत् की सत्यता स्वयं सिद्ध है। यह जगत्, जीव, माया और ब्रह्म की समष्टि है और ये तीनों सदा एक होकर रहते हैं। मिथ्या उसको कहते हैं, जिसका अस्तित्व ही नहीं है; जैसे शशश्रृङ्ग और आकाशपुष्प। जगत् का तो प्रत्यक्ष अस्तित्व है। अतः वह सत्य है।

जगत् नित्य है

जगत् नित्य है। वह न जन्मता है, और न मरता है। वह तो स्थूल-सूक्ष्म रूप में सदा विद्यमान रहता है। कभी वह कारणावस्था में सूक्ष्म बना रहता है तो कभी कार्यावस्था में स्थूल हो जाता है।

जगत् प्रपंच नहीं है

अद्वैत वेदांत के अनुसार सीपि में रजत के भ्रम की भाँति यह प्रपंचमय जगत् भी भ्रम है, किन्तु विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार सीपि और रजत, दोनों अन्यत्रसिद्ध वस्तुएँ हैं। दो अन्यत्रसिद्ध वस्तुओं में पारस्परिक भ्रम की संभावना नहीं है। इसलिए जगत् प्रपंच नहीं है।

जगत् की प्रपंचरूपता का रहस्य

अपने अज्ञान के कारण जीव प्रपंचगत पदार्थों में बुद्धि लगाकर नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं। उस दुःख से छुटकारा दिलाने के लिए ही यह कहा जाता है कि जैसे सीपि में रजत का भ्रम है वैसे ही प्रपंचगत पदार्थों को अपना मानना भ्रम है। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम झूठा होता है वैसे ही जागतिक पदार्थों को भी अपना मानना व्यर्थ है। पिता, पुत्र, माता, भाई आदि सभी रिश्ते रज्जु तथा सीपि की तरह हैं और उनमें जीवों की भोगबुद्धि सर्प, रजत की भाँति है। इसलिए ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं कि उस भासमान वस्तुओं से जीव की भोगबुद्धि हट जाय।

जगत् की सत्यता आत्मा की सत्यता से सिद्ध है

जगत् की सत्यता आत्मा की सत्यता से सिद्ध है। जैसे बीज और वृक्ष का सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा और जगत् का भी सम्बन्ध है। आत्मा बीज है और जगत् वृक्ष है। वृक्ष का बाहरी नाश होने पर भी बीजरूप में उसका अस्तित्व अविनश्वर है।

जगत् और जीव

जगत् सत्य है; किन्तु उसको जीव (आत्मा) समझना मिथ्या है। स्थाणु में पुरुष, आकाश में नीलापन, रज्जु में सर्प और दर्पण में उल्टा प्रतिबिम्ब मिथ्या है;

किन्तु पुरुष आदि मिथ्या नहीं है। इसी प्रकार प्रपंचगत पदार्थों में जीवों का जो अभिमान होता है वह मिथ्या है; किंतु जीव और प्रपंच मिथ्या नहीं है; क्योंकि प्रपंच तो परमात्मा का शरीर है।

जीव को प्रपंचगत भ्रांति का नाश

'यह प्रपंच परमेश्वर का है, मेरा अपना इसमें कुछ भी नहीं है।' इस विचार से प्रपंचगत पदार्थों से जीव की जो भ्रांति है उसका नाश होता है। जैसे नीला रंग, पीला नहीं हो सकता है वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा एक नहीं हो सकते। जैसे स्फटिक में लाल रंग केवल देखने मात्र के लिए होता है वैसे ही जीवात्मा में परमात्मा का सम्बन्ध देखने मात्र के लिए है। सत्य नहीं।

अभेद भ्रांति का विनाश

रामानुज दर्शन में अभेद भ्रांति का बड़े ही सुन्दर ढंग से निराकरण किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जैसे दर्पण या स्वच्छ जल में हम अपना प्रतिबिम्ब देखते और वहाँ पाते है कि जिस-जिस स्थान पर हमारा नाक, कान है वह प्रतिबिम्ब में भी ठीक उसी-उसी स्थान पर दिखायी दे रहा है, वैसे हो परमात्मा भी मायारूपी दर्पण में जीव के नानाविध प्रत्येक रूप में अपने को न देखकर अपने में उन सब को देखता है। परमात्मा रूप अंगी एक है और जीवरूप अंग अनेक हैं।

दूसरा भी प्रमाण है—जगत् में ब्रह्म कारणरूप में सतत विद्यमान रहता है। जगत् उसका कार्यरूप है। कारण के रहते कार्य का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता। जैसे एक ही कारणरूप सुवर्ण के अनेक प्रकार के कार्यरूप आभूषण बनते हैं वैसे ही जगत् और ब्रह्म का कारण-कार्य या अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। इसीलिए जगत् को मिथ्या कहना उचित नहीं है।

भ्रांति का स्वरूप

भ्रांति, अविद्या या मायाकृत धर्म है। वह जीवों में चार प्रकार से रहता है: भ्रम, प्रसाद, करणापाटवत्व और विप्रलिप्सा। यह भ्रांति केवल जीव में ही रहती है, ब्रह्म में उसका अध्यास नहीं है। जीवों में भ्रम का यह अध्यास तीन प्रकार से है: स्वरूपाध्यास, संसर्गाध्यास और अन्योन्याध्यास। स्वरूपाध्यास से जीवों में ब्रह्मभावना होती है और संसर्गाध्यास से जीव कभी ज्ञानी और कभी अज्ञानी सा होकर रहता है। तीसरा अध्यास और भी निकृष्ट है। वही जीवों को अधिक भ्रष्ट करता है। आत्मा (जीव) का अध्यास अनात्मा (अविद्या) में और अनात्मा का अध्यास आत्मा में इसी को 'अन्योन्याध्यास' कहते हैं। अध्यास कहते हैं अन्य पदार्थ में अन्य के ज्ञान होने को। इस दृष्टि से ये तीनों अध्यास जीव को भ्रष्ट करने वाले हैं। यही भ्रांति का स्वरूप है।

जीव में देहादि भावना

जीव (आत्मा) में देह-गेहादि (अनात्मा) की जो भावना देखने में आती है उसके अनेक कारण दिये गये हैं।

जीव, चेतन, अणुरूप, ज्ञानगुणक तथा भूत है और अविद्या जड़, दुःखरूप, परिणामी, आवरणात्मक तथा तमोरूप है। अपने इन गुणों से वह जीव को उसी प्रकार आच्छादित कर देती है, जैसे मेघ का टुकड़ा सूर्य तथा चन्द्र के प्रकाश को ढक देता है। ऐसी स्थिति में जीव अपने गुणों को भूलकर मायिक गुणों को ग्रहण करता है। वह अपने को दुःखी, सुखी, भोक्ता आदि अनुभव करता है। इस प्रकार जड़ का धर्म चेतन में और चेतन का धर्म जड़ में परिवर्तित होकर प्रपंच की रचना होती है। जैसे तेज वायु के चलने से बादल फट जाता है और सूर्य, चन्द्र दिखायी देते हैं, उसी प्रकार ज्ञान के तेज से अज्ञान का अंधकार हट जाता है। ज्ञान का उदय भगवत्कृपा, सद्गुरु और शास्त्र-श्रवण से होता है। इनके द्वारा अज्ञान के हट जाने पर जीवों मे परमेश्वर के प्रति परम प्रेमस्वरूप भक्ति का उदय होता है। उस भक्ति के कारण शरीरावसान तक जीव की ईश्वरोपासना तैलधारा की तरह अविच्छिन्न बनी रहती है और शरीर के छूटते ही जीव मुक्त हो जाता है।

जीवों के मुक्त हो जाने के बाद भी यह दृश्य प्रपंच बना ही रहता है।

माया विचार

ब्रह्म और माया की पृथक्ता

माया का ही दूसरा नाम प्रकृति है। शांकर वेदांत के अनुसार परमात्मा में माया का आरोप (अध्यास) और प्रकृति को कल्पित सिद्ध किया गया है; किन्तु रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार यह उचित नहीं है। आरोप (अध्यास) कहते हैं किसी तदाकार वस्तु में दूसरी तदाकार वस्तु की भ्रांति को; जैसे शुक्ति में रजत की; रस्सी में सर्प की; स्थाणु में पुरुष की; और मरीचिका में जल की। इसके विपरीत सर्प, अग्नि आदि जो विसदृश पदार्थ हैं उनको रजतादि समझकर उनमें भ्रम होने की बात नहीं देखी गयी है। अतः यह सिद्ध है कि एक वस्तु अन्य वस्तु की बुद्धि (आरोप), सादृश्यता या तदाकारिता के कारण होती है; किंतु जो दो विसदृश या अतदाकार वस्तुएँ हैं उनमें एक-दूसरे का आरोप नहीं होता है।

इस दृष्टि से माया और ब्रह्म में वैसादृश्य है। माया जड़ है और ब्रह्म परम चेतन। परम चेतन, जो आनन्दस्वरूप है उसमें जड़ का आरोप कैसे हो सकता है? इसी प्रकार परम चेतन परमात्मा का अति विसदृश जड़ प्रकृति में अध्यास कैसे हो सकता है? और प्रकृति, जिसको अज, अनादि कहा गया है, कल्पित नहीं है।

द्वैतवाद सत्य है

ऐसी स्थिति में हम ब्रह्म और प्रकृति के सम्बन्ध को सुलझा सकते हैं। रामानुज के मतानुसार ब्रह्म की तीन अवस्थाएँ हैं : ईश्वर, जीव (आत्मा) और प्रकृति। माया के दो रूप हैं : शुद्धसत्त्व (विद्या) और मिश्रसत्त्व (अविद्या)। शुद्ध सत्त्वनिष्ठ परमात्मा ईश्वर कहलाता है। वह जगत् का कर्ता, भर्ता, धर्ता है। अविद्यानिविष्ट (मिश्रसत्त्व) परमात्मा जीव कहलाता है। वह अल्पज्ञ, अशक्त, परिच्छिन्न और भोक्ता है। इसका यह आशय हुआ कि विद्या में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर; और अविद्या में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है वह जीव कहलाता है। इन दोनों (विद्या-अविद्या) से जो रहित है वह शुद्ध ब्रह्म है।

वह कल्पित नहीं

अविद्या (माया) से मुक्त जो जीव है वह अपने स्वरूप और परमात्मा को भूल जाता है। इसीलिए इस संसारचक्र में घूमता रहता है। शास्त्रों में इसी अज्ञानी जीव के लिए ज्ञान और भक्ति का विधान किया गया है। ब्रह्म शुद्ध सत्त्व होकर, ज्ञान और भक्ति में लीन, अपने उपासक को अपना पद देकर मुक्त कर देता है। इसलिए न तो ब्रह्म, ईश्वर होता है और न जीव ही। इस दृष्टि से न ईश्वर कल्पित है न जीव ही। जीव, माया और परमात्मा, ये तीन तत्त्व अपृथक्, अनादि और अनन्त हैं।

माया और जीव अनादि हैं

प्रश्न यह उठता है कि सृष्टि से पहले सजातीय-विजातीय, स्वगत-परगत आदि भेदों से रहित एक निर्विकार परमात्मा का ही अस्तित्व था। ऐसी अवस्था में निर्विकार परमात्मा या ब्रह्म में माया तथा जीव की अपृथक्ता कैसे जानी जा सकती है ? इसके उत्तर में श्रुति को उद्धृत किया गया है। श्रुति में कहा गया है कि माया और जीव अनादि हैं। और जो अनादि है उसका नाश भी नहीं होता। जीव और माया के अतिरिक्त तीसरा पदार्थ ही नहीं है कि ब्रह्म उसमें व्याप्त हो। जो ब्रह्म सदा, सर्वदा जीव तथा माया में व्याप्त होकर रहता है वह सजातीय, विजातीय आदि भेदों से रहित कैसे हो सकता है ? ब्रह्म सदा जीव और माया के सहित रहता है। इसलिए वह उन दोनों से विशिष्ट है।

माया और जीव की सत्यता

जो लोग रज्जु में सर्प की भाँति, साक्षी में स्वप्न की भाँति और दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति जीव और ईश्वर को मिथ्या तथा भ्रम समझते हैं वे उचित मार्ग पर नहीं हैं; क्योंकि परब्रह्म में विद्या और अविद्या का आरोप संभव नहीं है। आरोप तो पृथक्सिद्ध पदार्थ का पृथक्सिद्ध पदार्थ में होता है। इसलिए स्वतःसिद्ध व्यापक वस्तु माया और जीव आरोप्य नहीं हैं।

जीव अज्ञानी नहीं है

जीव में अविद्या का आरोप नहीं है, क्योंकि आरोप तदाकार वस्तु में होता है, जब कि जीव चेतन और अविद्या जड़ है। प्रकृत रूप से जीव अज्ञानी नहीं है, किन्तु अपने स्वरूप को भूल कर वह अज्ञान (अविद्या) में पड़ जाता है और नाना भोगों को भोगता है। जब उसको अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और वह उपासना तथा भक्ति से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उसे भोगों से छुटकारा मिल जाता है।

पुण्य कर्मों का फलोदय ही ज्ञान

पुण्य कर्मों के फलोदय से जीव की धर्म में रुचि होती है और वह शास्त्रों की ओर आकर्षित होकर अपने आचरणों को सुधारता है। ऐसा करने से उसका अज्ञान दूर होकर उसमें ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। उसके बाद वह परमात्मा की ओर बढ़ता है। प्रेमपूर्वक उपासना करते-करते जब उपासक अपने उपास्य का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है तब वह अविद्याजनित संसार के जाल से छूटकर अपने स्वरूप को पहचान लेता है। इसी को मुक्ति कहते हैं।

परिशिष्ट

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमी

*

अक्षर : ए फोरगोटन चैप्टर इन दि हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी : पी० एम० मोदी
बड़ोदा, १९३२

अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
पूना, १९२१

अपरोक्षानुभव : ज्ञानदास
लखनऊ, १८९५

अपरोक्षानुभूति : शंकराचार्य
मुरादाबाद, १९२०

अभिधर्मकोश (अनु० आचार्य नरेन्द्रदेव) : वसुबन्धु
प्रयाग, १९५८

अर्ली सांख्य : ई० एच० जान्स्टन
लन्दन, १९३७

अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त
प्रयाग, २००४ वि०

आउटलाइन्स आफ इंडियन फिलासोफी : श्रीनिवास आयंगर
वाराणसी, १९०९

आउटलाइन्स आफ इंडियन फिलासोफी : हिरियन्ना
लन्दन, १९३२

आउटलाइन्स आफ दि वेदान्त सिस्टम आफ फिलासोफी : जे० एच० वुड्स, ई० बी० रंडल
बम्बन, १९१९

आत्मतत्त्वविवेक : उदयनाचार्य
वाराणसी, १९९६ वि०

आत्मबोध : शंकराचार्य
लखनऊ, १९१२
बंबई, १९५.

आत्मरहस्य : रतनलाल जैन
नई दिल्ली, १९४५

आत्मानुभूति : कृष्णानन्द सरस्वती
होशियारपुर, २०१६ वि०

आस्तिकवाद : गंगाप्रसाद उपाध्याय
प्रयाग, १९४४

एन्टेलीजेंट मैन्स गाइड टु इंडियन फिलासोफी : एम० सी० पाण्ड्या
बम्बई, १९३५

इंट्रोडक्शन टु इंडियन पाजिटिविज्म, : बी० के० सरकार
इलाहाबाद, १९३७

इंट्रोडक्शन टु इंडियन फिलासोफी : जे० प्रसाद
इलाहाबाद, १९२८

इंडियन आइडियलिज्म : डा० एस० एन० दासगुप्ता
कैम्ब्रिज, १९३३

इंडियन फिलासोफी (भाग १, २) : डा० एस० राधाकृष्णन्
न्यूयार्क, १९५१

इंडियन लाजिक इन दि अर्ली स्कूल्स : एच० एन० रैंडल
लन्दन, १९३०

इंडियन लाजिक ऐंड आटोमिज्म : ए० बी० कीथ
आक्सफोर्ड, १९२७

इंडिया ऐंड इट्स फैथ्स : जे० बी० पैट
लन्दन, १९१६

इवोल्यूशन आफ आयडिया आफ गाड : एलेन
लन्दन, १८९७

ईश्वर : मदनमोहन मालवीय
गोरखपुर, २००१ वि०

ईश्वर दर्शन : ए० ओ० ब्रेन
सारण (बिहार), १९५६

ईश्वरसिद्धि : रामगोविन्द त्रिवेदी
सुलतानगंज, १९९४ वि०

ईस्टर्न रेलिजन्स आफ वेस्टर्न थाट्स
लन्दन, १९३९

उत्तराध्ययन : नेमिचन्द्र (टीका०)
बम्बई, १९३७

ऋग्वैदिक इंडिया : ए० सी० दास
कलकत्ता, १९२१

ए कान्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासोफी : आर० डी० रानाडे
पूना, १९२६

एन इंट्रोडक्शन टु योग : सी० ब्रैग्डोन
लन्दन, १९३३

ए प्राइमर आफ इंडियन लाजिक : ए० कुप्पुस्वामी शास्त्री
मद्रास,, १९३२

ए बुद्धिस्ट बिब्लियोग्राफी : एस० सी० मार्क
लन्दन, १९३५

ए मैनुअल आफ बुद्धिस्ट फिलासोफी : डब्ल्यू० एम० मेगोवरन
लन्दन, १९२३

एसियेज आन दि भगवद्गीता : अरविन्द घोष
कलकत्ता, १९२८

एसेंशियल्स आफ इंडियन फिलासोफी : हिरियन्ना
लन्दन, १९५०

ए स्टडी आफ दि योग : जे० घोष
कलकत्ता, १९३४

ए स्टडी आफ दि योग फिलासोफी : डा० एस० एन० दासगुप्ता
कलकत्ता, १९३०

ए हिस्ट्री आफ पर-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासोफी : बी० एम० बरुआ
कलकत्ता, १६२१

कर्ममीमांसा : ए० बी० कीथ
लन्दन, १६२१

कल्पसूत्र : समयसुन्दर (टीका०)
बम्बई, १६३६

कान्ट्रीब्यूशन टु दि प्रोब्लम आफ टाइम इन इंडयन फिलासोफी : एस० स्केयर
क्रकोव, १६३८

कान्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासोफी : रानाडे
पूना, १६२६

कान्सेप्शन आफ मैटर आकार्डिंग टु न्याय-वैशेषिक : डा० उमेश मिश्र
इलाहाबाद, १६२६

कारिकावली : विश्वनाथ पंचानन
बम्बई, १६५५

कारिकावली : विश्वनाथ पंचानन
वाराणसी, २०१२ वि०

काश्मीर शैविज्म : जगदीशचन्द्र चटर्जी
काश्मीर, १६१४

गौतम बुद्ध : के० जे० सुन्दर
आक्सफोर्ड, १६२२

चिद्विलास : डा० सम्पूर्णानन्द
काशी, २००१ वि०

जातक : फासबोल
लन्दन, १८७७-६७

जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान : मुनि नागराज
दिल्ली, १६५६

जैनिज्म इन नार्थ इंडिया : चिमनलाल जे० शाह
बम्बई, १६३२

डिक्शनरी आफ फिलासोफी : डी० रून्स
न्यूयार्क, १९४२

डिवाइन लाइफ : अरविन्द
कलकत्ता, १९४७

डेर आक्टेर बुद्धिज्मस : एम० विंटरनिट्ज
टूबिंगेन, १९२६-९

डेर जेनिज्मस : एच० वी० ग्लेसेनेप
बर्लिन, १९२५

तत्त्वज्ञान : आनन्दस्वामी सरस्वती
दिल्ली, १९५३

तत्त्वज्ञान : डा० दीवानचन्द
लखनऊ, १९५६

तत्त्वार्थाधिगम : उमास्वाति
पूना, २०५३ वी० सं०

तर्कभाषा, : केशव मिश्र
वाराणसी, २००९ वि०

थरटीन उपनिषद्स ह्यूम
आक्सफोर्ड, १९३१

दर्शन का प्रयोजन : डा० भगवानदास
प्रयाग, १९४०

दर्शन के उपयोग : इरविन एडमन
प्रयाग, २०१४ वि०

दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
इलाहाबाद, १९४७

दर्शन परिचय : रामगोविन्द त्रिवेदी
कलकत्ता, १९९० वि०

दर्शन संग्रह : डा० दीवानचन्द
लखनऊ, १९५८

दर्शनसारसंग्रह : सदानन्द
ग्वालियर, १९१०

दि कान्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण : टी० एच० शेराबास्की
लेलिनग्राद, १९२७

दि डिस्कोर्सिज आन दि पूर्व मीमांसा सिस्टम : पी० वी० साठे
पूना, १९२७

दि द्वैत फिलासोफी ऐंड इट्स प्लेस इन दि वेदान्त : एच० एन० राघवेन्द्राचार
मैसूर, १९४१

दि न्याय थ्योरी आफ नालेज : एस० सी० चटर्जी
कलकत्ता, १९३९

दि न्यायसूत्र आफ गौतम : डा० गंगानाथ झा
इलाहाबाद, १९१७-९

दि प्रवचनसार : बी० फैडेगन
कैम्बिज, १९३१

दि फिलासोफी आफ दि उपनिषद्स : एस० सी० चक्रवर्ती
कलकत्ता, १९३५

दि फिलासोफी आफ भेदाभेद : पी० एन० श्रीनिवासाचारी
मद्रास, १९३५

दि फिलासोफी आफ वैष्णव रेलिजन : जी० एन० मल्लिक
लन्दन, १९२७

दि फिलासोफी आफ हिन्दू साधना : एन० के० ब्रह्म
कलकत्ता, १९३२

दि भगवद्गीता : एड्गर्टन फ्रैंकलिन
शिकागो, १९२५

दि रीजन आफ रीयलिज्म इन इण्डियन फिलासोफी : डा० नागराज शर्मा
मद्रास

दि रेलिजन ऐंड फिलासोफी आफ दि वेद ऐंड उपनिषद्स : ए० बी० कीथ
कैम्ब्रिज, १९३५

दि वेदान्त : घाटे
पूना, १९२६

दि वेदान्त ऐंड माडर्न थाट : डब्ल्यू० एस० अर्क्यूहार्ट
आक्सफोर्ड, १९२८

दि शैव स्कूल आफ हिन्दूइज्म : एस० शिवपाद सुन्दरम
लन्दन, १९३४

दि सांख्यकारिका : एन० एस० एस० शास्त्री
मद्रास, १९३०

दि सांख्य सिस्टम : ए० बी० कीथ
लन्दन, १९१८

दि स्टडी आफ पतञ्जलि : डा० एस० एन० दासगुप्ता
कलकत्ता, १९२०

दि स्टोरी आफ ओरिएण्टल फिलासोफी : एल० आदम्स बक
न्यूयार्क, १९३८

दीर्घनिकाय : राहुल सांकृत्यायन
सारनाथ, १९३६

न्याय कुसुमाञ्जलि : उदयनाचार्य
कलकत्ता, १८९०

न्यायकोश : भीमाचार्य
पूना, १९२८

न्यायप्रकाश : डा० गंगानाथ झा
वाराणसी, १९७७ वि०

न्यायमंजरी : जयन्त भट्ट
वाराणसी, १९३४

न्यायशास्त्र मुक्तावली : धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
(हिन्दी अनुवाद)
वाराणसी, १९५३

न्यायसूत्र : महर्षि गौतम
मेरठ, २००० वि०

पंचदशी (पीताम्बरी टीका) : विद्यारण्य मुनि
दिल्ली, १९५५

पदार्थ धर्मसंग्रह : डा० गंगानाथ झा
वाराणसी, १९१५

पदार्थविज्ञान, भाग १ : सत्यनारायण शास्त्री
वाराणसी, २०१६ वि०

पदार्थ संग्रह : रामानुजाचार्य
वाराणसी, १९५०

पातञ्जल योगदर्शन : हरिहरानन्द
लखनऊ, १९५४

पातञ्जल योगसूत्र : पतञ्जलि
पूना, १९४८

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डा० देवराज
नई दिल्ली, १९४५

प्रकरणपंचाशिका : प्रभाकर
वाराणसी, १९०४

प्रकरणपंचिका : शालिकानाथ मिश्र
वाराणसी, १९६१ वि०

प्रोलेगोमेना टु ए हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट फिलासोफी : बी० एम० बरुआ
कलकत्ता, १९१८

फिलासोफी आफ उपनिषद्स : गाड
लन्दन, १८८२

फिलासोफी आफ ऐंस्येंट इंडिया : गार्वे
चिकागो, १८९९

बुद्धिज्मस : एच० वेकट
बर्लिन, १९२३

बुद्धिस्ट फिलासोफी : ए० बी० कीथ
आक्सफोर्ड, १९२३

बुद्धिस्ट फिलासोफी इन इंडिया ऐंड सीलोन : ए० बी० कीथ
आक्सफोर्ड, १९२७

बुद्धिस्ट स्टडीज : बी० सी० लाव
कलकत्ता, १९३१

बौद्ध दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
इलाहाबाद, १९४४

बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन : भरतसिंह उपाध्याय
भाग १, २
कलकत्ता. २०११ वि०

बौद्धधर्मदर्शन : आचार्य नरेन्द्रदेव
पटना, १९५६

ब्रह्मसूत्र (तीन खण्ड) : बादरायण व्यास
वाराणसी, १९९३ वि०

ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य : शंकराचार्य
बम्बई, १९२७

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन : रामकृष्ण आचार्य
आगरा, १९६०

भारतीय आदर्श : एनी बेसेंट
वाराणसी, १९५४

भारतीय ईश्वरवाद : रामावतार शर्मा
पटना, १९३६

भारतीय तत्त्वचिन्तन : जगदीशचन्द्र जैन
नई दिल्ली, १९५४

भारतीय तर्कशास्त्र : शांतिप्रकाश आत्रेय
वाराणसी, १९६१

भारतीय दर्शन : डा० उमेश मिश्र
लखनऊ, १९५७

भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
वाराणसी, १९४२

भारतीय दर्शन : सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा धीरेन्द्र मोहन दत्त
पटना, १९५४

भारतय दर्शन परिचय (न्याय दर्शन) : हरिमोहन झा
लहेरिया सराय

भारतीय दर्शन परिचय : हरिमोहन झा
(वैशेषिक दर्शन)
लहेरिया सराय

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास : डा० देवराज
इलाहाबाद, १९४१

भारतीय (दर्शन-शास्त्र) न्याय-वैशेषिक : धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
काशी, १९५३

महावीर, हिज लाइफ ऐंड हिज टीचिंग्स : बी० सी० लाव
लन्दन, १९३७

माध्यमिक कारिका : नागार्जुन
पीटसंबर्ग, १९०३

मायावाद : साधु शान्तानाथ
पूना, १९३८

मिलिन्दपह्न : नागसेन
बम्बई, १९४०

मीमांसा दर्शन (६ खण्डों में) : महर्षि जैमिनि
पूना, १९२९

मीमांसा-न्याय-प्रकाश : आर्यदेव
पूना, १९३७

मैटाफिजिक्स आफ रामानुज्स : के० सी० वरदाचारी
मद्रास, १९२८

मैटिरियलिज्म : एम० एन० राय
बम्बई, १९४०

मैटिरियलिज्म, मार्क्सिज्म डिटरमिनिज्म ऐंड डायलेक्टिक्स : बी० एन० दासगुप्त
इलाहाबाद, १९४५

योग, ए सायंटिफिक इवोल्युशन : के० टी० बेहमन
लन्दन, १९३७

योग और उसके उद्देश्य : अरविन्द
पांडिचेरी, १९४०

योगप्रदीप : अरविन्द
पांडिचेरी, १८३६

योगविचार : अरविन्द
पांडिचेरी, १८५१

योगसूत्र भाष्य-कोश : डा० भगवानदास
वाराणसी, १८३८

ला वेदान्त : वी० एस० घाटे
पैरिस, १८१८

वाशिष्ट दर्शनसार (संग्रह) : भीखनलाल आत्रेय
वाराणसी, १८३३

विचारसागर : साधु निश्चलदास
बम्बई, १८७१ वि०

वेदान्त, ए स्टडी : वी० एस० घाटे
पूना, १८२६

वेदान्त दर्शन : दर्शनानन्द सरस्वती
बरेली, १८३७

वेदान्तप्रदीप : रामानुजाचार्य
वाराणसी, १८०४

वेदान्त फार दि वेस्टर्न वर्ल्ड : इशरवुड
लंदन, १९५३

वेदान्तसार : सदानन्द
वाराणसी, १८४०

वैज्ञानिक अद्वैतवाद : रामदास गौड़
वारणसी, १८७७ वि०

वैज्ञानिक भौतिकवाद : राहुल सांकृत्यायन
प्रयाग, १८४७

वैशेषिक दर्शन : महर्षि कणाद
बम्बई, १८६८ वि०

वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड : आर० जी० भांडरकर
माइनर सेक्ट्स
पूना, १८२८

वृत्तिप्रभाकर : साधु निश्चलदास
वम्बई, १९८८ वि०

ह्वाट इज फिलासोफी : सेल्सम
कलकत्ता, १९४५

शंकराचार्य का आचारदर्शन : रामानन्द तिवारी
प्रयाग, २००६ वि०

शैवमत : यदुवंशी
पटना, १९५५

श्रीभाष्यवार्तिक : रामानुजाचार्य
वाराणसी, १९०६

श्लोकवार्तिक : कुमारिल भट्ट
वाराणसी, १८१८

षड्दर्शन समुच्चय : गुणरत्नसूरि
कलकत्ता, १९०५

सर्वदर्शनसंग्रह : माधवाचार्य
(१) कलकत्ता, १९०८ ई०
(२) बम्बई, १९८२ वि०

सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह : शंकराचार्य
प्रयाग, १९४०

सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह : शंकराचार्य
मुरादाबाद, १९७८ वि०

सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण
वाराणसी, १९४१

सांख्यतत्त्वकौमुदी : वाचस्पति मिश्र
वाराणसी, १९१७

सांख्यदर्शन : कपिल मुनि
बम्बई, १९६९ वि०

सांख्यदर्शन : कपिल मुनि
लाहौर, १९८२ वि०

सांख्यदर्शन का इतिहास : उदयवीर शास्त्री
ज्वालापुर

सिक्स वेज आफ नालेज — लन्दन : डा० डी० एम० दत्ता

स्कूल्स ऍंड सेक्ट्स इन जैन लिटरेचर — शान्तिनिकेतन, १६३१ : अमूल्यचन्द्र सेन

स्टडीज इन अर्ली इंडियन थाट — कैम्ब्रिज, १६१८ : डोरोथिया जान स्टेफेन

स्टडीज इन न्याय वैशेषिक मेटाफिजिक्स — पूना : सदानन्द माथुर

स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म — मद्रास, १६२२ : एम० एस० रामास्वामी अय्यर तथा बी० शेषगिरि राव

स्याद्वादमंजरी — पूना, १६३३ : मल्लिषेण सूरि

स्याद्वादमंजरी — बम्बई, १६३५ : मल्लिषेण सूरि

हिन्दू धर्म समीक्षा — बम्बई, १६४८ : लक्ष्मण शास्त्री जोशी

हिंदू रेलीजन्स — कलकत्ता, १८६६ : एच० एच० विल्सन

हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी (५ भागों में) — कैम्ब्रिज, १६३२-६१ : डा० एस० एन० दासगुप्ता

हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी, भाग १, २ — लन्दन, १६५१ : डा० एस० राधाकृष्णन्

हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट थाट — लन्दन, १६३२ : ई० जे० थामस

पारिभाषिक शब्दार्थानुक्रमी

(संस्कृत-अंग्रेजी)

अद्वैतवाद	: एब्सोल्यूट, मोनिज्म
अद्वैतवादी	: मोनिस्ट्स
अधिदेवशास्त्र	: फिजिक्स
अध्यात्मवाद	: स्पिरिचुएलिज्म
अध्यात्मविद्या	: सैको फिजिक्स
अनन्त	: एब्सोल्यूट
अनवच्छिन्न	: अन-ऐलोयड
अनुगमशास्त्र	: दि सायंस आफ बीइंङ्, रायल्टी आफ ट्रूथ
अनुभववाद	: इम्पिरिसिज्म
अनुमिति (तर्क)	: इन्फरेन्स
अनुमानशास्त्र (तर्कशास्त्र)	: लाजिक, दि सायंस आफ रीजनिङ
अनुमिति ज्ञान	: नालेज वाई इन्फरेन्स
अनेकवादी	: पापुरलिस्टिक
अनेकेश्वरवाद	: हिनोथीज्म
(बहुदेवतावाद)	: पोलेथेज्म
अनेकेश्वरवादी (बहुदेवतावादी)	: पोलेथेइस्टिक
अन्तःकरणशास्त्र (चित्तशास्त्र)	: साइकालोजी
अन्तःप्रत्यक्ष	: इन्टर्नल परसेप्शन
अन्तर्ज्ञान	: इन्टुएशन
अन्त्य	: अल्टिमेट
अन्वय	: एग्रीमेन्ट
अपरिच्छिन्न	: एब्सोल्यूट
अपरिमिति	: अन-लिमिटेड
अपवाद	: एक्सेपशन।

अभावान्वय	: एग्रीमेंट इन अब्सेंस
अभावात्मक	: नेगेटिव
अभिधेयत्व	: नेमेबिलिटी
अभेदबुद्धि	: युनिवर्सलिटी आफ कान्शसनेस्
अर्थापत्ति	: हेपोथेसिस
अवगति (विचार)	: आइडिया
अवच्छेदक	: डिफरेंटिया
अवच्छेदक पद	: एक्सक्लूसिव टर्म
अवधारण	: कान्सेप्शन
अवर्णनीय (अनन्त)	: एब्सोल्यूट
अवस्तुवादी	: प्लूरेलिस्टिक
अविशेष	: इन्डेटरमिनेट
अव्याप्ति	: नान-डिस्ट्रिब्यूशन
अविभिन्न	: पर्फेक्ट
अहं वित्ति (मैं हूं)	: सेल्फ कान्शसनेस
आकार	: फोर्म
आत्म-ज्ञान, आत्मदर्शन	: सेल्फ रियेलाइजेशन
आत्मलाभ	: विझन आफ गाड, सेल्फ नालेज
आत्यन्तिक	: फैनल
आधिभौतिक विज्ञान	: फिजिकल सायन्सेज, नैचुरल फिलासोफी
आनुपूर्व्य	: सेक्वेन्स
आप्त वचन	: अथोरिटी
आभास, प्रतीति	: एप्पियरेंस
आश्चर्य	: वंडर
आसन्न कारण	: काउज प्रीक्सिमेंट

आत्मा	: स्पिरिट
इच्छात्मक	: इमोशनल
ईश्वरवादी	: थेइस्टिक
उन्माद	: इन्सैनिटी
उपनय	: एप्पलिकेशन
उपमान	: अनालाजी
उपादान कारण	: काउज मैटेरिअल
उपाधि	: कण्डिशन
एकांतवाद	: फैलेसी आफ एक्स्यूसिव, पार्टिक्यूलेरिटी
एकांतिक	: कम्पलीट
एकेश्वरवाद	: मोनोथीज्म
कक्षा, काष्ठा	: स्टेज आफ इवोल्यूशन
कन्ध	: ग्लैंड्ज
कारक, घटक	: फैक्टर
कारण	: काउज
कालातीत	: टाइम्सलेस
केवलान्वय	: एग्रीमेंट, सिंगल
केवलोपादनेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद	: पेन्थीइज्म
क्रियात्मक	: प्रैक्टिकल (एक्शनल)
क्रिया-प्रतिक्रिया	: ऐक्शन-रिऐक्शन
क्षोभ, संरंभ, राग-द्वेष	: इमोशन
खण्डन	: रिफ्यूटेशन
गुण	: क्वालिटी
चरम सत्य	: अल्टिमेट ट्रुथ
चित्त	: कान्शस
चित्तशास्त्र, अन्तःकरणशास्त्र	: साइकालोजी
चेतन	: स्पिरिट

चैतन्य	: कान्शसनेस
जगत्	: किंगडम (ऐनिमल)
जज	: मैटर
जाति	: जेनस
ज्ञ, ज्ञाता द्रष्टा आत्मा पुरुष	: स्पिरिट
ज्ञान	: नालेज
ज्ञान-विज्ञान	: फिलासोफी सायंस
ज्ञानात्मक	: इंटेलेक्चुअल
ज्ञेय	
प्रधान, दृश्य, व्यक्त, मात्रा	: मैटर
ज्ञेयत्व	: नोविलिटी
तत्व महाभूत	: एलिमेण्ट
तत्व सार	: एस्सेन्स
तत्वमीमांसा	: मेटाफिजिक्स
तक	: रीजनिङ्
तर्क, अनुमान	: रीजनिङ्
तर्क, युक्ति	: आर्गुमेंट
तर्कवाक्य	: प्रोपोजिशन
तर्कशास्त्र	: लाजिक
तर्कशास्त्र, अनुमानशास्त्र	: लाजिक, दि सायंस आफ रीजनिङ.
तर्कसंगत वैध	: लिजिटिमेट
तर्काभास	: पैरालोगिज्म
तात्त्विक विश्लेषण	: एस्सेन्सल अट्रिब्यूट
तादात्म्य संबंध	: रिलेशन आफ आइडेंटिटी
तार्किक ज्ञान	: लाजिक नालेज

द्रव्य	: सब्स्टेंस
दृष्टांत	: इन्सटेन्स
निदर्शन	: सेम्पलिंग
निमित्तकारण	: काउज इफिसिएंट
नियत साहचर्य	: असोसियेशन, इन्वरिएवल
निरासा, निरसन	: एलिमिनेशन
निरुपाधि	: कैटेगोरिकल, अनकांडिशनल
निर्गुण	: एव्सोल्यूट
द्रष्टा	: स्पिरिट
दृश्य	: मैटर
द्वैतवाद	: ड्युअलिस्ट
धर्मशास्त्र **सदाचारशास्त्र**	: एथिक्स, मारल्स, दि सायंस आफ कांडक्ट
नामवाद	: नामिनेलिज्म
निगमन	: डिडक्शन
नियति, स्वभाव, इच्छा	: नेचर, मैटर, फेट
निरीश्वरवाद	: एथीइज्म
निश्चयात्मक	: कैटेगरिकल
नैतिक	: मारल
पक्ष	: माइनर
पदार्थ	: कैटेगरीज
परम तत्त्व, मूलसत्ता	: अल्टिमेट रियलिटी
परम सत्य **चरम सत्य** **परमार्थ सत्य**	: अल्टिमेट ट्रुथ
परमाणुवाद	: आटोमिज्म
परमानन्द **ब्रह्मानन्द**	: यूनियन विथ गाड, फ्रीडम आफ दि स्पिरिट, डिवाइन ब्लिस, विजन आफ

गाड, डेलिवरंस फाम सिन,
शाल्वेशन, वी ए टिट् यू,
वैपटिज्म विथ दि
होली गोस्ट, विकमिंग
क्रैस्टास, विकमिंग ए
सन आफ गाड

परामर्श : जजमेंट
परिमाण : क्वेंटिटी
पर्याय : मोड
परमार्थ सत्य : अल्टिमेट ट्रुथ
पुरुष : मैन, स्पिरिट
पूर्ण दृष्टि : व्यू कम्पलीट
पूर्णेश्वरवाद : थोइज्म
प्रकरण : टापिक
प्रकृति : नेचर
प्रकृति, स्वभाव : कैरेक्टर
प्रणाली : मेथाड
प्रतिपादन : एक्सपोजिशन
प्रतीति, आभास : एप्पियरेंस
प्रतीतिवाद : फेनोमेनेलिज्म
प्रत्यक्ष : परसेप्ट
प्रत्यक्ष ज्ञान : नालेज बाई परसेप्शन,
डायरेक्ट नालेज
प्रत्यय : कान्सेप्ट
प्रत्ययवाद : कन्सेप्टुअलिज्म
प्रधान : मैटर
प्रपंच : फेनोमेनन
प्रमाण : इविडेंस, प्रूफ
प्रमेय : प्रोवेंडम
प्रयोग और सिद्धान्त : प्रैक्टिस ऐंड थियरी
प्रलय : केआस

प्रातिस्विक (वैयक्तिक)	: पर्सनल
प्रात्येकिक	: इनडिविजुअल, सिंगल
प्रामाण्य	: वीलिडिटी
बहुदेवतावाद / अनेकेश्वरवाद	: पोलेथेइज्म
बहुदेवतावादी / अनेकेश्वरवादी	: पोलेथेइस्टिक
वाह्य-प्रत्यक्ष	: एक्सटरनल, परसेप्शन
बौद्ध-प्रत्यय	: मेन्टल आइडियाज कान्सेप्टस
ब्रह्मलाभ	: विजन आफ गाड
	: सेल्फ नालेज
ब्रह्मज्ञान	: विजन आफ गाड केल्फ नालेज
ब्रह्मविद्या	: मेटाफिजिक
ब्रह्मानन्द / परमानन्द	: यूनियन विथ गाड, फ्रीडम आफ दि स्पिरिट, डिवाइन ब्लिस, विजन आफ गाड, डेलिबरन्स फ्राम सिन, शाल्वेशन, बी ए टिट् यू, वैपटिज्म विथ दि होली गोस्ट, विकमिंग, क्रैस्टास, विकमिंग ए सन आफ़ गाड
भक्ति-उपासना	: रेलिजन
भाव पदार्थ	: पाजिटिव, इन्टिटीज
भाव साहचर्य	: असोसिएशन, पाजिटिव
भावात्मक	: पाजिटिव
भावान्वय	: एग्रीमेंट इन प्रजेंस
भौतिकवाद	: मैटिरियलिज्म
भ्रामक	: इल्यूसरि
मत	: व्यू, ओपिनियन

मत सिद्धान्त	: डाक्ट्रिन
महाभूत, तत्त्व	: एलिमेंट
मात्रा	: मैटर
मानस कुतूहल	: इंटेलेक्चुअल क्युरियासिटी
मिथ्या	: अन-रीयल
मिथ्या प्रत्यय	: मिस्कोन्सेप्शन
मूल द्रव्य	: सबस्टेन्स
मूल सत्ता, परम तत्व	: अल्टिमेट रियलिटी
यथार्थवाद	: रियलिज्म
युक्ति, तर्क	: आर्गुमेंट
युक्ति, विचार	: थ्योरी
रागद्वेष	: इमोशन
लिंग, हेतु, साधन	: मिडिल टर्म
लौकिक ज्ञान	: पापुलर नालेज
वर्ग	: क्लास
वस्तु	: मैटर
वस्तुपरक तर्कशास्त्र	: मैटिरियल लाजिक
वस्तुवाद	: रियलिज्म
वस्तुवादी	: रियलिस्टिक
वास्तविक	: रीयल
विचार, अवगति	: आइडिया
विज्ञानवाद	: सब्जेक्टिव आइडियेलिज्म
विज्ञानवादी	: सब्जेक्टिव आइडियलिस्ट
विनय	: डिसिप्लिन
विद्या, वैदूष्य	: विजडम
विधेय	: प्रेडिकेट
विभाग	: डिवीजन
विवर्त्त	: कन्वर्शन
विवाद	: कान्ट्रोवर्सी
विश्लेषण	: अनालेसिज
विषय	: सबजेक्ट

विषयी	: आब्जेक्ट
विस्तार	: एक्सटेंसन
वैकल्पिक	: अल्टरनेटिव
वैदुष्य	: विजडम
वैयक्तिक, प्रातिस्विक	: पर्सनल
वैयष्टिक	: इनडिविजुअल, सिंगल
व्यवहारवाद	: प्रैग्मेटिज्म
वृत्ति	: सब्सिसटेंस विइङ्
व्यक्त	: मैटर
व्याख्या	: ऐक्सप्लेनेशन
व्याप्ति	: डिस्ट्रिब्यूशन
व्यतिरेक (भेद)	: डिफरेंस
व्याघात	: कान्ट्रडिक्शन
शक्तिशास्त्र	: सायंस आफ पावर
शब्दप्रमाण, साक्ष्य	: टेस्टिमोनी
शरीरशास्त्र	: फिजियालोजी
शांतिशास्त्र	: सायंस आफ पीस
संज्ञा	: कान्शसनेस
संदिग्धार्थक	: एम्बिगुअस
संपात	: कोइन्सिडेंस
संपातोत	: कोइन्सिडेंट
सम्बन्ध	: रिलेशन
संरम्भ	: इमोशन
संवृत्ति सत्य	: एम्पिरिकल
संशयवाद	: स्केप्टिसिज्म
सत्	: एक्जिस्टेंट
सत्ता	: एक्जिस्टेंस
सदाचारशास्त्र, धर्ममीमांसा	: एथिक्स, मारल्स, दि सायंस आफ कांडक्ट
सर्वव्यापी	: यूनिवर्सल
सर्वेश्वरवाद	: पेन्थीइज्म

सर्वेश्वरवादी	: पेन्थीइस्टिक
सविकल्प प्रत्यक्ष	: परसेप्शन
सांसारिक व्यवहार	: लाइफ इन दि वर्ल्ड
साक्ष्य, शब्द प्रमाण	: टेस्टिमोनी
साध्य	: मेजर
सापेक्षवाद	: थ्योरी आफ रिलेटीविटी
सामाजिक, सामष्टिक } सामूहिक }	: सोसल, कलेक्टिव
सामान्य	: यूनिवर्सल
सामान्य नियम	: कैनौनस
सामान्य प्रत्यय	: जेनरल आइडिया
सामान्य प्रत्ययवाद	: कान्सेप्चुएलिज्म
सार्वस्विक, जातीयक } सामष्टिक }	: कलेक्टिव सोसल
साहचर्य	: असोसियेशन
सिद्धांत	: थ्योरी
सिद्धांत (मत)	: डाक्ट्रिन
सुखवाद	: हेडोनिज्म
सैद्धांतिक	: थ्योरिटिकल
सौन्दर्यशास्त्र	: ईस्थेटिक्स, दि सायंस आफ आर्ट
सृष्टि	: कास्मास
सृष्टिकर्ता	: क्रिएटर
स्वयसिद्ध, स्वतःसिद्ध	: आक्सिअम
हेतु	: मडिल

लोकभारती प्रकाशन द्वारा प्रकाशित दर्शनशास्त्र की अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें

ज्ञान और कर्म	पं. विष्णुकांत शास्त्री
ज्ञान दर्शन	श्याम किशोर सेठ, डॉ. नीलिमा मिश्र
ईश्वर, स्वतंत्रता और अमरत्व	श्याम किशोर सेठ, डॉ. नीलिमा मिश्र
आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष	डॉ. मधुरिमा सिंह
ब्रह्म, जीव, जगत और माया	डॉ. राजदेव सिंह

लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद नयी दिल्ली पटना

ISBN : 978-81-8031-350-9